संस्कृत नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व

संस्कृत नाटक में अतिप्राकृत तत्त्व

डॉ० मूलचन्द्र पाठक

देवनागर प्रकाशन, जयपुर

* कृति : संस्कृत नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व ।
* कृतिकार : डा० मूलचन्द्र पाठक ।
* मूल्य : पचास रुपये मात्र ।
* प्रकाशक : देवनागर प्रकाशन,
चौड़ा रास्ता, जयपुर ।
* मुद्रक : एलोरा प्रिण्टर्स,
शिवदीनजी का रास्ता, जयपुर ।

SUPERNATURAL ELEMENTS IN SANSKRIT DRAMA

दिवंगत माता-पिता को

सादर समर्पित

प्राक्कथन

संस्कृत के अधिकांश नाटकों में अलौकिक व अतिमानवीय तत्त्वों की विविध योजना मिलती है जिन्हे हमने आधुनिक विचारधारा के आलोक में 'अतिप्राकृत तत्त्व' कहा है। संक्षेप में, प्राकृतिक जगत् के तथ्यों व अनुभवों को अतिक्रांत करने वाले सभी तत्त्व 'अतिप्राकृत' कहे जा सकते हैं। अलौकिक, दिव्य, अतिमानवीय एवं अद्भुत आदि शब्दों से अभिहित विभिन्न तत्त्व इसमें अन्तर्भूत हैं।

संस्कृत नाटक अपने जन्म से ही धार्मिक भावना एवं पौराणिक चेतना से अनुप्राणित रहा है। अधिकतर नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व इसी धार्मिक व पौराणिक मनोभूमि की देन है। कुछ नाटकों में लोककथाओं एवं उनमें व्यक्त लोकविश्वासों के क्षेत्र से भी ये तत्त्व ग्रहण किये गये है। इस प्रकार अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व प्राचीन भारतीय समाज की उस सांस्कृतिक परिदृष्टि एवं जीवन-विश्वासों के अविभाज्य अङ्ग तथा उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्तियां है जिनका उस समाज के एक संवेदनशील घटक के रूप में संस्कृत नाटककार स्वयं भी भागीदार है।

अतिप्राकृत तत्त्व-विषयक परिकल्पनाएं वस्तुतः किसी जनसमुदाय की विश्व-सम्बन्धी सामान्य अवधारणाओं की अंग होती हैं। सृष्टि की शक्तियों के स्वरूप, कार्य एव उनके साथ अपने सम्बन्ध के विषय में मनुष्य की सदा से ही कुछ मान्यताएं रही है। इनके प्रकाश में ही वह भौतिक व मानवीय जगत् की घटनाओं व तथ्यों की व्याख्या करता है। संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व भी प्राचीन भारत में विकसित इन सास्कृतिक मान्यताओं की ही कलात्मक अभिव्यक्तियां हैं। प्राचीन साहित्य की सम्यक् अवगति, रसास्वादन एवं मूल्यांकन के लिए उनकी अभिज्ञता हमारे लिए नितान्त आवश्यक है।

(घ) : संस्कृत नाटक में अतिप्राकृत तत्त्व

हमारी मान्यता रही है कि मनुष्य सृष्टि में स्वतःपूर्ण, स्वतन्त्र और अकेला नहीं है। मानव-लोक और दृश्यमान जगत् के परे भी अनेक दैवी व आसुरी शक्तियों, अतीन्द्रिय लोकों एवं आश्चर्यकारी तत्त्वो की सत्ता है। मनुष्य इस विराट् सृष्टि का ही एक अङ्ग है। इस सृष्टि में देवता, असुर, राक्षस, पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति—संक्षेप में, दिव्य-मर्त्य, चेतन-अचेतन सभी का सह-अस्तित्व है तथा इन सबके साथ मनुष्य विभिन्न सम्बन्ध-सूत्रो में बंधा है। हमारा प्राचीन साहित्य मनुष्य को इस विराट् विश्व के मध्य में रखकर उसके राग-विरागों का चित्रण करते हुए समस्त सृष्टि के साथ उसके जीवन के सामंजस्य का दर्शन कराता है। उसके मत में मनुष्य की नियति शेष सृष्टि से पृथक् नहीं है, प्रत्युत सबके साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। इस मूलभूत जीवन-दर्शन का ही यह तार्किक परिणाम है कि हमारे पुराने साहित्य में प्राकृत व अतिप्राकृत के बीच आत्यन्तिक विभेद या पार्थक्य नहीं किया जा सकता। वे दो स्वतन्त्र व निरपेक्ष कोटियां नहीं है, अपितु, अधिक से अधिक एक ही सृष्टि के दो निम्नोच्च स्तर हैं जिनमें केवल गुणात्मक अन्तर है, प्रकारात्मक नहीं। उसमें प्राकृत का प्राय. अतिप्राकृत में और अतिप्राकृत का प्राकृत में विलय हो जाता है; दोनों की सीमायें एक-दूसरे मे अदृश्य हो जाती हैं। उनका सम्बन्ध न आकस्मिक है और न कादाचित्क ही, अपितु उनका परस्पर आदान-प्रदान एवं अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव सृष्टि की नियमित प्रक्रिया एवं व्यवस्था का ही एक सहज अंग है।

संस्कृत नाटक मे दैवी शक्तियां मनुष्य के प्रति प्रकृत्या-उदार, सहानुभूतिशील एवं उसके सहयोगी व सहायक के रूप मे परिकल्पित हैं जिन पर हमारे धार्मिक व पौराणिक विश्वासों की छाप है। यूनानी देवताओं के समान वे मानव-द्वेषी, नीतिहीन व स्वेच्छाचारी नहीं है. अपितु धर्म और नैतिकता की संरक्षक एवं संवर्धक है। संस्कृत नाटकों में मानव पात्रो के प्रति दिव्य शक्तियों के अनुग्रह, उपकारित्व, साहाय्य या हस्तक्षेप के अनेक प्रसंग आये है। भास, कालिदास, हर्ष, भवभूति, दिङ्नाग, क्षेमीश्वर आदि की कृतियो में दैवी शक्तियों की यह भूमिका देखी जा सकती है।

भारतीय विचारधारा भौतिक जगत् में अनेक रहस्यमय व अद्भुत घटनाओं की संभाव्यता स्वीकार करती है। वह प्रकृति को केवल जड-तत्त्व नहीं मानती अपितु उसमें ऐसी सचेतन शक्तियों की सत्ता अंगीकार करती है जो समय-समय पर अनेक चामत्कारिक घटनाओ व तथ्यों के रूप मे स्वयं को प्रकट करती रहती है। वह अनेक प्राकृत वस्तु-व्यापारों को दैवी आकांक्षाओं के संकेत के रूप में ग्रहण करती है। हमारी धार्मिक परम्परा भी ऐसे सिद्ध पुरुषों के वृत्तान्तों से पूर्ण है जो अपनी विभूतियों व सिद्धियों के लोकोत्तर प्रभाव से सामान्य धरातल से उच्चतर पीठिका पर स्थित दिखाई देते है। इसी प्रकार हमारी दार्शनिक विचारधारा मनुष्य के कार्य-

कलापों के सचालन एवं उसके जीवन-क्रम व नियति के निर्धारण में प्राक्तन कर्म तथा भाग्य, दैव या विधि जैसी अलक्ष्य शक्तियों की सर्वशक्तिमत्ता व नियन्तृत्व को स्वीकार करती हैं। सस्कृत साहित्य में और विशेषत: नाटक मे अतिप्राकृत तत्त्वो का स्वरूप व प्रयोग भारतीय विचारधारा की उक्त सामान्य प्रवृत्तियों व दिशाओं से दूर तक प्रभावित व निर्देशित है।

यद्यपि संस्कृत परंपरा में अतिप्राकृत तत्त्वों के लिए अलौकिक, लोकातिक्रान्त, लोकातिग, अतिमानुष, दिव्य आदि कितने ही शब्द मिलते हैं पर अतिप्राकृत का अर्थक्षेत्र इन सबसे विस्तृत है तथा इन सभी शब्दों के अर्थ इसमें अन्तर्भूत है। वस्तुत: यहा अतिप्राकृत शब्द का अंग्रेजी के 'सुपरनेचुरल' के पर्याय के रूप में प्रयोग किया गया है। 'नेचुरल' (प्राकृत) व 'सुपरनेचुरल' (अतिप्राकृत) का विभाजन निश्चय ही आधुनिक युग की प्रकृतिवादी वैज्ञानिक विचारधारा पर आधारित है और प्रस्तुत अध्ययन में इसी विचार-सरणि को 'प्राकृत' व 'अतिप्राकृत' के विभाजन का आधार माना गया है। इसी दृष्टि से विषय के नामकरण में भारतीय परंपरा के अलौकिक आदि शब्दो की तुलना मे एक विदेशी शब्द के अर्थ को प्रतिध्वनित करने वाले शब्द को ग्रहण किया गया है। साथ ही यह शब्द भारतीय परपरा के लिए सर्वथा अज्ञात भी नहीं है। हमारे प्राचीन साहित्य मे 'अतिप्राकृत' का तो नहीं पर 'अप्राकृत' शब्द का 'असाधारण' 'अलौकिक' आदि अर्थो में अनेक स्थानों पर प्रयोग हुआ है। यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि हमने प्रस्तुत अध्ययन में 'नाटक' शब्द का लोक-प्रचलित व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है, रूपक के प्रधान भेद 'नाटक' के शास्त्रीय अर्थ में नही।

संस्कृत नाटक में प्रारंभ से ही विभिन्न कारणों व उद्देश्यों से अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग होता रहा है। वस्तु, नेता एवं रस—नाटक के इन तीनो ही अंगों को चमत्कारपूर्ण व प्रभावशाली बनाने में इनकी विशिष्ट भूमिका रहती है। कुशल नाटककार के हाथों ये तत्त्व कृति के आन्तरिक एवं अविभाज्य अंगों में परिणत हो जाते है। नाटकीय वस्तु के उत्थान, विकास, परिवर्तन एवं परिसमापन—इन सभी अवस्थाओ को इनका उल्लेख्य योग रहता है। सस्कृत नाटक की सुखान्तता का भी इन तत्त्वों से निकट का संबध है। नाटक की कथा मे जटिलता, संघर्ष अन्तर्द्वन्द्व आदि की सृष्टि तथा उनके अंतिम सुखमय समाधान में इनकी साभिप्राय भूमिका रहती है। वस्तुत: नाटक विशेष के सौन्दर्यास्वादन एवं साहित्यिक मूल्य के सम्यक् आकलन के लिए उसमें समाविष्ट अतिप्राकृत तत्त्वों के स्वरूप, कार्य एवं भूमिका का अध्ययन अपेक्षित ही नही, अपरिहार्य भी कहा जा सकता है। अतिप्राकृत तत्त्व अधिकतर संस्कृत नाटकों के नाटकीय वैशिष्ट्य व मूल्यवत्ता से घनिष्ठतया संबंधित हैं, अतः

उनका अध्ययन निश्चय ही संस्कृत नाटक की एक नयी अवगति में सहायक हो सकता है। संस्कृत नाटक के अध्येताओं व अनुसंधाताओं की दृष्टि इसके अन्यान्य पक्षों की ओर तो गयी है, पर उसमे प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों के विस्तृत व व्यवस्थित विवरण तथा उनके नाटकीय वैशिष्टय के अध्ययन व मूल्यांकन का इससे पूर्व कोई विशिष्ट एवं सर्वग्राही प्रयत्न नही किया गया। प्रस्तुत ग्रंथ इसी अभाव की पूर्ति की दिशा मे एक विनम्र प्रयास है।

यह ग्रंथ लगभग दो वर्ष पूर्व उदयपुर विश्वविद्यालय द्वारा पी. एच डी उपाधि के लिए स्वीकृत मेरे शोध प्रवन्ध 'संस्कृत के प्रमुख नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व' पर आधारित है। मूल प्रबन्ध को प्रायः अविकल रूप में ही प्रकाशित किया जा रहा है। यों तो इस ग्रंथ में अतिप्राकृत तत्त्वों की विशिष्ट दृष्टि से संस्कृत के प्रमुख नाटकों का ही अध्ययन अभीष्ट है, पर अंतिम अध्याय में अनेक अप्रमुख एव अप्रसिद्ध नाटकों का भी विहंगावलोकन किया गया है जिससे संस्कृत नाटक की प्रायः समग्र परंपरा में अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग का, कही विस्तार से और कही संक्षिप्त, परिचय प्राप्त हो जाता है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए मूल प्रवन्ध के नाम में परिवर्तन किया गया है। किंतु लेखक का यह दावा कदापि नही है कि इस ग्रंथ में संस्कृत के प्रत्येक नाटक का अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से अध्ययन कर लिया गया है। वस्तुतः संस्कृत का समग्र नाट्य-साहित्य इतना विपुल एवं विविध है कि किसी भी एक ग्रंथ के कलेवर में उसका संपूर्ण अध्ययन-आकलन संभव नही हो सकता। इस कार्य में एक बडी बाधा यह भी है कि अनेक संस्कृत नाटक अभी तक अमुद्रित अवस्था मे है या मुद्रित हो जाने पर भी वे अध्येताओं के लिए दुर्लभ रहते है। प्रस्तुत अध्ययन में यथासंभव संस्कृत नाटक के प्रारंभ काल से लेकर लगभग १२वीं शताब्दी तक के सभी प्रमुख नाटकों को सम्मिलित किया गया है। कृतियों के चुनाव में नाटकों की प्राचीनता, प्रसिद्धि, लोकप्रियता, साहित्यिक श्रेष्ठता और विशेष रूप से अतिप्राकृत तत्त्वों की सुलभता आदि आधारों को स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत ग्रंथ मे विवेचित नाटकों मे प्रायः वे सभी प्रधान कृतियां आ गयी हैं जिनका कीथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रथ 'सस्कृत ड्रामा' में अधिक विस्तार से परिचय दिया है। कुछ ऐसे नाटकों को भी जो कीथ के समय में उपलब्ध नहीं थे इस अध्ययन के परिवेश में समाविष्ट किया गया है। लगभग १२वी शती तक के प्रमुख नाटकों के विवेचन के पश्चात् हमने अतिप्राकृत तत्त्वों के नाटकीय प्रयोग की परवर्ती परम्परा के दिग्दर्शन का भी प्रयास किया है जिससे यह स्पष्ट हो सकेगा कि संस्कृत नाटक अपने ह्रासकाल में किस प्रकार अन्य तत्त्वों के ही समान अतिप्राकृत तत्त्वों के विषय में भी प्रायः परंपरा का ही पालन व पिष्टपेषण करता रहा।

प्रस्तुत अध्ययन में नाटकों का विवेचन प्राय: उनके कालक्रम के अनुसार किया गया है, किन्तु अनेक नाटकों का रचना-काल अनिश्चित व विवादग्रस्त होने के कारण इस बारे में मतभेद की पर्याप्त संभावना है। अंतिम अध्याय मे, जहाँ परवर्ती काल के बहुत से नाटकों के अतिप्राकृत तत्त्वों के संदर्भ मात्र दिये गये है, कालक्रम के साथ-साथ विषयवस्तु एवं रूपक के प्रकार-भेद का भी विवेचन में अनुसरण किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध में लेखक का ध्येय अतिप्राकृत तत्त्वो का विवरण मात्र देना नहीं है अपितु उनके नाटकीय विनियोग के वैशिष्ट्य का निरूपण करना भी है। यद्यपि विभिन्न कृतियों में अनेक तत्त्व समान है, फिर भी उनके विनियोग में प्रत्येक नाटक की अपनी कुछ विशेषता है। यही कारण है कि यह अध्ययन प्रत्येक नाटक को अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से एक स्वतत्र इकाई मान कर किया गया है। लेखक का उद्देश्य वस्तुत अतिप्राकृत तत्त्वों के आलोक में विशेष-विशेष नाटक का अध्ययन करना है, न कि अतिप्राकृत तत्त्वों का ही स्वतंत्र या सामान्य रूप से। उदाहरणार्थ, संस्कृत के अनेक नाटकों मे शाप के प्रसंग आये है, पर पद्धति व उद्देश्य की दृष्टि से प्रत्येक कृति के संदर्भ में उसकी अपनी विशिष्ट भूमिका एव संरचनागत महत्त्व है। प्रस्तुत अध्ययन प्रधानत अतिप्राकृत तत्त्वों के नाटकगत विनियोग का साहित्यिक अनुशीलन है। इसीलिए इसमे नाटक विशेष की सरचना मे इन तत्त्वों की भूमिका का सविस्तार विचार किया गया है। यहां इसका एक उदाहरण देना उचित होगा। कालिदास के मालविकाग्निमित्र में पादाघात-रूप दोहद द्वारा अशोक के पुष्पोद्गम की बात कही गयी है जो संभवत: तत्कालीन लोकविश्वास पर आधारित है। नाटककार ने यों तो इस घटना की सूचना और वह भी नेपथ्य से चतुर्थ अंक के अंत मे दी है पर विचार करने पर यह स्पष्ट है कि इस घटना के पूर्व-अपर सूत्र तृतीय अंक से लेकर पंचम अंक तक की वस्तु-योजना मे अनुस्यूत है। दोहद-संबंधी लोकविश्वास का यह नाटकीय विनियोग कालिदास की उस काव्य-दृष्टि का एक और साक्ष्य है जिसमें मानव और प्रकृति की अवधारणा एक ही सत्ता के दो समानशील घटकों के रूप में की गई है।

प्रस्तुत ग्रंथ मे प्रत्येक प्रमुख नाटक के सदर्भ में अतिप्राकृत तत्त्वों का अध्ययन साधारणतया निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है—(१) कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व (२) अतिप्राकृत पात्र (३) अतिप्राकृत लोकविश्वास एव (४) अतिप्राकृत तत्त्व और रस। प्रथम शीर्षक के अन्तर्गत नाटकीय कथावस्तु में प्रयुक्त अतिप्राकृत घटनाओं, प्रसंगो, स्थितियों व वस्तुओं आदि का अध्ययन किया गया है। द्वितीय शीर्षक के अन्तर्गत दिव्य या मानव पात्रों के व्यक्तित्व की अतिप्राकृत विशेषताओं का परिचय दिया गया है।

तृतीय शीर्षक में अतिप्राकृत तत्त्वों की मान्यता पर आधारित अथवा उनका स्फुट या अस्फुट संकेत देने वाले कतिपय लोकप्रचलित विश्वासों—जैसे शकुनों द्वारा शुभ-अशुभ का सूचन, दैव या भाग्य की सर्वनियामकता, कर्मविपाक की अपरिहार्यता, भविष्यज्ञान पर आधारित सिद्धादेश, वृक्षों में अप्राकृत रीति से पुष्पोद्गम की कल्पना पर आधारित दोहद आदि का विवरण दिया गया है। चतुर्थ शीर्षक के अन्तर्गत नाटक विशेष में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व किन-किन रसों व भावों की अभिव्यंजना में सहायक होते हैं, यह स्पष्ट किया गया है। रस-सिद्धान्त की शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग करते हुए भी इस विवेचन को शास्त्रीयता की रूढ़ जटिलताओं से बचाने का प्रयास किया गया है। जिन नाटकों में घटना या पात्रों के रूप मे अतिप्राकृत तत्त्व नहीं मिलते, उनमें केवल लोकविश्वासों के रूप में पाये जाने वाले ऐसे तत्त्वों का परिचय दिया गया है। जिन नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व बहुत कम आये है या विशेष महत्त्व नहीं रखते, उनमें उक्त सभी शीर्षकों के अनुसार अध्ययन का आग्रह नहीं रखा गया है। अंतिम अध्याय में परवर्ती व अप्रमुख नाटकों के विवेचन में अतिप्राकृत तत्त्वों का दिग्दर्शन-मात्र अभीष्ट होने से उक्त शीर्षकों का प्रयोग नही किया गया है। प्रत्येक प्रमुख नाटक के अध्ययन के आरंभ मे रचयिता व कृति का सामान्य परिचय दिया गया है तथा उसमें प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों की पृष्ठभूमि या संभावित स्रोतों पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार प्रत्येक नाटक या नाटककार के अध्ययन को कुछ निष्कर्षों के साथ समाप्त किया गया है।

अपने संपूर्ण अध्ययन को हमने दस अध्यायों मे विभक्त किया है। प्रथम दो अध्याय अध्येय विषय की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते है। प्रथम अध्याय में अतिप्राकृत तत्त्व के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसकी आधारभूत अवधारणाओं व आस्थाओं का परिचय दिया गया है। सृष्टि व उसकी शक्तियों के विषय में प्राकृत-वादी व अतिप्राकृतवादी दृष्टियों का विवेचन करते हुए हमने दिखाया है कि अतिप्राकृत-तत्त्व-संबंधी विश्वास प्राचीन मनुष्य की अतिप्राकृतवादी विश्व-दृष्टि के अविभाज्य अंग है और हमारा अधिकांश प्राचीन साहित्य इन विश्वासों की विविध अभिव्यक्तियो से युक्त है। यद्यपि प्राचीन काल में प्राकृतवादी चिन्तन की भी एक परंपरा थी, पर वह अधिक से अधिक एक अन्तर्धारा ही रही। आधुनिक युग में वस्तुवादी वैज्ञानिक चिन्तन तथा बुद्धिवाद के आविर्भाव व विकास के पहले तक मानव-चिन्तन में अतिप्राकृत धारणाओं का ही प्राधान्य रहा और साहित्य में प्रयुक्त अतिप्राकृतिक तत्त्व उन्हीं की सहज, स्वाभाविक एवं कलात्मक अभिव्यक्तियां हैं।

इसी अध्याय में अतिप्राकृत तत्त्व-विषयक विश्वासों के उद्भव, मानव-जीवन में उनकी भूमिका तथा आधुनिक युग में इनके प्रति पाये जाने वाले विविध

दृष्टिकोणों का उल्लेख करते हुए इस सम्बन्ध में प्रस्तुत लेखक ने अपना मत स्पष्ट किया है। इसके पश्चात् धर्म, पुराकथा, दर्शन, लोककथा व साहित्य के साथ अतिप्राकृत तत्त्वों के सम्बन्ध का अनुसंधान करते हुए यह दिखाया गया है कि संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त ये तत्त्व धार्मिक विश्वासों पौराणिक साहित्य की कल्पनाओं, दार्शनिक विचारणाओं, लोककथा की कथानक-रूढ़ियों एवं इन सबको अपने कलेवर में अभिव्यक्ति देने वाले साहित्य की पूर्ववर्ती परंपरा के प्रभावों की देन है। किन्तु नाटकों में इनका प्रयोग उक्त प्रभावों की अभिव्यक्ति मात्र नही है, अपितु नाटककारों ने उनका विशिष्ट कलात्मक उद्देश्यों के लिए सचेतन विनियोग भी किया है।

द्वितीय अध्याय में संस्कृत नाटकों मे प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों की नाट्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि का अनुसधान किया गया है। प्रारंभ में नाट्य के स्वरूप का सक्षिप्त परिचय देकर उसकी दिव्य उत्पत्ति की नाट्यशास्त्रीय कथा की चर्चा करते हुए हमने दिखाया है कि सस्कृत नाटक का धर्म व पौराणिक कथाओं के साथ प्रारंभ से ही नाता रहा है और अधिकतर संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व प्राय: इन्ही स्रोतों से आये हैं। इस सम्बन्ध मे कतिपय आधुनिक विद्वानों के मतों का भी उल्लेख किया गया है। अनन्तर रूपक के भेदों, कथावस्तु व पात्रों की योजना तथा रस-संबन्धी नाट्यशास्त्रीय विवेचन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकृत विभिन्न अतिप्राकृत तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय के अंतिम परिच्छेद में हमने बताया है कि अतिप्राकृत तत्त्वों का यों तो शृंगार, करुण भयानक, रौद्र आदि विभिन्न रसो से सम्बन्ध है, पर इनका सबसे घनिष्ठ सबन्ध अद्भुत रस से है। संस्कृत का अब तक उपलब्ध नाट्यसाहित्य नाट्यशास्त्र के बाद का है, अत: यह स्वाभाविक ही है कि उसमे नाट्यशास्त्र के अतिप्राकृत-संबन्धी निर्देशो का भी अनुगमन हो।

तृतीय अध्याय से प्रस्तुत अध्ययन के व्यावहारिक पक्ष का आरंभ होता है। इस अध्याय में मुख्यत भास के नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों का विवेचन किया गया है। भास के पूर्ववर्ती अश्वघोष के नाटक इतने खंडित रूप में मिले हैं कि उनमें प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी इस विषय में जितनी-सी जानकारी मिली है उसके आधार पर हमने उनका संक्षिप्त परिचय देकर विषय को सर्वांगीण बनाने की चेष्टा की है। यों तो चारुदत्त के अलावा भास के सभी नाटकों का अध्ययन किया गया है पर अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिमा, अभिषेक, मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, बालचरित व अविमारक का हमने विस्तार से अध्ययन किया है - विशेष रूप से अंतिम दो का।

चतुर्थ अध्याय में कालिदास के नाटकों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उनके 'विक्रमोर्वशीय' व 'शाकुन्तल' अतिप्राकृत तत्त्वो के कलात्मक विन्यास की दृष्टि से अप्रतिम है, अत. हमने इन नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों का विशिष्ट व विस्तृत अध्ययन किया है। यद्यपि मालविकाग्निमित्र में इन तत्त्वों का लगभग अभाव है, पर उसमें भी दोहद के रूप मे एक विशिष्ट अतिप्राकृत लोकविश्वास का रमणीय विनियोग हुआ है, अत: हमने इस तत्त्व का भी विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया है।

पंचम अध्याय में मृच्छकटिक व मुद्राराक्षस इन दोनों सामाजिक रूपकों में प्रयुक्त कतिपय अतिप्राकृत लोकविश्वासों का परिचय दिया गया है। षष्ठ अध्याय में हर्ष की दो नाटिकाओं व 'नागानन्द' नाटक का तथा सप्तम में भट्टनारायण के 'वेणी-सहार' का अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से विवेचन किया गया है। अष्टम अध्याय भवभूति के नाटकों से सम्बन्धित है। कालिदास के बाद संस्कृत नाटक के क्षेत्र मे भवभूति सबसे प्रतिभाशाली नाटककार माने जाते हैं, अत: उनके नाटकों का भी अध्ययन विस्तार से किया गया है।

नवम अध्याय में ह्रासकाल के प्रतिनिधि नाटककार मुरारि व राजशेखर के नाटकों मे प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों का विवरण देते हुए उनके विनियोग का मूल्यांकन किया गया है। राजशेखर का कर्पूरमजरी नामक सट्टक प्राकृत भाषा में प्रणीत है, फिर भी इसकी प्रसिद्धि व महत्त्व को देखते हुए हमने इसके अतिप्राकृत तत्त्वों का भी परिचय दिया है जिसके बिना राजशेखर की कृतियों का अध्ययन अधूरा रहता। दशम अध्याय में शक्तिभद्र, दिङ्नाग, क्षेमीश्वर, कुलशेखर, जयदेव, रामभद्र दीक्षित व महादेव आदि के नाटको का विवेचन किया गया है। साथ ही इस अध्याय में हमने रामकथा-सम्बन्धी कुछ प्राचीन व लुप्त, किन्तु नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उद्धृत या उल्लिखित नाटकों को भी अपने अध्ययन में सम्मिलित किया है। अतिप्राकृत तत्त्वों के नाटकीय विनियोग की परवर्ती परम्परा के दिग्दर्शन के लिए हमने इसी अध्याय मे अनेक नाटकों के अतिप्राकृत तत्त्व सम्बन्धी संदर्भ दिये है जिनमें से कुछ बीसवीं शताब्दी की कृतियां भी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की योजना के मस्तिष्क में आने से लेकर इसके प्रकाशन के क्षण तक अनेकानेक व्यक्तियों ने इस कार्य में मुझे विभिन्न रूपों में सहयोग व साहाय्य प्रदान किया है जिनके प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य मानता हूं। सर्वप्रथम तो मैं अपने गुरुजनों—पूज्यपाद श्री सुरजनदास जी स्वामी, डॉ० फतहसिंह,

डॉ० इन्दुशेखर, डॉ० रामानन्द तिवारी एवं श्री द्विजेन्द्रलाल शर्मा पुरकायस्थ के प्रति अपने हृदय की कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूं जिनके चरणों में बैठकर मैंने संस्कृत के दो अक्षर सीखे तथा जिनके आशीर्वादों एवं शुभ कामनाओं ने मुझे निरन्तर प्रोत्साहित व प्रेरित किया।

मैं अपने शोधकार्य के निर्देशक डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, आचार्य, संस्कृत विभाग एवं अध्यक्ष, मानविकी संकाय, उदयपुर विश्वविद्यालय के प्रति अपने अन्तस्तल का गहन आदर एवं आभार प्रकट करना चाहता हूं जिनकी सतत प्रेरणा, स्नेहमय मंगल कामना एवं वैदुष्यपूर्ण परामर्श व मार्गदर्शन से इस ग्रन्थ का प्रणयन सभव हो सका। डॉ० द्विवेदी के सम्पर्क में रहते हुए पिछले कुछ वर्षो में जो कुछ सीखने को मिला है उसे कदापि भूला नहीं जा सकता। वस्तुतः उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द नही हैं।

यहा मैं अपने स्नेही मित्रों—डॉ० नवलकिशोर, डॉ० ताराप्रकाश जोशी, श्री विष्णुचन्द्र, डॉ० प्रतापकरण माथुर एवं श्री नरेन्द्र पंड्या के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूं जिन्होंने समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव व परामर्श देकर मुझे अनुगृहीत किया। अपने शोध-कार्य में जिन विद्वान् मनीषियों के ग्रंथों का मैंने उपयोग किया है उनके प्रति भी मैं श्रद्धानत हूं। विशेष रूप से मैं श्रीमती उषा सत्यव्रत का अत्यन्त आभारी हूं जिनके ग्रंथ 'सस्कृत ड्रामाज् ऑव् ट्वेण्टिएथ सेंचरी' से प्रस्तुत प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय के कुछ अशों को लिखने में मुझे विशेप सहायता मिली है।

अपनी जीवन-सगिनी पद्मा को मात्र धन्यवाद देकर मैं कदापि उऋण नहीं हो सकता, क्योकि उनके सहयोग के बिना मै इस कार्य को शायद ही पूरा कर पाता। मेरे बच्चे—वसुधा, सुधीर व नीरजा ने अबोध होते हुए भी मेरे कार्य में समय-समय पर जो मदद की उसके लिए मैं उन्हें केवल आशीर्वाद ही दे सकता हूं।

श्री दूल्हेसिह मेहता ने शोध-प्रबंध को सुचारु रूप मे टकित कर मेरे कार्य मे जो हाथ बँटाया इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र है। देवनागर प्रकाशन के संचालक श्री पवनचन्दजी सिंघवी एवं श्री मनमोहनराजजी ने प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रकाशन का दायित्व सहर्ष स्वीकार कर इसे जिस सुचारु व सुरुचिपूर्ण रीति से सम्पन्न किया है इसके लिए मैं उनके प्रति आभारी हूं।

डॉ० द्विवेदी ने ग्रंथ का आमुख लिखकर मुझ पर जो अनुकम्पा की है उसके लिए मैं एक बार पुनः उनके प्रति आभार प्रकट करता हूं।

(ठ) : संस्कृत नाटक में अतिप्राकृत तत्त्व

अंत में ग्रंथ को सहृदय व सुधी पाठकों के हाथों में सौंपते हुए यही निवेदन है कि इसमें प्रमाद या अज्ञान वश मुझ से जो भी त्रुटियां हुई हों उन्हें वे उदारतापूर्वक क्षमा करेंगे। संस्कृत नाटक की अवगति एवं रसास्वादन में यदि इस ग्रन्थ से प्रवुद्ध पाठकों को कुछ भी लाभ होगा तो अपने श्रम को सार्थक मानूंगा।

संस्कृत विभाग
उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

—मूलचन्द्र पाठक

संकेताक्षर सूची

अनु० प०	अनुशासन पर्व
अ० भा०	अभिनव भारती
अभि०	अभिषेक
अभि० शाकु०	अभिज्ञानशाकुन्तल
अवि०	अविमारक
आ० चू०	आश्चर्यचूडामणि
आ० प०	आदिपर्व
ई० उ०	ईश उपनिषद्
उ० रा०	उन्मत्तराघव
उ० रा० च०	उत्तररामचरित
क० उ०	कठ उपनिषद्
कर्पूर०	कर्पूरमंजरी
क० स० सा०	कथासरित्सागर
काव्या० सू० वृ०	काव्यालंकारसूत्र वृत्ति
कु० सं०	कुमारसम्भव
च० कौ०	चण्डकौशिक
छांदो० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्
तप० सं०	तपतीसंवरण
द० रू०	दशरूपक
दू० वा०	दूतवाक्य
दे०	देखिए
ध्वन्या०	ध्वन्यालोक

ना० द०	नाट्यदर्पण
ना० द० वि०	नाट्यदर्पणविवृत्ति
ना० ल० र० को०	नाटकलक्षणरत्नकोश
नि० सा० प्रे०	निर्णयसागर प्रेस
प० पु०	पद्मपुराण
पृ०	पृष्ठ
प्र० यौ०	प्रतिज्ञायौगन्धरायण
प्रि० द०	प्रियदर्शिका
बा० च०	बालचरित
बा० रा०	बालरामायण
बृहदा० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्
भा० ना० च०	भासनाटकचक्र
भा० पु०	भागवत पुराण
भा० प्र०	भावप्रकाशन
म० च०	महावीरचरित
म० पु०	मत्स्यपुराण
महा० भा०	महाभारत
म० व्या०	मध्यमव्यायोग
माल०	मालविकाग्निमित्र
मा० मा०	मालतीमाधव
मु० उ०	मुण्डक उपनिषद्
मृच्छ०	मृच्छकटिक
योग०	योगसूत्र
रत्ना०	रत्नावली
र० सु०	रसार्णवसुधाकर
राजत०	राजतरंगिणी
व० जी०	वक्रोक्तिजीवित
वा० पु०	वायुपुराण
विक्रमो०	विक्रमोर्वशीय
वि० पु०	विष्णुपुराण
शां० प०	शान्तिपर्व

विषयानुक्रम

विषय	पृष्ठ सं०

नवम अध्याय

दशम अध्याय

१ अतिप्राकृत तत्त्व : वैचारिक आधार

विषय-प्रवेश

विश्व के सभी प्राचीन साहित्यों में अतिप्राकृत तत्त्वों का समावेश मिलता है। साहित्य में ही नहीं, प्राचीन मानव की अन्यान्य सांस्कृतिक सर्जनाओं में भी ये तत्त्व अनुस्यूत है। धर्म, दर्शन, पुराकथा, लोककथा, साहित्य, कला आदि मानव जाति के सास्कृतिक जीवन के प्रायः सभी क्षेत्र अतिप्राकृत विश्वासो से अनुप्राणित है। वस्तुतः ये विश्वास उसके सृष्टि-बोध, विराट् सृष्टि में अपने स्थान तथा उसकी शक्तियों के साथ स्वयं के सम्बन्ध की अवधारणा के अविभाज्य अंग है। सृष्टि के विषय में जैसे-जैसे उसके बोध व अवधारणा मे विकास या परिवर्तन होता गया, वैसे-वैसे अतिप्राकृत तत्त्वो की परिकल्पनाएं भी परिवर्तित होती गई। आज हम विज्ञान और बुद्धिवाद के उस युग में पहुंच गये है जहां हमारे सृष्टिविषयक परम्परागत बोध में क्रांतिकारी परिवर्तन हो चुका है। इसके फलस्वरूप आज के साहित्य मे अतिप्राकृतिक तत्त्वो का विनियोग लगभग समाप्त हो गया है या उनके स्वरूप व उद्देश्य में परिवर्तन हो गया है। किन्तु जहाँ तक प्राचीन साहित्य का प्रश्न है, उसमें प्राकृत व अतिप्राकृत इस प्रकार सग्रथित व संमिश्रित है कि उन्हें सहज ही एक दूसरे से विलग नही किया जा सकता। उसमें जो विश्व-दृष्टि अभिव्यक्त हुई है, प्राकृत व अतिप्राकृत दोनों उसके सहज व स्वाभाविक अग है। उनमे कुछ तारतम्य या कोटिक्रम हो सकता है, पर एक ही सृष्टि मे उनके सह-अस्तित्व में किसी प्रकार का संशय नहीं किया जा सकता। जब हम प्राचीन साहित्य के सदर्भ मे प्राकृत और अतिप्राकृत जैसी प्रतियोगी सज्ञाओ का प्रयोग करते है तो आधुनिक युग की तर्क-प्रधान, वास्तवनिष्ठ व बुद्धिवादी विचारधारा की कसौटी पर ही। इस कसौटी के आधार पर हम यह निर्णय कर सकते है कि प्राचीन साहित्य मे प्रयुक्त कौन से तत्त्व प्राकृतिक है और कौन से अतिप्राकृतिक ? सच तो यह है कि इस वैचारिक पृष्ठभूमि मे ही हमारे

वर्तमान अध्ययन का उन्मेष संभव हुआ है। इसके अभाव में शायद हम प्राकृत व अतिप्राकृत के विवेक मे ही असमर्थ रहते। प्राचीनकाल में ऐसे किसी अध्ययन का प्रवर्तन नहीं हो सका, इसी से यह सिद्ध है कि इसके लिए जो दृष्टि अपेक्षित है उसका वैचारिक संदर्भ अधिकांशतया आधुनिक है।

अतिप्राकृत तत्त्व का स्वरूप

अतिप्राकृत का शाब्दिक अर्थ है प्राकृत वस्तुओं को अतिक्रान्त करने वाला, उनसे उच्चतर, श्रेष्ठतर तथा विलक्षण। व्याकरण की दृष्टि से अतिप्राकृत शब्द विशेषण है तथा इसमें प्रादितत्पुरुष[1] या बहुव्रीहि समास[2] हुआ है। अतिप्राकृत व प्राकृत दोनों सापेक्ष संज्ञायें है, अतः 'प्राकृत' की व्युत्पत्ति व अर्थ के संदर्भ मे ही 'अतिप्राकृत' का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है। प्राकृत शब्द 'प्रकृति' में 'तत्र भवः' (४. ३. ५३) 'तत आगतः' (४. ३. ७४) 'तस्येदम्' (४. ३. १२०) 'तेन निर्वृत्तम्' (४. २. ६८) आदि सूत्रों से विभिन्न अर्थो में 'अण्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। अत. इसका अर्थ है—'प्रकृति से उत्पन्न,' 'प्रकृति से प्राप्त', 'प्रकृति से सम्बद्ध', अथवा 'प्रकृति से सिद्ध,' आदि। इनमें से 'निर्वृत्त' अर्थ में प्रकृति शब्द से 'ठञ्' प्रत्यय[3] भी होता है जिससे 'प्राकृतिक' शब्द बनता है। इस प्रकार प्राकृत और प्राकृतिक शब्द समानार्थी-से है, इसी दृष्टि से हमने 'अतिप्राकृत' के लिए अनेक स्थलों पर 'अतिप्राकृतिक' शब्द का भी प्रयोग किया है। उक्त व्युत्पत्तियों के आधार पर हम कह सकते है कि जिन तत्त्वों का प्रकृति से सम्बन्ध होता है तथा जिनकी उत्पत्ति, रचना या निष्पत्ति प्राकृतिक उपादानो से होती है वे सब प्राकृत या प्राकृतिक है तथा ऐसे सभी तत्त्वों का अतिक्रमण करने वाले तत्त्व अतिप्राकृत या अतिप्राकृतिक कहे जा सकते है। संस्कृत मे 'तत्त्व' शब्द वास्तविक दशा या परिस्थिति, तथ्य, मूलस्वभाव, मानव आत्मा या भौतिक विश्व का वास्तविक स्वरूप, आद्य सिद्धान्त, घटक, मूल वस्तु आदि विभिन्न अर्थो का वाचक है।[4] हमने प्रस्तुत अध्ययन मे इसका वस्तु, घटना, तथ्य, व्यक्ति या व्यक्तित्व के गुण, विश्वास, विचार आदि विभिन्न अर्थो मे प्रयोग किया है।

प्राकृत वस्तुएं हमारे लौकिक ज्ञान की कसौटी पर खरी उतरती है, वे मनुष्य मात्र के सामान्य अनुभव की सीमाओ का अतिक्रमण नही करती। वास्तविक जगत्

---

1. देखिए—अष्टाध्यायी का सूत्र 'कुगतिप्रादय.' (2. 2. 18) व उस पर कात्यायन का वार्तिक—'अत्यादय. क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया।'
2. दे0—कात्यायन का वार्तिक—'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोप।'
3. दे0 'तेन निर्वृत्तम्' (अष्टाध्यायी 5 1. 79)
4. दे0 वामन शिवराम आप्टे. दि स्टूडेन्ट्स संस्कृत-इगलिश डिक्शनेरी, पृ0 228.

में जो कुछ होता आया है या प्रकृति में जिसके घटित होने की सम्भावनाएं निहित है वह सब प्राकृत कहलाने का अधिकारी है। इसके विपरीत जिन वस्तुओं, घटनाओं, स्थितियों आदि की प्राकृतिक कारणों या नियमों द्वारा समुचित व्या या नही की जा सकती तथा जो बातें हमारे तार्किक ज्ञान की सीमा में नही आतीं, उन्हे हम अतिप्राकृतिक तत्त्व कह सकते हैं। प्राकृत तत्त्व सर्वथा बुद्धिगम्य और विश्लेषणसह होते है। उनके अस्तित्व का आधार स्वयं प्रकृति में निहित रहता है। उनके स्वरूप, कार्य व प्रयोजन को समझने के लिए हमे प्राकृतिक विधानों का अतिक्रमण नही करना पड़ता। किन्तु अतिप्राकृतिक तत्त्व स्वरूप से ही रहस्यमय, अतीन्द्रिय और तर्कातीत होते हैं। अतः मानवबुद्धि उनकी अवगति मे असमर्थता का अनुभव करती है। उनके अस्तित्व का आधार प्राकृतिक जगत् में नहीं पाया जाता। यही कारण है कि उनके स्वरूप व प्रयोजन को जानने के लिए प्रकृति से भिन्न शक्तियों की कल्पना की जाती है। जहाँ प्राकृतिक तथ्य सर्वसाधारण और सुपरिचित होते हैं वहां अतिप्राकृतिक विलक्षण, रहस्यावृत और अद्‌भुत हुआ करते है। इस प्रकार अनिप्राकृतिक तत्त्व की अवधारणा मे अलौकिक, लोकोत्तर, दिव्य, अतिमानवीय, अद्‌भुत व आध्यात्मिक कहे जाने वाले विभिन्न तत्त्व अन्तर्मूत है। अलौकिक का अर्थ है अनुभव-जगत् से भिन्न, अतीत या विलक्षण। लोकोत्तर, लोकातिक्रान्त, लोकातिग आदि शब्द भी इसी अर्थ के वाचक है। दिव्य शब्द पार्थिव व मर्त्य जगत् से भिन्न किसी दैवीलोक से सम्बद्ध तत्त्वों की संज्ञा है। अतिमानवीय, अतिमानुषिक आदि शब्द मानवीय शक्ति वसभावना से अतीत तत्त्वों के द्योतक है। जो तत्त्व अपनी आकस्मिकता, विलक्षणता तथा अविश्वसनीयता द्वारा मानव-मन को चकित व चमत्कृत कर देते है उन्हें अद्‌भुत कहते है। मानव आत्मा की अतिभौतिक प्रकृति व विभूतियों से सम्बन्धित तत्त्व आध्यात्मिक कहे जाते है। ऊपर हमने अतिप्राकृत तत्त्वों का जो स्वरूप बताया है उसमे ये सभी तत्त्व गतार्थ है। साथ ही 'अतिप्राकृत' शब्द अर्थ की दृष्टि से इनमे से प्रत्येक से अधिक व्यापक है। इसीलिए हमने इनकी तुलना में इस शब्द को चुना है, यद्यपि यह पाश्चात्य परपरा से गृहीत है। वस्तुतः हमने इसका प्रयोग अंग्रेजी के 'सुपरनेचुरल' के अनुवाद के रूप मे किया है।[1] इस शब्द को ग्रहण करने का एक उद्देश्य आधुनिक युग की उस बुद्धिवादी विचारधारा की ओर सकेत करना भी है जिसके निकष

---

1. सुपर–अति, नेचुरल-प्राकृतिक। अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध शब्दकोश मे 'सुपरनेचुरल' को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—

"Of, belonging or having reference to, or proceeding from, an order of existence beyond nature or the visible and observable universe; divine as opposed to human or spiritual as opposed to material " Websters New International Dictionary of the English Language.

पर हमने संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त किन्हीं तत्त्वों को अतिप्राकृत माना है। साहित्य के संदर्भ में इस प्रकार के अध्ययन का सूत्रपात पश्चिम में ही हुआ और उसकी आधारभूत दृष्टि भी पश्चिम से ही प्राप्त हुई, इसीलिए हमने 'सुपरनेचुरल' के अर्थ को प्रतिध्वनित करने वाले इस शब्द को अपनाया है। किन्तु उक्त रूप में अभिप्रेत होने पर भी यह शब्द भारतीय परंपरा के लिए सर्वथा अपरिचित नहीं है। हमारे साहित्य मे इससे मिलता-जुलता 'अप्राकृत' शब्द असामान्य, अलौकिक आदि अर्थों मे अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।[1]

सृष्टि के प्रति मनुष्य का द्विविध दृष्टिकोण

मानव-चिन्तन के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालने से विदित होता है कि सृष्टि के विषय में मनुष्य के मुख्यत. दो दृष्टिकोण रहे है। एक दृष्टिकोण ने धर्म, अध्यात्मवाद और पौराणिक विश्वासों को जन्म दिया और दूसरे ने विज्ञान और बुद्धिवाद को। प्रथम ने अतिप्राकृत शक्तियो व सत्ताओं के सदर्भ मे विश्व के घटना-क्रमों की व्याख्या की और दूसरे ने प्राकृतिक कार्यकारणभाव के आधार पर। इसीलिए पाश्चात्य परंपरा में प्रथम दृष्टिकोण को अतिप्राकृतवाद और द्वितीय को प्राकृतवाद भी कहते है। प्राकृतवाद के मूल मे मनुष्य की वस्तु-निष्ठा तथा तर्कप्रधान व ऐहिक प्रवृत्ति का दर्शन होता है जबकि अतिप्राकृतवाद भौतिक सृष्टि के प्रति मनुष्य के अपूर्णता-बोध तथा उससे भी श्रेष्ठतर, उच्चतर व विलक्षण वास्तविकता मे उसकी आस्था की अभिव्यक्ति है। उसमे मनुष्य की आदर्शवादी व श्रद्धा-मूलक प्रवृत्ति प्रतिफलित हुई है।

प्राकृतवाद . यों तो प्राकृतवादी विचारधारा का पूर्ण विकास आधुनिक बुद्धिवाद व विज्ञान की देन है, पर उसका जन्म प्राचीन काल मे ही हो गया था। प्राचीन युग में जब-जब मनुष्य मे वैज्ञानिक प्रवृत्ति प्रबल हुई तब-तब उसने सृष्टि के तथ्यों को वस्तुदृष्टि से देखने-परखने का प्रयत्न किया। इसीलिए कहा गया है कि प्राकृतवाद विज्ञान से पुराना है पर वैज्ञानिक प्रवृत्ति से पुराना नही।[2] प्राचीन यूनान में जब वस्तुजगत् की लोकप्रचलित पौराणिक व धर्ममीमासापरक व्याख्याओ के विरुद्ध वैज्ञानिक चेतना का उदय हुआ तब तथ्यों और घटनाओं का सरल व बुद्धिगम्य समाधान प्रस्तुत किया गया। आयोनिक दार्शनिको-थेलीज, एनेक्जीमेंडर तथा एनेक्जी-मिनीज ने क्रमशः जल, अरूप द्रव्य व वायु को एव ल्युसिपस, डेमोक्रीटस व एपीक्युरस

---

1. दे0 भवभूतिकृत 'महावीरचरित' 1. 3; 2. 39; 4. 12.
2. दे0 जेम्स हेस्टिंग द्वारा संपादित 'एन्साईक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एंड एथिक्स', भाग 9 मे 'नेचुरेलिज्म' पर डबल्यू0 डी0 नाइवेन का निबन्ध, पृ0 196.

ने भौतिक परमाणुओं को सृष्टि का मूल कारण माना, जबकि ज्ञानवादी चिन्तकों (Sophists) ने अधिकतर अनुभववादी व सन्देहवादी दृष्टिकोण अपनाया।[1] पश्चिम में यही विचारधारा आधुनिक काल में डेविड ह्यूम के प्रबल संदेहवाद (Scepticism) व डार्विन के जैविक विकासवाद के रूप में विकसित हुई।

दूसरी ओर भारतीय चिन्तन-परंपरा में भी प्रारंभ से ही प्राकृतवादी विचारों की एक अन्तर्धारा रही है जिसकी सैद्धान्तिक परिणति आगे चल कर चार्वाकों के जड़वाद में हुई। वेदों के कर्मकांडीय रहस्यवाद व अलौकिकवाद के विरुद्ध परवर्ती काल में नास्तिक कही जाने वाली अनेक विचारधाराओं का उदय हुआ। इनकी सर्वप्रथम सैद्धान्तिक चर्चा श्वेताश्वतर उपनिषद् में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद व भूतवाद आदि के रूप मे हुई है।[2] इनमे से कालवाद काल (शंकराचार्य के अनुसार स्वभाव या प्रकृति) को, स्वभाववाद स्वभाव (वस्तुओं की प्रतिनियत शक्ति, जैसे अग्नि में औष्ण्य) को, नियतिवाद नियति (भवितव्यता जिसमें कर्म और पुरुषकार के लिए कोई अवकाश नहीं) को, यदृच्छावाद यदृच्छा (आकस्मिकता या नियमहीनता) को तथा भूतवाद भूत द्रव्यों को सृष्टि का कारण मानता है। यद्यपि इन सिद्धान्तों मे पर्याप्त अन्तर है तथापि वैदिक धर्म के अलौकिकवाद का विरोध करने में ये परस्पर एकमत प्रतीत होते है। इसी प्रकार महाभारत के शातिपर्व मे स्वभाववाद, देववाद तथा पुरुषकारवाद जैसी भौतिकवादी विचारधाराओं का विवरण मिलता है। इनमें से स्वभाववाद भूतचिन्तकों का सिद्धान्त कहा गया है तथा किन्ही विचारकों की दृष्टि मे दैव, कर्म व पौरुष की अभिन्नता बतायी गयी है।[3] श्री हिरियन्ना ने स्वभाववाद को 'भारतीय प्राकृतवाद' की संज्ञा दी है और महाभारत शा० प० के विभिन्न स्थलों का संदर्भ देते हुए उसकी प्रमुख मान्यताओं पर विशद प्रकाश डाला है।[4] उनके विचार में स्वभाववाद न तो यदृच्छावाद या अनिमित्तवाद के समान इस जगत् को व्यवस्थाहीन मानता है और न अध्यात्मवाद के समान किसी अतिप्राकृतिक शक्ति

---

1. दे0 डब्ल्यू टी0 स्टेसकृत ए 'क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव् ग्रीक फिलॉसफी', पृ0 20–29, 86–89, 356–357, 106–126.
2. 1 2.
3. केचित्पुरुषकारं तु प्राहु कर्मसु मानवा.।
   दैवमित्यपरे विप्रा स्वभाव भूतचिन्तका.॥
   पौरुषं कर्म दैव च फलवृत्ति. स्वभावत ।
   त्रय एतेऽपृथग्भूता न विवेकं तु केचन॥
   महाभारत, शा0 प0 232, 19–20.
4. दे0 श्री हिरियन्नाकृत 'इंडियन फिलॉसोफीकल स्टडीज' मे 'स्वभाववाद ऑर इडियन नेचुरलिज्म' शीर्षक निबन्ध।

द्वारा निर्धारित। स्वभाववाद के अनुसार जगत् की वस्तुएं एकमात्र अपने स्वभाव द्वारा नियमित होती है।[1] यह सिद्धान्त केवल प्रत्यक्ष व उस पर आधारित अनुमान प्रमाण को स्वीकार करता है। श्री हिरियन्ना के अनुसार ज्ञानस्रोतो की इस परिमिति में ही स्वभाववाद का एक ओर मंत्र व ब्राह्मणों के अतिप्राकृतवाद से और दूसरी ओर उपनिषदों के अध्यात्मवाद से विरोध निहित है।[2] स्वभाववादी दार्शनिक अपने जगत्-विश्लेषण मे संभवतः भौतिक तत्त्वों पर जाकर रुक गये थे, इसीलिए वे भूतचिन्तक कहे गये है। स्वभाववाद ने आत्मा के देहान्तरग्रहण का भी निषेध किया है। महाभारत के अनुसार "जीवित (जीव) और शरीर जन्म से ही साथ उत्पन्न होते हैं, साथ बढ़ने है और साथ-साथ नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार सागर में स्रोतों का पर्यवसान है उसी प्रकार निधन भूतों (प्राणियों) का अन्त है।"[3] श्री हिरियन्ना के विचार मे नित्य आत्मा जैसी अनुभवातीत सत्ताओं का प्रतिषेध ही इस सिद्धांत का मुख्य लक्ष्य है।[4]

इससे पहले कि हम चार्वाकदर्शन के भौतिकवाद की चर्चा करे, यहाँ आजीवक सप्रदाय के कतिपय नास्तिक दार्शनिकों के मतों का उल्लेख कर लेना उचित होगा। इन दार्शनिकों मे मक्खलि गोसाल, पूरण कस्सप, अजित केसकंबली, पकुध कच्चायन व संजय वेलट्ठिपुत्त विशेप रूप से उल्लेखनीय है। इनमे मक्खलिगोसाल सबसे महत्त्वपूर्ण है। वे महावीर व बुद्ध के समकालीन थे। उन्होंने कर्मो को सर्वथा निष्फल माना है। उनके अनुसार सुख-दु.ख, पाप-पुण्य, पुनर्जन्म आदि का कोई हेतु नही है, मनुष्य का प्रयत्न और पुरुषार्थ सर्वथा निरर्थक है। गोसाल घोर नियतिवादी थे।[5] उनके अनुसार सुख-दु.ख, पाप-पुण्य आदि सब पूर्वनियत हैं, मनुष्य कुछ कर सकता है तो यही कि वह चुपचाप अपनी नियति की प्रतीक्षा करे। वे पुनर्जन्म को मानते थे, जिसका अर्थ है कि आत्मा की देहोत्तर सत्ता में उनका विश्वास था। पर उनके विचार मे पुनर्जन्म का कारण नियति है, न कि कर्म। वे कर्म को अस्वीकार नही

---

1. दे0 श्री हिरियन्नाकृत 'इडियन फिलॉसोफीकल स्टडीज' मे 'स्वभाववाद ऑर इडियन नेचुरलिज्म' शीर्षक निवन्ध। पृ0, 73.
2. वही
3. जीवितं च शरीर च जात्यैव सह जायते।
   उभे सह विवर्धेते उभे सह विनश्यत.॥
   भूताना निधनं निष्ठा स्रोतसामिव सागर'।
   नेतत् सम्यग्विजानन्तो नरा मुह्यन्ति वज्रधृक्॥
   म0 भा0 शा0 प0 224. 7, 9.
4. इडियन फिलॉसॉफिकल स्टडीज, पृ0 75.
5. दे0 डेल रीप कृत 'दि नेचुरलिस्टिक ट्रेडीशन इन इंडियन थॉट,' पृ0 38–41.

करते, पर उसकी नैतिक शक्ति या प्रभावशीलता मे उनकी आस्था नहीं है ।[1]

पूरण कस्सप भी मक्खलि गोसाल के समान अक्रियावादी थे । उन्होंने भी अच्छे-बुरे सब प्रकार के कर्मों की निष्फलता का प्रतिपादन किया है ।[2] अजित केस-कवली उग्र भौतिकवादी थे जिन्होंने यज्ञ, दान, सुकर्म, दुष्कर्म, परलोक और तत्त्वज्ञान का निषेध किया है ।[3] पकुध कच्चायन ने वैशेषिकों के समान सात नित्यपदार्थ माने है तथा प्रकारान्तर से कर्मो की निष्फलता स्वीकार की है ।[4] संजय वेलत्थिपुत्त सशय-वादी थे; उन्होने आत्मज्ञान को अप्राप्य माना है ।[5]

आजीवकों के उक्त विचारो को हम पूर्णतया प्राकृतवादी तो नही कह सकते पर उनमे हमें प्राकृतवाद की ओर एक असंदिग्ध झुकाव अवश्य दिखाई देता है । सबसे महत्त्वपूर्ण वात यह है कि जगत् व मानव नियति की व्याख्या मे वे किसी अतिप्राकृत शक्ति या तत्त्व का सहारा नहीं लेते ।

भारतीय प्राकृतवादी चिन्तन का सबसे विकसित व व्यवस्थित रूप हमें चार्वाक दर्शन मे मिलता है । केवल अनुभव-जगत् तक सीमित और सामान्य जनो में प्रचलित होने के कारण यह लोकायत सिद्धान्त भी कहा गया है । ऐतिहासिक दृष्टि से इसे हम शताब्दियों से चले आ रहे भौतिकवादी चिन्तन का एक सकलित व व्यवस्थित रूप कह सकते है ।[6] चार्वाको के अनुसार यह सृष्टि एक पूर्णतया भौतिक सृष्टि है जिसका निर्माण पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों से हुआ है । आत्मा या चैतन्य इन भूतों के विशिष्ट सघटन का ही एक आकस्मिक परिणाम है । मृत्यु ही प्राणी के अस्तित्व का अन्त है । ईश्वर, देवता, अमर आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म आदि बाते स्वार्थी व पाखंडी धूर्तो की कल्पनाये है । उनके अनुसार एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है; जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष नही किया जा सकता वे मिथ्या है । ईश्वर, आत्मा, देवता, परलोक आदि ऐसी ही वस्तुएं है । उनके विचार मे देह से भिन्न कोई

---

1. दे० डेल रीप कृत 'दि नेचुरलिस्टिक ट्रेडीशन इन इडियन थॉट,' पृ० 43-44.
2. वही, पृ० 35-36.
3. वही, पृ० 36.
4. वही, पृ० 36-37.
5. वही, पृ० 37-38.
6. सर्वप्रथम सभवत बृहस्पति ने सूत्रो व श्लोको के रूप में इस विचारधारा को शास्त्रीय रूप दिया था, परन्तु अब बृहस्पति का ग्रन्थ प्राप्त नही होता । केवल उसके कुछ सूत्र व श्लोक परवर्ती दर्शनग्रन्थो मे उद्धरणो के रूप मे मिलते है । चार्वाक दर्शन का हमारा ज्ञान माधवाचार्य के 'सर्वदर्शनसग्रह' व विभिन्न दर्शनो मे पूर्वपक्ष के रूप मे दिये गये चार्वाकों या लोकायतिको के विचारो पर आधारित है । इस विषय में देखिए,-डा. सर्वानन्द पाठक-कृत 'चार्वाक-दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा' पृ० 135-136.

आत्मा नही है । इसलिए भौतिक सुखों का उपभोग ही मनुष्य का ध्येय होना चाहिए ।

इस विवरण से स्पष्ट है कि चार्वाक की ज्ञानमीमांसा अनुभवमूलक, तत्त्व-मीमांसा भौतिकवादी और आचारमीमांसा सुखवादी है । "चार्वाक (१) केवल अनुभवात्मक पद्धति को मान्यता देता है, किसी और को नहीं (२) वह अप्राकृतिक का सर्वथा प्रतिषेध करता है तथा (३) मानता है कि जहां तक प्राकृतिक जगत् के नियमन का प्रश्न है वह स्पष्टतया जड़ साधनों से ही संभव है । इस प्रकार यह मत एक उच्चकोटि का प्राकृतवादी सिद्धान्त कहलाने की सभी शर्तों को पूरा करता है ।"[1]

यह ध्यातव्य है कि भारतीय दर्शन के भावी विकास मे चार्वाकों की उक्त विचारधारा का विशुद्ध रूप अक्षुण्ण नहीं रह सका । नास्तिक और आस्तिक दोनो ही दर्शन संप्रदायो ने उसके विभिन्न पक्षों का खण्डन करते हुए उसमें अपनी-अपनी दृष्टि से परिष्कार किया । वेद-विरोधी जैनों व बौद्धों ने नास्तिक होते हुए भी चार्वाकों के अतिभौतिकवाद को अनेक अतिप्राकृत तत्त्वो की स्वीकृति द्वारा एकागी होने से बचाया । उदाहरणार्थ, जैनों ने पुद्गल-विषयक सिद्धांत के रूप में भौतिकवाद को ग्रहण करते हुए भी जीव, कर्म, पुनर्जन्म एवं प्रमाण-सम्बन्धी मान्यताओं[2] द्वारा परम्परागत अतिप्राकृतवादी चिन्तनधारा के साथ उसका समन्वय स्थापित किया । इसी प्रकार बौद्धों ने अनात्मवादी व अनीश्वरवादी होते हुए भी परलोक, कर्म व पुनर्जन्म के रूप में अतिप्राकृतिक तत्त्वो को अपने दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया । दूसरी ओर सांख्य, वैशेषिक व मीमांसा दर्शनो ने प्रकृतिवाद के कतिपय तत्त्वों का अपने मे प्रकारान्तर से अन्तर्भाव करते हुए भी अपने सैद्धान्तिक चिन्तन मे अतिप्राकृतवादी धारणाओं को ही सर्वोपरि रखा । उदाहरण के लिए सांख्य ने प्रकृति को तथा न्याय-वैशेषिक व मीमासा ने भौतिक परमाणुओं को सृष्टि का उपादान कारण मानते हुए भी क्रमशः पुरुष व आत्मा को उनकी तुलना में प्रधानता दी है ।[3] वेदान्त दर्शन में यह प्रधानता चरम कोटि पर पहुँच गई है । जिस प्रकार चार्वाक दर्शन भौतिकवाद का चरम रूप है उसी प्रकार वेदान्त-विशेषतः शांकर वेदान्त-अध्यात्मवादी दृष्टिकोण की पराकाष्ठा है, क्योंकि वह सच्चिदानंद ब्रह्म के अलावा किसी भी सत्ता को स्वीकार नही करता । वह 'प्रकृति' को अधिक से अधिक ब्रह्म की मायाविनी शक्ति के रूप में मान्यता देता है । शंकर ने भौतिक जगत् की केवल प्रातिभासिक व व्यावहारिक सत्ता मानी है तथा उसे ब्रह्म का विवर्तमात्र कहा है ।

---

1. डेल रीप. दि नेचुरलिस्टिक ट्रेडीशन इन इंडियन थॉट, पृ0 78.
2. जैनों ने केवल, अवधि व मन पर्याय के रूप में पारमार्थिक या अतीन्द्रिय ज्ञान के तीन रूप स्वीकार किये हैं । दे0 डा. उमेश मिश्र-कृत 'भारतीयदर्शन', पृ0 123.
3 साख्य के अनुसार पुरुष-संयोग के बिना प्रकृति से सृष्टि का विकास सभव नही है और न्याय-वैशेषिक नित्य परमाणुओ से जगत् की सृष्टि में ईश्वर के कर्तृत्व को अनिवार्य मानता है ।

उक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि भारतीय चिन्तन-परंपरा में प्राकृतवादी विचारधारा अतिप्राचीन होते हुए भी चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी दार्शनिक मत में अपने विशुद्ध व स्वतंत्र रूप में ग्राह्य नहीं हो पाई। अन्य दर्शन संप्रदायों ने उसका खंडन करने के उद्देश्य से पूर्वपक्ष के रूप में ही उल्लेख किया है और यदि उसे अपनाया भी है तो इतने परिष्कृत, परिवर्तित व सूक्ष्म रूप में कि उसका मूल जड़वादी रूप प्रायः तिरोहित हो गया है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तन में प्राकृतवाद अधिक से अधिक एक अन्तर्धारा के रूप में रहा है, उसमें प्रधानता सदैव अतिप्राकृतवादी विश्व-दृष्टि को ही मिली है, जिसका स्वरूप है दैवी व आध्यात्मिक शक्तियों के संदर्भ में भौतिक सृष्टि की व्याख्या तथा ईश्वर, आत्मा, परलोक, कर्म व पुनर्जन्म जैसे अनुभवातीत तत्त्वों की मान्यता। भारतीय धर्मपरंपरा और उससे अनुप्राणित पौराणिक कथाएं चिरकाल से अतिप्राकृत तत्त्वों को प्रश्रय देती रही है यह हम आगे बतायेंगे। भारत के समान पश्चिम की विचारधारा मे भी मध्यकाल तक अतिप्राकृतवादी जीवन-दृष्टि का ही प्राबल्य रहा। इन दोनों के प्राचीन व मध्यकालीन साहित्य मे, जो मु यतः धार्मिक व पौराणिक विश्वासो के प्रभाव मे रचा गया, प्राकृत और अतिप्राकृत तत्त्वों की सहस्थिति, सम्मिश्रण तथा 'प्राकृत' की नियामक के रूप में अतिप्राकृत शक्तियों की कल्पना इसी विश्व-दृष्टि और जीवन-दर्शन की तार्किक परिणति है। उसमें मानव-जीवन व परिवेश की वस्तुस्थितियों के चित्रण की कमी तथा आदर्शवाद के प्रति उत्कट आग्रह भी इस विचारधारा का ही स्वाभाविक परिणाम कहा जा सकता है।

आधुनिक युग में वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि व बुद्धिवाद के उदय के साथ मानव-चिन्तन के क्षेत्र में एक नयी क्रांति का सूत्रपात हुआ। इस क्रांति ने मनुष्य की विचारधारा को, जो अब तक अतिप्राकृत जगत् मे केन्द्रित थी, प्राकृत जगत् की ओर उन्मुख किया। भौतिक जगत् के अध्ययन–विश्लेषण व उस पर आधारित विज्ञान की आश्चर्यकारी सफलताओं ने आधुनिक चिन्तको को इस सृष्टि की पूर्णतया प्राकृतिक शक्तियों के संदर्भ में व्या या के लिए प्रोत्साहित किया। बुद्धिवाद व वैज्ञानिक चिन्तन के इस नवोन्मेष ने सृष्टि के सम्बन्ध में जिस नयी विचारधारा को जन्म दिया उसकी परिणति आधुनिक प्राकृतवाद मे हुई। यह विचारधारा प्रकृति अर्थात् भौतिक जगत् को ही एकमात्र सत्य स्वीकार करती है। उसके अनुसार देश और काल के अनन्त विस्तारों में व्याप्त प्रकृति से परे, उसके पीछे या उससे भिन्न कोई सत्ता नही है।[1] प्रकृति स्वयं पूर्ण है, वह स्वयमेव अपनी समग्र व्या या है। उसका कोई कारण नही

1. दे0 विलियम अर्नेस्ट हॉकिंग कृत 'टाइप्स् ऑव् फिलासफी', पृ0 41.

है, प्रत्युत वह स्वयं कारणों की एक समग्र व्यवस्था है। सृष्टि की प्रत्येक पूर्व अवस्था उत्तर अवस्था का आधार है और उसकी पूर्ण व्याख्या है। प्रकृति के समस्त क्रिया-कलाप उसके अपने नियमों से अधिशासित है। आन्तरिक या बाह्य जगत् के किसी भी तथ्य या घटना की व्याख्या के लिए हमें प्रकृति के बाहर किसी अलौकिक तत्त्व की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रकृति के अतिरिक्त ऐसी कोई सत्ता है ही नहीं। प्राकृतवाद के अनुसार प्रकृति ही संपूर्ण वास्तविकता है, उसे अपने बाहर न किसी हेतु की अपेक्षा है और न प्रयोजन की। अतः हम जिस विश्व में रहते हैं वह एक प्राकृतिक विश्व है, उसके समस्त पदार्थ प्राकृतिक पदार्थ हैं तथा स्वयं प्रकृति में उनके आविर्भाव और तिरोभाव का रहस्य निहित है।[1]

प्राकृतवाद के अनुसार मनुष्य और उसके समस्त क्रियाकलाप भी प्राकृतिक सृष्टि के ही अंग है। जिन नियमों से वस्तु-जगत् नियंत्रित है उन्हीं से मनुष्य भी। मनुष्य में मन और बुद्धि का जो वैशिष्ट्य है, वह भी प्राकृतिक उपादानों का परिणाम है। उसकी विचार शक्ति उसके ऐन्द्रिय संवेदनों का ही परवर्ती विकास है और संवेदन बाह्य प्रेरकों पर आधारित है। अतः मनुष्य का मानस-जगत् भी भौतिक वास्तविकता की ही प्रतिच्छवि है। "जिस प्रकार प्रतिविम्व बिम्व में होने वाले परिवर्तनों को प्रतिफलित करता है, उसी प्रकार मानस-प्रक्रिया भौतिक प्रक्रिया की छाया है।"[2]

प्राकृतवाद के अनुसार प्रकृति में निरन्तर विकास होता आया है जिससे वह आज की स्थिति मे पहुँची है। इस विकासक्रम की किसी विशिष्ट अवस्था में जड़ता से चैतन्य का आविर्भाव हुआ। विकास की यह प्रक्रिया सरलता से जटिलता और विशेषीकरण की दिशा मे गतिशील रहती है।[3]

प्राकृतवाद वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अनुगामी है। उसके अनुसार "हमारा समस्त ज्ञान तथ्य-जगत् से सम्बन्धित है। जो तथ्य नही है उससे हमारा कोई सरोकार नही। तथ्यों की खोज भी उन पद्धतियों से होनी चाहिए जिन्हे विज्ञान ने परिपूर्णता प्रदान की है। प्राकृतिक विज्ञानों ने हमें जो ज्ञान दिया है उसके अलावा सही अर्थ मे कोई ज्ञान संभव नही है।"[4]

प्राकृतवाद ने विश्व के तथ्यों को जानने और उनके कारणों को खोजने के मानव-बुद्धि के स्वातन्त्र्य को स्वीकार किया है। उसकी अतिप्राकृतवाद के विरुद्ध

---

1. दे0 एन्साईक्लोपीडिया ऑव् सोशल साइन्सेज्, भाग 11 मे 'नेचुरलिजम' शीर्षक निबन्ध।
2. दे0 एन्साईक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एड एथिक्स, भाग 9 में 'नेचुरलिजम' पर डवल्यू0 डी0 नाइवेन का निबन्ध, पृ0 196.
3. वही
4. वही

यही आपत्ति है कि वह मानव की विचारशक्ति पर अंकुश लगाकर प्रत्येक तथ्य का कारण किसी अतिप्राकृत जगत् में खोजने का प्रयास करता है।[1] धर्म ने जगत् के तथ्यों की व्याख्या अधिकतर अतिप्राकृत शक्तियों के संदर्भ में की है। वह प्राकृतिक घटनाक्रमों के पीछे किसी दैवी शक्ति की प्रेरणा स्वीकार करता है तथा दिव्य हस्तक्षेप, अनुग्रह, प्रभाव व चमत्कारों को सभव ही नही स्वाभाविक भी मानता है। प्राकृतवाद ने धर्म की इन मान्यताओं को अस्वीकार कर प्रकृति को ही एकमात्र व अन्तिम सत्य स्वीकार किया। उसने मनुष्य को अतिप्राकृत के रहस्यलोक से निकाल कर वास्तविकता की ठोस व प्रत्यक्ष भूमि पर लाकर खड़ा करने का दावा किया।

प्राकृतवाद ने 'संकल्प की स्वतंत्रता' का भी निषेध किया है, यदि इसका यह आशय हो कि प्रकृति की कारण-प्रक्रियाओं का अतिक्रमण कर मनुष्य अपनी इच्छानुसार कुछ कर सकता है। इस प्रकार प्राकृतवाद, जैसा कि हमने पहले भी कहा, एक प्रकार के यंत्रवाद व नियतिवाद को प्रश्रय देता है। इसकी मान्यता है कि मनुष्य का व्यवहार उन्ही नियमों के अधीन है जो नक्षत्रों और परमाणुओं की गतियों को निर्धारित करते है।[2]

अतिप्राकृतवाद · ऊपर हमने सृष्टि व मनुष्य के विपय मे आधुनिक प्राकृतवाद के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचय दिया जिसमें अतिप्राकृत तत्त्वों के लिए कोई स्थान नही है। इस दृष्टिकोण मे नवीन वैज्ञानिक अनुसन्धान व चिन्तन ने जो परिष्कार किया है उसका हम आगे उल्लेख करेंगे। उसके पहले हमें उस दूसरी विश्वदृष्टि को भी जान लेना चाहिए जिसमें सृष्टि के तथ्यों व मानवनियति की व्या या अधिकतर अतिप्राकृत तत्त्वों के संदर्भ मे की गई है। इन तत्त्वों की वैचारिक पृष्ठभूमि 'अतिप्राकृतवाद' में मिलती है जो कोई नियमित व विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त नही है अपितु अनेकविध धार्मिक, आध्यात्मिक, पौराणिक व दार्शनिक विश्वासों का संकलन कहा जा सकता है। यद्यपि इन विश्वासो मे अतिशय विविधता व स्तरभेद पाया जाता है तथापि हमने भारतीय संदर्भ को ध्यान मे रखते हुए इन विश्वासो के सामान्य तत्त्वों के आधार पर अतिप्राकृतवाद की एक समन्वित रूपरेखा देने का प्रयत्न किया है।

जहाँ प्राकृतवाद प्रकृति को ही एकमात्र व अन्तिम तत्त्व स्वीकार कर उसी के माध्यम से समस्त तथ्यों व अनुभवों का विवेचन व मूल्यांकन करता है वहाँ

---

1. दे0 एन्साईक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एंड एथिक्स, भाग 9 में 'नेचुरलिज्म' पर डवल्यू0 डी0 नाईवेन का निवन्ध, पृ0 196.
2. दे0 हॉकिंग : टाइप्स ऑव् फिलॉसफी, पृ0 43.

अतिप्राकृतवाद किन्ही दैवी शक्तियो या आध्यात्मिक तत्त्वों को सृष्टि का नियामक, संचालक या मूलतत्त्व मान कर उन्हीं के संदर्भ में सत्य-असत्य व शुभ-अशुभ की समीक्षा करता है। वह हमारे अनुभव जगत् से परे एक ऐसी अदृश्य सत्ता को मानता है जो जड़ प्रकृति व मनुष्य दोनों के जीवन को नियंत्रित व संचालित करती है। वह सृष्टि की घटनाओं में प्राकृतिक कार्य-कारणभाव को पर्याप्त नही मानता, अपितु दैवी योजना, इच्छा, हस्तक्षेप, साहाय्य आदि द्वारा उनकी व्याख्या करता है। वह विश्व को भौतिक वस्तुसमष्टि मात्र स्वीकार नहीं करता प्रत्युत उसे एक या अनेक दैवी अथवा आध्यात्मिक शक्तियों से अधिष्ठित, उत्प्रेरित व अधिशासित समझता है। उसके अनुसार जो दृष्टिगत हो रहा है वह सत्य नहीं है, अपितु सत्य का एक सुन्दर आवरण मात्र है।[1] यह दृश्य-जगत् न भौतिक पिंड मात्र है और न प्रकृति की अंध अहेतुक क्रीड़ा ही, अपितु वह ईश्वर व अन्य दिव्य शक्तियों के लोकोत्तर प्रयोजनों की पूर्ति का साधन है।[2] बाह्य जगत् के समान मानव भी केवल पंचभूतों का पुतला नही है, अपितु मूलतः एक आध्यात्मिक तत्त्व है। व्यष्टि और समष्टि दोनों का आधारभूत यह तत्त्व परमार्थतः एक ही है।[3]

अतिप्राकृतवाद ऐन्द्रियज्ञान व तार्किक चिन्तन को विश्व की वास्तविकताओं को बूझने में असमर्थ मानता है।[4] उसके अनुसार कुछ विरले लोग ही जिन्हें मानव-जाति ऋषि, योगी, तत्त्वज्ञानी, सिद्धपुरुष, ईश्वरीय दूत आदि के नाम से जानती है, दैवी अनुग्रह या आध्यात्मिक साधना से प्राप्त अन्तर्दृष्टि द्वारा उन्हें जान सकते है।

अतिप्राकृतवाद के अनुसार प्राणी की ऐहिक व पारलौकिक गति उसके कर्मों से निर्धारित होती है। सारी सृष्टि में एक ईश्वरीय न्याय व दैवी व्यवस्था स्थापित है जिसे तोड़ने की सामर्थ्य किसी भी प्राणी में नहीं है। केवल दैवी अनुग्रह, हस्तक्षेप, आशीर्वाद या वरदान द्वारा उसकी नियति के पूर्व निर्धारित क्रम मे कुछ संशोधन, परिवर्तन या शिथिलता संभव है।

---

1. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
   तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ ई० उ० 15.
2. श्वेता० उ० 4. 1.
3. मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
   मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ गीता, 7. 7.
   आत्मा एव इदं सर्वम्। छान्दो० उ० 7. 25. 2.
   सर्वं खलु इदं ब्रह्म। मु० उ० 2. 2. 11.
   अयम् आत्मा ब्रह्म। बृहदा० उ० 2. 5. 19.
4. नैषा तर्केण मतिरापनेया (क० उ० 1. 2. 9), नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन (मु० उ० 3. 2. 3)

अतिप्राकृतवाद देहनाश को ही अस्तित्व का अन्त नहीं मानता। उसकी दृष्टि में देह का अन्त आत्मा की अगली जीवन-यात्रा का एक आवश्यक सोपान मात्र है।[1] मरणोत्तर जीवन की कल्पनाएं मनुष्य की अतिप्राकृतवादी विश्व-दृष्टि का महत्त्वपूर्ण अंग रही है। स्वर्ग-नरक, पितृलोक व अन्य दिव्य लोक, भूत-प्रेत, कर्मफल, अदृष्ट, अपूर्व, पुनर्जन्म, सूक्ष्म शरीर आदि नाना प्रकार के धार्मिक व दार्शनिक विश्वास प्राणी की मरणोत्तर गति से संबद्ध हैं।

अतिप्राकृतवादी जीवन-दृष्टि चमत्कारों, सिद्धियों व विभूतियों को सृष्टि की दैवी व्यवस्था का एक स्वाभाविक अंग मानती है। तंत्र, मंत्र, योग, तपस्या, सत्य, जादू आदि की लोकोत्तर शक्ति व प्रभविष्णुता मे उसकी आस्था है। पौराणिक कथाओं में वर्णित दैवी पात्रों के लोकोत्तर क्रियाकलापों को वह श्रद्धा और विश्वास की दृष्टि से देखती है।

विश्व के विभिन्न समाजों व संस्कृतियों में अतिप्राकृत तत्त्वो की विविध कल्पनाएं प्राप्त होती है। धर्म, पुराणकथा, दर्शन, लोककथा, साहित्य आदि उनकी अभिव्यक्ति के चिरन्तन माध्यम रहे है। कही बहुदेवों में विश्वास मिलता है तो कही एक ही परम सत्ता और ईश्वर में। कहीं अद्वैतवाद व ब्रह्मवाद जैसी समुन्नत धारणायें मिलती हैं तो कहीं माना (Mana), टाबू (Taboo निषेध), जीववाद (Animism), जादू, टोना-टोटका आदि प्रारंभिक धर्म-कल्पानाएं। कहीं मानव-सहयोगी दैवी शक्तियों में आस्था प्रकट हुई है तो कही देवद्रोही व मानव-अपकारी असुर, दानव, दैत्य, राक्षस, भूत, पिशाच आदि की भयावह कल्पनाएं प्राप्त होती है। ये दैवी व आसुरी शक्तियाँ जो किसी अदृश्य जगत् में रहती हैं, मानव के भाग्य व भवितव्य के सूत्र अपने हाथो में थामे हुए है। सृष्टि के घटनाचक्र इन्हीं शक्तियों की इच्छा के अनुसार परिचालित होते हैं। सर्वशक्तिशाली, उदार व दयालु देवता मर्त्यलोक से दूर होते हुए भी उसके साथ अनेकविध रागात्मक संबन्धों में बंधे है। दोनों के बीच सदैव आदान-प्रदान का क्रम चलता रहता है।[2] एक ओर यदि देवगण मर्त्यो के बीच अवतीर्ण होकर[3] उनके जीवन में मनुष्यवत् भाग लेते है तो दूसरी ओर मर्त्य प्राणी भी दिव्य लोको में जाकर देवों के कार्यों मे हाथ बंटाते हैं या वहाँ दैवी सुखों का उपभोग करते है,[4] किन्तु पुण्य क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक मे

1. गीता, 2. 20. 22.
2. देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
   परस्परं भावयन्तः श्रेय. परमवाप्स्यथ ॥ गीता, 3. 11.
3. वही, 4. 6–8.
4. त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
   ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ गीता 9. 20.

आ जाते हैं।[1] पृथ्वी पर देवताओं के अनेक विहारस्थल हैं जहाँ वे प्रायः आते रहते हैं। अनेक दिव्य प्राणी शापित होकर मर्त्यलोक में पतित होते हैं तथा मनुष्यो के बीच उन्हीं के समान जीवन बिताते हैं। यदि मनुष्य देवताओं के अनुग्रह व साहाय्य के आकांक्षी हैं तो देवों को भी अपनी शक्ति व पुष्टि के लिए मनुष्यों की श्रद्धा, भक्ति और सहयोग की अपेक्षा रहती है। व्यक्तित्व व चरित्र के अनेक पक्षों में अलौकिक होते हुए भी वे अन्ततः मानववृत्तियों से ही परिचालित होते हैं। मनुष्यों के समान उनके भी परिवार और समाज है, वे भी आपस मे लड़ते-झगड़ते और प्रेम करते हैं। मनुष्य की मानस-सृष्टि होने के कारण वे उसी के रूप-रंग और आन्तरिक चरित्र में ढले हुए हैं। तथापि वे मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली और श्रेष्ठ माने गये हैं, उनमें अनुग्रह और निग्रह की सामर्थ्य है। यही कारण है कि मर्त्य मानव सदा उनकी कृपा का प्रार्थी होकर उनकी प्रसन्नता के लिए अनेक उपायो मे लगा रहता है। इस प्रकार दिव्य और मर्त्य, लौकिक और अलौकिक परस्पर स्नेह, स य और वन्धुत्व के दृढ़ सूत्र में आवद्ध है; वे परस्पर प्रतियोगी नही, पूरक और सहयोगी है। हमारा धर्म, पुराण कथाएं, दर्शन, लोककथाएं और इन सवसे प्रभावित साहित्य इस कथन के निदर्शन है।

प्राकृत व अतिप्राकृत तत्त्वों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में अनेक प्रकार की परंपरागत धारणायें मिलती हैं। एक धारणा के अनुसार ये दोनों एक ही सृष्टि के अंग हैं; उनमे केवल गुणात्मक अन्तर है, प्रकारात्मक नही। भारतीय विचार-धारा मे विशेषतः हमारे धर्म व दर्शन में प्राकृत व अतिप्राकृत के सम्बन्ध के विषय में यही धारणा प्रधानतया व्यक्त हुई है। विष्णुपुराण में चौदह लोकों का वर्णन आया है जिनमे से अनेक दिव्य प्राणियो के निवासस्थान हैं।[2] ये सभी लोक एक ही प्राकृत सृष्टि के निम्नोच्च स्तर हैं। सांख्यदर्शन ने समस्त सृष्टि को प्रकृति का विकार या प्राकृत माना है तथा अष्टविध दैव सर्ग का उसी मे अन्तर्भाव किया है।[3] उसके अनुसार 'भुवः लोक' से लेकर 'सत्यलोक' तक के ऊर्ध्व लोक सत्त्वप्रधान हैं; पशु आदि से लेकर स्थावर-पर्यन्त निम्न सर्ग तमः प्रधान है तथा मध्यस्थित भूलोक मे

---

1. ते त भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
   एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥ वही, 9. 21.
   तद्यथेह कर्मचितो लोक· क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।
   (छान्दो० उ० 8. 1. 6)
2. विष्णु पुराण, 2. 5. 2. 4; 2. 7. 3–21: 1. 5. 3–26.
3. अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पंचधा भवति।
   मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिक. सर्गः॥ सांख्य कारिका, 53.

रजोगुण की प्रधानता है ।[1] इस प्रकार मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति तथा देवता, असुर, राक्षस आदि विभिन्न-स्तरों के प्राणी एक ही प्राकृतिक विश्व के निवासी है,[2] उनमें केवल गुणात्मक भेद है । इस भेद के कारण उनके पारस्परिक आदान-प्रदान में कोई बाधा नहीं पड़ती । मनुष्य लोक का प्राणी यदि विशेष साधना या तपस्या के द्वारा अपने में सत्त्व गुण का विकास कर लेता है तो वह भी मृत्यु के उपरान्त या कदाचित् इसी जीवन में सत्त्वप्रधान उर्ध्व लोकों मे जा सकता है ।[3] इसी प्रकार कुछ स्थितियों मे दिव्य प्राणियों को भी मर्त्यलोक में आना पड़ सकता है । संस्कृत नाटको में प्राकृत व अतिप्राकृत लोकों व प्राणियो के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे प्रायः यही धारणा प्रकट हुई है जिस पर पौराणिक कल्पनाओं का प्रभाव है ।

इस विषय में दूसरा दृष्टिकोण अतिप्राकृत को प्राकृत से सर्वथा पृथक् व अतीत मानने का है । इसके अनुसार अतिप्राकृत गुणों की दृष्टि से ही नहीं, प्रकार की दृष्टि से भी प्राकृत से भिन्न है। यह विचारधारा मुख्यत. ईश्वर व देवों की विश्वातीत सत्ता मानने वाले धर्म-दर्शनों की है । इसका विशुद्ध रूप भारतीय धर्म व दर्शन में देखने को नहीं मिलता । योग-दर्शन व न्याय-दर्शन के ईश्वर को हम सीमित अर्थ में इस कोटि में रख सकते है ।[4] किन्तु भारतीय परंपरा में प्राप्त होने वाले अन्य अतिप्राकृतिक तत्त्वों पर यह दृष्टिकोण सामान्यतया लागू नहीं होता । हमारे साहित्य मे तो ये तत्त्व प्राकृतिक सृष्टि व मानव-जीवन में स्वय को अभिव्यक्त कर उन्हें नाना रूपों मे प्रभावित करने वाले बताये गये है ।

तीसरे दृष्टिकोण के अनुसार अतिप्राकृत प्राकृत से परे नहीं, उसी में समाया हुआ[5] या उससे अभिन्न[6] है । दार्शनिक दृष्टि से इसे हम विश्वात्मवाद का नाम दे सकते है । इस दृष्टिकोण के भी दो रूप संभव है । प्रथम के अनुसार प्राकृत सृष्टि व अतिप्राकृत दैवी तत्त्व अद्वैत है, जिसका आशय यह हुआ कि प्राकृतिक घटनाए व

---

1. ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलत. सर्गः ।
   मध्ये रजोविशालो ब्राह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ वही, 54.
2. न तदस्ति पृथिव्या वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
   सत्व प्रकृतिजै मुंक्तं यदेभि. स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ गीता, 18. 40.
3. ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा ।
   जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा ॥ वही, 14. 18; और भी देखिए—वि० पु० 1. 6. 10; मु० उ० 3. 1. 10.
4. योग का ईश्वर विश्वातीत होते हुए भी प्रकृति व पुरुष का सयोग व वियोग कराता है तथा न्याय का ईश्वर जगत् का निमित्त कारण एवं पालक, संहारक आदि माना गया है ।
5. ई० उ० 2 क० उ० 5. 9, गीता 15. 12–15. 17.
6. गीता, 7. 4.

तथ्य वस्तुतः दिव्य या अतिप्राकृत तत्त्व ही हैं।[1] द्वितीय दृष्टिकोण के अनुसार अतिप्राकृत तत्त्व इस प्राकृत सृष्टि में ही अदृश्य रूप में विद्यमान है और वह समय-समय पर अलौकिक घटनाओं या चमत्कारों के रूप में स्वयं को व्यक्त करता रहता है। उदाहरण के लिए प्राकृत सृष्टि व देह में स्थित आत्मतत्त्व अनन्त ऐश्वर्य से युक्त है तथा अलौकिक घटनाएं, विभूतियाँ, सिद्धियां, चमत्कार आदि उसी ऐश्वर्य की अभिव्यक्तियां हैं।[2]

अतिप्राकृत विश्वास : उद्भव व भूमिका : आधुनिक विद्वानों ने धर्म, पुराकथा, जादू आदि की उत्पत्ति के प्रसंग में अतिप्राकृत तत्त्व सम्बन्धी विश्वासों के उद्भव तथा मानव जीवन में उनकी भूमिका के विषय में अनेक प्रकार के मत व्यक्त किये हैं। नृतत्त्वशास्त्रियों के अनुसार ये विश्वास आदिम समाज में उत्पन्न हुए तथा सभ्यता की परवर्ती उन्नत अवस्थाओं में भी पुरावशेषों के रूप में बने रहे।[3] उनके विचार में ये विश्वास आदिम मानव की अतार्किक बुद्धि व अविकसित मनोवृत्ति की देन है।[4] इनमें सृष्टि की शक्तियों व उनके साथ अपने सम्बन्ध के विषय में उसकी प्रारंभिक

---

1. यद्-यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव च।
   तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्॥ गीता, 10. 41.
   पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश.।
   नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णकृतानि च॥ गीता, 11. 5; और भी देखिए—गीता 7. 14.

2. "सत्त्व गुण की उच्च अवस्था प्राप्त होने पर योगी को नाना प्रकार की विभूतियां प्राप्त होती हैं। आत्मा वास्तव में ईश्वर स्वरूप है, अविद्या के आवरण के कारण उसका ईश्वरत्व प्रकट नही हो पाता . . . . जीव जब अपने विशुद्ध परमात्मभाव की उपलब्धि करता है, तब अपने आप ही उसके स्वभावभूत इन अलौकिक ऐश्वर्यो की अभिव्यक्ति होती है।" म0 म0 गोपीनाथ कविराज-कृत 'भारतीय संस्कृति और साधना', द्वितीय खड, पृ0 398.

3. टायलर ने विकसित धर्मविश्वासो को आदिम मानव के 'जीववादी' विश्वास का परवर्ती विकास या अवशेष (Survival) कहा है। टायलर की परिभाषा के अनुसार 'अवशेष' उन सास्कृतिक वृत्तियो को कहते हैं जिनका मूल अर्थ व प्रयोजन लुप्त हो चुका है, लेकिन जो केवल अभ्यास की शक्ति से स्थिर रखे जाते हैं। दे0 एनी मेरी वाल मालफिज्ट कृत 'रिलीजन एंड कल्चर,' पृ0 49.

4. फ्रेजर के अनुसार मनुष्य मानसिक विकास की तीन क्रमिक अवस्थाओ में होकर गुजरा है—जादू, धर्म और विज्ञान। उनके विचार में जादू के युग में मनुष्य मे तर्कबुद्धि का अभाव था, विचार-शक्ति के उदय ने धर्म को जन्म दिया, और धर्म ने विज्ञान को। लेवी ब्रह्ल (Levy-Bruhl) ने आदिम मानव की मनोवृत्ति को मात्रा की दृष्टि से ही नही, गुण की दृष्टि से भी सभ्य मनुष्य की मनोवृत्ति से सर्वथा भिन्न 'पूर्वतर्कात्मक' माना है। दे0 वही, पृ0 54, 63.

वौद्धिक व भावात्मक प्रतिक्रियाएं व्यक्त हुई है ।[1] आदिम मनुष्य को सृष्टि एक विराट् व दुर्वोध रहस्य के रूप में प्रतीत हुई होगी और वास्तविक ज्ञान के अभाव में उसकी काल्पनिक व्याख्या के प्रयत्न मे ये विश्वास उद्भूत हुए होगे । एक अन्य मत के अनुसार इन विश्वासों का जन्म एक अज्ञात व अपरिचित सृष्टि के घटनाक्रमों के प्रति आदिम मानव में उत्पन्न भय, संभ्रम, आश्चर्य, विस्मय, श्रद्धा, हर्प, असहायता, रहस्य आदि विविध भावों से हुआ ।[2] आर० आर० मैरेट ने भी इसी दृष्टि से धर्म की उत्पत्ति का विवेचन किया है । उसका विचार है कि आदिम मनुष्य को प्राकृतिक व मानवीय जगत् मे जहां भी कोई असामान्यता, वैलक्षण्य या आशातीतता का तत्त्व दृष्टिगोचर हुआ वहां उसने किसी लोकोत्तर शक्ति का अनुभव किया होगा तथा उसके प्रति मानस में भय, विस्मय, आदर, प्रेम, प्रशंसा आदि अनेक भावों का एक संमिश्र रूप संभ्रम (Awe) जाग्रत हुआ होगा ।[3] जेवन्स ने फ्रेजर के इस विचार का खंडन किया कि असभ्य मनुष्य प्राकृत व अतिप्राकृत के अन्तर को समझने में असमर्थ था । ऐसा मानने का अर्थ होगा कि आदिम मनुष्य के लिए या तो कुछ भी अतिप्राकृत न था या सब कुछ अतिप्राकृत था । जेवन्स के विचार मे "आदिम मनुष्य ने प्रकृति की प्रक्रिया को अपने लाभार्थ काम में लेने के सफल प्रयाम के लिए स्वय को श्रेय दिया। किन्तु जव वह प्रक्रिया कारगर न हुई तो उसने किसी सर्वनियामक शक्ति पर उसका दोप मढ़ दिया ।"[4]

मैलिनोव्स्की के अनुसार "रोग या महामारी तथा अनावृष्टि, भूकंप, झंझावात आदि आकस्मिक विपत्तियां मनुष्य के ज्ञान के परिचित व सामान्य ताने-वाने को छिन्न-भिन्न कर देती है एवं एक नई व्याख्या, सदर्भ की नई पद्धति व नये मार्ग-दर्शन की माँग करती है ।"[5] उनके अनुसार जादू और धर्म से सम्वन्धित अतिप्राकृत विश्वासों का उद्भव इसी स्थिति मे निहित है । इन विपत्तियों मे मृत्यु से वढ़कर कोई विपत्ति नही हो सकती, उससे उत्पन्न नैराश्य व विफलता की खाई को पाटने के लिए मनुष्य ने आत्मा की अमरता की कल्पना की होगी ।[6] तव उसने अनुभव किया होगा कि

---

1. आधुनिक नृतत्त्वशास्त्रियो मे टायलर, स्पेन्सर, लैंग, फ्रेजर आदि ने धर्म व जादू की उत्पत्ति के विपय में वौद्धिक उपपत्तिया प्रस्तुत की हैं, जव कि मेक्समूलर व मैरेट की उपपत्तियो में सृष्टि के प्रति आदि मानव की भाव-प्रतिक्रियाओ पर वल दिया गया है ।
2. दे० मेक्समूलर: फिजीकल रिलीजन, पृ० 119–120
3. दे० दि थ्रेशहोल्ड ऑव् रिलीजन, पृ० 12–13.
4. दे० एफ० वी० जेवन्स : इन्ट्रोडक्शन टु दि हिस्ट्री ऑव् रिलीजन, पृ० 18.
5. दे० व्रोनिसला मैलिनोव्स्की कृत 'फ्रीडम एंड सिविलाइजेशन', पृ० 207.
6. दे० एन्साईक्लोपीडिया ऑव् सोशल साइन्सेज, खण्ड 3-4 मे मैलिनोव्स्की का 'कल्चर' शीर्पक निवन्ध, पृ० 641.

यह दृश्य जगत् ही सब कुछ नहीं है, देह का अन्त ही अस्तित्व का अंत नहीं है। इस दृश्य जगत् से परे एक अदृश्य जगत् भी है जहां इस जीवन की समस्त अपूर्णताएं एक पूर्ण जीवन में पर्यवसित होती है।[1]

अतिप्राकृत विश्वासों का प्रथम उद्भव चाहे आदिम युग में हुआ हो पर सभ्यता की परवर्ती विकसित अवस्थाओं में भी इनके नये-नये रूप विभिन्न प्रयोजनों से अस्तित्व में आते रहे इसमें संदेह नहीं। यह इसी से सिद्ध है कि अतिप्राकृत तत्त्व केवल आदिम समाजों तक सीमित नहीं हैं अपितु सभ्य समाजों के धर्म, दर्शन और पुराकथाओं में भी अभिव्याप्त हैं। यहां तक कि आज के वैज्ञानिक युग में भी ये विश्वास अविच्छिन्न रूप में बने हुए हैं, केवल अशिक्षितों मे ही नहीं, शिक्षित व सभ्य माने जाने वाले लोगों में भी।[2] इसके कई कारण है; जीवन के अनेक ऐसे रहस्यमय पहलू व असमावेय समस्याएं है जिनके कारण विज्ञान की चुनौतियों के बावजूद आज भी ये विश्वास जीवित है। जीवन की अनिश्चितताएं तथा आकस्मिक अप्रिय घटनाएं मनुष्य को इन तत्त्वों के प्रति विश्वास के लिए प्रेरित करती हैं। घटनाओं के परिचित व प्रत्याशित क्रम में कुछ भी उलटफेर होने पर मनुष्य अतिप्राकृत तत्त्वों में उसकी व्याख्या ढूंढता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये विश्वास उक्त स्थितियों से उत्पन्न निराशा के निराकरण व जीवन के प्रति आस्थापूर्ण संतुलित दृष्टिकोण बनाने में सहायक होते है।[3] इन विश्वासों मे मनुष्य की इच्छापूर्ति तथा कल्पना-विलास की प्रवृत्ति भी प्रकट हुई है।[4] यथार्थ जीवन मे इच्छाओं और आशाओं का विघात होने पर मनुष्य एक काल्पनिक संसार मे उनकी क्षतिपूर्ति का यत्न करता है। ये विश्वास उसे प्राकृतिक बंधनों से उन्मुक्ति प्रदान कर उसकी कल्पना को निर्बाध विचरण का अवसर देते है। लोककथाओं में अतिप्राकृतिक तत्त्वों का यह रूप नितान्त स्पष्ट है।

अनेक अतिप्राकृत तत्त्वों के उद्भव और स्थायित्व में मानव समाज की नैतिक व आध्यात्मिक विचारणाओं व आदर्शो का भी हाथ रहा है जिनका सम्बन्ध प्रायः सभ्यता व संस्कृति की विकसित अवस्थाओं से है। ये तत्त्व सामाजिक संस्थाओं

---

1. दे० हॉकिंग . टाइप्स ऑव् फिलॉसफी, पृ० 31.
2. दे० अर्नेस्ट हेकल : दि रिडल ऑव् दि यूनिवर्स, पृ० 247.
3. दे० जे० मिल्टन यिंगर द्वारा सम्पादित 'रिलीजन, सोसाइटी एंड इंडिविजुअल' में संकलित टॉलकॉट पार्सन्स का निबन्ध 'मोटिवेशन ऑव् रिलीजियस बिलीफ एण्ड बिहेविअर', पृ० 380-385; ब्रोनिसला मैलिनोव्स्की : फ्रीडम एण्ड सिविलाइजेशन, पृ० 208-209.
4. दे० 'एनसाईक्लोपीडिया ऑव् दि सोशल साइन्सेज' में 'फोकलोर' पर रुथ बेनेडिक्ट का निबन्ध, पृ० 292.

के नियम-विधानों एवं व्यक्ति के नैतिक आचरण के अलौकिक प्रवर्तक या नियामक के रूप में सामाजिक संगठन के संरक्षण का कार्य करते हैं।[1]

अतिप्राकृत तत्त्व : विभिन्न दृष्टिकोण : ऊपर हमने प्राकृतवाद व अतिप्राकृत-वाद की प्रधान आस्थाओं का परिचय दिया तथा अतिप्राकृत विश्वासों के उद्भव व मानव जीवन में उनकी भूमिका के बारे में कुछ आधुनिक मतों का उल्लेख किया। इस विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि ये दोनों वाद किन्हीं दर्शन-संप्रदायों के नियमित सिद्धान्त नहीं हैं, अपितु सृष्टि की अवगति व उसके संदर्भ में मानव नियति के मूल्यांकन की दो स्वतंत्र दृष्टियाँ है। इन दृष्टियों का परस्पर वैपम्य व विरोध नितान्त स्पस्ट है। ये दोनों बहुत-कुछ एक-दूसरे के अस्वीकार पर आधारित हैं। यों तो इनका न्यूनाधिक संघर्ष मानव-इतिहास के सभी कालों में रहा होगा, पर आज के वैज्ञानिक युग में यह संघर्ष चरम स्थिति पर पहुंच गया है। एक छोर पर वे श्रद्धालु आस्तिक लोग हैं जो सब प्रकार के अतिप्राकृत तत्त्वों—तंत्र, मंत्र, जादू, चमत्कार, ईश्वर, परलोक, पुनर्जन्म, परकाय-प्रवेश, रूप-परिवर्तन, शाप-वरदान, देवी-देवता, भूत-प्रेत, यौगिक सिद्धियाँ आदि के प्रति एक सहज स्वीकार का भाव रखते हैं तथा अपने जीवन को इन्हीं विश्वासों की छाया में व्यतीत करते है।[2] आज के वैज्ञानिक युग में भी ऐसे लोगों की सं या नगण्य नहीं है। विश्व के जिन क्षेत्रों में अभी वैज्ञानिक ज्ञान का आलोक नहीं पहुंच पाया है वहाँ इन तत्त्वों के प्रति अभी तक सहज श्रद्धा और विश्वास का यही दृष्टिकोण बना हुआ है। इसके विपरीत दूसरे छोर पर वे अत्युत्साही भौतिकवादी व वैज्ञानिक विचारक हैं जो इन तत्त्वों को अंधविश्वास, भ्रम और कल्पना की कोटि में रखते है। ऐसे ही एक विचारक अर्नेस्ट हैकल ने धार्मिक व वैज्ञानिक आस्थाओं का अन्तर बतलाते हुए कहा है—"धार्मिक आस्था का सदैव अर्थ होता है चमत्कारों में विश्वास, अतः वह तार्किक बुद्धि (Reason) की स्वाभाविक आस्था का निराशाजनक रूप से विरोधी है। वह तार्किक बुद्धि के विरुद्ध अतिप्राकृत अभिकरणों (Agencies) को स्वीकार करके चलता है, अतः उसे हम

1. हॉकिंग : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ0 31-33.

2. इस प्रकार के दृष्टिकोण का एक उदाहरण यह कथन है—"इसी प्रकार प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थो में वर्णित अद्भुत शक्तियो को जो श्रद्धा की दृष्टि से नही देखते, तथा उनको समझने भर की योग्यता नही रखते, वे भले ही उनको मिथ्या कहें तथा उनके रूपक रचें, परन्तु इससे उन दैवी शक्तियो का अस्तित्व मिथ्या नही हो जाता।" महाभारत परिचय (गीता प्रेस, गोरखपुर) में संकलित पं0 करुणाशंकर जी शास्त्री का 'महाभारत पर कुछ विचार' शीर्षक निबन्ध, पृ0 95.

न्यायत: अन्धविश्वास कह सकते है।"[1] उनके विचार में "इस अन्धविश्वास का तर्कनापरक आस्था (Rational Faith) से भेद इस बात में निहित है कि वह ऐसी अतिप्राकृत शक्तियों व घटनाओं को मानता है जो विज्ञान के लिए अज्ञात व अस्वीकरणीय हैं और जो भ्रम व कल्पना के परिणाम है। इसके अलावा अन्धविश्वास प्रकृति के सुविदित नियमों का अतिक्रमण करते है, अत: वे अयुक्ति-संगत होते हैं।"[2] इन विचारकों की दृष्टि में ऐसे कोई तत्त्व संभव नही है जो सृष्टि की प्राकृतिक व्यवस्था से अतीत हों या उसके नियमो द्वारा अव्या येय हों। तीसरी कोटि उन विचारकों की है जो अतिप्राकृत तत्त्वों को एक सीमित अर्थ में ही 'अतिप्राकृत' स्वीकार करते हैं। उनके विचार में यद्यपि विज्ञान ने असाधारण उन्नति की है, फिर भी वह अभी तक सृष्टि के बहुत छोटे से अंश को जान सका है। सच तो यह है कि वह जैसे-जैसे प्रकृति के रहस्यो को सुलझाने का यत्न करता है वैसे-वैसे वे और भी प्रगाढ़ और विस्तृत होते जाते है। एक आवरण उठता है उसके पहले ही अनेक नये आवरण पड़ जाते है; वस्तुत: सृष्टि के विराट् व अनन्त रहस्यों के सम्मुख विज्ञान अब भी एक अबोध शिशु से अधिक नहीं है। ऐसी स्थिति में मनुष्य के लिए प्रकृति की प्रक्रियाओं और नियमों को जान लेने का दावा करना दंभ मात्र हैं। प्रकृति में अभी बहुत कुछ अज्ञात और रहस्यावृत है। अतिप्राकृतिक तत्त्व, संभव हैं, प्रकृति का यह अविज्ञात अंश ही हो ?[3] अत हम अपने ज्ञान की वर्तमान स्थिति में अतिप्राकृत तत्त्वो की वास्तविकता या असत्यता के विपय में कोई निर्णय नहीं दे सकते। संभव है आज जो अतिप्राकृतिक प्रतीत होता है वह कल प्राकृतिक सृष्टि का ही एक अविभाज्य अंग सिद्ध हो जाये। स्वय विज्ञान का इतिहास साक्षी है कि बहुत-सी बाते जो पहले अलौकिक और असभव की श्रेणी में आती थी अब विज्ञान की नयी उपलब्धियों के कारण लौकिक और प्राकृतिक जगत् की वस्तुएं बन गई हैं। हम देखते है कि विज्ञान जैसे-जैसे प्रकृति के रहस्यो की खोज करता जा रहा है वैसे-वैसे 'अतिप्राकृत' का क्षेत्र क्रमश: सकुचित होता जा रहा है, अलौकिक और अतिमानवीय तथ्य लौकिक और मानवीय तथ्यो मे परिवर्तित होते जा रहे है। अतीत के अनेक श्रद्धामूलक चामत्कारिक विश्वास अब वैज्ञानिक बुद्धि और तर्क की कसौटी पर भी खरे उतर रहे है। अत: इन विचारकों की दृष्टि मे अतिप्राकृत के प्रति अविश्वास और अवज्ञा का दृष्टिकोण

---

1. दे0 दि रिडल ऑव् दि यूनिवर्स, पृ0 246.
2. वही
3. डा0 वी0 ए0 परब : दि मिराकुलस एण्ड मिस्टीरियस इन वैदिक लिट्रेचर, पृ0 42.

न्यायसंगत नहीं है। ये लोग या तो इन तत्त्वों को अज्ञेय मानते है या उन्हें सृष्टि के अद्यावधि अनवज्ञात तथ्यों के रूप मे ग्रहण करते है।[1]

इस संदर्भ में मनोविज्ञान की एक नवोदित शाखा 'परामनोविज्ञान' का उल्लेख करना उचित होगा। यह शाखा मानव-मनोजगत् के अनेक असाधारण व अव्याख्येय तथ्यों का वैज्ञानिक अध्ययन करने में प्रवृत्त है। परामनोवैज्ञानिको ने इन तथ्यों को दो भागों में बांटा है—(१) अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (E. S. P.) तथा (२) वस्तुओं पर भौतिक प्रभाव का उत्सर्जन (Psychokinesis)। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष का अर्थ है इन्द्रियों के उपयोग के विना ही वाह्य तथ्यों का वोध। इसके भी दो रूप है—(१) वाह्य वस्तु या घटना का ज्ञान (Clairvoyance) तथा दूसरे के विचारो या मन:स्थितियों का ज्ञान (Telepathy)। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अनागत घटनाओ का भी हो सकता है। इसी को परामनोवैज्ञानिकों ने 'पूर्वज्ञान' (Precognition) का नाम दिया है। मनस्तात्विक घटनाओं का दूसरा रूप वह है जिसमे व्यक्ति प्रेरकतंत्र (Motor System) का उपयोग किये विना ही परिवेश की किसी वस्तु को भौतिक रूप से प्रभावित करने मे समर्थ होता है।[2] संसार में अनेक ऐसे मनुष्य है जिनमें इन शक्तियों के न्यूनाधिक अस्तित्व के प्रमाण मिले है। कुछ व्यक्तियों में ये शक्तियाँ किन्ही विशेष अवसरों पर अकस्मात् प्रकट होती हैं और कुछ समय वाद लुप्त हो जाती है। संसार के प्राय: सभी धर्मो मे इन शक्तियों की विशिष्ट मान्यता रही है। प्राचीन साहित्य और लोककथाएं इनके विवरणो से भरपूर है। किन्तु विज्ञान, जो मात्र ऐन्द्रिय ज्ञान को प्रामाणिक मानता है, मानव-मन की इन निगूढ़ शक्तियों को स्वीकार नही करता। वह इनकी ओर से या तो आंखें मूँद लेता है या उन्हे अतिप्राकृत कह कर ठुकरा देता है। वह इन्हें अपने वैज्ञानिक विश्व का अंग मानने को उद्यत नही है। परामनोविज्ञान इन्हीं अभौतिक प्रतीत होने वाले तथ्यों को वैज्ञानिक अध्ययन के निमित्त सकलित करता है। इस अध्ययन के फलस्वरूप इनमे से कुछ प्राकृतिक और नियमवद्ध प्रमाणित हो रहे है तथा प्रयोगों द्वारा उनकी पुष्टि की जा रही है।[3] इससे सिद्ध है कि

---

1. इस विषय मे 'लिमिटेशन्स ऑव् साइन्स' नामक ग्रन्थ मे सुलीवा (Sullivan) का यह कथन द्रष्टव्य है—"विज्ञान वास्तविकता के केवल आशिक पक्ष से सम्वन्ध रखता है, और यह मानने के लिए कोई कारण नही है कि विज्ञान जिन वस्तुओ की उपेक्षा करता है वे उनसे कम सत्य है जिन्हे वह स्वीकार करता है।" श्री वी० एम० भट द्वारा रचित 'यौगिक पावर्स एण्ड गॉड रियलाइजेशन' मे उद्धृत, पृ० 23.
2. दे० जे० वी० राइन ए व्रीफ इन्ट्रोडक्शन टु पेरासाइकॉलॉजी, पृ० 3, स्पान (Span), नवम्वर, 1972 मे पैट टकर (Pat Tucker) का "पैरासॉइकॉलॉजी : एन्शिएट मिस्ट्री, न्यू साइन्स" शीर्षक लेख।
3. जे० वी० राइन : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 3.

परामनोवैज्ञानिक प्रकृति को निरी भौतिक शक्तियों की व्यवस्था नहीं मानता जैसा कि विज्ञान का दृष्टिकोण रहा है। प्रत्युत उसके अनुसार प्रकृति में एक ऐसी भी वास्तविकता है जो भौतिक व्याख्या का अतिक्रमण करती है।[1] मानवीय अतिमानस के अतीन्द्रिय तथ्यों को परामनोवैज्ञानिक इसी दृष्टि से देखता है। योगशास्त्र में वर्णित विभूतियों को बहुत से लोग पहले कपोलकल्पना मात्र मानते थे, किन्तु अब परामनोविज्ञान ने मानवव्यक्तित्व के इस अदृष्टपूर्व आयाम का उद्घाटन कर यह दिखा दिया है कि विभूतियों और सिद्धियों की पुरातन कल्पना निराधार नहीं है; मानव की अतिभौतिक प्रकृति में उनके अस्तित्व का रहस्य निहित है जिसका अनावरण करना ही परामनोविज्ञान का लक्ष्य है।[2]

धार्मिक व अध्यात्मवादी विचारकों ने अतिप्राकृतिक को प्राकृतिक का ही आन्तरिक सत्य स्वीकार किया है। डा० राधाकृष्णन् के विचार मे प्राकृतिक और अतिप्राकृतिक ये दो भिन्न वास्तविकताएं नहीं हैं अपितु एक ही वास्तविकता मे अन्तर्भूत भेद हैं। उनके अनुसार 'प्रकृति की अपनी एक व्यवस्था है। अतिप्राकृत उसकी वास्तविक गहराई व अनन्तता में प्राकृत ही है। वह प्रकृति से भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं।"[3] डा० राधाकृष्णन् ने अतिप्राकृत के उस रूप को अस्वीकार किया है जिसमें वह प्राकृतिक नियमों की अव्यवस्था तथा आकस्मिक नवीनताओं व अकल्पित घटनाओं के रूप मे प्रकट होता है। आधुनिक भारत के महान् आध्यात्मिक चिंतक श्री अरविंद घोष के विचार में "अतिप्राकृत वास्तव में इतर-प्रकृति के तथ्यो का भौतिक प्रकृति में स्वतः स्फूर्त अन्तःप्रवेश है।"[4] उनके अनुसार "मन व जीवन (प्राण)—बल की कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जो भूत द्रव्य में स्थित तद्विपयक प्रकृति के वर्तमान व्यवस्थापन में सम्मिलित नहीं हैं। किन्तु वे उसमें बीज रूप मे विद्यमान हैं तथा भौतिक वस्तुओं व घटनाओं को प्रभावित करने के लिए उन्हें विकसित किया जा सकता है। उन्हें प्रकृति के वर्तमान व्यवस्थापन में जोड़ा भी जा सकता है जिससे कि हमारे अपने जीवन व शरीर पर उनका नियन्त्रण ·बढ़ाया जा सके अथवा दूसरों

1. जे0 बी0 राइन : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ0 4.
2. इस विपय मे कुमारी कास्टर का यह कथन द्रष्टव्य है—"मुझे विश्वास है कि जिसे लोग जीवन का यवनिकापात समझ लेते हैं उससे परे भी एक प्रदेश है, जो और संकल्प लेकर चढ़ेंगे वे वहां तक पहुंच कर उसका पता भी पा सकते हैं।" श्री सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय व श्री धीरेन्द्रमोहन दत्त द्वारा रचित 'भारतीय दर्शन' (हिन्दी रूपान्तर) में 'योग एण्ड वेस्टर्न साइकॉलॉजी' से उद्धृत, पृ0 322.
3. एन आइडिएलिस्ट व्यू ऑव् लाइफ, पृ0 59.
4. दि लाइफ डिवाइन, पृ0 778.

के जीवन व शरीरों पर या वैश्व शक्तियों की गतियों पर प्रभाव डाला जा सके ।"[1]

उक्त अध्यात्मवादी विचारकों के दृष्टिकोण का बीसवीं शती के कुछ प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के विचारों से भी समर्थन होता है । भौतिक जगत् के बारे में जो नई शोध हुई है उससे सिद्ध हुआ है कि वस्तुओं की यथार्थ प्रकृति मानसिक या आध्यात्मिक है। इस विषय में प्रोफेसर प्लैंक का यह कथन द्रष्टव्य है—"मैं चेतना को मूलभूत मानता हूं । मैं भौतिक द्रव्य को चेतना से निष्पन्न मानता हूं । हम चेतना के परे नहीं जा सकते । किसी भी वस्तु के विषय में बात करने या उसकी सत्ता सिद्ध करने के लिए चेतना अपेक्षित है ।"[2] सी० ई० एम० जोड के अनुसार आइन्स्टीन, श्रोडिंजर, प्लैंक, एडिंगटन, जेम्स जीन प्रभृति भौतिकशास्त्री प्राकृतिक विश्व की उक्त आदर्शवादी व्याख्या के समर्थक हैं ।[3] अतः आधुनिक प्राकृतवाद 'अतिप्राकृत' के प्रति उतना असहिष्णु नहीं रहा है, जितना कि पहले (१९वी शती) का प्राकृतवाद था । आध्यात्मिक तत्त्वों को अस्वीकार करने और भूत द्रव्य को ही एकमात्र सत्ता मानने में वह अब उतना कट्टर नही है । आधुनिक प्राकृतवाद ने अज्ञेयतावाद (Agnosticism) के साथ अपना नाता जोड़ लिया है; वह अतिप्राकृत को न स्वीकार करता है और न अस्वीकार । इस विषय में उसका दृष्टिकोण मात्र उदासीनता का है ।[4]

उक्त विवेचन में हमने अतिप्राकृत तत्त्वों के विषय में कतिपय आधुनिक दृष्टिकोणों का परिचय देने का प्रयास किया । इन सभी दृष्टिकोणों में आंशिक सत्य है । हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में जिन तत्त्वों को अतिप्राकृतिक माना है वे एक विशिष्ट विश्व-दृष्टि के अंग है । इस विश्वदृष्टि की विशेषताओं पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं । प्राचीन मानव का धर्म, दर्शन, अध्यात्म और पुराकथाएं इस विश्व-दृष्टि का प्रतिनिधित्व करती है । आज विज्ञान ने हमें एक नई विश्व-दृष्टि दी है जिसने अतीत की विश्व-दृष्टि को बहुत कुछ असगत तथा अबुद्धिगम्य करार दे दिया है । संभव है उस विश्व-दृष्टि के कुछ तत्त्व विज्ञान को भी ग्राह्य हों । यह भी शक्य है कि बहुत से ऐसे तत्त्व जिन्हे हम आज अतिप्राकृत कह रहे है वे आगे जाकर प्राकृत ही सिद्ध हो जायें । हमने जो कतिपय तत्त्वों को अतिप्राकृत माना है वह ज्ञान-विज्ञान की वर्तमान सीमाओं में ही । हमारा वर्तमान ज्ञान जिन घटनाओ व तथ्यों को समझने-समझ ने में स्वयं को असमर्थ पाता है, इन्ही को हमने अतिप्राकृत की संज्ञा दी है । इस शब्द

1. दि लाइफ डिवाइन, पृ0 778.
2. दे0 सी0 ई0 एम0 जोड · गाइड टू मॉडर्न थॉट, पृ0 102.
3. वही
4. दे0 एनसाइक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एण्ड एथिक्स, खण्ड 9 में 'नेचुरलिज्म' पर डब्ल्यू0 डी0 नाईविन का निबन्ध, पृ0 195.

के प्रयोग द्वारा किन्ही तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा प्रकट करना हमारा उद्देश्य नहीं है। आज हम जिस तर्कप्रधान वैज्ञानिक युग में रह रहे है उसकी मान्यताओं को स्वीकार करना और उसी के आलोक में अतीत के दाय का अध्ययन करना हमारी स्वाभाविक सीमा है।

हम पहले बता चुके है कि अतिप्राकृत तत्त्वों का धर्म, पुराकथा, दर्शन, लोककथा साहित्य आदि के साथ निकट संवंध रहा है। वस्तुत: ये उस विश्वदृष्टि की अभिव्यक्ति के सनातन माध्यम रहे है जिसमें सृष्टि के तथ्यों की अवगति व व्याख्या अतिप्राकृतिक तत्त्वों के संदर्भ में की जाती है। अत: आगे हम धर्म, पुराकथा, दर्शन आदि के साथ अतिप्राकृत तत्त्वों के सम्बन्ध का विचार करेंगे।

धर्म और अतिप्राकृत तत्त्व

धर्म अतिप्राकृतिकवाद का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है। यो तो संस्कृति के प्राय: सभी क्षेत्रों को अतिप्राकृतिक विश्वासों ने अनुप्राणित किया है, परंतु धर्म की उर्वरा-भूमि में उनका जैसा सर्वतोमुख पल्लवन हुआ है वैसा अन्यत्र नही। सच तो यह है कि अतिप्राकृतिक विश्वास ही धर्म का मूल और मुख्य आधार रहे है।

विभिन्न देशों और कालों के विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से धर्म के स्वरूप, उसकी मूल प्रेरणा और उद्देश्यों की व्याख्या की है। कुछ ने अपने विवेचन मे उसके आस्था पक्ष को प्रधानता दी है, तो कुछ ने अनुभूति या अनुष्ठान पक्ष को। वस्तुन: इन तीनो पक्षों के समन्वय से ही धर्म के समग्र स्वरूप का निर्माण होता है। आधुनिक युग में सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी धर्म तत्त्व का निरूपण किया गया है। उक्त समस्त दृष्टिकोणों और विवेचन-सरणियो मे यों चाहे कितनी ही विभिन्नता हो, पर इस बात पर प्राय: सभी सहमत है कि किसी न किसी प्रकार की एक या अनेक अतिप्राकृतिक शक्तियों के प्रति विश्वास धर्ममात्र का सामान्य लक्षण है। विश्व के प्राय: सभी आदिम या विकसित धर्मों में अतिप्राकृतिक विश्वासो का अस्तित्व पाया जाता है। यहां तक कि निरीश्वरवादी वौद्ध व जैन धर्मों में भी कर्म व पुनर्जन्म के रूप में अतिप्राकृत तत्त्वों को स्वीकार किया गया है।

धर्म की परिभाषाओं पर दृष्टिपात करने से उक्त मन्तव्य की पुष्टि होती है। मेक्डानल के अनुसार "धर्म के विस्तृततम अर्थ में एक ओर तो दिव्य या अति-प्राकृत शक्तियों के विपय में मनुष्य की धारणा सम्मिलित है और दूसरी ओर उन शक्तियों पर मानव-कल्याण की निर्भरता की वह भावना जो उपासना

के विविध रूपों में अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त करती है ।"[1] इस परिभाषा में धर्म के तीनों पक्षों–विश्वास, भावना, और अनुष्ठान–का समन्वय किया गया है ।

उन्नीसवीं सदी के सुप्रसिद्ध नृतत्त्वशास्त्री टायलर ने 'सचेतन सत्ताओं में विश्वास' (Belief in Spiritual Beings) को धर्म का न्यूनतम लक्षण कहा है । उनके अनुसार प्रेतात्माओं से लेकर विश्वव्यापी महान् देवताओं तक की विभिन्न धार्मिक कल्पनाओं में इसी मूल विश्वास की अभिव्यक्ति हुई है । टायलर ने जीववाद (Animism) को धर्म का प्राथमिक रूप माना है और समस्त धर्म-विश्वासों को उसी का परवर्ती विकास बताया है ।[2]

विख्यात नृतत्त्वशास्त्री जे० जी० फ्रेजर ने धर्म की निम्न परिभाषा दी है—"धर्म मेरे मत में उन अतिमानवीय शक्तियों के प्रसादन या परितुष्टि का नाम है जिनके बारे मे यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव-जीवन की गति-विधियों का निर्देशन या नियंत्रण करती हैं ।"[3] पी० एच० वेंसन ने धर्म-सम्बन्धी विभिन्न मतों की समीक्षा कर निष्कर्ष के रूप में अपना यह मन्तव्य प्रकट किया है—"उच्चतर शक्ति की एक अदृष्ट व्यवस्था के प्रति आस्थाओं, मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त उस शक्ति को मनोवैज्ञानिक रीति से प्रभावित करने के लिए अनुष्ठित कृत्यों तथा तत्सहचारी अनुभूतियों की पद्धति को धर्म कहते है ।"[4]

धर्म की भारतीय परिभाषाओं में भी अतिप्राकृत तत्त्वों की स्वीकृति किसी न किसी रूप में निहित है । महाभारतकार व्यास ने धर्म की निम्नलिखित परिभाषा दी है—

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चितः ।।
म० भा०, शां० प० १०९. ११

इस परिभाषा में प्रजा (समाज) को धारण करने वाले सामाजिक विधानों या नियमों को धर्म कहा गया है । इस दृष्टि से वर्णाश्रम धर्म, कुलधर्म, जातिधर्म, देशधर्म, कालधर्म, राजधर्म, व्यवहार-धर्म आदि सामाजिक संगठन के विधि-विधानों का ही दूसरा नाम धर्म है । यहां तक तो धर्म का स्वरूप नितान्त लौकिक प्रतीत होता है, किन्तु सामाजिक व्यवस्था के उक्त नियम या विधान लोकोत्तर शक्तियों द्वारा उद्‌भावित व संचालित

---

1. वैदिक माइथॉलॉजी, पृ0 1.
2. दे0 प्रिमिटिव कल्चर, खण्ड 1, अध्याय 2.
3. दि गोल्डन वाउ, पृ0 57–58.
4. रिलीजन इन दि कन्टेम्परारी कल्चर, पृ0 162.

है[1] तथा उनके पालन या उल्लंघन से स्वर्ग या नरक की प्राप्ति होती है,[2] अतः धर्म की उक्त धारणा अन्ततः अलौकिक सत्ताओं की मान्यता पर आधारित है।[3]

जैमिनि ने धर्म को इस प्रकार परिभाषित किया है—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'[4] अर्थात् प्रेरणा या विधि द्वारा ज्ञात श्रेयस्कर क्रिया (अर्थ) धर्म है। उनके मत में इस श्रेयस्कर क्रिया या आचरण का निर्णय मानवबुद्धि द्वारा संभव नहीं है, केवल अपौरुषेय वेद ही मनुष्य को उसका उपदेश देते है। अतः वेदविहित व स्वर्गादिरूप फल देने वाली ज्योतिष्टोमादि यज्ञक्रियाएं ही धर्म हैं। मीमांसा दर्शन के अनुसार यज्ञादि कर्मो के अनुष्ठान से अपूर्व नामक एक अदृष्ट शक्ति का प्रादुर्भाव होता है जिसके द्वारा मनुष्य को इष्टफल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जैमिनि की धर्मविषयक दृष्टि भी मूलतः स्वर्ग, नरक आदि पारलौकिक फलों तथा अपूर्व जैसी अतिप्राकृत कल्पनाओं पर आधारित है।

यहां वैशेषिक सूत्रकार कणाद का धर्म-सम्बन्धी मत भी विचारणीय है। उनकी धर्म-परिभाषा इस प्रकार है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'।[5] अभ्युदय से उनका आशय है ऐहिक और पारलौकिक सुख व उनकी प्राप्ति के साधन तथा निःश्रेयस का अर्थ है मोक्ष या परमार्थ। अभ्युदय और नःश्रेयस दोनों की प्राप्ति जिन साधनों से हो उन्ही को कणाद धर्म मानते है। धर्म की यह परिभाषा स्पष्टतः पारलौकिक सुख व मोक्ष जैसे अतिप्राकृत विश्वासों पर आधारित है।

शंकराचार्य ने धर्म के विषय मे व्यास व कणाद के विचारों का समन्वय करते हुए कहा है कि धर्म जगत् की स्थिति तथा प्राणियों के अभ्युदय व निःश्रेयस का साक्षात् हेतु है।[6]

---

1. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
   तस्य कर्तारमपि मा विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ गीता, 4.13.

2. रजसा तमसा चैव समवस्तीर्णचेतस।
   नरक प्रतिपद्यन्ते धर्मविद्वेषिणो जनाः॥
   ये तु धर्म महाराज सतत पर्युपासते।
   सत्यार्जवपराः सन्तस्ते वै स्वर्गभुजो नराः॥

   म० भा० अनु० प० 162, 28–29.

3. दे० पं० लक्ष्मण शास्त्री जोशीकृत 'हिन्दू धर्म की समीक्षा', पृ० 64 (हिन्दी रूपान्तर)

4. जैमिनि-सूत्र, 1 1.2

5. वैशेषिक सूत्र, 1.1.2.

6. जगतः स्थितिकारणं प्राणिना साक्षात् अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः यः स धर्मो ब्राह्मणाद्यैः वर्णिभिः आश्रमिभिः च श्रेयोऽर्थिभिः अनुष्ठीयमानः। —गीताभाष्योपक्रमणिका.

धर्म की उक्त परिभाषाओं से सिद्ध है कि लोकोत्तर अतिप्राकृतिक शक्तियों या पारलौकिक ध्येयों मे विश्वास धर्म का मूल आधार है। विभिन्न धर्मों में इन शक्तियों की विविध कल्पनाये मिलती है। किन्हीं भी दो धर्मों में ईश्वर या देवताओं का स्वरूप पूरी तरह समान नहीं है।

जार्ज गेलोवे ने धर्मविकास की तीन अवस्थाएं मानी है—आदिम धर्म, राष्ट्रीय धर्म और विश्वधर्म।[1] इन तीनों अवस्थाओ में मानवीय धर्म-चेतना का उत्तरोत्तर विकास हुआ। आदिम धर्म में समस्त चर-अचर वस्तुओं को चेतनाधिष्ठित मानने की प्रवृत्ति प्रधान थी जिसे टायलर ने जीववाद की सज्ञा दी है। उनके अनुसार इस प्रवृत्ति ने सत्त्वों (Spirits) की उपासना का रूप ग्रहण किया जिससे धर्म की परवर्ती अवस्थाये विकसित हुईं।[2] मैरेट ने एक अरूप अतिप्राकृतिक शक्ति या 'माना' की उपासना को,[3] फ्रेजर ने जादू और उसके अनन्तर धर्म को,[4] स्पेन्सर ने मृतक आत्माओं की आराधना को,[5] तथा कुछ अन्य विद्वानों ने सत्त्वाविष्ट वस्तुओ की पूजा[6] (Fetishism) तथा गणप्रतीकोपासना (Totemism)[7] आदि विश्वासों को आदिम धर्म का अग माना है। आदिम धर्म के इन सभी रूपों मे वस्तुजगत् के भीतर या परे रहने वाली तथा मानव-नियति की सूत्रधार अतिमानवीय शक्तियों मे आस्था प्रकट हुई है। हिन्दू धर्म के कतिपय पक्ष जैसे पितरों की पूजा, मरणोत्तर जीवन-विषयक कल्पनाएं, भूत-प्रेत सम्बन्धी विश्वास, नाग, गौ, बैल (नन्दी), वराह, वट, अश्वत्थ, शमी, नदी, पर्वत, मातृदेवी व लिग आदि की पूजा आदिम धर्म-विश्वासो के परिष्कृत रूप या अवशेष प्रतीत होते है।

धर्म-विकास की दूसरी अवस्था को गेलोवे ने राष्ट्रीय धर्म की संज्ञा दी है।[8] सामाजिक विकास की ऐतिहासिक आवश्यकताओ के अनुसार जब कबीले समाज या राष्ट्र के रूप मे संगठित हो गये तथा उनमे राष्ट्रीय जीवन के समान आदर्शों व आकाक्षाओं का जन्म हुआ, तब धर्म ने भी एक पग आगे रखा। आदिम समाज मे धर्म का क्षेत्र सकुचित था। उसमे वृक्ष, वनस्पति, पशु, पक्षी आदि, देश और काल की

---

1 दे० फिलॉसफी ऑव् रिलीजन, पृ० 89.

2 दे० ई० एडमसन होबेलकृत 'मैन इन दि प्रिमिटिव वर्ल्ड', पृ० 528–530.

3. वही, पृ० 530–531.

4. दे० दि गोल्डन बाउ, पृ० 56–68.

5. दे० एनीमेरी मालफिज्ट: रिलीजन एंड कल्चर, पृ० 52.

6. दे० जार्ज गेलोवे: फिलॉसफी ऑव् रिलीजन, पृ० 93–94.

7. वही, पृ० 95–97.

8. वही, पृ० 124–131.

दृष्टि से परिच्छिन्न वस्तुओं, की उपासना की जाती थी। आदिम धर्म की इस स्थानीयता ने राष्ट्रीय धर्म में सर्वदेशीयता का रूप ग्रहण किया। सूर्य, चन्द्रमा, उपस्, वायु आदि सार्वभौम प्राकृतिक तत्त्वो की देवताओं के रूप में आराधना प्रारंभ हुई। आदिम धर्म के उपास्य देवों में नाम और व्यक्तित्व का अभाव था, पर राष्ट्रीय धर्म के देवताओं मे नाम, रूप व विविध गुणों की प्रतिष्ठा की गई। इसी स्तर पर आराधक और आराध्य के व्यक्तिगत सम्वन्ध के रूप में धर्म के वास्तविक स्वरूप का सूत्रपात हुआ। साथ ही देवताओं में नैतिक गुणों की कल्पना भी की गई। उन्हें आराधकों ने उदात्त मानवीय गुणों से विभूपित किया। वे पराक्रम, दया, दाक्षिण्य, क्षमा, ज्ञान और विवेक की प्रतिमूर्तियों के रूप में पूजे जाने लगे। एक प्रकार समकालीन जातीय मूल्यों और आदर्शो को ही इन देवताओं के व्यक्तित्व के रूप में प्रतिष्ठा दी गई। देवों के इसी आदर्शीकरण का फल यह हुआ कि वे धीरे-धीरे मानव-जगत् से दूर होने लगे। अब वे आदिम समाज के देवों के समान परिचित और निकटवर्ती नही रहे, वरन् उनका निवास मर्त्यलोक से दूर दिव्य लोकों में माना जाने लगा। वे मर्त्यलोक के दैनन्दिन प्रपंचों से तटस्थ प्रतीत होने लगे तथा मात्र श्रद्धा और उपासना के पात्र रह गये। विभिन्न देशों मे इसी राष्ट्रीय धर्म के विकासकाल मे सामूहिक पूजा, यज्ञ-याग के विस्तृत विधान, देवालय-निर्माण, मूर्तिपूजन आदि उपासना-रूपों का प्रवर्तन हुआ। भारतवर्ष का वैदिक धर्म इसी राष्ट्रीय धर्म का प्रतिनिधित्व करता है। इस युग में वरुण, इन्द्र, अग्नि, उषस्, विष्णु, सूर्य आदि सार्वदेशिक प्राकृतिक देवों की उपासना होती थी तथा उनमे मानवीय गुणों का आरोप किया जाता था।

राष्ट्रीय धर्म आगे चलकर विश्वधर्म मे विकसित हुए। यह धर्म के विकास की पराकाष्ठा कही जा सकती है।[1] जहां राष्ट्रीय धर्म मे वाह्य आचारों का प्राधान्य था वहां विश्व धर्म में आराधक की अनुभूति को सर्वोपरि स्थान मिला। राष्ट्रीय धर्म जहा वहिर्मुखी व ऐहिकता-प्रधान था, वहां विश्व धर्म में अन्तर्मुखी प्रवृत्ति तथा आध्यात्मिक व नैतिक ध्येयों पर वल दिया गया। राष्ट्रीय धर्म में प्रायः वहुदेवों की उपासना होती थी, पर विश्व धर्म में एक ही सर्वोच्च परमात्मा की भावना दृढ़ हुई। अन्य देवता या तो लुप्त हो गये या उस सर्वोच्च के विभिन्न अंग या शक्तियों के रूप में मान लिये गये।[2] विश्वधर्म मे मानवमात्र को विना किसी भेदभाव के ईश्वर की आराधना, मोक्ष या निर्वाण का अधिकार दिया गया। स्मार्त पौराणिक धर्म के

---

1. दे० दि फिलॉसॉफी ऑव् रिलीजन. जार्ज गेलोवे, पृ० 138–147.
2. माहाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा वहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यगानि भवन्ति (निरुक्त,7.4. 8-9), महद्देवानामसुरत्वमेकम् (ऋ० वे० 3.55), तथा एक सद्विप्रा वहुधा वदन्ति (1. 164. 46).

एकेश्वरवाद व भक्तिसिद्धान्त, जैन व बौद्धों के अहिंसा धर्म तथा उपनिषदों व वेदान्त के अध्यात्मवाद को विश्वधर्म में परिगणित किया जा सकता है, क्योंकि उनमें बाह्याचारों की अपेक्षा स्वानुभूति, सामान्य सदाचार एवं विशिष्ट नैतिक गुणों को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। यों तो पौराणिक धर्म में भी बहुदेवोपासना स्वीकृत है, पर उसके साथ-साथ एक सर्वोच्च देवता या परमेश्वर की भावना भी नितान्त स्पष्ट है। उस सर्वोच्च देव की कल्पना ब्रह्मा, विष्णु या शिव के रूप में की गयी या इन्हें उसकी त्रिविध शक्तियों–सृजन, पालन व संहार–के रूप में माना गया।[1] यह संसार उसी से उद्‌भूत होकर अंत में उसी में विलीन हो जाता है। जब जब संसार में अधर्म व अनाचार की वृद्धि होती है तब तब वह पृथ्वी के भार को उतारने के लिए अवतार लेता है। अवतारवाद पौराणिक हिन्दू धर्म की सबसे महत्त्वपूर्ण मान्यता है। गीता मे इस सिद्धान्त का बड़ा सुन्दर वर्णन हुआ है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥–गीता ४. ७, ८.

पुराणों में विष्णु के दस अवतार प्रसिद्ध है।[2] इसमें से कुछ मानवेतर रूप वाले हैं और कुछ मानवदेहधारी, जिनमें राम व कृष्ण सबसे महत्त्वपूर्ण है। अवतार-वाद, भक्तिसिद्धान्त, मोक्ष, कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास पौराणिक धर्म की विशेषताएं है। कुछ पौराणिक देवता परम्परागत वैदिक देवता है और कुछ नये। प्रथम श्रेणी में इन्द्र, यम, अग्नि, वरुण, सूर्य, वायु व सोम आदि उल्लेखनीय है। जहां वैदिक युग में इनका प्राकृतिक आधार काफी स्पष्ट था वहां महाकाव्यों व पुराणों के युग तक आते-आते वह प्रायः लुप्त हो गया और वे पूर्णतया मानवीकृत हो गये। देवमंडल में उनके आपेक्षिक महत्त्व मे भी काफी परिवर्तन हुआ। वैदिक वरुण व इन्द्र पौराणिक त्रिदेवों के समक्ष निस्तेज हो गये। पौराणिक युग में कुछ नये देवता भी अस्तित्व में आये जिनमे कुवेर, कार्तिकेय, धर्मराज, गणेश, कामदेव, गरुड़ आदि उल्लेख्य हैं। स्त्री देवताओं में लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, दुर्गा, काली, रति आदि मुख्य है। पौराणिक कल्पना के अनुसार विष्णु के साथ-साथ लक्ष्मी भी अवतार लेती है।[3] कुछ

---

1. दे0 विष्णुपुराण, 1. 2. 66, 1. 19. 66.
2. इनके नाम इस प्रकार है—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, वुद्ध, और कल्कि। कुछ पुराणो मे बाईस या चौबीस अवतार वर्णित है। दे0 भा0 पु0 1. 3.
3. राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि।
अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषानपायिनी ॥
देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी।
विष्णोर्देहानुरूपा वै करोत्येषात्मनस्तनुम् ॥ वि0 पु0 1.9. 144–145.

देवता विशेष कार्यों व प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि हैं, जैसे ब्रह्मा सृष्टि के, विष्णु पालन के, रुद्र या शिव संहार के, सरस्वती ज्ञान और विद्या की तथा लक्ष्मी सुख, सौभाग्य व सम्पत्ति की। इसी प्रकार प्रकृति के कतिपय पक्षों के भी देवता माने गये हैं जैसे समुद्र-देवता, नदीदेवता, वनदेवता, पर्वतदेवता आदि। कुलदेवता, नगरदेवता, सौभाग्यदेवता आदि की गणना अधिष्ठाता देवताओं में की जा सकती है। पौराणिक धर्म का विकास मुख्यतः शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर व गाणपत्य आदि सम्प्रदायों के रूप में हुआ जिनमें नाना प्रकार की देव-कल्पनाओं व उपासना-पद्धतियों को स्थान मिला। भारतीय धर्म की अवैदिक धारा के प्रतिनिधि जैन और बौद्ध धर्मों के मूल रूप में ईश्वर या देवताओं की कल्पना का अभाव है; ये दोनों ही निरीश्वरवादी एवं आचार-प्रधान हैं।

वैदिक व पौराणिक धर्मों में अवर देवताओं तथा आसुरी व पैशाचिक शक्तियों की भी मान्यता रही है जिनकी चर्चा हम पुराकथा के प्रकरण में करेंगे।

आत्मा के मरणोत्तर अस्तित्व, स्वर्ग, नरक, पितृलोक तथा विभिन्न दिव्य प्राणियों के निवास स्थानों की बहुविध कल्पनाएं सभी धर्मों की अविभाज्य अंग रही है। कोई भी धर्म दैहिक अस्तित्व को अंतिम नहीं मानता। मृत्यु के अनन्तर जीवात्मा की गति के विषय में अलग-अलग प्रकार के विश्वास पाये जाते हैं। भारतीय धर्मों के अनुसार मनुष्य के इह जीवन के कर्मों के अनुसार उसकी मरणोत्तर गति निर्धारित होती है जो स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म व मोक्ष की प्राप्ति में से कुछ भी हो सकती है।

प्रायः सभी धर्मों में परमात्मा, ईश्वर या देवताओं से साक्षात् सम्पर्क या निकट परिचय रखने वाले तथा उनकी निगूढ इच्छाओं व योजनाओं को जानने वाले धर्म-विशेषज्ञों की भी मान्यता मिलती है। ये विशेषज्ञ अपनी साधना, तपस्या व योग-शक्ति द्वारा अतिप्राकृत शक्तियां प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। भारतीय धर्म-परम्परा मे वे ऋषि, मुनि, सिद्ध पुरुष या योगी के रूप में प्रसिद्ध है। वे त्रिकालदर्शी होते हैं तथा उनमे शाप व वरदान देने की विशेष शक्ति मानी गयी है।

यौगिक विभूतियां व तांत्रिक सिद्धियां : भारतीय धर्मपरम्परा मे योग व तंत्र-मंत्र की साधना तथा उससे प्राप्त होने वाली अलौकिक सिद्धियों में सामान्य जनता का दृढ़ विश्वास रहा है। आत्मज्ञान की प्राप्ति या स्वरूपोपलब्धि के लिए पंतजलि ने योगसूत्र मे योगमार्ग का उपदेश दिया है। इस मार्ग की आठ क्रमिक अवस्थाएं हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि। यद्यपि योगदर्शन एक स्वतन्त्र दर्शन है पर उसकी साधना-पद्धति को प्रायः सभी दर्शनों

ने स्वीकार किया है। योग-साधना मे चित्तवृत्तियों के निरोध से आत्मा का स्वरूप में अवस्थान होता है।[1] पतजलि ने योगदर्शन के विभूतिपाद में योगसाधना से योगी को प्राप्त होने वाली अनेक सिद्धियों या विभूतियों का वर्णन किया है। उनके अनुसार ये सिद्धियां उसे विभिन्न वस्तुओं मे संयम करने से प्राप्त होती है। संयम से पंतजलि का आशय है धारणा, ध्यान और समाधि तीनों का एक ही ध्येय विषय में लगना।[2] विभिन्न प्रकार के संयमों से योगी को निम्नलिखित सिद्धियां प्राप्त होती हैं—

अतीत व अनागत का ज्ञान (३.१६); समस्त प्राणियों की भाषा का ज्ञान (३.१७); पूर्वजन्म का ज्ञान (३.१८); परचित्तज्ञान (३.१९); अदृश्य होने की शक्ति (३.२१); मृत्यु का ज्ञान (३.२२); असाधारण बल की प्राप्ति (३ २४); सूक्ष्म, व्यवहित व विप्रकृष्ट वस्तुओं का ज्ञान (३.२५); भुवनज्ञान (३.२६); ताराओं के व्यूह का ज्ञान (३.२७); ताराओं की गति का ज्ञान (३.२८); कायव्यूह-ज्ञान (३.२९); क्षुत्-पिपासा की निवृत्ति (३.३०); सिद्ध पुरुषों का दर्शन (३.३२); सर्वज्ञता (३.३३); दिव्य रूप, रस, स्पर्श, गन्ध व शब्द के ज्ञान की शक्ति (३.३६); परकायप्रवेश (३.३८); दीप्तिमत्ता की प्राप्ति (३.२४०); दिव्यश्रवण (३.४१); आकाशगमन (३.४२); भूतजय (३.४४); अष्ट सिद्धियां–अणिमा (अणु के समान सूक्ष्म रूप धारण करना), लघिमा (रूई से भी हल्का हो जाना), महिमा (शरीर पर्वत के समान बड़ा करना), गरिमा (शरीर को अतिभारयुक्त बनाना), प्राप्ति (इच्छित वस्तु को संकल्प मात्र से प्राप्त करना), प्राकाम्य (निर्बाध इच्छा-पूर्ति), वशित्व (समस्त भौतिक पदार्थों का स्वामित्व), यत्रकामावसायित्व (संकल्प मात्र से सिद्धि होना) (३.४५); इन्द्रिय-जय, मन के समान गति तथा शरीर के बिना भी विषयों का ज्ञान (३.४७); प्रधानजय (३.४८); सर्वज्ञातृत्व (३.४९)।

सिद्धियों के पंतजलि ने पाच हेतु बताये है—जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधि।[3] इनसे प्राप्त होने वाली सिद्धियां क्रमश: जन्मजा, औषधिजा, मंत्रजा, तपोजा और समाधिजा कही जा सकती है। पतंजलि ने इनमें से अंतिम को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया है तथा विभूतिपाद मे इसी के विभिन्न रूपों का वर्णन किया है। यह भी उल्लेखनीय है कि पतंजलि ने इन सिद्धियों को समाधि में विघ्नरूप ही माना है।[4] योगी का अन्तिम लक्ष्य विभूतियों को प्राप्त करना नही, अपितु स्वरूप की उपलब्धि करना है।[5]

---

1. योगश्चित्तवृत्तिनिरोध (योगसूत्र 1.2), तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम् (योग० 1.3).
2. योगसूत्र, 3.1–4.
3. जन्मौषधिमंत्रतप.समाधिजा सिद्धय (योग० 4.1).
4. ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः (योग० 3.37).
5. दे० म० म० गोपीनाथकविराज-कृत 'भारतीय संस्कृति और साधना', पृ० 413

योगसाधना के ही समान तांत्रिक साधना का भी हमारे देश में व्यापक प्रचार हुआ। लगभग ५०० ई० के पश्चात् इस साधना ने एक प्रवल प्रवृत्ति का रूप धारण किया तथा अनेक शताब्दियों तक जन-मानस पर इसका प्रभाव छाया रहा। हिन्दुओं में शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत आदि विभिन्न संप्रदायों ने तथा वौद्धों ने भी इसे अपनाया एवं अपनी-अपनी धार्मिक व दार्शनिक मान्यताओ के आधार पर प्रतिष्ठित कर इसे नाना रूपों में पल्लवित किया। यद्यपि तांत्रिक धर्म अनेक संप्रदायों में वंटा हुआ मिलता है, पर उनमे कुछ समान विशेषताएं भी है। सवसे महत्त्व की वात तो यह है कि वे सभी तत्त्वचिन्तन की अपेक्षा साधना-पद्धति पर अधिक वल देते हैं। किसी देवता या शक्ति को सृष्टि का मूल तत्त्व मानने, उपासना की विस्तृत पद्धति का निरूपण करने, यंत्र-मंत्र, वीजाक्षर व मातृकाओं को महत्त्व देने, भूत, प्रेत, वेताल आदि की सिद्धि, कुंडलिनीयोग, अनेक प्रकार की रहस्यमयी साधनाओं तथा वाह्यतः मर्यादा विरुद्ध दीखने वाले गुह्य वामाचारों को प्रश्रय देने तथा दीक्षा व गुरु के महत्त्व पर वल देने में इनका परस्पर ऐकमत्य दृष्टिगत होता है।[1]

तांत्रिक साधना एक गुह्य व रहस्यमयी साधना-पद्धति है जिसका अन्तिम ध्येय साधक द्वारा अपने ही व्यक्तित्व में परम तत्त्व का साक्षात्कार माना गया है। श्री शशिभूषण दासगुप्त के अनुसार सभी प्रकार की गुह्य साधनाओं का सार समस्त द्वैत को नष्ट कर अद्वैत की परमावस्था प्राप्त करना है। इस अवस्था को विभिन्न तांत्रिक संप्रदायों में अद्वय, मैथुन, यामल, समरस, युगल, सहजसमाधि आदि शब्दों से अभिहित किया गया है।[2] हिन्दू तन्त्र-साधना मे परमसत्ता के दो पक्ष—शिव और शक्ति माने गये है। श्री दासगुप्त के अनुसार सभी गुह्य साधना-पद्धतियो का एक मूलभूत सिद्धान्त यह है कि पिण्ड ब्रह्माण्ड का ही लघु प्रतिरूप है तथा उसमें सभी ब्रह्माण्डीय तत्त्व निहित हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार यह माना गया कि मानव शरीर मे शिव, विशुद्ध चैतन्य के रूप में, ऊर्ध्वतम सहस्रारचक्र मे स्थित है तथा शक्ति, जो सृष्टि का मूल तत्त्व है, मूलाधार नामक निम्नतम चक्र में कुडलिनी के रूप में निवास करती है। तन्त्र-साधना का स्वरूप यही है कि मानवदेह में एक छोर पर स्थित इस कुंडलिनी शक्ति को जागरित कर क्रमिक आरोहण द्वारा दूसरे छोर पर पहुंचाया जाये और वहा शिव के साथ उसका मिलन कराया जाये। शिव व शक्ति के इस मिलन से पूर्वोक्त परमावस्था की प्राप्ति होती है जो तांत्रिक साधना का लक्ष्य है।[3]

---

1. दे0 हिन्दी साहित्यकोश मे 'तान्त्रिक मत', पृ0 321.
2. ऑव्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, भूमिका, पृ0 34.
3. वही पृ0 34–35.

परवर्ती काल में इस साधना का यह उदात्त व पवित्र रूप सुरक्षित नहीं रह सका। वह अपने उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य से भ्रष्ट होकर मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, स्तंभन, जारण, कृत्या आदि निम्नस्तरीय जादू, टोना-टोटका या आभिचारिक कृत्यों से सम्बद्ध हो गई। यहा तक कि प्रत्येक कार्य के लिए तन्त्र-मन्त्र, मणि, औषधि आदि के प्रयोगों का विधान किया गया। तांत्रिक लोग अनेक प्रकार की अलौकिक सिद्धियों का दावा करने लगे। इन सिद्धियो में योगदर्शन में प्रतिपादित अष्टसिद्धियों के अतिरिक्त वेतालसिद्धि, वज्रसिद्धि, गुटिकासिद्धि, रसायनसिद्धि, धातुसिद्धि आदि परिगणनीय है। तांत्रिक साधना का यह रूप संभवतः साधारण जनता में व्याप्त जादू-टोना, अभिचार आदि से सबंधित लोक-विश्वासों की अभिव्यक्ति माना जा सकता है। भारत मे लोकधर्म के अन्तर्गत ऐसे विश्वास प्राचीन काल से ही रहे है। इनकी सर्वप्रथम अभिव्यक्ति अथर्ववेद के भैषज्यानि, आयुष्याणि, पौष्टिकानि, स्त्रीकर्माणि, आभिचारिकाणि, राज्यकर्माणि आदि सूक्तों मे मिलते है। वैदिक कर्मकांड में भी ऐसे अनेक तत्त्व विद्यमान थे जिन्हें जादू का नाम दिया जा सकता है। सामविधान ब्राह्मण, अद्भुताध्याय ब्राह्मण (षड्विंश ब्राह्मण का एक भाग) तथा अथर्ववेदीय कौशिक सूत्र में अनेक जादुई कृत्यों का विवरण मिलता है। श्री बागची के विचार में "यह संभव है कि उक्त कृत्यों मे से अनेक उस आदिम समाज की धार्मिक क्रियाओं से लिये गये हो जो वैदिक (आर्य) समाज में आत्मसात् कर लिये गये थे, पर यदि तर्कपूर्वक कहा जाय तो वे वैदिक कर्मकाण्ड के एक ऐसे पक्ष का भी प्रतिनिधित्व करते है जो आध्यात्मिक लक्ष्यो के लिए नहीं, अपितु उन निम्न उद्देश्यो के लिए प्रयुक्त होते थे जिनमे किसी जन-समुदाय की सदैव रुचि हुआ करती है।"[1]

यहा जादू और धर्म का अन्तर समझ लेना उचित होगा। फ्रेजर ने धर्म की उत्पत्ति जादू से मानी है तथा उसे विज्ञानाभास (Pseudo Science) कहा है।[2] जादू और धर्म दोनों अतिप्राकृत शक्तियों के विश्वास पर आधारित है, पर उनमें सूक्ष्म भेद है। धर्म में मनुष्य अतिप्राकृत शक्तियो के समक्ष असहायता, दैन्य व विनम्रता का अनुभव करता है,[3] पर जादूगर स्वयं को उन शक्तियों का नियन्ता समझता है। यही कारण है कि जादूगर के व्यवहार मे अविनय व आत्मविश्वास का अतिरेक देखने को मिलता है।

धर्म और संस्कृत नाटक : हमारा अधिकांश प्राचीन साहित्य धार्मिक भावना से प्रेरित व अनुप्राणित है। सस्कृत नाटक भी इसका अपवाद नहीं। हम आगे

---

1. दे0 कल्चरल हेरिटेज़ ऑव् इंडिया, खंड 4 मे श्री पी0 सी0 बागची का निबन्ध 'इवोल्यूशन' ऑव् दि तंत्राज्' पृ0 214.
2. दि गोल्डन बाउ, पृ0 13.
3. ई0 एडमसन होवेल : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ0 532.

बतायेंगे कि अनेक आधुनिक विद्वानों ने संस्कृत नाटक की धार्मिक उत्पत्ति का सिद्धांत स्वीकार किया है। नाट्यशास्त्र में वर्णित कथा के अनुसार नाट्य के उद्भव में पौराणिक धर्म के त्रिदेवों का महान् योगदान था। नाटक के पूर्वरंग की विस्तृत धार्मिक विधि, देवस्तुतिपरक नान्दीपाठ व मंगलाचरण, विश्वकल्याण की भावना से ओतप्रोत भरतवाक्य आदि विभिन्न तत्त्व उस पर धर्म के गंभीर प्रभाव के सूचक हैं। विषयवस्तु व पात्रों की दृष्टि से भी संस्कृत नाटक धर्म से प्रभावित है। अधिकतर नाटक अवतारों–राम व कृष्ण–की कथाओं को लेकर लिखे गये हैं जिनमें उनकी मानवलीला के बीच-बीच उनके ईश्वरत्व की भी झलक दिखायी गई है। भास ने तो 'बालचरित' व 'दूतवाक्य' में कृष्ण की ईश्वरता प्रतिपादित करने व अपना भक्तिभाव प्रकट करने के लिए ही उनके अनेकविध चमत्कारों का चित्रण किया है। मानव कार्यों में देवी-देवताओं की अभिरुचि, हस्तक्षेप व सहायता के अनेक प्रसंग संस्कृत नाटकों मे आये है। उनमें ऋषि, मुनि, योगी-योगिनियां, सिद्धपुरुष, तान्त्रिक आदि पात्र भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चित्रित है जो अनेक प्रकार की विभूतियों व सिद्धियों से सम्पन्न होते हैं। उनकी सिद्धियों व चामत्कारिक कर्मों की नाटकीय कथा के विकास में प्राय: महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। इन सिद्धियों में अतीत-अनागत का ज्ञान, परचित्तज्ञान, आकाशोड्डयन, मानसीसिद्धि, आकर्पिणीसिद्धि, प्रणिधान द्वारा अभीष्ट वस्तु का आहरण, शाप व वरदान देने की शक्ति आदि उल्लेखनीय है। ये सिद्धियां प्राय: सम्बद्ध पात्रों की आध्यात्मिक साधना या तपस्या से उपलब्ध अतिप्राकृत शक्तियों या प्रभावो के रूप में होती हैं, अत: इन्हें हम 'समाधिजा सिद्धियां' कह सकते है। सस्कृत नाटको में चित्रित अलौकिक पात्रो मे कतिपय जन्मजा सिद्धियों का भी वर्णन मिलता है, जैसे देव पात्रो के सन्दर्भ मे आकाशोत्पतन, तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्यता, प्रभाव द्वारा इच्छित वस्तु की प्राप्ति तथा प्रणिधान द्वारा दूसरों के मानसिक भावों का ज्ञान आदि। इसी प्रकार असुर व राक्षस पात्रो के संदर्भ मे रूप-परिवर्तन या माया की शक्ति एवं परकाय प्रवेश आदि का बहुधा नाटकीय प्रयोग हुआ है। कुछ स्थलों पर 'मंत्रजा' और 'ओषधिजा' सिद्धियों का भी वर्णन मिलता है।

पुराकथा और अतिप्राकृत तत्त्व :

पुराकथा उन प्राचीन परम्परागत कथाओं का सामूहिक नाम है जिनमे देवताओं व दैवी नायकों की उत्पत्ति, व्यक्तित्व व कार्यो का विवरण दिया जाता है। इन कथाओं को पुराण, पुराण-कथा व धर्मगाथा भी कहते हैं। इनमें वर्णित घटनाएं व पात्र प्राय: लोकोत्तर होते है, अत: इन्हें हम 'अतिप्राकृतिक लोक की कथायें' भी कह सकते हैं। पुराकथा का धर्म के साथ बड़ा गहरा सम्बन्ध है। धर्म के आस्था

और कर्मकाण्ड दोनो ही पक्ष उससे सम्बन्धित है। मेक्डानल के अनुसार किसी धर्म में जिन दिव्य और अतिप्राकृतिक शक्तियों की अवधारणा की जाती है, पुराकथाये उनके चरित्र, उत्पत्ति, कार्य व परिवेश का वर्णन करती है।[1]

गार्डनर के अनुसार "पुराकथाएं देवों व अन्य शक्तियों के स्वभाव तथा चरित्र के विवरणों व निदर्शनों द्वारा मनुष्य को उनके साथ सही आधार पर सम्बन्ध स्थापित करने मे सहायता देती है।"[2] रूथ वेनेडिक्ट के अनुसार "कुछ जन-समुदायो में पुराकथा धर्म-तन्त्र की कुंजी होती है तथा उसके अभाव में धार्मिक व्यवहारों को समझा ही नही जा सकता।"[3]

गार्डनर के अनुसार पुराकथाएं परम्परागत होती हैं। उनका जन्म मूलतः व्यक्ति की कल्पना मे होता है, पर वे सामुदायिक चेतना की वाहक होने से सारे समाज की सम्पत्ति बन जाती है।[4] वे सदैव कहानी या वृत्तान्त के रूप में होती हैं, किन्तु साधारण कहानी और पुराकथा में पर्याप्त अन्तर है। पुराकथाएं जिस समाज में जन्म लेती और दोहरायी जाती है, उसका उनकी सत्यता में पूरा विश्वास होता है।[5] दूसरे, पुराकथाओं के प्रति लोगो में एक धार्मिक आस्था होती है जो अन्य प्रकार की कथाओं के विषय में नही पायी जाती। अधिकतर पुराकथाएं हेतुव्याख्यापरक (Aetiological) होती है। उनमें किन्हीं घटनाओं, पदार्थो, विश्वासों तथा प्रथाओं के कारणो की व्याख्या की जाती है।[6]

पुराकथाओं मे लोकत्तर शक्तियों की कल्पना अनेक रूपों में की गई है। कही वे प्रेतों या पितरों के रूप मे आयी है, तो कही स्थानीय सत्त्वों (Spirits) या देवमंडल के विभिन्न सदस्यों के रूप में। कभी-कभी अतिप्राकृतिक शक्तियां प्राकृतिक देवों के रूप में उपस्थित होती है।[7] इन कथाओं में लोकोत्तर व आश्चर्यप्रद घटनाओं, चमत्कारों और अनहोनी वातों का प्राचुर्य रहता है।

पुराकथाओं का उद्भव मानव-सभ्यता के उस काल मे हुआ जब भौतिक जगत् के विषय में मनुष्य का ज्ञान अतीव सीमित था तथा उसकी वुद्धि नैसर्गिक घटनाओं

---

1. दे० वैदिक माइथॉलॉजी, पृ० 1.
2. दे० एनसाईक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एड एथिक्स, खण्ड 9, मे 'माइथॉलॉजी' पर ई० ए० गार्डनर का निवन्ध, पृ० 118.
3. दे० 'एनसाईक्लोपीडिया ऑव् दि सोशल साइन्सेज' मे 'मिथ' पर रूथ वेनेडिक्ट का लेख
4. पूर्वोद्धुत ग्रन्थ, पृ० 117.
5. वही, पृ० 118.
6. वही.
7. रूथ वेनेडिक्ट : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 180.

व पदार्थों की वास्तविक प्रकृति और कारणों को समझने में असमर्थ थी। अतः मनुष्य के सृष्टि-विषयक प्रथम बोध में कल्पनाओं या मानसिक तरंगों का प्राधान्य रहा। यही कारण है कि मानव-जाति की सभी प्रारंभिक चिन्तनाएं पुराकथाएं बन गयीं। ये पुराकथाएं आदिम मानव का धर्म, दर्शन, विज्ञान व इतिहास सब कुछ कही जा सकती हैं। इनमें उसके अविकसित मानस ने सृष्टि-विषयक अपनी जिज्ञासाओं व प्रश्नों का काल्पनिक समाधान पाने का प्रयत्न किया। "आदि मानव ने समस्त प्राकृतिक पदार्थों में किन्हीं शक्तिशाली, बुद्धिमान् व इच्छा-सम्पन्न सत्ताओं का अनुभव किया। अपनी कल्पना के इन प्राणियों के विषय में उसने पारंपरिक वार्ताओं का निर्माण किया जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सावधानी के साथ हस्तांतरित होती रहीं। इन वार्ताओं में उसने अतिप्राकृतिक प्राणियों के समूह बनाये, उनका विभाजन किया, तथा उनके गुण-धर्मों, शक्तियों, कार्यों व भावनाओं के विवरण के लिए उनमें से प्रत्येक के साथ कुछ कथाए जोड़ दीं।"[1]

मैक्समूलर ने प्रकृति के मानवीकरण की प्रवृत्ति को जिस पर पुराकथाएं आधारित हैं, आदिम मानव की भाषा का दोष बताया है।[2] मेक्डानल के मत में पुराकथाओं का जन्म उस समय होता है जब कल्पना किसी प्राकृतिक घटना के अर्थ को मानव-सदृश किसी शरीरी सत्ता के कार्य के रूप में अवधारित करती है। उदाहरण के लिए चन्द्रमा सदैव सूर्य का अनुगमन करता है, फिर भी वह उसके निकट नहीं पहुंच पाता। इस दृश्य के निरीक्षण से प्रेमी द्वारा प्रेमिका के प्रत्याख्यान की पुराकथा का जन्म हुआ। ऐसी कथाये जब कल्पनाशील कवियों के हाथ में पहुंच गयी तो काव्यात्मक अलंकृति के द्वारा उनमे अनेक नूतन विशेषताओं का आधान हुआ। कालान्तर मे इन पुराकथाओं का प्राकृतिक आधार शनैः-शनैः लुप्त हो गया और एक स्थिति ऐसी आयी कि उनमे मानव-भावों की ही प्रधानता हो गयी। प्राकृतिक आधार के सर्वथा आच्छादित हो जाने से उनमें अन्य पुराकथाओं के तत्त्व भी जुड़ गये। यदि ऐसी पुराकथाओं को विकास की अन्तिम अवस्था में देखें तो उनके मूल रूप को पहचानना भी संभव नहीं है।[3]

फ्रायड ने पुराकथा को स्वप्न की कोटि में रखा है। स्वप्न के समान उनमे भी अवचेतन मन की दमित इच्छायें विभिन्न प्रतीकों मे अभिव्यक्त होती है।[4] उनके

---

1. दि एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना, खण्ड 19 पृ0 672.
2. दे0 एमिल दुर्खीम : दि एलीमेंट्री फार्म्स ऑव् दि रिलीजस लाइफ, पृ0 95–96.
3. दे0 वैदिक माइथॉलाॅजी पृ0 1.
4. दे0 दि बेसिक राइटिंग्ज ऑव् सिगमंड फ्रायड; डा0 ए0 ए0 ब्रिल द्वारा अनूदित व सम्पादित, पृ0 954.

मत में ये इच्छायें मुख्यतः यौन इच्छायें होती है।[1] युंग ने भी पुराकथा को इसी श्रेणी में रखा है, पर वे उसे मनुष्य के 'सामूहिक अवचेतन' की अभिव्यक्ति मानते है।[2] रूथ वेनेडिक्ट के अनुसार "मिथ मनुष्य के संकल्प और अभिप्राय के जगत् का अभिलाषामय प्रक्षेपण है। अपनी सभी पुराकथाओं में मनुष्य ने एक यांत्रिक विश्व के प्रति अपनी व्यथा और उसके स्थान पर मानवभावों से अभिप्रेरित व निर्देशित एक अन्य जगत् की स्थापना में मिलने वाले सुख को व्यक्त किया है।"[3] मालिनोव्स्की के विचार में पुराकथा का प्रमुख कार्य "परम्परा को सशक्त बनाना तथा प्राचीन घटनाओं के उच्चतर और श्रेष्ठतर अतिप्राकृतिक सत्य में उनका उद्गम खोजकर उन्हें महत्तर मूल्य और गौरव से मंडित करना है।"[4]

पुराकथाओं के अनेक भेद-प्रभेद किये गय हैं। उनमें से कुछ प्रकारों का सम्बन्ध निम्नलिखित विषयों से माना गया है—

१. प्राकृतिक परिवर्तन व ऋतुएं
२. ग्रह-नक्षत्र
३. अन्य प्राकृतिक पदार्थ, जैसे वृक्ष, लता, नदी, जलाशय, पर्वत, वन आदि। पुराकथाओं मे प्रायः इनकी सजीव सत्ता मानी जाती है।
४. असाधारण व आकस्मिक प्राकृतिक घटनाएं, जैसे भूकंप, झंझावात, सूर्य व चन्द्र का ग्रहण।
५. विश्व की उत्पत्ति
६. देवों की उत्पत्ति, परिवार, वश, शक्ति आदि
७. पशुओं व मनुष्यों की उत्पत्ति
८. रूप-परिवर्तन
९. जातीय वीरों की दिव्य उत्पत्ति, उनके चरित्र, परिवार व वंशपरंपरा
१०. सामाजिक संस्थाओं व प्रथाओं की उत्पत्ति व आविष्कार
११. आसुरी व पैशाचिक शक्तिया
१२. मरणोत्तर अस्तित्व व पितृलोक
१३. इतिहास

---

1. दे० दि वैसिक राइटिंग्ज ऑव् सिगमंड फ्रायड; डा० ए० ए० व्रिल द्वारा अनूदित व संपादित, पृ० 970.
2. साइकॉलॉजी एण्ड रिलीजन, पृ० 33.
3. एनसाईक्लोपीडिया ऑव् सोशल साइन्सेज, खण्ड 11-12, पृ० 181.
4. एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटानिका, भाग 16 में 'मिथ एंड रिचुअल' शीर्षक के अन्तर्गत उद्धृत.

पुराकथाएं स्थिर वस्तु नही है । उनमें परिवर्तन व परिवर्धन की प्रक्रिया निरन्तर सजग रहती है, जिससे कालान्तर में उनका रूप वदल जाता है । इसी प्रवृत्ति को लक्षित कर पुराकथाओं की उपमा नदी की धारा में प्रवहमान उन शिलाखण्डों से दी गई है जो निरन्तर लुढ़कते हुए अपना स्वरूप वदलते रहते हैं ।[1]

रूथ वेनेडिक्ट के शव्दों में "अतिप्राकृतिक के क्षेत्र में मनुष्य की पहुंच एक 'अपर' जगत् तक है जो उसकी 'पुराकथा-निर्माण' की प्रवृत्ति को खुली छूट देती है। अतः धर्म की उर्वरा भूमि में सृष्टि-विद्या तथा अतिप्राकृतिक वार्ताएं खूब फली-फूली है ।[2]

पुराकथा और संस्कृत नाटक : भारतीय पुराकथा का विकास दो अवस्थाओ में हुआ है–वैदिक पुराकथा व इतिहास–पुराणों की पुराकथा । प्रथम का वैदिक धर्म के देवताओं से सम्वन्ध है और दूसरे का स्मार्त-पौराणिक हिन्दू धर्म के देवों से, जिनका विवरण हम पिछले प्रकरण में दे चुके हैं । वहा हमने वताया था कि पौराणिक देवता वैदिक देवों की तुलना में अधिक मानवीकृत है व अपने प्राकृतिक मूल के साथ उनका सम्वन्ध प्रायः विस्मृत हो चुका है । लौकिक संस्कृत साहित्य वैदिक पुराकथा की अपेक्षा महाकाव्यों व पौराणिक साहित्य की पुराकथाओं का अधिक ऋणी है । अधिकतर कवियों व नाटककारो ने इतिहास-पुराण की अलौकिक कथाओं व पात्रों को लेकर अपने काव्य व नाटकों का प्रणयन किया है । पौराणिक हिन्दू धर्म एक लोकप्रिय धर्म था तथा उसकी पुराकथाओ मे उसके अनुयायियों की जीवन्त श्रद्धा थी । यही कारण है कि कवियो व नाटककारो ने इन कथाओं की अलौकिक कल्पनाओ को ज्यों का त्यों स्थूल रूप मे अपना लिया ।

नाट्यशास्त्रीय ग्रथों में नाटक व रूपक के कतिपय अन्य भेदों के लिए प्रख्यात कथावस्तु का विधान किया गया है ।[3] प्रख्यात कथावस्तु से आशय है—इतिहास, पुराण व लोक कथाओ मे प्रसिद्ध परम्परागत कथाएं । संस्कृत के अधिकांश नाटकों का विषय ऐसी ही कथाए है । भास के दो नाटक रामायण के और छह महाभारत के आख्यानो पर आधारित है । उनका 'वालचरित' कृष्ण-सम्वन्धी तत्कालीन पौराणिक कथाओ का नाटकीकृत रूप है । कालिदास के दो नाटकों में से एक का स्रोत उर्वशी व पुरूरवा का वैदिक व पौराणिक आख्यान तथा दूसरे का महाभारत का शकुन्तलोपाख्यान है । भवभूति, मुरारि, राजशेखर, दिङ्नाग, शक्तिभद्र, जयदेव आदि कितने

1. दि एनसाईक्लोपीडिया अमेरिकाना, भाग 19 मे 'माइथॉलॉजी' शीर्षक निवन्ध, पृ0 673.
2. पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ0 179.
3 नाटक—ना0 शा0 18.10; समवकार—वही, 18.63; उत्सृष्टिकाक—ना0 शा0 18.94; द0 रू0 3.70, डिम—ना0 शा0 18.83; व्यायोग—वही, 18.90; द0 रू0 3.62.

ही नाटककारों ने रामकथा को लेकर नाटक लिखे हैं। ऐसे अनेक नाटक अब लुप्त हो चुके हैं,[1] जैसे यशोवर्मन का रामाभ्युदय, मायुराज का उदात्तराघव, भीमट का स्वप्नदशानन तथा अज्ञातकर्तृक कृत्यारावण, छलितराम, जानकीराघव, राघवाभ्युदय, मायापुष्पक, राघवानन्द आदि। इसी प्रकार महाभारत के आख्यानों-उपाख्यानों के आधार पर भी बहुत बड़ी संख्या में नाटक रचे गये हैं जिनमें से कुछ का उल्लेख ऊपर हो चुका है। अन्य प्रधान नाटकों में भट्ट नारायण के वेणीसंहार तथा राजशेखर के बालभारत या प्रचंडपांडव की वस्तु महाभारत से गृहीत है। ऐसे अन्य नाटकों में क्षेमेन्द्र का चित्रभारत (अब अप्राप्य), कुलशेखर वर्मा का सुभद्राधनंजय व तपतीसंवरण, प्रह्लादनदेव का पार्थपराक्रम, कांचन पंडित का धनंजयविजय, रामचन्द्र का निर्भयभीम, मोक्षादित्य का भीमविक्रमव्यायोग तथा विश्वनाथ का सौगन्धिकाहरण आदि उल्लेखनीय है। इसी प्रकार कृष्ण, शिवपार्वती, प्रद्युम्न-प्रभावती, शर्मिष्ठा-ययाति, राजा हरिश्चन्द्र आदि की पौराणिक कथाओं को लेकर अनेक नाटक रचे गये है। यों तो इन सभी में वस्तु व पात्रों के रूप मे अतिप्राकृत तत्त्व प्रयुक्त हुए है तथापि पौराणिक कथाओं पर आधारित नाटकों मे उनका प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। कुछ इतिहासमूलक नाटकों में भी पौराणिक कल्पनाओं के समावेश से इन तत्त्वो की अभिवृद्धि हुई है, जैसे अभिज्ञान-शाकुन्तल में।

संस्कृत नाटकों मे अनेक पौराणिक दिव्य पात्रों का चित्रण हुआ है। ये दिव्य पात्र कभी अलक्ष्य रूप मे नाटकीय घटनाओं को प्रभावित करते है, कभी साक्षात् उपस्थिति द्वारा और कभी इनके कार्यकलापों की सूचना मात्र दी जाती है। राम और कृष्ण का अवतारी रूप अनेक नाटको का विषय है। मानव रूप मे चित्रित किये जाने पर भी उनके अलोकसामान्य कार्य उनकी ईश्वरता का सकेत देते है। कुछ नाटकों मे इन्द्र, धर्मराज, गौरी, कात्यायिनी आदि दिव्य पात्र आये है। इनके अतिरिक्त गन्धर्व, अप्सरा, विद्याधर, सिद्ध, नाग आदि अवरदेवताओं तथा असुर, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि आसुरी व पैशाचिक शक्तियों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष चित्रण मिलता है। उक्त पात्रो को नाटककारो ने पौराणिक कल्पनाओं व लोकविश्वासों के परिच्छद से मंडित कर अंकित किया है। दिव्य पात्रों के प्रसंग मे उनकी दीप्तिमत्ता, आकाशगमन की शक्ति, लोक-लोकान्तरो की यात्रा, रथ, विमान आदि दिव्य वाहन, अदृश्यता की शक्ति, विद्याओ का ज्ञान, प्रणिधान द्वारा सुदूर देश व काल का ज्ञान आदि अनेक अलौकिक विशेषताएं वर्णित है। ये दिव्य-पात्र प्राय: दिव्य लोकों मे रहते है, पर मर्त्य लोक मे भी आते जाते रहते है। वे मानव-कार्यकलापों में रुचि

---

1 दे० डा० वी० राघवन . सम ओल्ड लॉस्ट राम प्लेज.

लेते हैं तथा आवश्यकता होने पर उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप भी करते है। इनके अतिरिक्त नारद, मारीच व वसिष्ठ आदि दिव्य ऋषि तथा विश्वामित्र, वाल्मीकि आदि मानव ऋषि अनेक नाटकों के पात्र हैं। इनके वर्णन में नाटककारों ने सम्बन्धित पौराणिक कल्पनाओं का यथेच्छ उपयोग किया है। कुछ अर्धदिव्य या मानव पात्र दिव्य गुणों से सम्पन्न हैं। अनेक नाटकों में देव-द्रोही व मानव-विरोधी असुर व राक्षस आदि पात्रों के भयावह व वीभत्स व्यक्तित्व का चित्रण हुआ है। उनके रूप-परिवर्तन या मायाविता का नाटकीय घटनाचक्र के विकास में विशेष योगदान रहता है। कुछ नाटकों में वनदेवता, नगरदेवता, नदीदेवता, समुद्रदेवता, पृथ्वी देवता आदि साक्षात् या असाक्षात् रूप में अंकित है। अनेक नाटकों में पौराणिक पशु-पक्षी, जैसे जटायु, गरुड़ आदि पात्रों के रूप में आये है। भास व भवभूति के नाटकों में क्रमशः भगवान् विष्णु के आयुध व राम के जृम्भकास्त्र दिव्य पात्रों के रूप में उपस्थित हुए है। दिव्य पात्रों के संदर्भ में उनके दिव्य लोकों–स्वर्गलोक, सिद्ध-लोक, विद्याधरलोक, पाताललोक आदि का उल्लेख या वर्णन मिलता है। कतिपय नाटकों के कुछ दृश्यों का स्थान दिव्य प्रदेश हैं।

जैसा कि हम वता चुके है संस्कृत नाटककारों ने कथावस्तु व पात्रों के लिए पौराणिक साहित्य की कथाओं का उपयोग किया है, जिनमे देवता अत्यधिक मानवीकृत रूप में चित्रित है। साथ ही वे उदार, दयालु व मानव-हितैपी माने गये है। यूनानी देवताओं के समान वे मनुष्यों के प्रति विद्वेप व प्रतिशोध की भावना से युक्त नही है। वे दिव्य होते हुए भी मानवों के अतिनिकट, परिचित, आत्मीय, स्नेही व मंगलकारी है। नाटक के नायकों की फलप्राप्ति में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। यह भी उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार मानवों को दैवी अनुग्रह अपेक्षित है उसी प्रकार देवों को भी अपने कार्य मे विशिष्ट मनुष्यों के सहयोग की आवश्यकता रहती है।

दर्शन और अतिप्राकृत तत्त्व :

'दर्शन' का अर्थ है सत्य का साक्षात्कार या तात्त्विक ज्ञान। पाश्चात्य परंपरा मे 'फिलॉसफी', जिसका मूल अर्थ 'ज्ञान-प्रेम' है,[1] मुख्यतः बौद्धिक चिंतन और तार्किक ज्ञान की वाचक रही है, जबकि भारत मे 'दर्शन' चिन्तन, स्वानुभूति और साधना तीनों का समन्वय माना गया है। विज्ञान और दर्शन दोनो ही जगत् और जीवन का अध्ययन करते हैं, पर उनके दृष्टिकोणो में मौलिक अन्तर है। विज्ञान सत्य के विभिन्न पक्षो का पृथक्-पृथक् अध्ययन करता है, पर दर्शन जगत् और जीवन को

---

1. फिलो–प्रेम, सोफिया–ज्ञान.

समष्टि रूप में ग्रहण कर उसके मूल तत्त्व या अन्तिम सत्य के अन्वेषण का प्रयत्न करता है।[1]

दर्शन की मुख्यतः तीन समस्याए रही है—(१) व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप (२) भौतिक जगत् का मूल सत्य और (३) ब्रह्माण्ड का अन्तिम तत्त्व और इन सबका पारस्परिक सम्बन्ध। इन्ही का दर्शन के इतिहास में क्रमशः आत्म-विचार, विश्व-विचार और ईश्वर-विचार के रूप में निरूपण किया गया है।

भारत मे दर्शन का धर्म से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।[2] जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, अलौकिक सत्ताओं में आस्था धर्म का मूल आधार है और दर्शन उस आस्था की समीक्षा और साधना है। अतः दर्शन को हम धर्म का वैचारिक पक्ष कह सकते है।

भारतीय दर्शन का इतिहास वेदों से प्रारम्भ होता है। वेदो में विभिन्न प्राकृतिक तत्त्वों—अग्नि, सूर्य, वायु, पर्जन्य, मरुत्, आपस्, उषा आदि की पुरुषाकार कल्पना की गयी है तथा उन्हें देवरूप माना गया है, यद्यपि इन्द्र, वरुण, अश्विनौ आदि कुछ देवताओं का प्राकृतिक मूल अस्पष्ट है। यही वेदों का बहुदेववाद है जिसकी चर्चा हम धर्म के अन्तर्गत कर चुके है। धीरे-धीरे विचार के विकास व मानव-बुद्धि की सामान्यीकरण की प्रवृत्ति के कारण बहुदेववाद एकदेववाद में परिणत हुआ। ऋग्वेद की वरुण, विश्वकर्मा, विश्वेदेवाः, पुरुष व प्रजापति की कल्पनाओं में तथा 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'[3] व 'महद् देवानामसुरत्वमेकम्'[4] जैसे कथनों मे एव नासदीय सूक्त[5] में एकदेववादी व एकत्ववादी विचारों की प्रारम्भिक अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। ऋग्वेद की यही बीजरूप विचारधारा उपनिषदों मे एक ही ईश्वर या सृष्टि के एकमात्र तत्त्व ब्रह्म की धारणा में विकसित हुई। उपनिषदों के बाद दर्शनशास्त्र के विभिन्न संप्रदायों में ईश्वर, सृष्टि, आत्मा व मोक्ष के विषय मे अनेक अतिप्राकृतिक धारणायें प्रतिपादित की गयी है।

---

1. हॉकिंग : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 2.
2. श्री हिरियन्ना के विचार मे धर्म और दर्शन प्रारम्भ में सर्वत्र एक होते हैं, क्योकि दोनो का लक्ष्य–सत्य की खोज–एक ही है। किन्तु शीघ्र ही ये एक-दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। भारत में भी ऐसा हुआ है, पर यहा इनका पूर्ण विच्छेद नही हुआ।

   दे० भारतीय दर्शन की रूपरेखा (हिन्दी रूपान्तर) पृ० 13.
3. ऋग्वेद 1.164.46.
4. वही, 3.55.
5. वही, 10.129.

ईश्वर : अधिकतर दर्शनों ने ईश्वर को नित्य, सर्वव्यापी, चैतन्यरूप, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व संहार का कारण तथा कर्मफल का दाता माना है। ईश्वर की यह कल्पना सर्वथा अतिप्राकृतिक है। अद्वैत वेदान्त में सगुण ईश्वर के अतिरिक्त निर्गुण ब्रह्म का भी सृष्टि के एकमात्र आधारभूत तत्त्व के रूप में निरूपण मिलता है। पुराणों में शिव या विष्णु को ईश्वर के रूप में माना गया है तथा सगुण व निर्गुण दोनों रूपों में उनकी कल्पना की गई है। भगवद्गीता में कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिखाये गये विराट् रूप में उनके परमेश्वरत्व व विश्वरूपता का दर्शन होता है।[1]

जगत् : अद्वैत वेदान्त व महायानी बौद्ध के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शन वस्तु-जगत् की सत्ता को यथार्थ स्वीकार करते है, किन्तु उनमें से अधिकतर उसी को अंतिम नही मानते। उनके अनुसार उसका अपने से भिन्न कोई आधार अवश्य है। किसी ने यह आधार प्रकृति को माना है, किसी ने परमाणुओं व ईश्वर को तो किसी ने ब्रह्म को। कुछ ने उसे परिणाम या तात्त्विक विकार, कुछ ने आरंभ या नवीन कार्य और कुछ ने विवर्त या अतात्त्विक विकार कहा है।[2] यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय दर्शनों की सृष्टि-विषयक धारणा पौराणिक कल्पनाओं से प्रभावित है। उदाहरणार्थ सांख्य ने भौतिक सर्ग को तीन प्रकार का माना है—दैव, तैर्यग्योन और मानुष। उसके अनुसार दैव सर्ग के आठ प्रकार हैं—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस और पैशाच।[3] उपनिषदों की सृष्टि-कल्पना में भी विविध लोकों का उल्लेख मिलता है,[4] जिस पर स्पष्टतः पुराकथाओं का प्रभाव है।

आत्मा : सभी भारतीय दर्शन, कुछेक अपवादों को छोड़कर,[5] आत्मा के देहातीत अस्तित्व व उसकी अमरता में विश्वास करते है। उनके अनुसार आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, चैतन्यस्वरूप या चैतन्य-धर्म से युक्त[6] है। सभी दर्शन आत्मा को

1. अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
   पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
   नान्त न मध्य न पुनस्तवादिं
   पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ गीता, 11.16.
2. सांख्य ने सृष्टि का मूल आधार प्रकृति को, न्याय-वैशेषिक ने परमाणुओं व ईश्वर को तथा अद्वैत वेदान्त ने ब्रह्म को स्वीकार किया है। सांख्य को परिणामवादी, न्याय को आरम्भवादी तथा वेदान्त को हम विवर्तवादी कह सकते है।
3. सांख्य कारिका, 53 तथा उस पर वाचस्पतिमिश्र-कृत तत्त्वकौमुदी।
4. दे0 बृहदारण्यक उपनिषद्, 1.5.16; 3.6.1.
5. चार्वाकों ने 'देह' को तथा बौद्धों ने पंच स्कंधों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) को ही आत्मा माना है। इनसे भिन्न किसी देहातीत आत्मा में उनकी आस्था नहीं है।
6. न्याय ने चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक धर्म या गुण माना है, जबकि सांख्य, योग, वेदान्त आदि ने चैतन्य को उसका स्वरूप स्वीकार किया है।

वद्ध दशा में कर्ता व भोक्ता मानते है, किन्तु मुक्ति दशा मे वह कर्तृत्व व भोक्तृत्व से छूटकर अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होता है।

मोक्ष : आत्मा की अमरता के सिद्धान्त से मोक्ष, कर्म व पुनर्जन्म की धारणाये घनिष्ठतया सम्वन्धित है। सभी भारतीय दर्शनों ने सांसारिक जीवन को दुःखमय[1] और उससे मुक्ति को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना है, यद्यपि मुक्ति के स्वरूप के विषय में उनमे मतभेद है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा की स्वरूपोपलब्धि, रामानुज के अनुसार आत्मा की वैकुंठ-प्राप्ति, सांख्ययोग के अनुसार पुरुष का अनात्म प्रकृति से विवेक-ज्ञान, न्याय-वैशेपिक व मीमांसा के अनुसार आत्मा की सुख-दुःख से रहित चेतनातीत अवस्था, जैनों के अनुसार जीव की स्वरूप-प्राप्ति व वौद्धों के अनुसार वासनाओं की आत्यन्तिक शान्ति मोक्ष का स्वरूप है। इस प्रकार सभी ने मोक्ष को एक लोकातीत अवस्था स्वीकार किया है जिसमें दुःखों की आत्यन्तिक हानि होती है।

कर्म व पुनर्जन्म का सिद्धान्त : यह भारतीय विचारधारा का महत्त्वपूर्ण अंग है। इस सिद्धान्त ने जीवन और जगत् के प्रति भारतीय दृष्टिकोण को वड़ी गहराई से प्रभावित किया है। यह हमारी नैतिक व आध्यात्मिक मान्यताओं का मुख्य आधार रहा है। इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद की ऋत-सम्वन्धी धारणा में मिलता है जहा यह विश्व की भौतिक व नैतिक व्यवस्थाओं का पर्यायवाची है।[2] उपनिपदों में कर्म व पुनर्जन्म की धारणा पूर्ण विकसित रूप में प्रकट हुई है।[3]

कर्म सिद्धान्त वताता है कि मनुष्य जो भी कर्म करेगा, उसका फल अवश्य भोगना होगा, चाहे इस जीवन में या अगले जीवन में। जव तक कर्मफल निःशेप नही होता तव तक प्राणी जन्म-मरण के चक्र से मुक्त नही हो सकता। हमारा वर्तमान जीवन अतीत जीवन के कर्मो का परिणाम है और इस जीवन मे हम जो कर्म कर रहे हैं वह भावी जीवन के स्वरूप को निर्धारित करेगा। कर्म तीन प्रकार के माने गये है—सचित, प्रारव्ध और क्रियमाण। पिछले सभी जीवनों में किये गये कर्मो

---

1. दे० साख्यकारिका 1; न्यायसूत्र, 1. 2.
   वौद्धो के चार आर्यसत्यो में सर्वप्रथम 'दुःख' की गणना की गयी है।
2. दे० एम० हिरियन्ना : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, (हिन्दी रूपान्तर) पृ० 31–32, राधाकृष्णन्: दि हिन्दू व्यू ऑव् लाइफ, पृ० 52.
3. यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहु. काममय एवायं पुरुष इति स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति तत् क़र्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। वृ० उ० 4.4.5; एवमेवायमात्मेद शरीर निहत्याविद्या गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैव वा प्राजापत्य वा ब्राह्मं वान्येपां वा भूतानाम्। वही, 4.4.4; 3.2.13; 6.2.2; क० उ० 5.5.7 छा० उ० 4.1.

के संचय को संचित कर्म कहते हैं। संचित कर्मों का वह अंश जो वर्तमान जीवन का हेतु है 'प्रारब्ध' कहा जाता है तथा इस जीवन में जो नये कर्म किये जा रहे हैं वे "क्रियमाण" हैं। कर्मों के सम्पादन से उत्पन्न शक्ति या फल को अदृष्ट, अपूर्व,[1] पाप-पुण्य या धर्म-अधर्म कहते हैं, जो प्राणी के भवितव्य का नियामक माना जाता है। ईश्वरवादी दर्शनों के अनुसार ईश्वर प्राणी के अदृष्ट या धर्म-अधर्म के अनुसार उसके कर्मफलों का विधान करता है,[2], किन्तु निरीश्वरवादी मीमांसा आदि दर्शन स्वयं इस शक्ति को ही प्राणी के सुख-दुःख व जन्मादि का हेतु मानते हैं।[3] मनुष्य की जाति, गोत्र, आयु आदि का निर्धारण प्रारब्ध कर्मो से होता है।[4] कर्म करने से चित्त में संस्कार उत्पन्न होते हैं जिन्हें कर्मवासना या कर्माशय कहते हैं। ये संस्कार आत्मा में अन्वित रहते हैं तथा उनके फलों को भोगने के लिए प्राणी को वारंवार जन्म लेना पड़ता है।[5] जीवन की इसी अवस्था को संसार, भव-चक्र आदि कहा गया है। मोक्ष प्राप्त होने पर ही प्राणी को जन्म-मरण के इस संसार-चक्र से छुटकारा मिलता है। मोक्ष का साधन आत्म-ज्ञान है जिससे कर्म में आसक्ति समाप्त होती है और क्रियमाण कर्मों के संस्कारों का बनना बन्द हो जाता है। अतः जैसे ही संचित व प्रारब्ध कर्मो का भोग समाप्त होता है, प्राणी जन्म-चक्र से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार कर्म और पुनर्जन्म की धारणायें परस्पर सम्बद्ध हैं।

कर्मवाद व पुनर्जन्म का सिद्धान्त आपाततः नियतिवाद या भाग्यवाद प्रतीत होता है, क्योंकि इसके अनुसार इस जीवन का सब कुछ पूर्वजन्मों में किये गये कर्मों पर निर्भर है, उसमें कहीं भी कोई हेरफेर या संशोधन नहीं किया जा सकता। मनुष्य के जन्म-मरण, सुख-दुःख, हानि-लाभ सब कुछ अदृष्ट या भाग्य का परिणाम है। सामान्य लोगों में कर्म सिद्धान्त का यही रूप प्रचलित है। पर तत्त्वदृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त में कर्म-स्वातन्त्र्य का निषेध नहीं है[6]

---

1. प्रभाकर ने धर्म व अधर्म को 'अपूर्व' नाम दिया है; वे उसे यज्ञादि कर्मों का फल मानते हैं। न्याय-वैशेषिक के पाप-पुण्य के समान वह आत्मा से समवेत रहता है, अतः वह बाह्य कर्मों से भिन्न एक आन्तरिक विशेषता माना जा सकता है। दे० हिरियन्नाः भारतीय दर्शन की रूप-रेखा, पृ० 326.
2. दे० न्यायसूत्र, 4.19–21.
3. हिरियन्नाः भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० 170; डा० यदुनाथ सिन्हाः भारतीय दर्शन (हिन्दी रूपान्तर) पृ० 254.
4. सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ यो० सू० 2.13; पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्ति. ॥ न्यायसूत्र 3.263.
5. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ यो० सू० 212.
6. दे० राधाकृष्णन् : एन आइडिएलिस्ट व्यू ऑव् लाइफ, पृ० 276.

तथा यह नैतिक जीवन को कार्यकारणभाव पर आधारित कर उसे अराजकता व अव्यवस्था से बचाता है। तथापि यह वर्तमान जीवन के तथ्यों की व्याख्या दूसरे जन्म और उसके कर्मों के सन्दर्भ में करता है, इसलिए एक ऐसे विश्वास पर आधारित है जिसकी परीक्षा का अनुमान और कल्पना के सिवा हमारे पास कोई साधन नहीं है।

दर्शन और संस्कृत नाटक : संस्कृत नाटक में भारतीय समाज के सर्वमान्य दार्शनिक विश्वासों का भी यत्र-तत्र उल्लेख या चित्रण मिलता है। आत्मा, ईश्वर, जगत् का वास्तविक स्वरूप आदि दार्शनिक विषयों का तो नाटक की लौकिकफलोन्मुख घटनावली से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं हो सकता, पर पात्रों के जीवन में आने वाली विपत्तियों व कष्ट-क्लेशों की व्याख्या या समाधान के रूप मे कर्म, भाग्य व पुनर्जन्म आदि से सम्बन्धित लोकप्रचलित विश्वासों की संस्कृत नाटकों में प्रचुर अभिव्यक्ति हुई है। ये विश्वास भारतीय जन साधारण में शताब्दियों से बद्धमूल भाग्यवादी या नियतिवादी विचारधारा के द्योतक है।

संस्कृत के प्रतीकात्मक नाटकों का दार्शनिक चिन्तन के साथ गहरा सम्बन्ध है। ये नाटक सम्प्रदाय-विशेष के दार्शनिक मतों की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए रचे गये थे। इनके पात्र दार्शनिक सिद्धान्तों या मनोवृत्तियों के प्रतीक होते हैं, अतः उनमें सजीवता का प्रायः अभाव रहता है। ऐसे नाटकों में कृष्ण मिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय' सर्वश्रेष्ठ व प्रतिनिधि माना जाता है।

लोककथा और अतिप्राकृत तत्व

लोककथा लोकसाहित्य का एक विशिष्ट अंग है। लोकसाहित्य में उन परम्परागत आख्यानों, कथाओं, गाथाओं, गीतों, कहावतों, पहेलियों व नाट्य आदि का समावेश है जो कि आदिम जनजातियों या सभ्य संसार के अपेक्षाकृत अल्पसभ्य-जनों के मनोरंजन के साधन हैं। लोककथा लोक-प्रचलित कहानी के रूप में होती है और उसमें लोकमानस की सीधी, सच्ची और सहज अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। उसमे लोक-जीवन के प्राचीन विश्वासो, परम्पराओं और प्रथाओं के रूप मे लोक-संस्कृति का सन्निवेश रहता है। विंटरनित्स के अनुसार "लोककथाएं सीधे लोक-हृदय से निःसृत होती है अर्थात् धार्मिक विचारो और पुराणकथाओं से, जादू-टोना-संबंधी लोक-प्रचलित विश्वास से तथा साधारण जनता से निकले कहानी कहने वाले स्त्री-पुरुषों के मन की तरंगों से। अधिकतर लोककथाओ का अपना या दूसरों का मनोरंजन करने के सिवा कोई और उद्देश्य नही होता।"[1] ये कथाएं मूलतः मौखिक

1. एम. विंटरनित्स हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लिट्रेचर, भाग 3, खंड 1, पृ0 307.

होती हैं और इसी रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी समाज में संवाहित होती रहती हैं, किन्तु कभी-कभी ये साहित्यिक रूप प्राप्त कर लिपिवद्ध भी हो जाती हैं।[1] आधुनिककाल में नृतत्त्वशास्त्रीय शोधकर्ताओं ने संसार के विभिन्न भागों में प्रचलित प्रायः सभी लोककथाओं को संकलित कर लिखित रूप दे दिया है।

पुराकथाओं के समान लोककथाओं में भी अतिप्राकृत तत्त्वों का समावेश रहता है, फिर भी दोनों में प्रभूत अन्तर है। विंटरनित्स के अनुसार "पुराकथाएं सदैव किसी वस्तु की व्याख्या देने का प्रयत्न करती है, वे किसी विशेष जिज्ञासा या धार्मिक अपेक्षा की सन्तुष्टि करती हैं; किन्तु लोक-कथाओं का उद्देश्य शुद्ध मनोरंजन होता है।"[2] वे धार्मिक चिन्तना व मताग्रह से मुक्त होती है, तथापि उन्हें धर्म से सर्वथा अस्पृष्ट नही कह सकते। यह अवश्य है कि उनमे धर्म का सामान्य जनों में प्रचलित निम्न रूप ही अधिक देखने को मिलता है। धर्म के इस रूप मे प्रायः जादू-टोना और जीववादी विश्वासों का प्राधान्य रहता है।

यहां लोककथा का आख्यानों (Legends) से भी अन्तर कर लेना उचित होगा। आख्यान किसी विशेष पुराकथाशास्त्रीय या सामाजिक परम्परा पर आधृत होते हैं, पर लोककथाएं अधिक स्वतन्त्र होती है तथा एक स्थान से दूसरे स्थान तक विचरण करती रहती है, यद्यपि इस प्रक्रिया में उनके पात्र वदल जाते हैं।[3] आख्यानों का कोई ऐतिहासिक या तथ्यात्मक आधार होता है, पर उन पर पुराणकथाओं व लोककथाओं के तत्त्वों की इतनी परते जम जाती है कि उनका मूल रूप आच्छादित हो जाता है। इसी दृष्टि से आख्यानों को 'विरूपित इतिहास' भी कहते है।[4]

लोककथाओ की उत्पत्ति व उनके विश्वव्यापी प्रसार के वारे में अनेक प्रकार के मत प्रस्तुत किये गये हैं। मेक्समूलर व उनके संप्रदाय के विद्वानों ने उन्हे पुराकथा का ही एक अंग माना है।[5] एंड्रू लैंग, टायलर आदि समाजशास्त्रियों के मत में लोककथाओं का जन्म आदिम असभ्य समाज में हुआ तथा अतीत के अवशेष के रूप मे वे सभ्यता की परवर्ती स्थितियों में जीवित रही।[6] मनोविश्लेषणवादियों ने

---

1. गुणाढ्य की वृहत्कथा व उस पर आधारित कथासरित्सागर आदि लोककथाओ के ही साहित्यिक संस्करण हैं।
2. पूर्वोद्धृतग्रन्थ, पृ0 203.
3. एस0 ए0 डांगे : लीजेन्ड्स इन दि महाभारत, आमुख, पृ0 37.
4. दे0 एनसाईक्लोपीडिया व्रिटानिका, खंड 9 में 'फॉकलोर' शीर्षक लेख
5. दे0 चेम्वर्स एनसाईक्लोपीडिया, भाग 5 में 'फॉकलोर' शीर्षक निवन्ध
6. वही

उनमें शैशव व बाल्यकाल की मनोग्रंथियों की रूपकात्मक अभिव्यक्ति देखी है।[1] ग्रिम भ्राताओं तथा बेन्फे ने यूरोपीय लोककथाओं का मूल उत्स भारत को माना है। जर्मनी में कोहलर, इंगलैंड में क्लाउस्टर तथा फ्रांस में कासक्विन ने उक्त मत का विभिन्न रीतियों से समर्थन किया,[2] किंतु कुछ अन्य विद्वानों ने उसका खंडन करते हुए लोककथाओं की बहुजननता (Polygenesis) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।[3] लोककथाओं में अभिप्रायों के सुनिश्चित रूप एवं कलात्मक संयोजन के आधार पर यह माना जाता है कि उनका जन्म किसी विशेष देश-काल में व्यक्ति विशेष के मस्तिष्क से ही होता है, किंतु फिर वे सुदूर स्थानों व कालों में संक्रान्त होकर असंख्य रूप ग्रहण कर लेती हैं। इस प्रक्रिया में उनकी भौगोलिक विशेषताएं व पात्रों के नाम आदि ही बदलते है, उनका मूल ढांचा प्रायः वही रहता है जो अभिप्रायों से निर्मित होता है।

लोककथाओ मे अभिप्रायों का विशेप महत्त्व है। उन्हीं से कहानी की वस्तु या रूप का निर्माण होता है। प्रत्येक कथारूप में एक सुनिश्चित क्रम में कितने ही अभिप्राय ग्रथित रहते है। जे० टी० शिप्ले ने अभिप्राय (Motif) को कृति की योजना का वैशिष्ट्य माना है। यह वैशिष्ट्य किसी ऐसे शब्द या एक ही आकार में ढले विचार के रूप में होता है जो समान स्थिति में या समान भाव को जाग्रत करने के लिए किसी कृति या एक ही प्रकार की विभिन्न कृतियों में बार-बार प्रयुक्त होता है।[4] अभिप्राय की यह परिभाषा अति विस्तृत है तथा साहित्य के अन्य रूपों व कलाओं पर भी लागू होती है। स्टिथ थामसन के मत मे "कोई कथा-प्रकार जिन घटनाओं में विश्लेपित किया जाता है वे अभिप्राय कहे जाते हैं। अभिप्राय कथा का वह लघुतम अंश है जो परम्परा में रहने की शक्ति रखता है। इस प्रकार की शक्ति रखने के लिए उसमे कुछ असाधारणता व अपूर्वता होनी चाहिए। अभिप्राय कथानक के निर्माण-तत्त्व है।"[5]

अभिप्राय को कथानक-रूढ़ि भी कहते है। ये रूढ़ियां वास्तविक, काल्पनिक अथवा संभावित किसी भी प्रकार की हो सकती है। "लोककथाओं में कथानक को आरम्भ करने, गति देने, कोई नवीन मोड़ या घुमाव देने, उसे चामत्कारिक ढंग से

---

1. दे0 एनसाईक्लोपीडिया ऑव् लिट्रेचर, भाग 2 मे 'सुपरनेचरल स्टोरी' शीर्षक निबन्ध, पृ0 526.
2. दे0 एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटानिका मे 'फॉकलोर' शीर्षक लेख,
3. दे0 एलेक्जेंडर एन0 क्राप: दि साइन्स ऑव् फाकलोर, पृ0 7.
4. डिक्शनरी ऑव् वर्ल्ड लिट्रेरी टर्म्स
5. डा0 सत्येन्द्र : लोकसाहित्यविज्ञान, पृ0 273.

समाप्त करने अथवा अपने में ही सम्पूर्ण कथा का संगठन करने के लिए उनका बार-बार प्रयोग होता है ।[1] विभिन्न कथाओं में समान अभिप्राय होने पर भी उनके संयोजन का ढंग अलग-अलग हो सकता है जिससे एक कथा दूसरी कथा से भिन्न हो जाती है । अभिप्राय कथा के स्थिर तत्त्व होते है । कथा की शैली वदल जाती है पर अभिप्राय वही रहते हैं । अपनी इस परम्परागत प्रकृति के कारण ही वे सभ्यता की प्राचीनतर स्थितियों में प्रचलित विश्वासों और विचारों के अवशेष माने जाते है । इस दृष्टि से आधुनिक युग में प्राचीन संस्कृति के स्रोत के रूप मे उनका अध्ययन अतीव महत्त्वपूर्ण हो गया है ।

लोककथाओं के अनेक अभिप्राय अतिप्राकृतिक तत्त्वों पर आधारित होते है । शाप, रूप-परिवर्तन, परकाय-प्रवेश, मानव व्यापारो मे दैवी हस्तक्षेप, जादुई वस्तुएं, अद्भुत लोकों की यात्रा, दिव्य सुन्दरियों से भेंट, पशु-पक्षियों का मानव-सदृश व्यवहार आदि कितने ही अलौकिक अभिप्राय उनमे पद-पद पर मिलते है । लोक-कथाओं का नायक प्राय: मनुष्य होता है पर उसके सहायक कभी पशु-पक्षी और कभी अतिप्राकृत प्राणी होते हैं । ये पशु-पक्षी प्राय: किसी मनुष्य या देवता के रूपान्तर होते है तथा कहानी के अंत में अपने वास्तविक रूप में आ जाते है । किन्तु अधिकतर लोककथाओं मे नायक के सहायक राक्षस, दैत्य, विद्याधर, गधर्व यक्ष आदि अतिप्राकृत प्राणी होते हैं । ये कभी स्वेच्छा से सहायता देते है और कभी अनजान में । नायक पशु-पक्षियों या राक्षस आदि की वातचीत गुप्त रूप से सुन लेता है तथा उससे प्राप्त सूचना के आधार पर कार्य करता है । डा० दे के अनुसार "लोककथाओं में कल्पित वस्तुओं और जादू के प्रति सामान्य जनों के विश्वास की अभिव्यक्ति होती है । उनमे साहस-प्रेमी रोमेंटिक राजकुमारों व मायालोक की राजकुमारियों की कथाओं का समावेश रहता है ।"[2]

लोककथाओं मे कभी-कभी नायक के सहायक अचेतन जादुई पदार्थ होते हैं, जैसे जादू की अंगूठी, घोड़ा, रथ, खड्ग, पादुका, प्याला, जलयान तथा अदृश्यता प्रदान करने वाला आवरण-वस्त्र आदि । उसमें नायक के प्रतिपक्षी के रूप मे राक्षस, दैत्य, जिन, भूत-प्रेत, पिशाच, जादूगर, तांत्रिक आदि अतिप्राकृत शक्तियों से युक्त प्राणियों की योजना की जाती है । अनेक वाधाओं के होने पर भी नायक इन राक्षस आदि विरोधियों को पराभूत कर अपने उद्देश्य मे सफलता पाने में समर्थ होता है । लोककथायें नियमेन सुखान्त होती है और उनकी सुखान्तता मे अतिप्राकृत शक्तियों

---

1. श्री कैलासचन्द्र शर्मा : साहित्यिक कथानक अभिप्राय अथवा कथानक-रूढियां (विश्वभारती पत्रिका, खंड 8, अंक 2, पृ० 175)
2. हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 85.

का विशिष्ट योगदान रहता है। इन अतिप्राकृत सहायकों के कारण नायक के व्यक्तित्व की श्रीवृद्धि होती है। कभी-कभी नायक को किसी विशेष संकट से बचाने के लिए देवी-देवता साक्षात् उपस्थित होकर सीधा हस्तक्षेप करते हैं।

लोककथाओं में अद्भुत वस्तु-व्यापारों की योजना द्वारा कथाप्रवाह को चमत्कारपूर्ण बनाया जाता है। इस उद्देश्य के लिए आकाशगमन, रूप-परिवर्तन, लोकान्तर-गमन, माया, जादू, तंत्र-मंत्र आदि का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार उनमें मानव-कल्पना का अबाध विलास देखने को मिलता है। लोककथाओं में लोक-विश्वासों का भी अनेक रूपों में चित्रण पाया जाता है। इन विश्वासों में शकुन, भाग्य, दैव या कर्म की मान्यता तथा भूत-प्रेत, जादू-टोना, तन्त्र-मंत्र आदि के प्रति जन साधारण में प्रचलित धारणाये सम्मिलित है। यद्यपि लोककथाओं का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है लेकिन इनके अनेक तत्त्व शिष्ट साहित्य में भी संक्रान्त हो गये हैं। उसमें पाये जाने वाले अनेक अभिप्रायों का मूल स्रोत लोककथाएं ही है।

लोककथा और संस्कृत नाटक : भारतीय साहित्य में लोककथाओं का सबसे बड़ा संग्रह गुणाढ्यकृत वृहत्कथा थी जो पैशाची प्राकृत मे लिखी गई थी। मूल वृहत्कथा तो अब लुप्त हो चुकी है पर उसके तीन संस्कृत सस्करण या रूपान्तर उपलब्ध होते है। इनमें से बुधस्वामी (लगभग ८०० ई०) का वृहत्कथाश्लोकसंग्रह अपूर्ण रूप में प्राप्त हुआ है। क्षेमेन्द्र की वृहत्कथामंजरी (१०३७ ई०) व सोमदेव का कथासरित्सागर (१०६३–१०८१ ई०) मूल वृहत्कथा के कश्मीरी संस्करण पर आधारित माने जाते हैं।[1] इनमें से वृहत्कथामंजरी में अतिसंक्षेप के कारण कथाए प्राय: अस्पष्ट रह रई है, पर कथासरित्सागर अतीव रोचक व प्रांजल शैली में प्रणीत है तथा लोककथाओं का सम्भवत: सबसे बड़ा उपलब्ध भंडार है। इसका नायक राजकुमार नरवाहनदत्त विद्याधर मानसवेग द्वारा अपहृत अपनी पत्नी मदनमंचुका की खोज में घर से निकल पड़ता है और मार्ग मे अनेक साहसकर्म करते हुए कितनी ही राजकुमारियों व दिव्य स्त्रियो से विवाह कर अन्त में मदनमचुका को तथा विद्याधरों के चक्रवर्तित्व को पाने में सफल होता है। इस मुख्य कथा के साथ न जाने कितनी छोटी-बड़ी अन्य कथाएं जोड़ दी गई हैं जिससे मूल कथा की धारा बार-बार अवरुद्ध होती है। ये कथाएं तथा इनके पात्र मानवलोक तक सीमित नही है अपितु उनके परिवेश मे विभिन्न लोक व उनके अतिप्राकृत प्राणी अन्तर्भूत है। इनके विषय मे कीथ का यह कथन द्रष्टव्य है—"देवतागण और भूत-पिशाचादि खुले रूप मे सामान्य मानव-जीवन के सम्पर्क में आते है, आपाततः मनुष्यरूपधारी

---

1. दे0 विन्टरनित्सः हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लिट्रेचर, खंड 3, भाग 1, पृ0 352.

असंख्यात व्यक्ति केवल शापवश स्वर्ग से निकाले हुए जीव हैं जो किसी क्रूर अथवा कारुणिक कर्म द्वारा ही अपनी स्थिति में पुनः पहुंचाये जा सकते हैं।"[1]

पेंज़र ने कथासरित्सागर में आये अतिप्राकृत प्राणियों में इनकी गणना की है[2]:—अप्सरा, असुर, भूत, दैत्य, दानव, दस्यु, गण, गंधर्व, गुह्यक, किन्नर, कुम्भाण्ड, कुष्माण्ड, नाग, पिशाच, राक्षस, सिद्ध, वेताल, विद्याधर तथा यक्ष। संस्कृत नाटकों में इनमें से कुछ जैसे अप्सरा, गंधर्व, विद्याधर, सिद्ध, नाग, असुर, राक्षस, दानव, भूत, पिशाच आदि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष पात्रों के रूप में आये हैं।

ऊपर हमने लोककथाओं के सामान्य विवेचन में जिन अतिप्राकृत अभिप्रायों का उल्लेख किया वे सब तथा वैसे ही अनेकानेक अभिप्राय वृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर आदि की कथाओं में आये हैं।[3] हम आगे देखेंगे कि संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अनेक अतिप्राकृत अभिप्राय लोककथाओं से गृहीत हैं।

जिस प्रकार रामायण और महाभारत भारतीय कवियों के चिरन्तन उपजीव्य रहे हैं, उसी प्रकार वृहत्कथा भी। संस्कृत नाटककारों ने उदयन व वासवदत्ता की रूमानी प्रेमकथा तथा अन्य कितनी ही स्त्रियों के साथ उदयन के प्रेम-प्रसंगों को आधार बना कर अनेक नाटक-नाटिकाएं प्रस्तुत की है।[4] भास का अविमारक व चारुदत्त भी संभवतः वृहत्कथा पर आधारित हैं, यद्यपि इस विषय में निश्चयेन कुछ नहीं कहा जा सकता। संस्कृत नाटक अपनी कथाओं के लिए ही नहीं, अनेक कथानकरूढ़ियों या अभिप्रायों के लिए भी वृहत्कथा या लोककथाओं के अन्य स्रोतों का ऋणी है।

---

1. दे0 कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास (डा0 मंगलदेवशास्त्री-कृत हिन्दी रूपान्तर) पृ0 354.
2. दि ओशन ऑव् स्टोरी, भाग 1, प्रथम परिशिष्ट, पृ0 197.
3. पेंजर द्वारा वर्णित कथासरित्सागर के अभिप्रायों में से कुछ अतिप्राकृतिक अभिप्राय भी है, जैसे सत्यक्रिया, जादू की वस्तुएं, अतिप्राकृत जन्म, परकायप्रवेश, निषिद्ध भवन, लिंगपरिवर्तन, मायायुद्ध या रूपान्तरग्रहण, शरीरवाह्य आत्मा आदि। दे0 दि ओशन ऑव् स्टोरीज, खंड 10, परिशिष्ट 3, पृ0 38–41.
4. इनमें से कुछ ये हैं—भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण व स्वप्नवासवदत्त; हर्ष की प्रियदर्शिका व रत्नावली; अनंगहर्ष का तापसवत्सराज; वीणावासवदत्त (अज्ञातकर्तृक) शूद्रक का अभिसारिकावंचितक (अब अप्राप्य)

साहित्य और अतिप्राकृत तत्व

साहित्य केवल शब्द व अर्थ के सहभाव[1] का नाम नहीं है, उसके पीछे समाज व संस्कृति की तथा उनसे अनुप्राणित जीवनानुभूतियों की महती पृष्ठभूमि रहती है। कोई भी साहित्य शून्य में जन्म नही लेता; न यह कहना ही ठीक है कि वह साहित्यकार की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति होता है। यदि ऐसा होता तो वह व्यक्ति की ही सृष्टि बन कर रह जाता, उसका समष्टि द्वारा रसास्वादन व अभिशंसन सम्भव नही होता।

हमारे उक्त कथन का आशय यही है कि साहित्य एक निश्चित सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश व पृष्ठभूमि में जन्म लेता है और उनकी अनेक विशेपताओं को अपने मे आत्मसात् किये रहता है। प्रत्येक लेखक एक स्वतन्त्र व्यक्ति होते हुए भी किसी सीमा तक अपनी सस्कृति की सर्वमान्य विचारणाओं, विश्वासों और अभिनिवेशो का भागीदार होता है जो उसकी कृतियों मे किसी न किसी रूप में अवश्य प्रतिफलित होते हैं। साहित्य और अतिप्राकृत तत्त्वो के सम्बन्ध को हम इसी पृष्ठभूमि मे सम्यक् रूप से समझ सकते है।

प्रस्तुत अध्याय में हम बता चुके है कि अतीत युगों में मानव के धर्म, दर्शन, पुराकथा व लोककथा आदि सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न अंग नानाविध अतिप्राकृत विश्वासों से परिपुष्ट रहे है। ये विश्वास वस्तुतः प्राचीन मनुष्य की विश्व-दृष्टि तथा सृष्टि की दैवी शक्तियों के साथ अपने सम्बन्धों के अन्वेषण व अवधारणा की पद्धतिया हैं। ये पद्धतिया मानव-ज्ञान के विकास की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों मे अस्तित्व मे आती है और जब तक वे परिस्थितियां रहती है उनके सम्बद्ध पद्धतिया भी किसी न किसी रूप में जीवित रहती है तथा उनके गुणात्मक परिवर्तन के साथ उनमे भी परिवर्तन हो जाता है। वे मनुष्य के व्यावहारिक जीवन के विभिन्न पक्षों के साथ-साथ साहित्य, कला आदि उसके सांस्कृतिक अध्यवसायों मे भी निरन्तर अभिव्यजित होती है। इन अवधारणा-पद्धतियो के रूढ़ हो जाने पर साहित्य में उनकी अभिव्याक्तियां भी रूढ़ व पारस्परिक हो जाती है। कोई साहित्य जिस समाज और युग में रचा जाता है उसकी सांस्कृतिक परम्पराओं और वैचारिक उपलब्धियों से वह स्वयं को मुक्त नही रख सकता। पिछली दो शताब्दियों मे विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति से पहले तक ससार के सभी भागों में मानव-चिन्तन के

---

1. शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।

काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय

साहित्यमनयोः शोभाशालिता प्रति काऽप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥

वक्रोक्तिजीवित, 1.17.

विभिन्न क्षेत्र अतिप्राकृतवादी धारणाओं से अनुप्राणित थे। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उस काल में प्रणीत साहित्य के विभिन्न रूपों में भी इन धारणाओं की विविध सौंदर्यमयी अभिव्यक्तियां हुई हों। पूर्व और पश्चिम दोनों की साहित्य-परम्पराओं में आरम्भ से ही अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग की एक अविच्छिन्न धारा देखी जा सकती है। जैसे-जैसे हम वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि से युक्त आधुनिक युग की ओर चरण बढ़ाते है, वैसे-वैसे ही साहित्य में अतिप्राकृत विश्वासों की योजना क्रमशः अल्प होती जाती है और आज वीसवीं शती के साहित्य में इन तत्त्वों का या तो अभाव है या मात्र प्रतीकात्मक प्रयोग शेप रह गया है।

साहित्य के इतिहास के अवलोकन से विदित होता है कि उसका जन्म धर्म व पौराणिक विश्वासों के क्रोड से हुआ है। आराध्य देवों की प्रसन्नता के लिए आयोजित आदिम धार्मिक अनुष्ठानों से नृत्य व नाट्य जैसी कलाओं का आविर्भाव हुआ।[1] मानव जाति के प्रारंभिक काव्य दैवी शक्तियों की स्तुतियों के रूप में अस्तित्व में आये। उनमें इष्ट देवता के स्वरूप, उनकी शक्तियों तथा आराधकों के साथ विविध सम्बन्धों का चित्रण किया गया। परवर्ती काल में लौकिक वीरों और महापुरुपों के लोकप्रचलित आख्यानों को लेकर राष्ट्रीय काव्यों की सृष्टि की गई। मूलतः मानव होते हुए भी ये वीर नायक देवों से उद्भूत माने गये और अनेक प्रकार की अतिमानवीय शक्तियों की उनमें कल्पना की गई।[2] ऐसा इसलिए हुआ कि लौकिक वीरों की गाथाएं धार्मिक व पौराणिक कल्पनाओं से रंजित हो गईं। यही कारण है कि वे हमें मानव होते हुए भी अतिमानव कोटि के प्राणी लगते हैं। भारत में रामायण व महाभारत के तथा यूनान में 'इलियड़' व 'ओडेसी' के वीर नायक व अन्य प्रधान पात्र इसी प्रकार के हैं। धर्म के विकास की परवर्ती अवस्थाओं में नाना धर्म मतों व संप्रदायों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने अपनी-अपनी धार्मिक व दार्शनिक मान्यताओं का प्रतिपादन किया। उन्होंने अपने इष्ट देवों के सम्बन्ध में नाना प्रकार के कथा, आख्यान आदि वनाये जो पौराणिक कथाओं के रूप में मिलते हैं। उक्त राष्ट्रीय महाकाव्यों तथा पौराणिक आख्यानों में प्रतिपादित धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक, आध्यात्मिक व सामाजिक आदर्शों के द्वारा समाज में एक समग्र सांस्कृतिक व्यवस्था व जीवन मूल्यों का निर्माण हुआ जिनका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। कवियों ने इन राष्ट्रीय काव्यों व पौराणिक आख्यानों से कथायें, पात्र और सांस्कृतिक मूल्यों

---

1. यूनान मे ट्रेजेडी का उद्भव 'दियोनिसस' नामक देवता के उपलक्ष्य में आयोजित उत्सव से माना जाता है भारतीय नाटक के उद्भव के विपय में भी इस प्रकार की मान्यता प्रकट की गई है। दे० विटरनित्स . हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लिट्रेचर, खण्ड 3, भाग 1, पृ० 183-184.
2. वाल्मीकि रामायण में राम विष्णु के अवतार कहे गये हैं तथा महाभारत के पाडवों की दैवी उत्पत्ति की कथा प्रसिद्ध है।

को ग्रहण कर तथा अपनी रसात्मक चेतना में उन्हें रचा-पचाकर काव्य के नये-नये रूपों को जन्म दिया। इसी प्रक्रिया में महाकाव्य, नाटक, कथासाहित्य, गद्यकाव्य आदि अस्तित्व में आये। चूंकि इनके निर्माण की प्रेरणा व सामग्री अतीत के धार्मिक व पौराणिक साहित्य से ली गई थी, इनमें भी उन्हीं के समान अलौकिक पात्र व घटनाओं की योजना की गई। दूसरी ओर लोकसाहित्य की परम्परा से जो रूमानी व अद्भुत कथा-कहानियां, चरित्र, कथानक-रूढ़ियां व लोकविश्वास शिष्ट साहित्य में ग्रहण किये गये, उन्होंने भी अतिप्राकृत तत्त्वों की परम्परा को अक्षुण्ण रखा। जब तक समाज में लोकप्रिय पौराणिक धर्म-दर्शन के अलौकिक विश्वास जीवन्त रहे तब तक उनसे प्रेरित व अनुप्राणित साहित्य में भी उनकी निर्बाध अभिव्यक्ति होती रही।

यह उल्लेखनीय है कि साहित्य में अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग धार्मिक व पौराणिक आस्थाओं की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है अपितु कवियों ने उनका कलात्मक उद्देश्यों की दृष्टि से भी संयोजन किया है। कहीं वे कथानक के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में वैचित्र्य और कौतूहल का आधान करते है, कहीं पात्रों के मानवीय गुणों को अतिरंजित कर उन्हे अधिक प्रभावशाली बनाते है, तो कहीं सांस्कृतिक मूल्यों को चामत्कारिक रीति से रेखांकित करते हैं। कभी वे कृति की आंतरिक संरचना के अविभाज्य अंग बन कर प्रकट होते है, तो कभी उनका स्थान बाह्य व गौण होता है। अनेक स्थलों पर उनका विनियोग किन्ही तथ्यों की सूचना मात्र देने के लिए किया जाता है। कहीं वे लेखक की सज्ञान व सोद्देश्य कला के अंग होते है तो कहीं उनका प्रयोग मात्र अलंकरण के रूप में पाया जाता है। कभी उनके विधान में कवि की मौलिक सूझबूझ व संवेदनशील दृष्टि झलकती है, तो कहीं वे साहित्यिक रूढ़ियों से अधिक नही होते। कही वे सृष्टि व मानव जीवन को संचालित करने वाली निगूढ शक्तियों का संकेत देते है तो कही मनुष्य और दैवी शक्तियों के बहुविध सम्बन्धों को अभिव्यक्त करते है। ये अतिप्राकृत तत्त्व यों तो काव्य के प्रायः सभी रूपों में मिलते हैं, पर नाटकों में उनका प्रयोग अधिक जीवन्त व प्रभावशाली रूप में हुआ है।

संस्कृत नाटकों मे प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

(क) अतिप्राकृत घटना, प्रसग, वस्तु, विश्वास आदि :—

१. शाप और वरदान
२. देवता का नियम
३. ईश्वरीय विभूतिया व चमत्कार
४. दैवी अनुग्रह, हस्तक्षेप, साहाय्य, अभिनन्दन आदि
५. रूपपरिवर्तन
६. परकाय-प्रवेश
७. अदृश्यता

८. दिव्यलोक व स्थान
९. आकाशगमन व लोकलोकान्तरों के बीच आवागमन
१०. दिव्य वाहन–विमान, रथ आदि
११. विद्याएं–तिरस्करिणी विद्या, शिखाबंधनी विद्या, जलस्तंभनी विद्या व दिव्यास्त्र विद्या आदि
१२. योगसाधना व तपस्या से प्राप्त सिद्धियां, जैसे भूत व भविष्य का ज्ञान, दूरवर्ती घटनाओं का ज्ञान, सिद्धादेश, मानसी सिद्धि, आकर्षिणी सिद्धि, योग-दृष्टि, प्रणिधान व ध्यान की शक्ति आदि
१३. तन्त्र-मंत्र, माया, मायापाश, इन्द्रजाल आदि
१४. आकाशवाणी, अशरीरिणी वाणी व अमानुषीवाक्
१५. पुनरुज्जीवन
१६. अद्भुत प्रभाव से युक्त वस्तुएं–अंगुलीय, मणि, खड्ग, कटक, अस्त्र आदि
१७. सत्य व पातिव्रत का अलौकिक प्रभाव
१८. स्वप्न में दैवी निर्देश
१९. शकुनों द्वारा भावी शुभाशुभ की सूचना
२०. मानव जीवन मे कर्म, भाग्य, विधि, दैव, नियति, भवितव्यता आदि की निगूढ़ भूमिका
२१. मृत्युकालीन आभास
२२. दोहद : वृक्षों मे पुष्पोद्गम की अप्राकृतिक प्रक्रिया
२३. कतिपय अन्य विश्वास

(ख) अतिप्राकृत पात्र —

१. अवतार—राम व कृष्ण
२. दिव्य पात्र—महेन्द्र, मातलि, धर्मराज, गौरी, लक्ष्मी, कात्यायनी व उसका परिवार आदि
३. अवर देवता—अप्सरा, गन्धर्व, विद्याधर, यक्ष, किन्नर, सिद्ध, नाग, चारण आदि
४. अर्धदिव्य—पुरूरवा, शकुन्तला आदि
५. आसुरी व पैशाची शक्तियां—असुर, दानव, दैत्य, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि
६. दिव्य ऋषि—मारीच, नारद, भरत, वसिष्ठ आदि
७. मानव ऋषि—वाल्मीकि, विश्वामित्र आदि
८. अलौकिक शक्ति-सम्पन्न राजा—दुष्यन्त, दशरथ आदि
९. योगी, योगिनी, तांत्रिक, कापालिक आदि

१०. दैवीकृत प्राकृतिक पात्र (अ) नदीदेवता (आ) वनदेवता
(इ) पृथ्वीदेवता (ई) समुद्रदेवता

११. प्रतीक पात्र--ऋषि का शाप, चांडाल कन्यायें, राजश्री, नगरियां, विद्याएं, आयुध आदि

संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त इन अतिप्राकृत तत्त्वों के स्रोत, स्वरूप, भूमिका व महत्त्व का विस्तृत विवेचन व मूल्यांकन हम आगे के अध्यायों में करेंगे, इसलिए उनका यहां दिङ्निर्देश मात्र किया गया है।

साहित्य में—विशेषतः नाटक में—अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग को लेकर एक मूलभूत प्रश्न की ओर संकेत करना यहां उचित होगा। वह प्रश्न यह है कि जो साहित्य मानव-व्यापारों में अतिप्राकृतिक शक्तियों के हस्तक्षेप या किसी भी अन्य प्रकार की भूमिका को स्वीकृति देता है उसमें मानव के स्वातंत्र्य व कर्तृत्व के लिए क्या स्थान होगा ? क्या इससे उसका महत्त्व घटेगा नहीं ? क्या वह दैवी शक्तियों के हाथों का खिलौना नहीं रह जायेगा ? इस विषय में यह ध्यातव्य है कि अतिप्राकृत तत्त्वों को मानव कार्यों में महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी हमारे नाटककारों की दृष्टि अन्ततः मानव पर ही केन्द्रित रही है। मानवचरित्र व उसकी अन्तर्वृत्तियों का सौन्दर्यमय चित्रण ही उनका मुख्य लक्ष्य है। यह इसी से स्पष्ट है कि हमारे साहित्य में अतिप्राकृतिक पात्र शील व स्वभाव की दृष्टि से मनुष्य ही हैं, उनका केवल बाह्य व्यक्तित्व व परिच्छद ही अतिमानवीय है, अन्य दृष्टियों से वे मानव-चरित्र की सम्भावनाओं का अतिक्रमण नहीं करते। इनके कारण नाटककार की दृष्टि मनुष्य और उसके लौकिक लक्ष्यों से हटी नहीं है। संस्कृत नाटक में नायक की फलप्राप्ति–शत्रु पर विजय, राज्यलाभ, स्त्रीलाभ आदि–लौकिक लक्ष्यों से ही सम्बन्ध रखती है। अतिप्राकृत तत्त्व प्रायः इन लक्ष्यों की प्राप्ति के साधन या सहायक के रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। अतः यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि इन तत्त्वों के कारण संस्कृत नाटक में मानव के महत्त्व का कोई वास्तविक अपकर्ष हुआ है।

इस प्रश्न पर एक दूसरी दृष्टि से भी विचार अपेक्षित है। संस्कृत नाटक धार्मिक व पौराणिक कल्पनाओं की जिस पृष्ठभूमि में लिखे गये हैं उसमें इस प्रकार का प्रश्न बहुत-कुछ निरर्थक हो जाता है। हम पहले बता चुके है कि संस्कृत नाटक में अतिप्राकृत शक्तियां मनुष्य की प्रतियोगी के रूप चित्रित नहीं हैं, उनमें न यही माना गया है कि मनुष्य शेष सृष्टि से, जिसमें देवता, पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति आदि सभी हैं, किसी भी भांति विलग है। वस्तुतः वह इन सबके साथ नानाविध रागात्मक सम्बन्धों में बंधा है। उसे उनकी आवश्यकता है और उन्हें उसकी। वे एक दूसरे के पूरक, सहयोगी और बंधु हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि मानव के कार्य-कलापों

में दैवी शक्तियां रुचि ले और उससे भी आगे बढ़कर उसके सुख-दुःखों में भागीदार हों। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल में इस जीवन-दर्शन की बड़ी सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। यद्यपि कभी-कभी यह लगता है कि संस्कृत नाटक में मनुष्य दैवी शक्तियों के बिना असहाय है, वह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन पर अत्यधिक निर्भर है तथा वे अदृश्य रूप में उसका जीवन-सूत्र थामे हुए हैं, पर विचार करने पर प्रतीत होता है कि वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है यह तो ठीक है कि देवता लोग उससे अधिक शक्तिशाली और उपकारक्षम हैं पर मनुष्य भी तो देवताओं के काम आने की सामर्थ्य रखता है। कालिदास के पुरूरवा और दुष्यन्त ऐसे ही मानव चरित्र है।

संस्कृत नाटक पर यह आरोप लगाया जाता है कि अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग व जीवन के प्रति नीतिवादी दृष्टिकोण के कारण उसमें जीवन की यथार्थता की उपेक्षा हुई है। साथ ही यह भी कहा गया है कि उसमें जीवन के दुःखान्त पक्षों की ओर भी ध्यान नहीं दिया गया।[1] यह ठीक है कि संस्कृत नाटककार नाटकीय कथा को सदैव आनन्दमयी व मंगलमयी परिणति पर पहुंचाता है, पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वह जीवन के कष्टप्रद व क्लेशदायक पक्षों का स्पर्श नही करता। वस्तुतः संस्कृत नाटक में ऐसे पक्षों के चित्रण का अभाव नहीं है, फिर भी यह सत्य है कि पाश्चात्य नाटक के समान उसमें जीवत के उद्दाम संघर्षमय रूप के चित्रण को लक्ष्य नही माना गया। उसका ध्येय तो जीवन में प्रशान्ति, स्थैर्य, आनन्द और मंगल का विधान है जो हमारे सांस्कृतिक लक्ष्य हैं। यही कारण है कि संस्कृत नाटककार अपने नायक को बड़ी से बड़ी विपत्ति और सघर्ष मे से निकाल कर उक्त लक्ष्य पर पहुचा देता है। इस प्रक्रिया में यदि मृत्यु को भी जीवन मे बदलना पड़े तो भी वह हिचकिचाता नही।[2] भारतीय व पाश्चात्य नाटकों की मूलभूत जीवन-दृष्टि के इस अन्तर के विषय में हेनरी डबल्यू० वेल्स का निम्न कथन द्रष्टव्य है—

"पश्चिम का रगमंच (नाटक) मानवता को उसके सघर्परत रूप में आलिखित करता है और पूर्व का उसके प्रशातिमय रूप में। यदि वस्तु-दृष्टि से विचार किया जाये तो प्रतीत होगा कि दोनों क्षेत्रों के नाटक मानव-प्रकृति के विषय मे प्रायः एक से तथ्यों का विवरण देते हैं किन्तु उन्हें मूलतः भिन्न प्रकार की व्याख्याओं का विषय बनाते है।"[3] इससे स्पष्ट है कि संस्कृत नाटक मे अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग तथा उसकी आदर्शवादी सुखान्त-प्रवृत्ति संस्कृत नाटककार की सांस्कृतिक जीवन-दृष्टि के

---

1. दे0 कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ0 160.
2. हर्ष ने नागानन्द मे मृत जीमूतवाहन तथा अस्थिशेप नागो को पुनर्जीवित कर नाटक की सुखान्त बनाया है।
3. क्लासिकल ड्रामा ऑव् इंडिया, पृ0 9.

अंग हैं और ये संभवतः उसकी प्रतिभा की सीमाएं नहीं हैं अपितु उन धार्मिक, पौराणिक, आध्यात्मिक व नैतिक आग्रहों की सीमाएं हैं जिन्हें अपनाना संभवतः उसके लिए अनिवार्य था।

अब तक हमने अतिप्राकृत तत्त्वों के स्वरूप, वैचारिक आधार एवं धर्म, दर्शन, पुराकथा, लोककथा व साहित्य में उनके विविध पक्षों की अभिव्यक्ति पर सामान्य रूप से तथा संस्कृत नाटक के विशिष्ट संदर्भ में प्रकाश डाला। अब अगले अध्याय में हम इन तत्त्वों की नाट्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि पर विचार करेंगे।

---

२ अतिप्राकृत तत्त्व : नाट्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि

नाट्य का स्वरूप

भारतीय परम्परा में काव्य के दो रूप—श्रव्य और दृश्य—मान्य रहे हैं। इनमें से दृश्य काव्य को नाट्य या रूपक भी कहते है। आजकल इसके लिए नाटक शब्द अधिक प्रचलित है, जबकि संस्कृत-परम्परा में 'नाटक' रूपक का एक भेदमात्र माना गया है। श्रव्य काव्य में वृत्त-कथन व वर्णन का प्राधान्य रहता है, व दृश्य काव्य में अभिनय का। इसी दृष्टि से कालिदास ने नाट्यशास्त्र को प्रयोगप्रधान कहा है।[1] भरत मुनि के अनुसार नाट्य लोकवृत्त का अनुकरण है जिसमें नाना भावो व अवस्थाओं का समावेश रहता है।[2] उनके मत में सुख-दु:ख से समन्वित लोकस्वभाव का चतुर्विध अभिनय द्वारा साक्षात् प्रदर्शन नाट्य का स्वरूप है।[3] कालिदास की दृष्टि मे नाट्य देवों का शान्त चाक्षुप यज्ञ है जिसमे त्रैगुण्य से उद्भूत नाना रसात्मक लोक-चरित का प्रत्यक्ष दर्शन होता है।[4] धनजय ने भरत का अनुसरण करते हुए नाट्य को अवस्थाओं की अनुकृति माना है।[5]

श्रव्य काव्य के समान दृश्य काव्य का भी प्रयोजन सहृदयों को रसानुभूति कराना है, पर दोनों की पद्धतियों में अन्तर है। प्रथम वर्णनात्मक है और द्वितीय

---

1. प्रयोगप्रधान हि नाट्यशास्त्रम्। माल0 1, पृ0 24.
2. नानाभावोपसम्पन्न नानावस्थान्तरात्मकम्।
   लोकवृत्तानुकरण नाट्यमेतन्मया कृतम्॥ —ना0 शा0 1.112.
3. योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदु:खसमन्वितः।
   सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते॥ वही, 1.121.
4. माल0 1.4.
5. अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्। द0 रू0 1.7.

साक्षात् प्रदर्शनात्मक ।[1] श्रव्य काव्य में पाठक को वस्तु, नेता, वेषभूषा, वातावरण आदि की कल्पना करनी पड़ती है, पर नाट्य में यह सामग्री रंगमंच पर साक्षात् प्रस्तुत की जाती है। इस प्रत्यक्षगोचरता के कारण ही नाटक सभी देशों व कालों में सबसे अधिक लोकप्रिय काव्यरूप रहा है[2] तथा साहित्य का रमणीयतम प्रकार व कवित्व की चरम सीमा माना गया है।[3] वस्तुतः नाट्य केवल काव्य नहीं, नृत्य, संगीत, चित्र, मूर्ति आदि नाना कलाओं, शिल्पों व विद्याओं की समागम-भूमि है।[4]

नाट्य का दूसरा नाम 'रूप' या 'रूपक' भी है। वह दृश्य होने के कारण रूप' तथा आरोप के कारण 'रूपक' कहा जाता है।[5] विश्वनाथ के मत में नट पर रामादि के रूप का आरोप किया जाता है इसलिये उसकी रूपक संज्ञा है।[6] धनिक के अनुसार नाट्य, रूप और रूपक शब्द इन्द्र, पुरन्दर व शक्र के समान एकार्थी हैं।[7]

नाट्य की व्यापक विषयवस्तु का निर्देश करते हुए भरत ने कहा है:—

देवानामसुराणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम्।
ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम्॥

ना० शा० १.११८

इससे स्पष्ट है कि 'लोकवृत्तानुकरणं नाट्यम्' इस परिभाषा में भरत की लोकसम्बन्धी धारणा केवल मर्त्यलोक व उसके प्राणियों तक सीमित नहीं है अपितु उसमे देवों व असुरों जैसे अतिमानवीय प्राणियों का भी अन्तर्भाव है। ब्रह्मा के शब्दों मे—'नाट्य में केवल असुरों या देवों का अनुभावन नहीं है, अपितु वह समस्त त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन है।[8] वह असुरों व देवों के शुभाशुभ का बोधक, उनके कर्म, भाव व वंश का परिचायक तथा सातों द्वीपों का अनुकरण है।[9] ऐसा

---

1. कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा . . . तच्चाभिनेयानभिनेयार्थत्वेन द्विविधम्। . . . तत्राद्यं . . . वर्णनात्मकम्। अपरं पुनः अनुकारक्रमेण साक्षात् प्रदर्शनात्मकम्। व्यक्तिविवेक, 1 पृ0 95–96.
2. नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्। माल0 1.4.
3. काव्येषु नाटकं रम्यम्, सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः (काव्या0 सू0 वृ0 1.3.30); नाटकान्तं कवित्वम्।
4. ना0 शा0 1.116.
5. रूपं दृश्यतयोच्यते। रूपकं तत्समारोपात्। द0 रू0 1.7.
6. सा0 द0 6.1.
7. एकस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य 'इन्द्र-पुरन्दर-शक्र.' इतिवत्प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदो दर्शितः। द0 रू0 1.7. पर अवलोक।
8. ना0 शा0 1.107.
9. वही, 1.106, 117.

कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग व कर्म नहीं जिसका नाट्य में समावेश न हो।"[1] नाट्यशास्त्र के ये कथन संस्कृत नाटक के उस व्यापक स्वरूप के दिग्दर्शक हैं जिसमें सदा से ही दिव्य व मर्त्य तथा लौकिक व अलौकिक का सहभाव रहा है।

भारतीय परम्परा में नाटक मनोरंजन का ही साधन नहीं है अपितु उसका लक्ष्य मानव को लौकिक, धार्मिक व आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से उन्नीत करना है।[2] यह आदर्शवादी विचारधारा संस्कृत नाटक की एक महत्त्वपूर्ण विशेपता है तथा उसकी ऐकान्तिक सुखान्तता का आधार है।

नाट्य का उद्भव

संस्कृत नाटक का उद्भव कब और किन परिस्थितियों में हुआ तथा उसकी स्वरूप-निष्पत्ति में किन तत्त्वों की प्रमुख भूमिका रही, ये प्रश्न अतीव विवादास्पद रहे है। संस्कृत के जो सबसे पुराने नाटक उपलब्ध हुए हैं वे ई० प्रथम शती में रचित अश्वघोष की कृतियां हैं, जिनमें नाट्य-शिल्प पर्याप्त विकसित रूप में प्रकट हुआ है। भरत का नाट्यशास्त्र जो वर्तमान रूप में ई० द्वितीय या तृतीय शती की कृति माना गया है[3] नाटक की एक दीर्घ व समृद्ध परम्परा की ओर इंगित करता है,[4] किन्तु दुर्भाग्य से वह पूर्णतया लुप्त हो चुकी है। ऐसी स्थिति में संस्कृत नाटक की उत्पत्ति व प्रारम्भिक स्थिति के बारे में जानना और भी कठिन हो गया है। इस विपय में विद्वानों ने परस्पर विरोधी अनेक मत प्रस्तुत किये है जो समस्या को सुलझाने की अपेक्षा और अधिक उलझा देते है।

स्वयं नाट्यशास्त्र के साक्ष्य के अनुसार नाटक की उत्पत्ति त्रेता युग के प्रारम्भ में स्वर्ग में हुई। इन्द्र व अन्य देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्वेद से रस लेकर सब वर्णों के लिये उपयोगी तथा इतिहासयुक्त पंचम नाट्यवेद की रचना की।[5] अनन्तर ब्रह्मा के आदेश से भरतमुनि ने स्वर्ग में इन्द्रध्वज पर्व के अवसर पर नाटक का प्रथम अभिनय प्रस्तुत किया जिसमें असुरों पर देवों की विजय दिखायी गई थी। बाद में विश्वकर्मा ने स्वर्ग मे प्रथम नाट्यशाला का निर्माण किया। नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय के अनुसार ब्रह्मा के ही आदेश से भरत ने शिव के समक्ष 'अमृतमंथन' व

---

1. ना0 शा0 1.116.
2. वही, 1.114–115.
3. कीथ: संस्कृत ड्रामा, पृ0 13.
4. वही, पृ0 291.
5. ना0 शा0 1.17, 1.15.

'त्रिपुरदाह' नामक समवकार व डिम का अभिनय प्रस्तुत किया।[1] इस प्रयोग से प्रसन्न होकर शिव ने नाट्य के पूर्व-रंग की विधि में तांडव के समावेश की आज्ञा दी और अपने गण तंडु से भरत को अंगहारों की शिक्षा देने के लिए कहा।[2] नाट्यशास्त्र के ही अनुसार असुर कैटभ से युद्धरत भगवान् विष्णु के अंगहारों से ब्रह्मा ने चतुर्विध नाट्य-वृत्तियां ग्रहण की[3] जो देवों के माध्यम से अन्ततः भरत को प्राप्त हुई। नाट्यशास्त्र के अंतिम अध्याय के अनुसार भरत के पुत्रों ने पृथ्वीलोक में आकर नाट्य का प्रवर्तन किया। धनंजय के अनुसार नाट्यवेद में महादेव ने तांडव का व पार्वती ने लास्य नृत्य का समावेश किया।[4] शारदातनय के 'भावप्रकाशन' में भी नाट्य की दिव्य उत्पत्ति की कथा आई है जिसमें ब्रह्मा नन्दिकेश्वर से नाट्यवेद की शिक्षा प्राप्त कर भरतों से 'त्रिपुरदाह' नामक रूपक का अभिनय कराते हैं।[5]

नाटक की दिव्योत्पत्ति का यह सिद्धान्त आज के युग में किसी भी सुधी को मान्य नहीं हो सकता, तथापि इसके पौराणिक आवरण में संभवतः नाट्य की उत्पत्ति व प्रारम्भिक दशा के कुछ संकेत छिपे हैं। ब्रह्मा ने चारों वेदों से विभिन्न तत्त्व लेकर नाट्यवेद का निर्माण किया जिससे प्रतीत होता है कि उसका उद्भव चारों वेदों के अस्तित्व में आने के बाद हुआ। ब्रह्मा ने इतिहासयुक्त नाट्यवेद का निर्माण किया जिससे नाट्योत्पत्ति मे इतिहास का विशेष योगदान सूचित होता है। प्रारम्भिक नाटकों के कथानक व चरित्र सम्भवतः इतिहास अर्थात् परम्परागत आख्यानों से लिये गये थे। स्वर्ग में अभिनीत प्रथम नाटक तथा 'अमृत-मंथन' व 'त्रिपुरदाह' नामक डिम व समवकार स्पष्टतः पौराणिक कथाओं पर आधारित थे। भरत ने समवकार को 'देवासुरबीजकृत' कहा है[6] तथा डिम में भी दिव्य पात्रों का विधान किया है[7] जिससे इन दोनों रूपकों का अतिप्राकृत स्वरूप सुस्पष्ट है। अतः नाट्यशास्त्र में संगृहीत परम्परा के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटक में आरम्भ से ही अतिप्राकृत तत्त्वों का समावेश था।

स्वर्ग मे प्रयुक्त प्रथम नाटक में असुरों पर देवों की विजय इस बात की द्योतक है कि संस्कृत नाटक में असद् व सत् शक्तियो के संघर्ष व उसमें सत् की

---

1. ना० शा० 4.3, 10.
2. वही, 4.14, 17.
3. वही, 20, 2–14.
4. द० रू० 1.4.
5. पृ० 55–56.
6. ना० शा० 18.63.
7. देवभुजगेन्द्रराक्षसयक्षपिशाचावकीर्णश्च। वही, 18.87.

विजय दिखाने की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही रही है। संस्कृत नाटक में दुःखान्त कृतियों का अभाव तथा उसकी नैतिक जीवन-दृष्टि इसी प्रवृत्ति की देन है।

नाट्य की दिव्योत्पत्ति की उक्त कथा में पौराणिक हिन्दू धर्म के तीनों प्रमुख देवों का नाट्य को योगदान बताया गया है जिससे पौराणिक धर्म के साथ उसका निकट सम्बन्ध ज्ञात होता है। हम आगे देखेंगे कि संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अनेक अतिप्राकृत तत्त्व पौराणिक धर्म और उसके विश्वासों की देन हैं।

संस्कृत नाटक की उत्पत्ति के विषय में यहां कुछ आधुनिक मतों की चर्चा करना भी उचित होगा। अनेक विद्वानों ने ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों को नाटक का बीज रूप माना है तथा वैदिक कर्मकांड में उनका विनियोग मानते हुए उन्हें प्रारंभिक या विकसित वैदिक नाटक कहा है। उदाहरणार्थ, विटरनित्स ने संवाद-सूक्तों को प्राचीन आख्यान काव्य की संज्ञा दी है तथा उन्हें नाटक और महाकाव्य दोनों का प्रारम्भिक रूप माना है। उनके विचार में प्राचीन आख्यान-काव्य के साथ संगीत व नृत्य के तत्त्व अनिवार्य रूप से जुड़े होते थे तथा उनमें देवों व अर्धदेवों की कथाएं होती थीं जो यज्ञ आदि अवसरों पर सुनायी जाती थी।[1] मैक्समूलर ने इन्द्रमरुत-संवादसूक्त के विषय में कल्पना की है कि वह या तो यज्ञ के समय मरुतों के सम्मान में बार-बार दोहराया जाता था या इन्द्र व मरुतों का प्रातिनिध्य करने वाले दो पृथक् दलों द्वारा अभिनीत होता था।[2] सिल्वा लेवी ने मैक्समूलर की उक्त कल्पना को समर्थन देते हुए वैदिक युग में नृत्य, संगीत आदि की समृद्ध परम्परा की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। उन्होने वैदिक काल में ऐसे नाटकों का अस्तित्व स्वीकार किया जिनमें ऋत्विक् लोग स्वर्गिक घटनाओं के पार्थिव अनुकरण के लिए देवों व ऋषियों की भूमिकाएं ग्रहण करते थे।[3] फॉन श्रोडर ने संवाद सूक्तों को वैदिक रहस्य-नाटकों का अवशेष बताया जिनकी परम्परा भारत-यूरोपीय युग से ही चली आ रही थी।[4] हर्टेल ने इसी मत को कुछ नये तर्कों के साथ उपस्थित किया।[5] कीथ ने यज्ञानुष्ठान के साथ संवादसूक्तों के सम्बन्ध को अस्वीकार करते हुए उन्हें 'आनुष्ठानिक नाटक' (Ritual Drama) मानने के विरुद्ध अपना मत व्यक्त किया।[6] उन्होंने यह तो स्वीकार किया कि वैदिक युग में नाटक के सभी तत्त्व—आख्यान, संवाद,

---

1. दे० हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लिट्रेचर, खण्ड 3, भाग 1, पृ० 180–181.
2. दे० कीथ: संस्कृत ड्रामा, पृ० 15.
3. दे० वही, पृ० 15–16.
4. वही, पृ० 16.
5. वही, पृ० 16–17.
6. वही, पृ० 18.

संगीत, नृत्य, अभिनय, रस आदि विद्यमान थे, पर इन सबके समन्वय से नाटक जैसी वस्तु अस्तित्व मे आयी हो इसका, उनके विचार में, तनिक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है।[1]

वैदिक युग में नाटक के अस्तित्व का खंडन करते हुए कीथ ने यह मन्तव्य प्रकट किया है—"इसके विपरीत यह विश्वास करने के लिये पर्याप्त कारण हैं कि महाकाव्यों के पाठ के उपयोग से ही नाटक की सुपुप्त सम्भावनायें जागृत हुईं तथा साहित्यिक रूप निर्मित हुआ....प्रोफेसर ओल्डेनवर्ग ने वस्तुतः नाटक के विकास मे महाकाव्य का विशेष महत्त्व स्वीकार किया है, पर यह कहना अधिक उचित होगा कि महाकाव्यों के पाठ के अभाव में नाटक की उत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं थी।"[2] कीथ ने नाटक की उत्पत्ति में धर्म को भी उतना ही महत्त्व दिया है जितना महाकाव्यों की विषयवस्तु व पाठ को। वे कहते हैं—"धर्म और नाटक के निकट सम्बन्ध का साक्ष्य निर्णायिक है और इस बात का सूचक है कि नाटक के उद्भव की निर्णायिक प्रेरणा धर्म से प्राप्त हुई। निःसन्देह महाकाव्यों का अतीव महत्त्व है, पर उनका पाठमात्र, चाहे वह नाटक के कितना ही निकट हो, सीमान्तों का अतिक्रमण नहीं करता।[3]" कीथ ने अष्टाध्यायी में शिलालिन् व कृशाश्व के नटसूत्रों को नृत्य या भावाभिनय से सम्बद्ध माना है, नाटक से नहीं।[4] उनके विचार में महाभारत में नाटक के अस्तित्व का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता[5] तथा रामायण के जिन स्थलों मे नाटक-विषयक उल्लेख आये हैं वे परकालीन प्रक्षिप्त अंश होने के कारण विश्वसनीय नहीं हैं।[6] इसी प्रकार हरिवंश पुराण के साक्ष्य को असंदिग्ध मानते हुए भी वे उसे कालिक दृष्टि से महत्त्वहीन समझते हैं।[7] महाभाष्य में उल्लिखित 'कंसवध' व 'वलिवन्धन' नामक रूपको के आधार पर कीथ ने संस्कृत नाटक का उद्भव ई० पू० द्वितीय शतक मे माना है तथा उसमे महाकाव्यो के लोकप्रिय पाठ एवं कृष्णोपासना की विशेष प्रेरणा स्वीकार की है।[8] कीथ के इस दृष्टिकोण से हम अंशतः ही सहमत हो सकते हैं। संस्कृत नाटक की उत्पत्ति में महाकाव्यो व विष्णु,

---

1. दे0 कीथः सस्कृत ड्रामा, पृ0 26–27.
2. सस्कृत ड्रामा, पृ0 27.
3. वही, पृ0 45.
4. वही, पृ0 31.
5. वही, पृ0 28.
6. वही, पृ0 29.
7. वही, पृ0 28.
8. वही, पृ0 45.

शिव आदि की उपासनाओं के योगदान की बात समीचीन प्रतीत होती है, पर उसका जो उद्भवकाल उन्होंने निर्धारित किया है, वह स्वीकरणीय नहीं हो सकता।

विंटरनित्स ने भी कीथ के समान नाटक की धार्मिक उत्पत्ति स्वीकार की है। उनके अनुसार "समाज की वह दशा जिसमें सभी शताब्दियों में देवों की कथाएं व धार्मिक आख्यान, विशेषतः राम व कृष्ण से सम्बद्ध आख्यान कवियों को नाटक के कथानक प्रदान करते रहे और यह तथ्य कि बौद्ध कवि भी बुद्ध के जीवन चरित को नाटकीय रूप देने के लिए प्रवृत्त हुए, नाटक की धार्मिक उत्पत्ति का संकेत देते है।"[1] विंटरनित्स का विचार है कि वेदोत्तर युग मे नाट्याभिनय का इन्द्रध्वज पर्व तथा विष्णु (कृष्ण व राम) व शिव के पूजा-अनुष्ठानों से सम्बन्ध हो गया।[2] नाट्यशास्त्र मे वर्णित पूर्वरंग की विस्तृत विधि भी उनके मत में नाटक की धार्मिक उत्पत्ति की सूचक है।[3] मेक्डानल ने विष्णु-कृष्ण की उपासना से नाटक का विकास प्रतिपादित किया है।[4]

आद्यरगाचार्य (भूतपूर्व आर० वी० जागीरदार) ने नाटक की धार्मिक उत्पत्ति के मत का खण्डन कर महाकाव्यों के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्ध पर नूतन प्रकाश डाला है। उनके विचार में नाट्यशास्त्र में वर्णित चतुर्विध वृत्तियां—भारती, सात्त्वती, कैशिकी व आरभटी महाकाव्यों के पाठ से नाटक के विकास की क्रमिक स्थितियो का प्रतिनिधित्व करती हैं।[5] महाकाव्यो से नाटक को कथानक, चरित्र, कथावर्णन की पद्धति, रस और नीति का समन्वय, मानवजीवन के चित्रण की प्रवृत्ति आदि अनेक तत्त्व प्राप्त हुए।[6] यद्यपि महाकाव्यो ने वैदिक साहित्य की तुलना मे मानव-जीवन पर अधिक बल दिया, फिर भी "उनकी कथाए अब भी कल्पनारंजित थी, वीर-युग के अतिमानवीय नायक, अर्धदिव्य प्राणी तथा असत् और तामसिकता के प्रति-रूप असुर व राक्षस उनके पात्र थे। वीरयुग का यह अतिप्राकृतिक तत्त्व परवर्ती काव्यों मे भी गृहीत हुआ तथा नाटक साहित्य ने भी पर्याप्त सीमा तक उसे अपनाया।"[7] जहां तक संस्कृत नाटक पर महाकाव्यो के प्रभाव का प्रश्न है, हम श्री रगाचार्य से पूर्णतया सहमत है, पर उनका यह विचार कि सस्कृत नाटक की उत्पत्ति पर धर्म का कोई प्रभाव नही पड़ा मान्य प्रतीत नही होता।

---

1. पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० 183.
2. वही, पृ० 181.
3. वही, पृ० 182.
4. ए हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ० 293.
5. ड्रामा इन संस्कृत लिट्रेचर, पृ० 39.
6. वही, अध्याय 2.
7. वही, पृ० 15.

डॉ० मनमोहन घोष[1] व डॉ० इन्दुशेखर[2] ने भारत में नृत्य व नाट्य की परम्परा को मूलतः आर्येतर जनों – मुख्यतः द्राविडों – की देन मानते हुए भी संस्कृत नाटक की स्वरूपसिद्धि में महाकाव्यों के विशिष्ट योगदान पर बल दिया है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रामायण, महाभारत व पुराणों की कथाओं एवं उनमें प्रतिपादित विष्णु (राम, कृष्ण), शिव आदि की उपासना-पद्धतियों की संस्कृत नाटक के निर्माण में निर्णायक भूमिका रही। भारत में इतिहास-पुराण की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। अथर्ववेद,[3] शतपथ ब्राह्मण[4] व छान्दोग्य उपनिषद्[5] आदि में इतिहास व पुराण शब्दों का संयुक्त या पृथक् रूप में उल्लेख मिलता है। इससे सिद्ध है कि वीरों, देवताओं, ऋषि-मुनियों तथा सृष्टि आदि से सम्बन्धित कथाएँ भारत में अतीव प्राचीन काल से लोकप्रिय थीं। आगे जाकर रामायण, महाभारत व पुराणग्रन्थों में इन्हीं परम्परागत कथा-आख्यानों का सकलन हुआ। इतिहास व पुराण दोनों का परस्पर निकट सम्बन्ध रहा है। वेदव्यास महाभारत व पुराण-साहित्य दोनों के प्रणेता माने गये है तथा सूत लोमहर्षण व उनका पुत्र उग्रश्रवा या सौति दोनों में प्रवक्ता के रूप में आये हैं। महाभारत वैसे तो इतिहास में परिगणित है, पर वह स्वयं को पुराण भी कहता है।[6] इसी प्रकार रामायण में भी अनेक पौराणिक कथाओं का समावेश है। वस्तुतः भारतीय परम्परा मे इतिहास व पुराण के बीच सीमारेखा खीचना अतीव दुष्कर है, ये दोनों ही एक-दूसरे में अन्तर्व्याप्त हो गये है। इनमें वर्णित कथाएं आख्यान व उपाख्यान अतिप्राकृतिक तत्त्वों से परिपूर्ण हैं, इनके पात्र मानव और अतिमानव दोनो प्रकार के है। जो पात्र मानव है उनका स्वरूप भी पूरी तरह लौकिक नहीं है; वे मानव होते हुए भी लोकोत्तर हैं।

महाकाव्यों व पुराणों की नैतिक व धार्मिक चेतना से समस्त परवर्ती साहित्य अनुप्राणित है। अधिकांश कवियों ने इन्हीं का उपजीव्य ग्रंथों के रूप में उपयोग किया है। भारतीय कवि सदैव आदर्श का उपासक रहा है। वह जीवन के

1. दे० कान्ट्रीब्यूशन टु दि हिस्ट्री ऑव् दि हिन्दू ड्रामा, पृ० 7.
2. उनका यह कथन द्रष्टव्य है—"यद्यपि द्राविड व आर्यपूर्व जन नृत्य व नाटक की परम्पराओ के अग्रगामी माने जा सकते है, तथापि संस्कृत नाटको ने महाकाव्यो के प्रभाव में ही निश्चित व मूर्त स्वरूप ग्रहण किया है।" संस्कृत ड्रामा, इट्स ऑरिजिन एण्ड डिक्लाइन : भूमिका, पृ० 21.
3. 11.7.24 व 15.6. 10-11.
4. 11.5.6.8 तथा 13.4.3. 12-13.
5. 7.1.2.
6. आदिपर्व, 1.17.

क्षुद्र यथार्थ को किसी उदात्त आदर्श की ओर उन्मुख करने के लिये सदा उत्सुक रहता है। वह आदर्श चरित्रों, आदर्श कार्यो व आदर्श विचारों का प्रेमी है। ये आदर्श उसे महाकाव्यों व पुराणों के सिवा इतने उदात्त रूप में अन्यत्र कहां मिल सकते हैं ? इसीलिये वह बार-बार अपने प्राचीन साहित्य में वर्णित आदर्श महापुरुषों की जीवन गाथाओं की ओर लौटता है तथा अपनी कृतियों में उन्हें उतारकर अपने और समाज के जीवन को उन आदर्शो से अनुप्राणित करने का प्रयत्न करता है। भारतीय काव्य व कलाओं के सभी रूप रामायण, महाभारत व पुराणों की प्रेरणादायी कथाओं व विचारों से ओतप्रोत है। अतः कोई आश्चर्य नहीं यदि संस्कृत नाटक का जन्म भी उन्ही के क्रोड से हुआ हो। नाट्यशास्त्र में वर्णित नाट्योत्पत्ति की कथा, सस्कृत साहित्य का साक्ष्य तथा आधुनिक विद्वानों के विचारों से उक्त मन्तव्य की पुष्टि होती है।

रूपक के भेद और अतिप्राकृत तत्त्व

नाट्यशास्त्र के अनुसार रूपक के दस भेद है[1]—नाटक, प्रकरण, अक, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग। इनमें से अंक को भरत ने उत्सृष्टिकाक भी कहा है। नाटक और प्रकरण का एक संकीर्ण भेद—नाटिका[2] भी उन्होंने माना है। धनजय, शारदातनय, शिग भूपाल व विश्वनाथ ने रूपकों के भेद-निरूपण में भरत का ही अनुसरण किया है।[3] किन्तु हेमचन्द्र ने नाटिका व सट्टक तथा रामचन्द्र व गुणचन्द्र ने नाटिका और प्रकरणी नाम के दो स्वतंत्र भेदों को स्वीकार कर रूपकों की संख्या बारह कर दी है।[4]

भरत-निरूपित दश रूपको को विषयवस्तु व पात्रों की दृष्टि से हम दो वर्गो मे विभक्त कर सकते है—आख्यानपरक और सामाजिक।[5] प्रथम वर्ग में नाटक, समवकार, डिम, व्यायोग, ईहामृग व अंक का समावेश होता है और द्वितीय मे प्रकरण, भाण, प्रहसन व वीथी का। प्रथम मे परम्परागत तथा लोकविश्रुत कथाओं व पात्रों की योजना की जाती है और द्वितीय में समकालीन सामाजिक जीवन के कुछ चुने हुए रोचक चित्र अंकित किये जाते है। आख्यानपरक रूपकों में प्रायः वीर-काव्यों की कथाए, पौराणिक आख्यान या लोकप्रचलित कथाएं प्रस्तुत की जाती हैं

1. ना० शा० 18. 2-3. .... व्युत्पादनं
2. वही, 18. 58-60.
3. द० रू० 1.8; भा० प्र० 7, पृ० 180; र० सु० 3.3; सा० द० 6.3.
4. काव्यानुशासन, 8.3; ना० द० 1. 3-4.
5. डा० राघवन ने इन्हे उदात्त (Heroic) और 'सामाजिक' (S
'दि सोशल प्ले इन संस्कृत' पृ० 2.

अभिनवगुप्त के समान नाट्यदर्पणकारों ने भी नाटक में दिव्य नायिका को मान्यता दी है।[1] विश्वनाथ ने नाटक में तीन प्रकार के नायकों की कल्पना की है–प्रख्यात-वंश राजर्षि, दिव्य तथा दिव्यादिव्य। जैसे, दुष्यन्त राजर्षि नायक है, श्री कृष्ण दिव्य और श्री रामचन्द्र दिव्यादिव्य।[2] जो नायक दिव्य होने पर भी अपने मे नरत्व का अभिमानी होता है वह दिव्यादिव्य कहलाता है।[3] यहां विश्वनाथ ने कृष्ण और राम में जो अन्तर बताया है वह उचित प्रतीत नही होता। यह भेद जिन नाटकों के आधार पर किया गया है, उनका विश्वनाथ ने उल्लेख नहीं किया। भारतीय धर्म-परम्परा में कृष्ण और राम दोनों ही अवतार माने गये है, अतः एक को दिव्य और दूसरे को दिव्यादिव्य मानना तथ्यसंगत नही है।

उत्सृष्टिकांक : इसकी कथावस्तु प्रख्यात होती है और कदाचित् अप्रख्यात भी। इसमें भरत ने दिव्य पात्रों का स्पष्ट निषेध किया है—

दिव्यपुरुषैर्वियुक्तः शेषैर्युक्तो भवेद् पुंभि :।
न० शा० १८.९४

अभिनव के मत में करुण रस के बाहुल्य के कारण इसमें श्रेष्ठ देवपात्रों की योजना नही की जाती। रौद्र, बीभत्स व भयानक रसों से तो फिर भी देवपात्रों का सम्बन्ध सम्भव है, पर करुण से नहीं।[4] नाट्यदर्पण के अनुसार दिव्य पुरुषों मे सुख-बाहुल्य होता है, अत. करुणरसप्रधान उत्सृष्टिकांक में उनकी योजना संगत नहीं है।[5]

व्यायोग : इसकी कथावस्तु व नायक दोनों प्रख्यात होते है। इसमें भरत ने दिव्य नायक का निषेध कर राजर्षि नायक का विधान किया है।[6] विश्वनाथ ने राजर्षि के साथ-साथ दिव्य पुरुष को भी इसका नायक स्वीकार किया है।[7]

डिम : इसकी भी कथा व नायक प्रख्यात होते है। इसमें माया, इन्द्रजाल आदि अतिप्राकृत कार्यो तथा देव, नाग, राक्षस, पिशाच आदि सोलह अतिमानवीय पात्रों का समावेश रहता है।[8] धनंजय ने इसमें रौद्र रस को अंगी माना है[9] जो इसके

1. दे0 ना0 द0, 1.5 की विवृति।
2. दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः। सा0 द0 6.9.
3. वही, 6.7-11 की वृत्ति।
4. इह च करुणरसबाहुल्याद् देवदेवैर्वियोग.। रौद्रबीभत्सभयानकसम्बन्धो दिव्ययोगे भवत्यपि न तु करुणयोगः। ना0 शा0 भाग 2, अ0 भा0 पृ0 446.
5. ना0 द0 2, 88 की वृत्ति।
6. न च दिव्यनायककृतः कार्यो राजर्षिनायकनिबद्धः। ना0 शा0 18.92.
7. प्रख्यातस्तत्रनायकः। राजर्षिरथ दिव्यो वा . . .। सा0 द0 6.232-233.
8. ना0 शा0 18.87,88.
9. द0 रू0 3.58.

पात्रों की प्रकृति के अनुकूल है। नाट्यशास्त्र में त्रिपुरदाह नामक डिम का उल्लेख मिलता है जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके है।

समवकार : नाट्योत्पत्ति की कथा में स्वर्ग में सर्वप्रथम अभिनीत रूपक 'अमृत-मन्थन' समवकार ही बताया गया है। भरत ने इसे 'देवासुरबीजकृत' कहा है।[1] अभिनव के अनुसार इसमे देवों व असुरों की फलप्राप्ति की उपायभूत कथा प्रस्तुत की जाती है।[2] धनंजय व विश्वनाथ ने भरत के मन्तव्य का समर्थन किया है।[3] इसमें बारह देव व दानव नायक होते हैं जो सभी प्रख्यात व उदात्त स्वभाव वाले कहे गये हैं।[4] ये नायक प्रत्येक अंक में बारह हों या तीनों अंकों में मिलाकर, इस विषय में स्थिति अस्पष्ट है।[5] समवकार में तीन अंक, त्रिविध कपट (दैवकृत, शत्रुकृत व वस्तुस्वभावकृत) तथा त्रिविध शृंगार (धर्म, अर्थ व काम) की योजना की जाती है।[6]

ईहामृग : भरत के अनुसार इसका नायक दिव्य होता है जो दिव्य नायिका के लिए प्रतिपक्षी के साथ युद्ध करता है।[7] इसमें प्रायः उद्धत स्वभाव के पात्र होते है तथा संक्षोभ, विद्रव व संफेट आदि व्यापार प्रस्तुत किये जाते हैं। कार्य, पुरुष, वृत्ति व रस की दृष्टि से यह व्यायोग के समान है। केवल दिव्य स्त्री के साथ समागम इसकी विशेषता है।[8] धनंजय ने इसकी कथावस्तु 'मिश्र' कोटि की मानी है। उनके मत में इसका नायक मनुष्य और प्रतिनायक दिव्य व्यक्ति होता है।[9] वे क्रमशः प्रख्यात और धीरोद्धत होते है। प्रतिनायक अनिच्छुक दिव्यस्त्री के अपहरण का प्रयत्न करता है, अतः इसमें शृंगाररसाभास भी रहता है।[10]

रूपक के शेष भेदों—प्रकरण, प्रहसन, भाण व वीथी में वस्तु व पात्र कल्पित होते हैं। इनमें प्रकरण सबसे महत्त्वपूर्ण है। रूपक के दस भेदों में नाटक

---

1. देवासुरबीजकृतः प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव। ना० शा० 18.63.
2. देवासुरस्य यद्बीजं फलसम्पादनोपायस्तेन कृतो विरचित.।
   दे० ना० शा० 18.63 पर अ० भा०
3. द० रू० 3.63; सा० द० 6.234.
4. द० रू० 3.63-64.
5. दे० ना० शा० 18.64 पर अ० भा०
6. ना० शा० 18.63.
7. दिव्यपुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्धः। वही, 18.78.
8. ईहामृगेऽपि ते स्युः केवलममरस्त्रिया योगः। वही, 18.79-81.
9. नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ। द० रू० 3.73.
10. वही, 3.74.

के वाद महत्त्व की दृष्टि से इसी का दूसरा स्थान है। इसमे विप्र, वणिक्, अमात्य आदि मध्यम श्रेणी के पात्र होते हैं। भरत ने प्रकरण में उदात्त (उच्चवर्गीय) नायक और देवचरित का निषेध किया है।[1] रामचन्द्र व गुणचन्द्र का मत है कि नाटक में तो फिर भी दिव्य पात्र अंग (सहायक) के रूप में आ सकता है, पर प्रकरण में उसका इस रूप में भी ग्रहण नही होता। दिव्य पात्रों में सुख का बाहुल्य और दुःखों की स्वल्पता होती है। यदि उन्हें दुःख-वहुल रूप में अंकित किया जाय तो उनकी दिव्यता नष्ट हो जायेगी।[2] अतः नाट्यदर्पणकारो की दृष्टि में क्लेश-वहुल प्रकरण में सुखवहुल देवपात्रों का समावेश उचित नही है।

कथा, पात्र व आन्तर चेतना की दृष्टि से नाटक व प्रकरण में प्रभूत अन्तर है। नाटक की कथा प्रख्यात और पौराणिक होती है और पात्र आख्यानप्रसिद्ध या अति-मानव। दूसरी ओर प्रकरण की वस्तु कल्पित और पात्र मध्यवर्गीय होते है। नाटक की आन्तरिक चेतना प्रायः धार्मिक-पौराणिक होती है और प्रकरण की सामाजिक और यथार्थपरक। यही कारण है कि प्रकरण में अलौकिक तत्त्व प्रायः वहुत कम पाये जाते हैं। प्रहसन, भाण व वीथी में भी कल्पित कथा व पात्रों के माध्यम से सामाजिक व धार्मिक जीवन के पाखड, छल-छद्म व विकृतियों का चित्रण किया जाता है, अतः उनमें भी अतिप्राकृतिक घटनाओं व चरित्रों की योजना का अवसर नहीं होता। तथापि शकुन, भाग्य, कर्म, पुनर्जन्म व धर्म-सम्बन्धी सर्वसामान्य लोक-विश्वासों के रूप में कतिपय अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग उनमें भी संभव है। कभी-कभी लोककथाओं के प्रभाव तथा अद्भुत तत्त्वों मे लेखक की अभिरुचि के कारण भी प्रकरण मे अतिप्राकृतिक तत्त्वो का प्रवेश हो जाता है; भवभूति का मालती-माधव इसका सुन्दर उदाहरण है।

नाटिका नाटक व प्रकरण का संकीर्ण भेद है। इसकी कथावस्तु प्रकरण के समान कल्पित और नायक नाटक के समान प्रख्यात होता है।[3] राजाओं के अन्तःपुर की प्रणय-कथा पर आधारित होने से नाटिका की वस्तु व चरित्र लौकिक होते है, तथापि सामान्य लोकविश्वासों की अभिव्यक्ति के रूप मे कुछ अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग नाटिका में भी पाया जाता है।

---

1. नोदात्तनायककृतं न दिव्यचरितं न राजसंभोगम्। ना० शा० 18.49.
2. नाटके हि अंगत्वेन दिव्यो भवति। प्रकरणे तु तथाभावोऽपि नेष्ट।
   तस्य सुखबाहुल्येनाल्पदुःखत्वात्। अपरथा दिव्यत्वमेव हीयते।
   ना० द० वि० 2 का० 66-67 की विवृति।
3. द० रू० 3.43.

विश्वनाथ् द्वारा विवेचित १८ उपरूपकों[1] में त्रोटक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कालिदास का 'विक्रमोर्वशीय' कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'त्रोटक' कहा गया है और कुछ में नाटक।[2] विश्वनाथ के अनुसार त्रोटक मे सात, आठ, नौ या पाच अक होते है; उसकी कथावस्तु दिव्य व मर्त्य पात्रों से सम्बन्ध रखती है तथा उसके प्रत्येक अंक में विदूषक उपस्थित रहता है।[3] विश्वनाथ ने 'विक्रमोर्वशीय' को पंचांक त्रोटक का उदाहरण माना है।

कथावस्तु और अतिप्राकृत तत्त्व

कथावस्तु या इतिवृत्त को भरत ने नाट्य का शरीर कहा है।[4] उन्होंने अधिकार या फल की प्राप्ति की दृष्टि से उसके आधिकारिक और प्रासंगिक[5] तथा प्रसिद्धि के आधार पर प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र भेद माने है। धनजय ने इतिवृत्त का स्थान की दृष्टि से भी विभाजन किया है। उनके अनुसार दिव्य लोक से सम्बन्धित वस्तु दिव्य, मर्त्यलोक से सम्बन्धित मर्त्य और दोनों से ही सम्बन्ध रखने वाली दिव्य-मर्त्य होती है।[6]

कथावस्तु के उक्त वर्गीकरणों मे अतिप्राकृत तत्त्वो की दृष्टि से द्वितीय व तृतीय महत्त्वपूर्ण हैं। प्रख्यात कथावस्तु प्राय. रामायण, महाभारत आदि मे वर्णित परम्परा-प्रसिद्ध आख्यानो, पौराणिक कथाओं या बृहत्कथा आदि की लोक-विश्रुत कथाओं पर आधारित होती है,[7] अतः उसमे अतिप्राकृत तत्त्वों के समावेश की पूरी सम्भावना रहती है। रामायण व महाभारत की कथाएं मानवीय व अतिमानवीय तत्त्वों का संमिश्रण प्रस्तुत करती हैं। पुराण ग्रथो में पुराकालीन राजाओं, ऋषियो, देवताओं तथा विभिन्न अवतारों से सम्बन्धित अतिप्राकृतिक कथाएं समाविष्ट है। बृहत्कथा आदि मे सकलित लोककथाओं मे भी समान्य जनो के अतिप्राकृतिक विश्वासो की उन्मुक्त अभिव्यक्ति हुई है। अतः रामायण, महाभारत आदि से गृहीत आख्यानों तथा पौराणिक या लोकप्रचलित कथाओ पर आधारित नाटकों मे अतिप्राकृतिक तत्त्वो का प्रयोग नितान्त स्वाभाविक है। भरत ने नाटक, समवकार, डिम, व्यायोग

---

1. मा० द० 6. 269–313.
2. दे० प्रो० एच० डी० वेलकर द्वारा संपादित विक्रमोर्वशीय, प्रस्तावना, पृ० 54.
3. सप्ताष्टनवपचांक दिव्यमानुपसंश्रयम् ।
   त्रोटकं नाम तत्प्राहु. प्रत्यक सविदूपकम् ॥ सा० द० 6. 273.
4. ना० शा० 19.1.
5. वही, 19. 2–3.
6. द० रू० 1.16.
7. ख्यातं रामायणादिप्रसिद्धं वृत्तम् । सा० द० 6.7–11 की वृत्ति

व उत्सृष्टिकांक के लिए प्रख्यात कथावस्तु का विधान किया है। स्वर्ग में प्रथम अभिनीत दो नाटक 'अमृतमंथन' व 'त्रिपुरदाह' क्रमशः समवकार व डिम थे तथा उनकी कथावस्तु अतिप्राकृत थी, यह पहले बताया जा चुका है। नाटक की प्रख्यात कथावस्तु में तो अतिप्राकृत तत्त्व सम्भव ही है, नायक के दिव्य आश्रय से संबद्ध पताका या प्रकरी वृत्त में इन तत्त्वों का विनियोग आवश्यक-सा प्रतीत होता है। यद्यपि भरत ने उत्सृष्टिकांक व व्यायोग में दिव्य चरित का निषेध किया है, पर अतिप्राकृतिक तत्त्वों के अन्य रूप इनमें भी प्रयुक्त हो सकते हैं। भास के मध्यमव्यायोग में ऐसे अनेक तत्त्वों का प्रयोग देखा जा सकता है। प्रकरण, भाण, प्रहसन व वीथी में कथावस्तु सर्वथा लौकिक व मानवीय होती है, पर उनमें भी शकुन, कर्म, भाग्य आदि सर्वसामान्य लोकविश्वासों के रूप में कतिपय अतिप्राकृतिक तत्त्वों का समावेश सम्भव है। भवभूति का मालतीमाधव प्रकरण होते हुए भी अतिप्राकृतिक तत्त्वों से युक्त है।

कुछ आचार्यों ने अवमर्श या विमर्श संधि के अन्तर्गत शाप, दैव आदि अतिप्राकृतिक विघ्नों का उल्लेख किया है। रामचन्द्र व गुणचन्द्र के अनुसार नाटक के जिस कथा भाग में नायक को अपने फलोन्मुख (उद्भिन्न) प्रधान साध्य की प्राप्ति में व्यसन आदि से उत्पन्न विघ्नरूप विमर्श या सन्देह उत्पन्न हो जाता है, उसे अवमर्शसन्धि कहते है।[1] यह संधि नियताप्ति नामक अवस्था से व्याप्त रहती है तथा प्रधान फल के जनक व विघातक दोनो के तुल्यबल होने से सन्देह-रूप होती है।[2] व्यसन आदि विघ्नों में नाट्यदर्पणकारों ने व्यसन या विपत्ति, शाप, दैव तथा क्रोध की गणना की है। उनके अनुसार अभिज्ञानशाकुन्तल के पंचम अंक में दुर्वासा के शाप से मोहित दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का परित्याग, शकुन्तला का अन्तर्धान तथा षष्ठ अक मे अंगुलीयक के दर्शन से शकुन्तला-विषयक स्मृति का उद्बोध आदि घटनाएं विमर्श संधि का निर्माण करती हैं।[3] इसी प्रकार उन्होंने दैव या कर्मविपाक-रूप विघ्न से उत्पन्न विमर्श संधि भी मानी है। विश्वनाथ के मत मे जहां नाटक के मुख्य फल का उपाय गर्भसंधि की अपेक्षा अधिक उद्भिन्न (विकसित और फलोन्मुख) होकर शाप आदि से विघ्नयुक्त (सान्तराय) हो जाता है वहां विमर्श संधि होती है। उन्होंने शाकुन्तल के चतुर्थ अंक से लेकर सप्तम अंक में शकुन्तला के प्रत्यभिज्ञान तक के कथाभाग को विमर्श संधि माना है।[4]

---

1. उद्भिन्नसाध्यविघ्नात्मा विमर्शो व्यसनादिभिः। ना० द० 1.39.
2. वही, वृत्तिभाग.
3. शापाद्यथा अभिज्ञानशाकुन्तले पंचमेंऽके दुर्वास.शापविमोहितत्वेन त्यक्तायां शकुन्तलायामन्तर्हितायां च षष्ठेंऽके अंगुलीयकदर्शनेन समुपजातस्मृतौ राजनि दुर्वास.शापविघ्नजो विमर्शः। वही
4. सा० द० 6.79 तथा वृत्ति.

भरत व अन्य आचार्यों ने निर्वहण संधि में अद्‌भुत रस की योजना आवश्यक बतायी है। भरत के अनुसार नाटक की वस्तु-संघटना गोपुच्छ के अग्रभाग के समान होनी चाहिये तथा समस्त उदात्त भावों को नाटक के अन्तिम भाग में विन्यस्त करना चाहिये। नाना रसों और भावों से युक्त सभी प्रकार के काव्यों में विज्ञजनों को निर्वहण संधि के अन्तर्गत अद्‌भुत रस की योजना करनी चाहिए:—

काव्यं गोपुच्छाग्रं कर्तव्यं कार्यवन्वमासाद्य।
ये चोदात्तभावास्ते सर्वे पृष्ठतः कार्याः॥
सर्वेषां काव्यानां नानारसभावयुक्तियुक्तानाम्।
निर्वहणे कर्त्तव्यो नित्यं हि रसोऽद्‌भुतस्तज्ज्ञैः॥

ना०शा० १८.४२–४३

अभिनव ने भरत के आशय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि नाटक के अन्त में नायक को किसी प्रकार के लोकोत्तर व असंभाव्य मनोरथ की प्राप्ति होनी चाहिए। नाटक में शृंगार या वीर रस अंगी होता है, अतः नायक की यह मनोरथ-प्राप्ति स्त्रीरत्न या राज्य के लाभ के रूप में ही होगी। अभिनव के शब्दों में "नायक के लोकोत्तर व असंभाव्य मनोरथ की प्राप्ति के स्थल में अद्‌भुत रस की योजना उचित है।"[1]

भरत का उक्त निर्देश अतीव महत्त्वपूर्ण है। अद्‌भुत रस की योजना का उद्देश्य नाटक के अंतिम भाग को प्रभावशील व चमत्कारपूर्ण बनाना है। यों तो नाटक की सभी संधियों का अपना महत्त्व है, पर निर्वहण संधि की प्रभावशालिता पर ही नाटक की बहुत-कुछ सफलता निर्भर है। नाटक के अंत में नायक की उद्देश्य-सिद्धि की विरोधी स्थितियों का निराकरण किया जाता है, जिससे उसे अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है। अभिनव के मत मे नायक का यह फल लोकोत्तर व असंभाव्य मनोरथ की प्राप्ति होना चाहिए, क्योंकि ऐसा ही फल उसके कष्टों और प्रयत्नों के अनुरूप हो सकता है। सामाजिकों को ऐसी फल-प्राप्ति से ही यह उपदेश मिलता है कि मनुष्य अपने प्रयत्न व उपाय द्वारा लोकोत्तर व असंभव वस्तु को भी प्राप्त कर सकता है, अतः उसे सदैव उपायों में प्रवृत्त होना चाहिए। अभिनव के मत में यह आवश्यक है कि नायक की लोकोत्तर व असंभाव्य फलप्राप्ति के स्थल मे अद्‌भुत रस की योजना हो।[2] अद्‌भुत रस का स्थायी भाव विस्मय है जो अलौकिक व अप्रत्याशित वस्तु-व्यापरों के प्रत्यक्षीकरण से जाग्रत होता है।

---

1. ना0 शा0 18.43 पर अ0 भा0
2. तया च शृंगारवीररौद्रैः स्त्रीरत्नपृथ्वीलाभशत्रुक्षयाः करुणादिभिस्तन्निवृत्तिरितीयता क्रमेण लोकोत्तरासंभाव्यमनोरथप्राप्तौ भवितव्यमद्‌भुतेन। ना0 शा0 18.43 पर अ0 भा0.

संस्कृत नाटक की निर्वहण संधि में अद्भुत रस की योजना का एक और भी कारण है। नाट्शास्त्र के नियमानुसार नाटक की विषयवस्तु प्रख्यात होती है, तथा अन्त नियमेन सुखान्त, जिससे सामाजिक पहले से ही कथा व उसके अन्त से परिचित होता है। अतः उसका कौतूहल नाटक के फल या परिणाम के प्रति उतना नहीं होता जितना उसकी निष्पत्ति की पद्धति या परिस्थिति के विषय में होता है। सामाजिक यह जानने के लिए अधिक उत्कंठित रहता है कि नायक की फल-प्राप्ति की बाधाओं को किन उपायों द्वारा दूर किया गया है? अतः ये उपाय असाधारण व लोकोत्तर होने चाहिए, जिससे उनसे प्राप्त होने वाली मनोरथ-प्राप्ति भी लोकोत्तर प्रतीत हो। इसी उद्देश्य से संस्कृत नाटककार नाटकीय फल के साधक उपायो को आकस्मिक व चामत्कारिक रीति से प्रस्तुत करता है। भरतमुनि ने सम्भवतः इसी दृष्टि से नाटक की निर्वहण संधि में अद्भुत रस की योजना आवश्यक बतायी है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि अद्भुत रस सदैव अतिप्राकृत तत्त्वों पर ही आधारित हो, पर अधिकतर संस्कृत नाटकों की निर्वहण संधि में अतिप्राकृत तत्त्वों की योजना देखी जा सकती है। इसके दो कारण प्रतीत होते है। एक तो संस्कृत नाटकों की वस्तु प्रायः महाकाव्य व पुराणों के आख्यानों पर आधारित है जो स्वयं ही अतिप्राकृत तत्त्वों से पूर्ण है, इसलिए ऐसे नाटकों की निर्वहण संधि में इन तत्त्वों की योजना कथा और पात्रों की प्रकृति के अनुकूल रहती है। यही कारण है कि नाटककार को भी ऐसी योजना में कोई हिचक नहीं होती। दूसरे, नाटक की कथाएं कई बार इतनी उलझ जाती है कि अतिप्राकृत हस्तक्षेप के सिवा उनको सुलझाने का नाटककार के सामने कोई और उपाय नही रहता। ऐसी स्थिति में नाटककार अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रति सामाजिकों के विश्वास का लाभ उठाकर उनकी निःसंकोच योजना कर देता है। कई बार यह योजना नाटकीय वस्तु से इतनी असंबद्ध और आकस्मिक होती है कि नाटक की सुखांत परिणति कृत्रिम व आरोपित हो जाती है। निश्चय ही दिव्य हस्तक्षेप का ऐसा प्रयोग नाटककार की अकुशलता का सूचक है।

भरत के अनुसार अद्भुत की संप्राप्ति को 'उपगूहन' कहते है जो निर्वहण संधि का अंग है।[1] वैसे तो अद्भुत की प्राप्ति अतिप्राकृत तत्त्वों के बिना भी हो सकती है, पर दशरूपक, नाट्यदर्पण व साहित्यदर्पण में इसके जो उदाहरण दिये गये है[2] उनमे अतिप्राकृत तत्त्वों से ही अद्भुत की प्राप्ति दिखायी गयी है। इससे यह विचार पुष्ट होता है कि नाटक की निर्वहण संधि मे अद्भुत रस की निष्पत्ति के लिये संस्कृत नाटककारों ने प्रायः अतिप्राकृत तत्त्वों का ही आश्रय लिया है।

---

1 अद्भुतस्य तु संप्राप्तिरुपगूहनमिष्यते। ना० शा० 19.102.

2. द० रू० 1.53 पर अवलोक; ना० द० 1.64 की विवृति; सा० द० 6.112 की वृत्ति.

पात्र और अतिप्राकृत तत्त्व

भरतमुनि ने नाटक में अनेकविध अतिप्राकृतिक पात्रों के प्रयोग का निर्देश किया है , यह बताया जा चुका है कि भरतमुनि ने नाट्य को 'समस्त त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन' 'असुरों व देवों के शुभाशुभ का विकल्पक' तथा 'देवों, असुरों, राजाओं, कुटुम्बियों व ब्रह्मर्षियों के वृत्तान्त का दर्शक' माना है। इससे स्पष्ट है कि भरत की दृष्टि में नाटकों की पात्रसृष्टि केवल मानवों तक सीमित नहीं है, अपितु उसमें धार्मिक व पौराणिक कथाओं के अतिप्राकृत पात्र मानव पात्रों के समान ही प्रयुक्त हो सकते है। भरत ने नाटक में पात्रों की त्रिविध प्रकृतियां बतायी है—दिव्या, दिव्य-मानुषी और मानुषी—

> अथ दिव्या: प्रकृतयो दिव्यमानुष्य एव च ।
> मानुष्य इति विज्ञेया नाट्यवृत्तिक्रियां प्रति ।।
>
> नाο शाο १२.२६

उनके विचार में देवों की प्रकृति दिव्या, राजाओं की दिव्यमानुषी व अन्यों की मानुषी होती है। वेद और उपनिषद् आदि अध्यात्मशास्त्र के ग्रन्थों में राजा लोग देवता के अंश कहे गये है, अत: वे देवों का अनुकरण करे तो दोष की कोई बात नहीं।[1] सम्भवत: नाट्यशास्त्र के इसी निर्देश के अनुसार कालिदास ने दुष्यन्त व पुरूरवा को दिव्य-मानुष रूप में चित्रित किया है तथा देवों के मित्र व युद्ध सहायक के रूप में उनके स्वर्ग जाने का वर्णन किया है।

नाट्यशास्त्र के १३वे अध्याय मे भरत ने रूपकों को 'सुकुमार' व 'आविद्ध' दो भागों में बाटते हुए द्वितीय वर्ग 'आविद्ध' मे डिम, समवकार, व्यायोग और ईहामृग की गणना की है तथा उनमें शौर्य, वीर्य व बल के युक्त देव, दानव व राक्षस जैसे उद्धत पात्रों की योजना का निर्देश दिया है। प्रथम वर्ग सुकुमार में उन्होंने नाटक, प्रकरण, भाण, वीथी व अंक का समावेश करते हुए उन्हें मानव पात्रों पर आश्रित बताया है:—

> डिम: समवकारश्च व्यायोगेहामृगौ तथा ।
> एतान्याविद्धसंज्ञानि विज्ञेयानि प्रयोक्तृभि: ।।

---

1. देवाना प्रकृतिर्दिव्या राज्ञा वै दिव्यमानुषी ।
   या त्वन्या लोकविहिता मानुषी सा प्रकीर्तिता ।।
   देवाशजास्तु राजानो वेदाध्यात्मसु कीर्तिता. ।
   एव देवानुकरणे दोषो ह्यत्र न विद्यते ।।

   नाο शाο 12 27–28.

एषां प्रयोग: कर्त्तव्यो देवदानवराक्षसैः ।
उद्धता ये च पुरुषा: शौर्यवीर्यवलान्विता: ।। ना० शा० १३.६२-६३.
सुकुमारप्रयोगाणि मानुपेष्वाश्रितानि तु ।। वही, ६४

रूपक के कतिपय भेदों में भरत ने दिव्य पात्रों का विधान किया है, यह हम पहले वता चुके है । आहार्याभिनय के अन्तर्गत नेपथ्य-रचना के प्रकरण में उन्होंने देव, सिद्ध, विद्याधर, गन्धर्व, नाग, दैत्य, दानव, भूत, पिशाच, राक्षस आदि अतिमानवीय पुरुष व स्त्री पात्रों के नेपथ्य विधान का विस्तृत वर्णन किया है जिससे स्पष्ट है कि उन्हें नाटक में उक्त सव प्रकार के दिव्य पात्र अभीष्ट है ।[1]

भरत ने यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि नाटक में दिव्य पात्रों के सभी भाव व आंगिक चेष्टायें मानव-भावों व चेष्टाओं पर आश्रित हों, विशेप रूप से शृंगार रस के प्रसंग में । उनके मत में प्रयोक्ताओं (नटों) को देवों के 'अनिमेपत्व' आदि का अभिनय नहीं करना चाहिए—

सर्वे भावाश्च दिव्याना कार्या मानुपसंश्रया : ।।
तेषां चानिमेपत्वादि नैव कार्यं प्रयोक्तृभि: ।।
ना० शा० २१.१५६.

दिव्यानां दृश्यते पुंसां शृंगारे योपितां यथा ।
ये च भावा मानुषाणा स्युर्यदंगं तच्च चेष्टितम् ।।
सर्वं तदेव कर्त्तव्यं दिव्यैर्मानुपसंगमे । ना० शा० २२ ३२६–३२७.

इससे स्पष्ट है कि नाटक में दिव्य पात्र नाममात्र के लिए दिव्य होते हैं । नाटककार की सिद्धि इसी में है कि वह उन्हें वाह्यत: दिव्य रूप में अंकित करते हुए भी शील-स्वभाव व चेष्टाओं की दृष्टि से मानवीकृत रूप में उपस्थित करे ।

भरत के अनुसार यदि नाटक में कहीं दिव्य स्त्रियों (अप्सराओं) का मनुष्यों के साथ समागम हो तो उन्हें मानवोचित भावों का ही प्रदर्शन करना चाहिए । यदि दिव्य पात्रों का शाप के कारण या अपत्य की लालसा से मर्त्यलोक में आगमन हो तो मनुष्यो के साथ उनका समागम शृंगार रस पर आश्रित होना चाहिए तथा उन्हें अदृश्य होकर पुष्पों की सुगन्ध व आभूपणों की ध्वनि से अपने मनुष्य प्रेमी को लुभाना चाहिए । अनन्तर उन्हें अपना स्वरूप प्रकट कर क्षण भर वाद अन्तरित हो जाना चाहिए । वस्त्र, आभरण, माला, लेख तथा इसी प्रकार के अन्य उपचारों से उन्हें नायक को उन्मत्त वनाना चाहिए, क्योंकि उन्मादन से उत्पन्न काम अतीव

1. दे० नाट्यशास्त्र, अध्याय 21.

रमणीय होता है ।[1] नाट्यशास्त्र का उक्त निर्देश कालिदास के विक्रमोर्वशीय की उर्वशी पर पूरी तरह लागू होता है । इस पात्र के व्यक्तित्व की रचना करते समय कालिदास के सामने संभवत: नाट्यशास्त्र का उक्त स्थल रहा होगा ।

दिव्य पात्रो का एक स्थान से दूसरे स्थान तक गमनागमन किस प्रकार हो इस बारे मे भी भरत ने कुछ निर्देश दिये है । उनके अनुसार दिव्य पात्रों को आकाश में उड़कर, विमान में बैठकर, माया द्वारा अथवा अन्य विविध क्रियाओं द्वारा नगर, वन, पर्वत, सागर, वर्ष, द्वीप इत्यादि स्थानों में गमन करना चाहिए ।[2] यदि दिव्य पुरुष किसी कारणवश प्रच्छन्न निवास कर रहा हो तो उसे भूमि पर ही चलना चाहिए जिससे वह मनुष्य दृष्टिगत हो ।[3] भरत ने यह भी बताया है कि दिव्य पुरुष पृथ्वी के विभिन्न भागों व स्थानो मे स्वच्छद भ्रमण करते हैं, किन्तु मनुष्यो का गमन केवल भारतवर्ष में होता है ।[4]

अन्यत्र भरत ने कहा है कि किसी काव्य मे दिव्य नायक हो और उसमे संग्राम, बंधन व वध आदि कार्य समाविष्ट हो तो उसका कथा-स्थल भारतवर्ष को बनाना चाहिए । देवताओ के लोक तो भोग भूमि है, अतएव वहां केवल उनके आनन्दोपभोग का ही चित्रण होना चाहिए । भारत कर्मभूमि है अत: दिव्य पात्रों के कर्मो का आरम्भ यही होना उचित है ।[5]

नाट्यशास्त्र मे विभिन्न दिव्य पात्रों के आवास पर्वतों का भी उल्लेख मिलता है । इस उल्लेख के अनुसार यज्ञ, गुह्यक, राक्षस और भूतों का आवास कैलास पर्वत, गंधर्व और अप्सराओ का हेमकूट, नागों का निषध, तैतीस देवो का सुमेरु, सिद्धो व ब्रह्मर्षियों का नीलगिरि, दैत्यों व दानवो का श्वेत पर्वत तथा पितृगणों का शृंगवत् पर्वत बताया गया है ।[6] हम देखेगे कि सस्कृत नाटककारो ने दिव्य पात्रों की आवास भूमि के रूप मे उक्त पर्वतो में से कुछ का उल्लेख किया है । विक्रमोर्वशीय व शाकुन्तल दोनों मे कालिदास ने 'हेमकूट' पर्वत को काफी महत्त्व दिया है ।

संस्कृत नाटकों में कभी-कभी कुछ निर्जीव वस्तुए पात्रो के रूप में सशरीर उपस्थित होती है । भास के दो नाटको मे भगवान् विष्णु के पांच आयुध मानव

1. दे० नाट्यशास्त्र, अध्याय 22.327–332.
2. वही, 13.18–19.
3. वही, 13.20.
4. वही, 13.21–22
5. वही, 18.97–100.
6. वही, 13.28–32

आकार में मंचपर अवतीर्ण होते हैं। इस विषय से नाट्यशास्त्र का निम्न निर्देश द्रष्टव्य है—

शैलप्रासादयंत्राणि चर्मवर्मध्वजास्तथा ।
नानाप्रहरणाद्याश्च ते प्राणिन इति स्मृताः ।
अथवा कारणोपेता भवन्त्येते शरीरिणः ।। ना० शा० २१.९४

इसी प्रकार १३वे अध्याय में भरत ने उक्त वस्तुओं के मूर्तरूप में प्रयोग को 'नाट्यधर्मी' कहा है—

शैलयानविमानानि चर्मवर्मायुधध्वजाः ।
मूर्तिमन्तः प्रयुज्यन्ते नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ।। ना० शा० १३.७७

इन श्लोकों में प्रहरणों के किसी विशेष कारण से सशरीर उपस्थित होने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। साथ ही शैल, प्रासाद, यंत्र, चर्म (ढाल), वर्म (कवच), ध्वज आदि अन्य निर्जीव वस्तुओं (अप्राणिनः) के भी मूर्तिमान् रूप में उपस्थित होने की बात कही गयी है।

भरत ने विविध जाति के पात्रों के स्वभाव के बारे में भी हमें बताया है। उनके अनुसार देवता लोग धीरोद्धत, राजा लोग धीरललित, सेनापति व अमात्य धीरोदात्त तथा ब्राह्मण व वणिक् धीरप्रशान्त स्वभाव के होते हैं—

देवा धीरोद्धता ज्ञेयाः स्युर्धीरललिता नृपाः ।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ ।।
धीरप्रशान्ता विज्ञेयाः ब्राह्णा वणिजस्तथा ।।

ना० शा० २४.४

वस्तुतः भरत का यह कथन नायक के लिए नही है, सभी पात्रों के विषय में सामान्य निर्देश है। इसका आशय यह है कि दिव्य व्यक्ति सामान्यतः धीरोद्धत स्वभाव के होते हैं। अनेक प्रकार की दैवी शक्तियों से युक्त होने के कारण उनके व्यवहार में दर्प व असहिष्णुता की झलक आने लगती है। श्री सुरेन्द्रनाथ शास्त्री[1] के विचार में भरत का उक्त कथन विभिन्न पात्रो के कर्म-सम्बन्धी स्वभाव का निर्देशक है, और इससे केवल इतना ही सूचित होता है कि किसी नाटक में यदि विभिन्न स्वभाव वाले पात्र एक साथ चित्रित हों तो दिव्य पात्रों का धीरोद्धत स्वभाव होना चाहिए। धनंजय के अनुसार धीरोद्धत नायक या पात्र में दर्प व मात्सर्य का आधिक्य होता है; वह माया (मंत्र बल से अविद्यमान वस्तु का प्रकाशन) व छद्म में रत, अहंकारी,

---

1. दि लाज् एण्ड प्रेक्टिस आॅव् संस्कृत ड्रामा, पृ0 6–7.

चचल, क्रोधी व आत्मश्लाघी प्रकृति का होता है ।[1] धीरोद्धत दिव्य पात्र की माया-परायणता संस्कृत के अनेक नाटकों से सिद्ध होती है । शाकुन्तल का मातलि, प्रतिमा का रावण व अविमारक का विद्याधर इसी प्रकार के पात्र है ।

रस और अतिप्राकृत तत्त्व :

संस्कृत नाटक का प्रमुख लक्ष्य सामाजिक को रसानुभूति कराना है । भरत के मत में नाट्य मे रस के विना कोई भी अर्थ प्रवृत्त नही होता ।[2] धनजय ने रसास्वाद-रूप आनन्द-निष्यन्द को दशरूपकों का फल माना है तथा इतिहास आदि के समान व्युत्पत्ति को उसका फल मानने वाले सहृदयताशून्य अल्पबुद्धि जनों पर व्यंग्य किया है ।[3] नाट्य के तीन तत्त्वों-वस्तु, नेता और रस मे से रस ही प्रधान है, क्योंकि वस्तु और पात्रों के विधान का भी अंतिम लक्ष्य रस-निष्पत्ति कराना है । इसीलिए धनंजय का निर्देश है कि कथावस्तु में नायक और रस की दृष्टि से कुछ अनुचित या विरुद्ध हो तो नाटककार उसे छोड़ दे या उसकी अन्यथा प्रकल्पना करे ।[4]

भरत ने नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय मे रस के स्वरूप, निष्पत्ति व भेद-प्रभेदो का विस्तृत विवेचन किया है । इस विवेचन मे उन्होंने अनेक स्थलो पर अतिप्राकृत तत्त्वो का उल्लेख किया है तथा उनके साथ रस-विशेष का सम्बन्ध बताया है ।

नाट्यशास्त्र मे विभिन्न रसो के साथ विशेष देवताओ का सम्बन्ध बताया गया है ।[5] अभिनव के अनुसार रस-देवताओ के निरूपण का उद्देश्य रस-विशेप की सिद्धि के लिए देवता-विशेप की पूजा का विधान करना है ।[6] रस-देवताओ की कल्पना धर्म के साथ नाट्य के निकट सम्बन्ध की द्योतक है ।

विप्रलम्भ शृंगार : धनंजय ने विप्रलभ के दो भेद माने है—मान व प्रवास । प्रवास-विप्रलंभ के तीन कारणो[7]—कार्य, संभ्रम और शाप में से अन्तिम अतिप्राकृत है । धनजय के अनुसार नायक व नायिका के समीप होने पर भी जहां शाप के कारण उनका स्वरूप बदल जाये, वहां शापज प्रवास होता है,[8] जैसे कादंबरी मे शाप के कारण वैशम्पायन और महाश्वेता का वियोग ।

---

1. द० रू० 2.5-6.
2. न हि रसादृते कश्चिदर्थो प्रवर्तते । ना० शा० 6, पृ० 272.
3. द० रू० 1.6.
4. वही, 3.24-25.
5. ना० शा० 6.44-45.
6. तत्तद्रससिद्धौ सा सा देवता पूज्येति देवतानिरूपणम् । वही 6.44-45. पर अ० भा०
7. द० रू० 4.64.
8. स्वरूपान्यत्वकारणाच्छापजः सन्निधावपि । वही,

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने विप्रलंभ के पांच प्रकारों में से शाप-विप्रलंभ को एक स्वतन्त्र प्रकार माना है, प्रवास का अवान्तर भेद नहीं ।[1] विश्वनाथ ने धनंजय के समान उसे प्रवास का ही एक रूप स्वीकार किया है तथा मेघदूत में यक्ष-यक्षिणी के वियोग को उसका उदाहरण बताया है ।[2]

प्रवास विप्रलंभ और करुण का भेद बताते हुए धनंजय ने कहा है कि जहा प्रेमी-प्रेमिका में से एक के मरने पर दूसरा उसके वियोग में विलाप करे, वहां करुण रस होता है । आश्रय के नष्ट होने के कारण ऐसे स्थल में शृंगार नही माना जा सकता, किन्तु जहां मृत्यु होने पर भी पुनर्जीवन की आशा हो वहां करुण नहीं, प्रवास विप्रलंभ ही माना जायेगा ।[3] यहां मृत व्यक्ति के पुनर्जीवन के रूप में अति-प्राकृत तत्त्व स्वीकृत है तथा वही करुण के स्थान पर शृंगार मानने का आधार है । कादम्बरी में चन्द्रापीड़ की मृत्यु होने पर पहले तो करुण रस है, पर यह आकाश-वाणी होने पर कि वह पुनर्जीवित होगा, करुण का स्थान विप्रलंभ ले लेता है ।[4] विश्वनाथ ने उक्त स्थिति में विप्रलंभ शृगार का 'करुणात्मक विप्रलंभ' नामक स्वतंत्र भेद माना है, जो शापहेतुक प्रवास-विप्रलंभ से भिन्न है ।[5] यह उल्लेखनीय है कि धनंजय आदि ने उक्त स्थितियों के जो उदाहरण दिये है वे श्रव्य-काव्यो (कादम्बरी, मेघदूत आदि) से लिए गये है, नाटको से नही । धनंजय का यह कहना उचित नही है कि शाप के कारण नायक या नायिका का रूप-परिवर्तन हो, वही शापज विप्रलंभ होता है । शाकुन्तल मे रूप-परिवर्तन के विना ही दुर्वासा-शाप के कारण नायक-नायिका का वियोग चित्रित है ।

करुण रस : भरत ने करुण रस के विभावों में शाप से उत्पन्न इष्ट-जन वियोग व विभवनाश आदि की गणना की है ।[6] नाट्यदर्पण के लेखकों ने भी करुण रस के विभावो मे शाप को गिना है ।[7] उनके मत मे दिव्य प्रभाव से युक्त व्यक्ति के आक्रोश को शाप कहते है जो अभिमत व्यक्ति से वियोग का हेतु होता है ।[8]

---

1. ना० द० 3.112.
2. शापाद् यथा—'ता जानीथा . . . इत्यादि ।
   सा० द० 3.208 की वृत्ति
3. दे० द० रू० 4.67.
4. दे० द० रू० 4.67 पर अवलोक
5. यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तर पुनर्लभ्ये ।
   विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्य' ॥
   सा० द० 6.209.
6. ना० शा० 6, पृ० 317.
7. ना० द० 3.116.
8. शापोऽभिमतवियोगहेतुर्दिव्यप्रभाववत आक्रोश । वही, 3.116 की विवृत्ति

विप्रलंभ शृंगार और करुण रसों में निर्वेद आदि कुछ संचारिभाव समान हैं, अत इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करने के लिए भरत ने कहा है कि जहां करुण रस शापरूपी क्लेश से ग्रस्त प्रियजन के वियोग व विभवनाश आदि से उत्थित निरपेक्ष भाव है, वहां विप्रलंभ शृंगार औत्सुक्य व चिन्ता से उदित होने वाला सापेक्षभाव है।[1] अभिप्राय यह है कि करुण रस में शाप आदि अप्रतिकार्य हेतुओं से उत्पन्न प्रियजन के वियोग, विभवनाश आदि के निराकरण की कोई आशा शेष नही होती, जबकि विप्रलंभ शृंगार मे ऐसी आशा बनी रहती है। अभिनवगुप्त के अनुसार यहां शाप शब्द के ग्रहण से यह सूचित होता है कि शाप से उत्पन्न वियोग आदि अप्रतिकार्य होते है, अतः उत्तम प्रकृति के व्यक्ति को भी उनके विषय में शोक का अनुभव हो सकता है। यदि वे अप्रतिकार्य न हों तो शोक के नहीं, उत्साह व क्रोध आदि के विभाव होगे। कविकुलचक्रवर्ती कालिदास ने शोकत्व (करुण रस) के निराकरण के लिए ही पुरूरवा को उर्वशी की शाप-प्राप्ति से अपरिचित रखा है।[2] यहा अभिनवगुप्त ने संभवतः विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में भरतमुनि के शाप व कार्तिकेय के नियम के कारण उर्वशी के लता रूप में परिवर्तन के प्रसंग की ओर संकेत किया है। पुरूरवा को यह ज्ञात नही है कि उर्वशी शाप या देवता-नियम के कारण लता बन गयी है, अतः चतुर्थ अंक मे उर्वशी के साथ पुरूरवा का वियोग विप्रलंभ का ही विभाव है, करुण का नहीं। इसी प्रकार शाकुन्तल में कालिदास ने दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों की दुर्वासा के शाप से अपरिचित रखा है, अतः उनका वियोग भी विप्रलभ को ही जन्म देता है, करुण को नही।

रौद्र रस : भरत मुनि ने रौद्र रस के विवेचन मे भी कतिपय अतिप्राकृतिक तत्त्वों का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार रौद्र रस क्रोधस्थायिभावात्मक, राक्षस, दानव तथा उद्धत मनुष्य पात्रो पर आश्रित तथा युद्धहेतुक होता है।[3]

भरत ने यहां शंका उठाई है कि रौद्र रस क्या राक्षस, दानव आदि पात्रो पर ही आश्रित है, दूसरों पर नहीं ? इसका समाधान उन्होंने स्वयं इस प्रकार किया

---

1. ना० शा० 6, पृ० 309.
2. शापग्रहणेनाप्रतिकार्यत्वे सत्युत्तमप्रकृतेः शोकोदयस्थानमेतदिति दर्शयति। अन्यथोत्साहक्रोधादिविभावत्व स्यात्। शोकत्वमेव च पराकर्तुं कविकुलचक्रवर्तिना पुरूरवस उर्वशीशापप्राप्तिरनुपलक्षितत्वेन निबद्धा॥
ना० शा० 6, अ० भा० पृ० 310.
3. अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रकृतिः संग्रामहेतुकः। वही, 6, अ० भा० पृ० 319.

है—"रौद्र रस दूसरों से भी सम्बन्ध रखता है, पर यहा अधिकार का ग्रहण किया गया है। राक्षस, दानव आदि स्वभाव से ही रौद्र होते है। क्यो ? इसलिए कि उनके अनेक बाहु, अनेक मुख, सभी ओर बिखरे पिंगलवर्ण केश, लाल-लाल चढ़ी हुई आखें तथा भयानक व असित रूप आदि होते है। वे स्वभाववश भी जो आगिक या वाचिक चेष्टा करते है, वह रौद्र ही होती है। वे शृंगार का भी सेवन प्रायः उग्रतापूर्वक करते है। अतः उनका अनुकरण करने वाले पुरुषों (नटों) मे भी संग्राम व संप्रहार से उत्पन्न रौद्र रस की प्रतीति माननी चाहिए।[1] भरत का आशय यह है कि विकराल रूप वाले राक्षस आदि अतिप्राकृत प्राणियों के रूप, वेष-विन्यास व चेष्टादि के मचीय प्रदर्शन से सामाजिको को रौद्र रस की अनुभूति होनी है।

भरत ने रौद्ररस को जो युद्धहेतुक माना है, उससे अभिनव पूरी तरह सहमत नही हैं। उनके मत मे वीर रस (उत्साह) ही प्रधानतया युद्धहेतुक होता है।[2] उन्होंने किन्ही विद्वानो के इस विचार का खडन किया है कि वेणी–संहार के नायक भीमसेन आदि के रक्तपान आदि रौद्र कर्म युद्धहेतुक है। अभिनव के विचार मे भीमसेन का रुधिरपान युद्धहेतुक नही, अपितु उसके उद्धत स्वभाव का परिणाम है, जिसके कारण वह क्रोध के वशीभूत होकर (दुःशासन के रक्तपान की) अनुचित प्रतिज्ञा करता है। उसकी प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए ही कवि ने वेणीसंहार मे भीमसेन को राक्षस से अधिष्ठित बताया है, अत भीमसेन आदि भी राक्षस व दानव के समान स्वभाव से ही क्रोधी है, युद्ध आदि के कारण नही।[3]

अभिनव ने यह प्रश्न भी उठाया है कि राक्षस, दानव आदि के दर्शन से सामाजिक को रौद्र रस की अनुभूति कैसे होती है ? इसके समाधान मे उनका कहना है कि रस का आस्वाद हृदय–संवाद पर निर्भर है। किन्तु राक्षस आदि के साथ सभी सामाजिको का हृदय–संवाद नही होता। क्रोध मे हृदय–सवाद केवल तामस प्रकृति वाले सामाजिको का हो सकता है। दानव आदि के समान स्वभाव वाले वे उनके साथ तन्मयता का अनुभव करते हुए अन्यायकारी के प्रति क्रोध भाव का रस रूप मे आस्वादन करते है। अतः राक्षस आदि के दर्शन से सामाजिक को क्रोधात्मक रसास्वाद होने मे कोई दोष नही है।[4]

---

1. ना० शा० 6, अ० भा० पृ० 322.
2. तस्योचितो हेतु र्न क्रोध । तथा च प्राधान्येन युद्धे न वीर एव व्यपदेक्ष्यते ।
   वही, 6 अ० भा० पृ० 320.
3. वही, 6, अ० भा० पृ० 319-320
4. वही, 6, अ० भा० पृ० 323.

भयानक रस : भरत ने भयानक रस के विभावों में 'सत्त्वदर्शन' का उल्लेख किया है।[1] अभिनवगुप्त ने सत्त्व का 'पिशाच' अर्थ लिया है (सत्त्वानां पिशाचानां दर्शनम्) किन्तु हम इसका अधिक व्यापक अर्थ ले सकते है। हमारी दृष्टि मे भूत, प्रेत, वेताल, पिशाच, राक्षस आदि विविध श्रेणी के अशुभ अतिप्राकृत प्राणी (Evil Spirits) सत्त्व में सम्मिलित किये जा सकते है। भवभूति ने मालतीमाधव के पंचम अंक मे श्मशानवाले दृश्य में ऐसे अनेक प्राणियों का वर्णन किया है। भास के मध्यमव्यायोग में राक्षस घटोत्कच के विकराल रूप को देखकर ब्राह्मण केशवदेव का सारा परिवार भयभीत हो जाता है। शाकुन्तल मे कण्वाश्रम के धार्मिक कृत्यों मे विघ्न उत्पन्न करने वाले छायाकार राक्षस भी सत्त्व ही प्रतीत होते है। दुष्यन्त ने अदृश्यरूप से विदूपक की ताडना करने वाले अज्ञात प्राणी को प्रारम्भ मे 'सत्त्व' ही कहा है।[2]

अभिनवं के मत मे भयानक रस के आश्रय स्त्री, बालक व नीच जन होते है, उत्तम प्रकृति के लोगों को भय नही व्यापता; अधिक से अधिक वे गुरु या राजा आदि से भय खाते है। पर इससे उनकी उत्तम प्रकृति को आंच नही आती।[3] उत्तम प्रकृति के लोगों के लिए सत्त्वदर्शन भयानक का नही, वीर रस का विभाव होता है। शाकुन्तल के षष्ठ अंक में अदृश्य मातलि जहा विदूपक के लिए भय का विभाव है, वहा दुष्यन्त के लिए उत्साह का। इसी प्रकार छायाकार राक्षस भी दुष्यन्त के मानस मे उत्साह का संचार करते है।[4]

अद्भुत रस : अतिप्राकृतिक तत्त्वो का सवसे निकट सम्वन्ध अद्भुत रस से है। यों तो ये तत्त्व भय, शोक आदि के भी जनक होते है, पर इनके प्रत्यक्षीकरण से सबसे अधिक जिस भाव का उन्मीलन होता है वह नि सन्देह विस्मय है जो अद्भुत रस का स्थायिभाव है। अत. इस रस के विवेचन में अतिप्राकृत तत्त्वों की सर्वाधिक स्वीकृति निहित है। भरत के अनुसार दिव्य जनो का दर्शन, अभीष्ट मनोरथो की प्राप्ति, उपवन व देवकुल मे गमन, सभा (गृह-विशेप), विमान (दिव्य रथ), माया (रूप-परिवर्तन, अदृश्यता आदि) और इन्द्रजाल (मंत्र, द्रव्य व वस्तु की युक्ति से असभव वस्तु का दर्शन) अद्भुत रस के विभाव है।[5]

---

1. स च विकृतरवसत्त्वदर्शन . . . . . विभावैरुत्पद्यते। वही, 6 पृ० 326.
2. राजा–(उत्थाय) मा तावत् ममापि सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहा। शाकुन्तल, अक 6.
3. ना० शा० 6, अ० भा०, पृ० 326.
4. शाकुन्तल 3.25.
5. अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मक। स च दिव्यदर्शनेप्सितमनोरथावाप्त्युपवनदेवकुलादिगमनसभाविमानमायेन्द्रजालसम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। ना० शा० 6, पृ० 329.

भरत ने अद्भुत रस के विपय में दो आनुवंश्य श्लोक उद्धृत किये है। प्रथम में अतिशय से युक्त वाक्य, शिल्प अथवा कर्म विशेप को अद्भुत रस का विभाव वताया गया है तथा दूसरे में उसके अनुभाव वर्णित है।[1] धनंजय ने अतिलोक (लोक-सीमा का अतिक्रमण करने वाले) पदार्थों को, विश्वनाथ ने लोकातिग वस्तुओं को तथा रामचन्द्र व गुणचन्द्र ने दिव्य प्राणी, इन्द्रजाल, अतिशययुक्त आनन्दप्रद वस्तुओं (शिल्प, कर्म, रूप, वाक्य, गन्ध, रस, स्पर्श, नृत्य, गीत आदि) के दर्शन व अभीष्ट सिद्धि को अद्भुत रस का विभाव माना है।[2]

भरत के अनुसार अद्भुत रस दो प्रकार का होता है–दिव्य और आनन्दज। प्रथम अलौकिक वस्तुओं के दर्शन से तथा द्वितीय हर्ष से निष्पन्न होता है।[3]

अद्भुत रस के पूर्वोक्त विभावों में कुछ स्पष्टतः अतिप्राकृतिक तत्त्वों के प्रतिनिधि है, जैसे दिव्य जनों का दर्शन, विमान, माया और इन्द्रजाल। अद्भुत रस के दिव्य नामक भेद में दिव्य व्यक्तियों व वस्तुओं के दर्शन के रूप में अतिप्राकृतिक तत्त्व स्वीकृत है।

भरत ने निर्वहण सधि मे अद्भुत रस की योजना आवश्यक वतायी है जिसके महत्त्व का विवेचन हम कथावस्तु के अन्तर्गत कर चुके है।[4] इस योजना का मुख्य ध्येय नाटक के अंत को चमत्कारपूर्ण वनाना है। इस दृष्टि से सस्कृत नाटककारों ने अनेक उपायों का आश्रय लिया है। कुछ नाटकों मे दिव्य हस्तक्षेप व साहाय्य द्वारा, कुछ मे प्रत्यभिज्ञान व रहस्योद्घाटन द्वारा और कुछ मे किसी आकस्मिक व अप्रत्याशित घटना की योजना द्वारा नाटक के अवसान को सुखमय व विस्मयकारी वनाया गया है।

भरत ने अद्भुत रस की उत्पत्ति वीर रस से मानी है[5] तथा उसे वीर का कर्म वताया है। वीर पुरुप के शौर्यकर्म दूसरों के लिए विस्मयजनक होते है, संभवतः इसी दृष्टि से ऐसा कहा गया है। किन्तु अद्भुत को केवल वीर के कर्म तक सीमित रखना उचित प्रतीत नही होता। स्वयं भरत ने दिव्य जनों के दर्शन, माया व इन्द्र-

---

1. वही, 6.75-76.
2. द० रू० 4.78; सा० द० 3.243; ना० द० 3.121.
3. दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा ख्यातोऽद्भुतो रस.।
   दिव्यदर्शनजो दिव्यो हर्पादानन्दजः स्मृतः ॥ ना० शा० 6.82.
4. दे० प्रस्तुत अध्याय, पृ० 74-76.
5. वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः। ना० शा० 6.39.

जाल आदि को इसका विभाव माना है। भोज के मत मे अद्भुत रस वीर से ही नही, शृंगार से भी उत्पन्न हो सकता है।[1]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अद्भुत रस अलौकिक, अपरिचित, अप्रत्याशित व असाधारण वस्तु-व्यापारों के गोचरीकरण से अभिव्यक्त होता है। उसके मूल में अतिशय व लोकातिक्रान्तता के तत्त्व निहित रहते है। वस्तुतः ये तत्त्व केवल नाटक तक ही सीमित नही है, काव्य और कलाओं के सभी रूपों मे इनकी व्याप्ति है। काव्य मे ही क्यों, जीवन की प्रत्येक सौन्दर्यानुभूति में लोकोत्तरता और विस्मय की भावना निहित रहती है। डा० वी० राघवन के शब्दों में—"विस्मय सर्वविध लौकिक व कलात्मक आनन्दानुभूति का एक अपरिहार्य तत्त्व है। कला और साहित्य में आश्चर्य, असाधारण्य और विस्मय का तत्त्व सर्वत्र विद्यमान रहता है।"[2]

संस्कृत आलंकारिको ने वैचित्र्य, विच्छित्ति, चमत्कार, रमणीयता, वक्रता, चारुता आदि के रूप में काव्य में विस्मय के आधारभूत तत्त्वो का ही महत्त्व प्रतिपादित किया है। भामह ने वक्रोक्ति को 'लोकातिक्रान्तगोचरवचनरूपा' अतिशयोक्ति से अभिन्न मानते हुए[3] कहा है कि उसके विना अलकार को अलंकारत्व प्राप्त नही होता।[4] अपने इसी दृष्टिकोण के कारण वे हेतु, सूक्ष्म व लेश को अलंकार नही मानते।[5] उनके मत में 'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः' आदि वक्रोक्ति-शून्य उक्तियां काव्य नही, वार्ता मात्र है।[6] भामह के समान दंडी ने भी अतिशयोक्ति को अलंकारों का मूलतत्त्व माना है[7] और आनन्दवर्धन ने उसे 'सर्वालकाररूपा'[8] कहा है। कुतक ने वक्रोक्ति को 'सकलालंकारसामान्य'[9] वताया है और अपने ग्रंथ 'वक्रोक्तिजीवित' मे उसे एक व्यापक सिद्धान्त के रूप मे विकसित किया है। मम्मट

---

1. दे0 डा0 वी0 राघवन भोजाज् शृ गारप्रकाश, पृ0 435,
2. दि नम्बर ऑव् रसाज्, पृ0 171.
3. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
   मन्यन्तेऽतिशयोक्ति तामलकारतया यथा॥ काव्यालंकार, 2.81.
4. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
   यत्नोऽस्या कविना कार्य कोऽलकारोऽनया विना। वही, 2.85.
5. वही, 2.86.
6. वही, 2.87.
7. अलकारान्तराणामप्येकमाहु परायणम्।
   वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥ काव्यादर्श, 2.220.
8. ध्वन्यालोक, 3, 36 की वृत्ति
9. वक्रोक्तिजीवित, 1.31 की वृत्ति

के अनुसार अतिशयोक्ति समस्त अलंकारों में प्राणरूप से रहती है।[1] इससे स्पष्ट है कि संस्कृत अलंकारशास्त्र वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति के रूप में 'लोकातिक्रान्तगोचर' उक्ति को काव्यात्मक अभिव्यक्ति का अनिवार्य लक्षण मानता है।[2] भामह व कुन्तक ने इसी मान्यता के कारण वार्ता व स्वभावोक्ति को अलंकार मानने का विरोध किया है।[3] जो अलंकारिक स्वभावोक्ति को अलंकार मानते है वे भी वस्तुस्वभाव के वर्णनमात्र को स्वभावोक्ति नहीं कहते[4] अपितु कविप्रतिभा की अभिव्यक्ति के रूप में प्रकारान्तर से उसमें भी अलंकार मात्र के सामान्य तत्त्व वैचित्र्य, वक्रता या अतिशय की स्थिति स्वीकार करते हैं।[5] इससे सिद्ध है कि भारतीय काव्य-दृष्टि साधारणतः वस्तुओं के कल्पनाशून्य यथावत् वर्णन को काव्य की श्रेणी में स्थान नहीं देती। वह उन्ही शब्दार्थो को काव्य मानती है जिनमें लोकोत्तीर्णता,[6] असाधारणता, वैचित्र्य, चमत्कारजनकता आदि तत्त्व विद्यमान रहते है। वह यथार्थ व लौकिक को अस्वीकार नही करती किन्तु उसके अन्तस् मे निहित अलौकिकता व असाधारण्य को ही काव्य का समुचित विषय मानती है। इस प्रकार वह लौकिक को लोकोत्तर से और लोकोत्तर को लौकिक से जोड़ देती है। सस्कृत साहित्य में लौकिक व अलौकिक का जो सहभाव, सामंजस्य या अभेद दिखाई देता है उसमे भारतीय काव्य-दृष्टि की उक्त मान्यता भी एक कारण प्रतीत होती है। हमारे आलंकारिको ने शब्द व अर्थ के स्तर पर वक्रता व अतिशय के रूप मे जिस अलौकिकता को काव्यात्मक अभिव्यक्ति का सामान्य तत्त्व माना है, हमारे नाटककारों ने प्राकृत जगत् व मानव जीवन के चित्रण में अद्‌भुत रस के आधारभूत अतिप्राकृत तत्त्वों के रूप मे उसी का सौन्दर्यमय साक्षात्कार करते हुए भारतीय काव्य की पूर्वोक्त दृष्टि का ही अनुगमन किया है।

रसवादियों ने रस को एक अलौकिक आस्वाद माना है जो विस्मय का ही नामान्तर है। विश्वनाथ ने अपने वृद्ध पितामह नारायण के मत का उल्लेख किया है

---

1. काव्यप्रकाश, 10.136 की वृत्ति
2. यहा यह उल्लेखनीय है कि भामह, आनदवर्धन, मम्मट आदि ने अतिशयोक्ति नामक अलकार-विशेष को नही, अपितु 'लोकातिक्रान्तगोचर उक्ति' रूप अतिशयोक्ति को सभी अलकारो का मूल तत्त्व माना है। दे० डा० रामचन्द्र द्विवेदी-कृत, अलंकार मीमासा, पृ० 312.
3. काव्यालंकार, 2.87, व० जी०, 1.11–14.
4. दे० रुय्यककृत अलंकार सर्वस्व, पृ० 223 (निर्णय सागर संस्करण)
5. किंच वैचित्र्यमलंकार इति य एव कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रता इति सैवालंकारभूमि। (काव्यप्रकाश, 9.85 की वृत्ति)
6. शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमित्ययमेवासावलंकारस्यालंकारभावः, लोकोत्तरतैव चातिशयः, तेनातिशयोक्तिः सर्वालंकारसामान्यम्। ध्वन्या० 3.36 पर लोचन, पृ० 467.

जिसके अनुसार अद्भुत ही एकमात्र रस है जो सभी रसों में प्राणरूप से विद्यमान रहता है। प्रत्येक रस में सहृदय को लोकोत्तर चमत्कार की प्रतीति होती है; चित्त-विस्तार रूप यह चमत्कार या विस्मय ही समस्त रसों का प्राणभूत तत्त्व है; अतः नारायण के मत मे अद्भुत ही एकमात्र रस है।[1]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अद्भुत रस केवल अतिप्राकृत तत्त्वों तक सीमित नहीं है, अपितु सभी प्रकार के अतिशायी, असाधारण व आकस्मिक तत्त्व उसके आधार हो सकते है। किन्तु संस्कृत नाटकों में अद्भुत रस की योजना प्रायः अतिप्राकृतिक तत्त्वों के आधार पर ही की जाती है—विशेष रूप से महाकाव्यों व पौराणिक कथाओं पर आधारित नाटकों में।

भरत व अन्य आचार्यो ने हास्य, वीर और वीभत्स रसों के विवेचन मे किसी अतिप्राकृत तत्त्व का उल्लेख नही किया। हास्य रस का तो अतिप्राकृत तत्त्वों के साथ कोई विशेष सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, पर वीर व वीभत्स रस कुछ स्थितियों में इन तत्त्वों से सम्बद्ध हो सकते है। सस्कृत नाटको में अनेक स्थलों पर अद्भुत रस से परिपुष्ट वीर रस का चित्रण हुआ है। वीर का पोषक यह अद्भुत रस प्रायः अति-प्राकृत तत्त्वों के माध्यम से उन्मीलित होता है। इसी प्रकार वीभत्स रस की निष्पत्ति में भी अतिप्राकृत तत्त्वों का योगदान सम्भव है। भवभूति ने मालतीमाधव के श्मशान दृश्य में भूत, प्रेत, पिशाच आदि अतिप्राकृत सत्त्वो के माध्यम से शृंगार के अग के रूप मे अद्भुत, रौद्र, भयानक व वीभत्स आदि अनेक रसो की योजना की है।

ऊपर हमने सस्कृत नाटक के सन्दर्भ मे अतिप्राकृत तत्त्वों की नाट्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला। हम आगे देखेंगे कि संस्कृत के अनेक नाटककारो ने अपनी कृतियों में अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग करते समय नाट्यशास्त्रीय निर्देशो का किसी सीमा तक अनुसरण किया है। यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत के उपलब्ध सभी नाटक नाट्यशास्त्र के वाद के है; यहा तक कि अश्वघोष के नाटकों पर भी नाट्यशास्त्र की किसी पूर्व परम्परा का स्पष्ट प्रभाव है। यद्यपि वर्तमान नाट्यशास्त्र का रचना-काल तृतीय व चतुर्थ शताब्दी ई० माना गया है[2] पर उसका मूलरूप सम्भवतः ई. पू. काल मे अस्तित्व मे आ चुका था।[3] इस प्रकार संस्कृत के सभी उपलब्ध नाटक

---

1. रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्युनुभूयते।
   तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः॥
   तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्॥ सा0 द0 3, पृ0 78 पर उद्धृत
2. दे0 श्री पी0 वी0 काणे: हिस्ट्री ऑव् संस्कृत पोएटिक्स, पृ0 21.
3. श्री काणे ने वर्तमान नाट्यशास्त्र के कतिपय अंशो-विशेषत. षष्ठ व सप्तम अध्यायो के गद्यात्मक अंशो का रचनाकाल 200 ई. पू. माना है। दे0 वही, पृ0 18.

नाट्यशास्त्र के परवर्ती सिद्ध होते है । अतः यह स्वाभाविक ही है कि वे नाट्यशास्त्र के अन्यान्य निर्देशो के साथ अतिप्राकृत तत्त्व सम्बन्धी उसके विधानों का भी अनुगमन करे । नाट्यशास्त्र के बाद इस विषय पर दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ दशरूपक (१०वी शताब्दी ई०) लिखा गया ।[1] इसमे नाट्यशास्त्र के विषयों को सीमित कर केवल वस्तु, नेता, रस तथा रूपक-भेदों का सक्षिप्त निरूपण किया गया है । परवर्ती काल के नाट्यशास्त्रीय ग्रंथ अधिकतर भरत के नाट्यशास्त्र व धनंजय के दशरूपक पर ही आधारित है । इन ग्रंथों मे रामचन्द्र गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण (१२वी शताब्दी ई०), सागरनदी का नाटकलक्षणरत्नकोष (१३वी शताब्दी ई०), शारदातनय का भावप्रकाशन (१४वी शताब्दी ई०), विश्वनाथ का साहित्यदर्पण (१४वी शताब्दी ई.) शिगभूपाल का रसार्णवसुधाकर (१४वी शताब्दी ई०) विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशो-भूषण (१४वी शताब्दी ई०) आदि उल्लेखनीय है । संस्कृत नाटककार नाट्यशास्त्र की इस समृद्ध परंपरा से तो प्रभावित हुए ही है, स्वयं नाटक-साहित्य की परंपरा का भी उन पर गहरा प्रभाव पड़ा है । प्रतिभासम्पन्न नाटककारों ने शास्त्र व प्रयोग दोनों से बहुत कुछ ग्रहण करते हुए भी अपनी मौलिक मेधा से नाट्यसाहित्य को समृद्ध बनाने मे अपूर्व योग दिया है । यह उचित ही है कि अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग में वे शास्त्र के ही पदचिह्नो पर नही चले, अपितु उन्होंने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा अतिप्राकृत तत्त्वों के नये-नये रूपो का भी आविष्कार किया । किन्तु अल्प प्रतिभावाले व रूढिवादी नाटककारों ने या तो शास्त्र का ही अनुसरण किया या अपने पूर्ववर्ती नाटकों की परम्परा का अन्ध अनुकरण ।

हमारा उद्देश्य सस्कृत नाटको मे प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वो का एकान्ततः नाट्य-शास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करना नही है । हमारी यह भी मान्यता है कि केवल नाट्यशास्त्र की पृष्ठभूमि में इन तत्त्वों के स्वरूप, स्रोत एवं प्रयोग के कलात्मक उद्देश्यो को पूरी तरह नही समझा जा सकता । नाट्यशास्त्र की पृष्ठभूमि इन तत्त्वों के अध्ययन का एक पक्षमात्र प्रस्तुत करती है । हमने अपने अध्ययन में जहां भी उचित प्रतीत हुआ है इस पक्ष की भी चर्चा की है ।

---

1. अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' नामक व्याख्या तथा धनंजय के अनुज धनिक ने दशरूपक पर 'अवलोक' नाम की वृत्ति लिखी । नाट्यशास्त्र व दशरूपक का हमारा वर्तमान ज्ञान बहुत कुछ इन्ही ग्रन्थो पर आधारित है ।

३ अश्वघोष और भास के नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व

संस्कृत नाटक की सबसे पुरानी उपलब्ध कृतिया अश्वघोष व भास के नाटक है। इसमें सन्देह नही कि इनके पूर्व भी नाटक की एक समृद्ध परम्परा रही होगी,[1] किन्तु परवर्ती काल की अपेक्षाकृत विकसित व श्रेष्ठतर कृतियों ने उन प्रारभिक नाटकों को सर्वथा भुला दिया। अत. हम अपने प्रस्तुत अध्ययन को अश्वघोष व भास के नाटको से आरंभ कर रहे है।

अश्वघोष के नाटक

सन् १९११ में एच. ल्यूडर्स को[2] मध्य एशिया मे तुर्फान नामक स्थान से कुछ ताडपत्रीय पाडुलिपियो के खंडित अवशेष प्राप्त हुए जिनमे बौद्ध महाकवि अश्वघोष (प्रथम शती ई०)के एक नाटक का भी कुछ अंश संमिलित था। सौभाग्य से उपलब्ध अश नाटक का अतिम भाग था जिसमे पुष्पिका के अन्तर्गत नाटक का नाम 'शारिपुत्र-प्रकरण' या 'शारद्वतीपुत्रप्रकरण' दिया हुआ है तथा उसके प्रणेता के रूप मे सुवर्णाक्षी के पुत्र साकेतक अश्वघोष का नामतः उल्लेख किया गया है। इसमे बुद्ध-चरित का एक श्लोक भी मिला है जिससे इसके अश्वघोषकृत होने के विषय मे रहा-

---

1. महाभाष्य मे उल्लिखित 'कसवध' व 'बलिबन्धन' के विषय मे हम पहले बता चुके है। कालिदास ने सौमिल्ल व कविपुत्रो का प्रसिद्ध नाटककारो के रूप में सादर उल्लेख किया है। रामायण महाभारत व हरिवंश पुराण मे नाटक के अस्तित्व का संकेत देने वाले अनेक साक्ष्य प्राप्त हुए है, यद्यपि काल की दृष्टि से उनका मूल्य विचारणीय है। अष्टाध्यायी मे उल्लिखित शिलाली व कृशाश्व के नटसूत्रो को अनेक विद्वानो ने नटो की शिक्षा के लिए निर्मित ग्रन्थ माना है। ललितविस्तर' व 'अवदानशतक' आदि बौद्ध ग्रन्थो में ऐसे अनेक उल्लेख आये हैं जिनमे स्वयं भगवान् बुद्ध के समय मे नाटक के अस्तित्व की बात कही गयी है। दे० कीथ : सस्कृत ड्रामा, पृ० 43.
2. दे० विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑव् इंडियन लिट्रेचर, खंड 3, भाग 1, पृ० 198 : कीथ . संस्कृत ड्रामा, पृ० 80.

सहा सन्देह भी दूर हो जाता है ।[1] ल्सूडर्स को इस नाटक की पांडुलिपि के साथ ही दो अन्य नाटकों के भी खंडित अंश प्राप्त हुए, किन्तु उनमे नाटक व रचयिता के नाम का उल्लेख नही मिलता । फिर भी अश्वघोष के नाटक के साथ पाये जाने तथा भाषा, शैली आदि की दृष्टि से उसके ही सदृश होने के कारण ये दोनों भी साधारणत. अश्वघोष के नाटक माने गये है, यद्यपि इस विषय में पूर्ण निश्चय के साथ कुछ नही कहा जा सकता ।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है 'शारिपुत्रप्रकरण' शास्त्रीय दृष्टि से एक प्रकरण है । इसमें शारिपुत्र व मौद्गल्यायन के बौद्ध धर्म मे दीक्षित होने की कथा नौ अंकों मे प्रस्तुत की गई थी, पर यह इतने खडित रूप से प्राप्त हुआ है कि उससे कथा का स्वरूप स्पष्ट नही होता । फिर भी जितना सा अंश मिला है वह संस्कृत नाटक के इतिहास की दृष्टि से अपरिमेय महत्त्व रखता है । इसके पर्यालोचन से विदित होता है कि ई० प्रथम शताब्दी मे, जो कि अश्वघोष का स्थितिकाल है, संस्कृत नाटक उस शास्त्रीय स्वरूप को उपलब्ध कर चुका था जो परवर्ती नाटक साहित्य में हमे एक रूढिबद्ध रूप मे दिखायी देता है । रूपक के प्रकरण—जैसे जटिल व विकसित प्रकार का अस्तित्व, कथावस्तु का अंकों मे विभाजन, विदूषक–जैसे पात्र की योजना, संस्कृत व प्राकृत दोनो का सहप्रयोग आदि तथ्य इस बात के निश्चित प्रमाण है कि अश्वघोष के काल मे संस्कृत नाटक स्वय को शास्त्रीय मर्यादाओ में लगभग पूरी तरह बांध चुका था । इस दृष्टि से अश्वघोष की यह कृति संस्कृत नाटक साहित्य की कोई प्रारम्भिक कृति नही है, अपितु उसके विकास की अग्रिम अवस्था की प्रतिनिधि है । हम अनुमान कर सकते है कि बौद्ध अश्वघोष ने धर्म-प्रचार की बुद्धि से संस्कृत भाषा व नाटक के माध्यम का उपयोग उनकी समृद्ध परम्परा व लोकप्रियता के आधार पर ही किया होगा ।

'शारिपुत्रप्रकरण' का जो अंश उपलब्ध हुआ है वह हमे उसकी कथावस्तु व पात्रो के बारे मे अपेक्षित सूचना देने मे असमर्थ है । अत. उसमें अतिप्राकृत तत्त्वो का कितना प्रयोग हुआ था यह कहना कठिन है । फिर भी यह निश्चित है कि उसमे बुद्ध के व्यक्तित्व को अलौकिक रूप मे उपस्थित किया गया था । उपलब्ध अश मे आए एक प्रसंग मे बताया गया है कि शारिपुत्र व मौद्गल्यायन जब बुद्ध के पास आये, तब बुद्ध ने उनके विषय मे यह भविष्यवाणी की कि मेरे शिष्यो मे तुम दोनो सर्वोच्च ज्ञान एवं मायिक शक्ति प्राप्त करोगे ।[2] इससे सूचित होता है कि इस नाटक में अनेक अतिप्राकृत तत्त्वो का समावेश रहा होगा ।

---

1. कीथ. वही, पृ0 81.
2. दे0 वही, पृ0 81–82.

दूसरा नाटक एक प्रतीकात्मक नाटक प्रतीत होता है जिसमे बुद्धि, धृति व कीर्ति आदि मनोवृत्त्यात्मक पात्रो की योजना की गई है । साथ ही प्रभामंडल से युक्त भगवान् बुद्ध भी इसके एक पात्र है । इस प्रकार इसमें प्रतीकात्मक व वास्तविक दोनों प्रकार के पात्रों का समावेश है और इस दृष्टि से इसकी तुलना कवि कर्णपूर के 'चैतन्यचन्द्रोदय' से की गयी है ।[1]

इस नाटक का जो खंडित अंश उपलब्ध हुआ है उसमे बुद्ध के व्यक्तित्व को अतिप्राकृत धरातल पर प्रतिष्ठित किया गया है । कीर्ति व बुद्धि के एक संवाद मे बुद्ध का एक—'आलोक-पुरुष' के रूप मे उल्लेख हुआ है । कीर्ति बुद्ध से पूछती है कि "बुद्ध इस समय कहां निवास कर रहे है ?" इसके उत्तर मे बुद्धि कहती है—"क्योकि बुद्ध मे असीम अलौकिक शक्ति है, प्रश्न यह होना चाहिए कि वे कहां नहीं रहते....... वे पक्षिवत् आकाश मे विचरण करते है.......जलवत् भूमि मे समा जाते है, अनेक रूप ग्रहण करते है, आकाश से जलधाराओ की वृष्टि कराते है और सांध्य दीप्ति से मेघवत् सुशोभित होते है ।[2] बुद्धि के ये शब्द भगवान् बुद्ध के लोकोत्तर व्यक्तित्व की सूचना देते है जिनके मूल मे नाटककार की उत्कट धार्मिक भावना निहित है ।

यह नाटक एक अन्य दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है । यह ऐसा सर्वप्रथम नाटक है जिसमे प्रतीक पात्रो की योजना की गई है । इस दृष्टि से यह प्रतीकात्मक नाटकों की उस परम्परा का अग्रणी कहा जा सकता है जिसमे अनेक शताब्दियो बाद 'प्रबोध-चन्द्रोदय' आदि नाटकों का निर्माण किया गया । इसी अध्याय में हम बतायेंगे कि भास ने भी अपने 'बालचरित' मे कुछ प्रतीक पात्रो की योजना की है । सभव है, इस विषय में अश्वघोष का उदाहरण उनके सामने रहा हो ।

तीसरा नाटक सम्भवत: एक प्रकरण है[3] जिसमे विदूषक कौमुदगंध, वेश्या मागधवती, नायक (सम्भवत. सोमदत्त नामक), दुष्ट तथा धनजय (जो 'भट्टिदालक' कहा गया है) आदि पात्रों की योजना की गई है । धार्मिक उपदेश के लिए रचित होने पर भी इसमे लेखक ने हास्य रस की सुष्ठु योजना की है ।[4] इसमें विदूषक परवर्ती नाटको के समान सुस्वादु भोजन के प्रेमी के रूप मे अंकित है । पूर्वोक्त दोनो नाटको की तरह यह भी इतने खंडित रूप मे मिला है कि इसकी प्रतिपाद्य वस्तु के बारे मे कोई निश्चित धारणा नही बनाई जा सकती । अतः यह कहना कठिन है कि

---

1. कीथ. वही, पृ० 84.
2. दे० विंटरनित्स . हिस्ट्री ऑव् इडियन लिट्रेचर, खड 3, भाग 1, पृ० 199.
3. दे० डा० वी० राघवनकृत 'दि सोशल प्ले इन संस्कृत', पृ० 6.
4. कीथ : पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० 84.

इसमें अतिप्राकृतिक तत्त्वों का प्रयोग हुआ था या नहीं और हुआ था तो कितना और कैसा ?

भास के नाटक

एक प्राचीन व प्रख्यात नाटककार के रूप मे संस्कृत साहित्य में भास की चर्चा बहुत पुरानी है[1] पर आधुनिककाल में उनकी कृतियों से हमारा सर्वप्रथम परिचय वर्तमान शती के प्रारम्भ में ही हो सका। सन् १९०९ मे श्री गणपति शास्त्री को केरल में भास के तेरह नाटकों की हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त हुईं जिन्हें उन्होंने "त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रंथमाला' में प्रकाशित कराया। इनके प्रकाशन के साथ ही इनके कर्तृत्व, प्रामाणिकता व रचनाकाल के विषय में एक तीव्र विवाद उठ खड़ा हुआ जिसमें अनेक देशी-विदेशी विद्वानो ने सोत्साह भाग लिया। कुछ ने इन्हें प्राचीन व प्रामाणिक मानते हुए कालिदास के पूर्ववर्ती भास की मूल कृतियों के रूप में स्वीकार किया। कुछ अन्य विद्वानो ने इस दृष्टिकोण का खंडन कर इनकी प्रामाणिकता पर एक बड़ा सा प्रश्नचिह्न अंकित कर दिया। इन दोनों मतों के मध्य एक तृतीय मत यह प्रस्तुत किया गया कि ये नाटक भास के मूल नाटक नही अपितु रंगमंच व अभिनय की दृष्टि से किये गये उनके संक्षिप्त संस्करण है।[2] कुछ विद्वानो ने प्रतिज्ञायौगन्धरायण व स्वप्नवासवदत्त के अतिरिक्त और नाटकों के भासकृत होने में संदेह व्यक्त किया।[3] भास-सम्बन्धी यह विवाद वर्षो तक चलता रहा, फिर भी मूल समस्या जहां की तहां रही है। हमारे प्रस्तुत अध्ययन का कर्तृत्व की समस्या से कोई साक्षात् सम्बन्ध न होने से हमे इस विवाद के विस्तार मे जाना अपेक्षित नहीं है, फिर भी यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि हमने सामान्यतः मान्य दृष्टिकोण के अनुसार इन नाटको को भास-प्रणीत ही स्वीकार किया है। भास-सम्बन्धी सम्पूर्ण विवाद की एक रोचक बात यह है कि इसके पक्ष या विपक्ष में जितने भी तर्क दिये गये उनमे से कोई भी ऐसा नही है जिसका उतने ही प्रबल विरोधी तर्क द्वारा उत्तर न दिया गया हो।[4]

---

1. कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना मे एक प्रख्यात नाटककार के रूप में भास का सौमिल्ल और कविपुत्रो से साथ उल्लेख किया है। बाणभट्ट ने हर्षचरित (प्रस्तावना, 15) में भास के नाटको की कुछ विशेषताओ का उल्लेख करते हुए उनकी देवकुलो से उपमा दी है। वाक्पतिराज ने 'गउडवहो' (सं0 800) में भास को 'जलणमित्त' उपाधि से विभूषित किया है। राजशेखर के एक श्लोक में भासनाटकचक्र की अग्निपरीक्षा व उसमें स्वप्नवासवदत्त की सफलता का उल्लेख हुआ है।
2. दे0 श्री देवधर द्वारा संपादित 'भासनाटकचक्र', पृ0 9–10.
3. दे0 सुक्थंकर मेमोरियल एडीशन भाग 2, एनेलेक्टा, पृ0 170
4. वही, पृ0 170.

ऐसी अनिश्चय की स्थिति मे इन नाटकों के साहित्यिक अध्येता के लिए इसके सिवा कोई चारा नही कि वह कर्तृत्व व प्रामाणिकता के प्रश्नों से तटस्थ होकर इनके साहित्यिक अध्ययन में प्रवृत्त हो। हमने यही दृष्टिकोण अपना कर इन नाटकों का अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से अध्ययन किया है।

इन नाटकों के रचनाकाल का प्रश्न भी अनिर्णीत है जो विभिन्न विद्वानो द्वारा ई. पू. पचम शती से लेकर ११वी शती ई० के बीच इधर-उधर खींचा जाता रहा है।[1] भास के स्थितिकाल का प्रश्न कालिदास के स्थितिकाल से जुड़ा है जो स्वय विवादग्रस्त है। अतः इस विषय मे भी हमने बहुमान्य मत का ही अनुसरण किया है जिसके अनुसार कालिदास चतुर्थ शती ई० के अतिम भाग में तथा भास उनसे कम से कम सौ या पचास वर्ष पूर्व लगभग तृतीय या चतुर्थ शती ई० मे हुए।[2] इस प्रकार भास अश्वघोष (प्रथम शती ई०) के परवर्ती है, जिनकी प्राकृत से भास के नाटको की प्राकृत परकालीन मानी गयी है।[3]

भास के तेरह नाटको को विषयवस्तु व कथा-स्रोतो के आधार पर निम्न वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—

(क) रामायणमूलक नाटक – (१) प्रतिमा (२) अभिषेक
(ख) महाभारतमूलक नाटक – (३) मध्यमव्यायोग (४) पंचरात्र (५) दूतवाक्य (६) दूतघटोत्कच (७) कर्णभार, और (८) ऊरुभग
(ग) कृष्णकथामूलक नाटक – (९) बालचरित
(घ) लोककथामूलक नाटक – (१०) प्रतिज्ञायौगन्धरायण (११) स्वप्न-वासवदत्त (१२) अविमारक, और (१३) चारुदत्त

इस वर्गीकरण से विदित होता है कि भास ने अपने नाटको के इतिवृत्त रामायण, महाभारत, पुराण व लोककथाओं से लिए है। उनके समय में अवतारवाद की धारणा पर्याप्त दृढ़ हो चुकी थी, यह इसी से सिद्ध है कि उन्होने कतिपय नाटको[4] के मंगल-श्लोको मे नृसिह, वामन व वराह आदि अवतारो या विष्णु का स्तवन किया

---

1 वही, पृ0 143–144, दे तथा दासगुप्त · हिस्ट्री ऑव् सस्कृत लिट्रेचर, पृ0 106.

2. कीथ · सस्कृत ड्रामा, पृ0 93; विटरनित्स हिस्ट्री ऑव् इंडियन लिट्रेचर, खण्ड 3, भाग 1, पृ0 205.

3. दे0 कीथ · संस्कृत ड्रामा, पृ0 94, विंटरनित्स . हिस्ट्री ऑव् इडियन लिट्रेचर, खण्ड 3, भाग 1, पृ0 205.

4. अविमारक, प्रतिमा, अभिषेक, मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, कर्णभार, ऊरुभंग तथा बालचरित

है तथा अभिषेक में राम को एवं बालचरित व दूतवाक्य में कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप मे अंकित किया है। इन नाटकों में प्रयुक्त अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व राम व कृष्ण के ईश्वरत्व की सिद्धि के अंग है। उनमें नाटककार की उत्कट धार्मिक भावना व्यक्त हुई है। लोककथाओं पर आधारित नाटकों में से अविमारक में अतिप्राकृत तत्त्वों का अधिक प्रयोग हुआ है; उसमे इन कथाओं से अनेक अतिप्राकृत अभिप्राय लिये गये हैं। प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्त व चारुदत्त में भास की दृष्टि मानव-चरित्र पर अधिक केन्द्रित रही है, अतः उनमें इन तत्त्वों का लगभग अभाव है।

(क) रामायणमूलक नाटक

भास ने राम कथा के आधार पर दो नाटको का प्रणयन किया—प्रतिमा और अभिषेक। महाभारतमूलक नाटकों से ये स्वरूप और आकार दोनो दृष्टियों से भिन्न है। महाभारत की कथा पर आधारित नाटक जहां रूपक के व्यायोग, उत्सृष्टि-कांक, समवकार आदि अवर भेदों के उदाहरण है, वहां अभिषेक और प्रतिमा दोनों रूपक के प्रधान भेद 'नाटक' के निदर्शन हैं। अभिषेक छह अकों का नाटक है और प्रतिमा सात अंकों का, किन्तु महाभारतमूलक नाटकों मे पंचरात्र को छोड़कर शेष सभी एकांकी है। पंचरात्र तीन अकों का है और समवकार माना गया है।[1]

प्रतिभा और अभिषेक मे मिला कर रामायण की लगभग पूरी कथा प्रस्तुत कर दी गयी है। इन नाटको के वस्तु-विधान में लेखक ने प्रायः रामायण का अनुगमन किया है। अभिषेक के विषय मे यह बात विशेष रूप से सत्य है। 'प्रतिभा' मे नाटककार ने मूलकथा के अनेक प्रसंगो को परिवर्तित किया है या सर्वथा नयी कल्पनाओं का समावेश किया है। चरित्र-चित्रण और भाव-व्यजना की दृष्टि से भी इसमे भास ने कुछ मौलिक प्रयोग किये हैं। प्रायः सभी विद्वानो की सम्मति मे अभिषेक की तुलना मे प्रतिमा श्रेष्ठतर कृति है।[2] प्रतिमा मे मुख्यतः राम कथा का पूर्वभाग प्रस्तुत किया गया है और अभिषेक में उत्तर भाग। अभिषेक का आरम्भ सुग्रीव के राज्याभिषेक से हुआ है और अंत राम के राज्याभिषेक के साथ। प्रतिमा का आरम्भ राम के असफल यौवराज्याभिषेक की घटना से और अंत चौदह वर्ष के वनवास के अनन्तर उनके राज्याभिषेक के प्रसग के साथ होता है। इस प्रकार दोनों नाटको के आरम्भ और मध्य भिन्न है, पर उपसंहार का बिन्दु समान है। कीथ के अनुसार अभिषेक रामायण के तीन कांडों (किष्किधा, सुन्दर और युद्ध) का नीरस-सा सक्षेप है और प्रतिमा भी तत्त्वतः उससे उत्कृष्टतर नही है।[3] उनके मत मे भास

1. ए० डी० पुसालकर : भास ए स्टडी, पृ०-213.
2. वूलनर व सरूप . त्रिवेन्द्रम प्लेज, भाग 2, पृ० 144.
3. दि संस्कृत ड्रामा, पृ० 105.

रामायण की कथा से इतने अभिभूत हैं कि इन नाटकों में उनकी उद्भावना शक्ति जवाव दे गयी है।[1] जो भी परिवर्तन किये गये है वे नगण्य और महत्त्वहीन है।[2] किन्तु कीथ का यह मत, कम से कम प्रतिमा नाटक के विषय मे, निष्पक्ष प्रतीत नही होता। श्री पुसालकर ने प्रतिमा की वस्तु-योजना में भास की मौलिक व महत्त्वपूर्ण देन का विवेचन किया है।[3] श्री अय्यर[4] और श्री उपाध्याय[5] के मत मे प्रतिमा भास के सर्वश्रेष्ठ नायकों मे से एक है। सरूप ने भी प्रतिमा को अनेक दृष्टियो से अभिषेक से उत्कृष्टतर माना है।[6] अतः कीथ का दोनों नाटकों को एक ही पासंग में रखने का प्रयत्न उचित प्रतीत नहीं होता।

प्रतिमा

इसमें राम के यौवराज्याभिषेक की तैयारी तथा कैकेयी द्वारा उसमे विघ्न डालने की घटना से लेकर रावणवध व राम के राज्याभिषेक तक की रामायण की कथा सात अंकों में प्रस्तुत की गयी है। कथा के प्रस्तुतीकरण में पर्याप्त नवीनता है। कुछ प्रसंग वदल दिये गये है और कुछ नूतन प्रसंगों की योजना की गयी है। प्रथम अंक में वल्कल-सम्वन्धी प्रसंग भास की नयी कल्पना है। तृतीय अंक में भरत द्वारा प्रतिमागृह में दशरथ की प्रतिमा का दर्शन और उसके माध्यम से अयोध्या में घटित वृत्तान्त का ज्ञान भास की नूतन उद्भावना है। नाटक का नामकरण इसी प्रसंग पर आधारित है। पंचम अंक में सीताहरण की घटना को भास ने नये रूप मे प्रस्तुत किया है। छठे अंक में दो नयी कल्पनाएं की गयी है। सुमन्त्र जनस्थान की यात्रा से लौटकर रावण द्वारा सीता के हरण का दुःखद समाचार सुनाता है। कैकेयी भरत द्वारा पुनः उपालम्भ दिये जाने पर यह रहस्योद्घाटन करती है कि राजा दशरथ को किसी मुनि का शाप था। उस शाप को सत्य करने के लिए ही उसने भरत को राज्य और राम को वनवास देने की याचना की थी। इसी अक मे भरत सीता की मुक्ति के लिए अपनी सेना को लंका भेजने का निश्चय करते है। सप्तम अंक मे जनस्थान मे माताओं, भाइयो व प्रजाजनों की उपस्थिति में राम का राज्याभिषेक सम्पन्न होता है। अनन्तर वे पुष्पक विमान में वैठकर अयोध्या लौटते है।

---

1. दि संस्कृत ड्रामा, पृ० 101.
2. वही, पृ० 105.
3. भास–ए स्टडी, पृ० 255–257.
4. ए० एस० पी० अय्यर : भास, पृ० 155.
5. श्री वलदेव उपाध्याय द्वारा सम्पादित 'भासनाटकचक्र', भाग 1, पृ० 98.
6. त्रिवेन्द्रम प्लेज, भाग 2, पृ० 144.

कथावस्तु के अतिरिक्त चरित्र-चित्रण मे भी भास ने नूतन प्रयोग किये है। यों तो नाटक के सभी प्रधान चरित्र हृदयग्राही है, पर भरत और कैकेयी के चरित्र-निरूपण में भास ने नया दृष्टिकोण अपनाया है। कैकेयी के पारम्परिक चरित्र का उन्नयन किया गया है। भरत, सीता और राम के चरित्र भी रामायण की अपेक्षा अधिक उदात्त और परिमार्जित है। भाव-व्यंजना की दृष्टि से भी यह नाटक पर्याप्त मौलिकता लिये हुए है। श्री पिशोराती ने इसके द्वितीय अंक को समस्त संस्कृत-साहित्य मे 'एकमात्र विशुद्ध दुःखान्त-चित्र' कहा है।[1] वेल्स ने इसे अभिषेक के विपरीत एक अतिशय सवेदनात्मक व सुगठित काव्य-नाटक माना है।[2]

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

यह नाटक मुख्यतः रामकथा के पूर्वभाग पर आधारित है, अतः अभिषेक की तुलना में इसमे अतिप्राकृत तत्त्व स्वल्प है। इसमें कथा का केन्द्रीय स्थान अयोध्या में दशरथ के राजपरिवार की दुःखद घटनाएं हैं। उसी केन्द्र के चारों ओर कथा का वृत्त खींचा गया है। नाटक की दृश्य कथावस्तु अयोध्या, उसके समीप मे स्थित प्रतिमागृह तथा जनस्थान इन तीन स्थानों तक सीमित है। राम और सुग्रीव की मैत्री, बाली का वध, राम व रावण का युद्ध, सीता का उद्धार आदि प्रसंग केवल सूचित किये गये है, अतः वे गौण है। रामायण में भी रामकथा का पूर्वभाग अतिप्राकृत तत्त्वों से प्राय. मुक्त है; वह मानव के लौकिक जीवन का ही एक अध्याय प्रतीत होता है। फिर भास ने उसे और भी अधिक लौकिक व मानवीय बनाने का प्रयास किया है, अत· प्रतिमा मे अतिप्राकृत तत्त्वो की योजना काफी सीमित है। कवि की दृष्टि मुख्यतः मानवचरित्र और उसके अन्त सौन्दर्य के उद्घाटन पर केन्द्रित रही है, तथापि कुछ महत्त्वपूर्ण अतिप्राकृत तत्त्व विशिष्ट नाटकीय उद्देश्यों से नियोजित किये गये है, जिनका विवरण आगे दिया जा रहा है।

पूर्वजों का दर्शन : द्वितीय अक के अत मे राजा दशरथ को मृत्यु के समय दिलीप, रघु व अज ये तीन मृत पूर्वज दिखायी देते है। राजा सोचता है कि ये पितृ-गण राम के वनवास से दग्ध हुए मेरे हृदय को आश्वस्त करने आये हैं। वह आचमन के लिए जल मंगाता है। आचमन करने पर उसे उक्त पूर्वज सुस्पष्ट दृष्टिगत होते है। वह जान जाता है कि मेरा इन पितरों के साथ रहने का समय आ गया है; ये मुझे लेने के लिए ही आये है। वह राम, सीता व लक्ष्मण तीनों का स्मरण कर

---

1. ए0 डी0 पुसालकर-कृत भास–ए स्टडी, पृ0 262 पर उद्धृत।
2. हेनरी डब्ल्यू वेल्स : दि क्लासिकल ड्रामा ऑव् इंडिया, पृ0 26.

कहता है कि मैं पितरों के पास जा रहा हूं। अनन्तर वह 'हे पितृगण! मैं आ रहा हूं' यह कहता हुआ मूर्च्छित हो जाता है।[1]

भास ने अभिषेक[2] और 'ऊरुभग'[3] मे भी क्रमशः वाली और दुर्योधन की मृत्यु के समय इस प्रकार की कल्पना प्रस्तुत की है। भास के समय में सामान्य जनों में यह विश्वास प्रचलित था कि मृत्यु के समय व्यक्ति को 'कुछ' दिखायी देता है। अविमारक मे भास ने इस विश्वास का उल्लेख किया है।[4] यह 'कुछ' सभवत: म्रियमाण व्यक्ति की पारलौकिक गति का सूचक माना जाता था। ऊरुभंग व अभिषेक मे वाली को मरते समय दिव्य विमान, अप्सराए व गंगा आदि नदियां दिखायी देती है, पर प्रतिमा मे दशरथ को केवल तीन पूर्वज ही दृष्टिगत हुए है। दशरथ का यह 'दर्शन' मृत्युकालीन दृष्टिदोष या मानसिक भ्रम भी हो सकता है, पर नाटककार ने इसका दशरथ के एक यथार्थ अनुभव के रूप मे ही चित्रण किया है। अत इस प्रसग को हम अतिप्राकृत ही कहेंगे। सम्भवत. नाटककार ने इसे साकेतिक या प्रतीकात्मक रूप मे निवद्ध किया है। इसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि दशरथ की मृत्यु सन्निकट है तथा वह अपने मृत पूर्वजो मे सम्मिलित होने के लिए जा रहा है। साथ ही कुशल नाटककार ने इस कल्पना द्वारा तृतीय अक के प्रतिमागृह के प्रसग का भी पूर्व सकेत दे दिया है। दशरथ को मृत्यु के समय जो पूर्वज दिखाई देते है प्रतिमागृह मे उन्ही की प्रतिमाओ मे दशरथ की प्रतिमा सम्मिलित की गई है।

कांचनपार्श्व मृग : राक्षसी माया : पचम अक मे रावण एक परिव्राजक का रूप धारण कर जनस्थान मे राम के आश्रम में आता है। राम उस समय अपने पिता के श्राद्ध के विषय मे चिन्तित है जो अगले दिन किया जाना है। परिव्राजक वना हुआ रावण स्वय को अन्यान्य शास्त्रो के साथ श्राद्धकल्प का भी विशेषज्ञ वताता है। राम उससे पूछते है कि पितर लोग किस वलि से सबसे अधिक प्रसन्न होते है। रावण अन्य वस्तुओ के अतिरिक्त हिमालय मे रहने वाले किन्तु मनुष्यों के लिए अदृश्य कांचनपार्श्व नामक मृग की वलि को सर्वश्रेष्ठ वताता है। उसी समय रावण की माया से राम को दिशाओ मे विजली की-सी चमक दिखाई देती है। रावण कहता है कि यही वह काचनपार्श्व मृग हे; हिमायल ने स्वय इसे आपके पास भेज कर

---

1. भास नाटक चक्र, पृ0 271 (ओरियटल वुक एजेसी पूना, 1962)
2. प्रथम अक, वही, पृ0 328-29.
3. वही, पृ0 508.
4. आ अन्तकाले मनुष्या: किमपि पश्यन्ति। वही, पृ0 153.

आपको सम्मान दिया है।[1] राम सोचते हैं कि मेरे पिता के भाग्य से ही स्वर्ण मृग स्वतः यहां आया है। वे सीता को परिव्राजक की सेवा-शुश्रूषा का आदेश देकर मृग को मारने के लिए चले जाते है। लक्ष्मण भी उस समय किसी कार्य से आश्रम के बाहर गये हुए हैं। रावण माया द्वारा अपना राक्षस रूप प्रकट कर भयभीत सीता को बलात् उठाकर आकाश मे उड़ जाता है।[2]

मायामृग की कल्पना रामायण में भी आयी है पर नाटककार ने यहां उसे नवीन रूप में संयोजित किया है। रामायण के अनुसार मारीच नामक राक्षस सुनहले व रुपहले पार्श्ववाले मृग का रूप धारण कर सीता की दृष्टि आकृष्ट करता है।[3] सीता उसके अद्भुत रूप पर मुग्ध होकर उसे जीवित या मृत किसी भी रूप मे पाने की इच्छा प्रकट करती है। लक्ष्मण चेतावनी देते है कि यह मृग राक्षसी माया है,[4] पर राम सीता की तीव्र इच्छा देखते हुए मृग को पकड़ने के लिए चल देते है। किन्तु नाटक में राम का उद्देश्य दूसरा ही है। वे अपने पिता के श्राद्ध में बलि अर्पित करने के लिए मृग को प्राप्त करना चाहते है। इस नवीन उद्देश्य की कल्पना द्वारा नाटककार ने सीता व राम दोनों के चरित्र को परिमार्जित किया है। न यहां सीता मृग के लिए लालायित है और न राम ही दयिता की इच्छापूर्ति के लिए मृग का पीछा कर रहे है।

अपरिहरणीय शाप : षष्ठ अंक में कैकेयी का निर्देश पाकर सुमंत्र किसी मुनि द्वारा दशरथ को दिये गये शाप का वृत्तान्त सुनाता है। इस वृत्तान्त के अनुसार दशरथ ने किसी मुनिकुमार को जब वह सरोवर में पानी भर रहा था, भ्रम से वनगज समझ कर शब्दवेधी बाण से मार दिया था। तब उसके पिता नेत्रहीन मुनि ने दशरथ को शाप दिया था कि तुम भी मेरी ही तरह पुत्रशोक से मरोगे।[5] कैकेयी भरत को समझाती है कि मैंने शाप के निमित्त ही वत्स राम को वन में भेजने का अपराध किया, राज्य-लोभ से नही। मुनि का अपरिहरणीय शाप पुत्र के विप्रवास के बिना

---

1. रामः (दिशो विलोक्य) अये विद्युतसम्पात इव दृश्यते।
   रावणः (प्रकाशम्) कौसल्यामात । इहस्थमेव भवन्तं
   पूजयति हिमवान्। एष कांचनपार्श्वः।
   भा० ना० च० पृ० 298.
2. सीता मायामुपाश्रित्य रावणेन ततो हृता। प्रतिमा, 6.11.
3. सा तं सम्प्रेक्ष्य सुश्रोणी कुसुमानि विचिन्वती।
   हेमराजतवर्णाभ्यां पार्श्वभ्यामुपशोभितम्॥ अरण्यकाड, 42.1.
4. मृगो ह्येवंविधो रत्नविचित्रो नास्ति राघव।
   जगत्यां जगतीनाथ मायैषा न संशयः॥ वही, 42.8.
5. यथाहं भोस्त्वमप्येवं पुत्रशोकाद् विपत्स्यसे॥ वही, 6.15.

चरितार्थ नही हो सकता था ।[1] कैकेयी भरत को यह भी बताती है कि मैं राम को चौदह दिन के लिए ही वन भेजना चाहती थी पर घबराहट में मेरे मुंह से 'दिवस' की जगह 'वर्ष' शब्द निकल गया ।[2]

अंध मुनि द्वारा दशरथ को शाप देने की बात रामायण से ली गयी है ।[3] पर नाटककार ने उसे कैकेयी की वरयाचना से सम्बद्ध कर मूल कथा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया है । इस परिवर्तन का उद्देश्य स्पष्टत: कैकेयी को निर्दोष सिद्ध कर उसके चरित्र का उन्नयन करना है । नाटककार का यह प्रयत्न सराहनीय है, पर वह स्वाभाविक और विश्वासजनक नहीं हो सका है । इस विषय में हमारी कुछ जिज्ञासाएं अनुत्तरित रह जाती है । यदि मुनि का शाप अपरिहरणीय था तो वह स्वत: ही क्रियान्वित क्यों नहीं हुआ ? कैकेयी को उसे सत्य बनाने की आवश्यकता क्यों हुई ? क्या इस प्रकार वह अपने पति की मृत्यु का कारण नही बनी ? यदि उसके मुह से घबराहट मे 'चौदह दिवस' के स्थान पर 'चौदह वर्ष' निकल गया तो क्या वह अपने कथन में संशोधन नही कर सकती थी ? सच तो यह है कि नाटककार अपनी इस नूतन कल्पना को सुसगत रूप देने मे असफल रहा है । सारा ही प्रसंग एक लीपापोती जैसा लगता है । यह तो ठीक है कि शाप अपरिहार्य होता है, पर उसकी क्रियान्विति शापदाता की अपनी शक्ति पर निर्भर होती है, किसी अन्य के प्रयास पर नही । रामायण मे रामवनगमन की पृष्ठभूमि पूरी तरह लौकिक और मानवीय है, पर नाटककार ने उसे शाप से सम्बद्ध कर एक अतिमानवीय आधार दे दिया है । इससे कैकेयी का चरित्र आदर्श तो बन गया पर वह रामायण के समान स्वाभाविक नही रहा ।

उक्त तत्त्वों के अतिरिक्त इस नाटक मे रावण का सीता को लेकर आकाश में उत्पतन,[4] वहां जटायु के साथ उसका युद्ध[5] तथा पुष्पक विमान द्वारा यात्रा[6]

---

1. जात । एतन्निमित्तमपराधे मा निक्षिप्य पुत्रको रामो वन प्रेषित, न खलु राज्यलाभेन । अपरिहरणीयो महर्षिशाप पुत्रविप्रवास विना न भवति । भा० ना० च० पृ० 309.
2. जात । चतुर्दश दिवसा इति वक्त्तुकामया पर्याकुलहृदयया चतुर्दश वर्षाणीत्युक्तम् ।
भा० ना० च० पृ० 309
3. अयोध्याकाड, सर्ग 64.
4. योऽहमुत्पतितो वेगान्न दग्ध सूर्यरश्मिभि । प्रतिमा 5.20.
5. हन्तेतदन्तरिक्षे प्रवृत्त युद्धम् । भा० ना० च० पृ० 302.
6. आ ज्ञातम् । सम्प्राप्तं पुष्पकं दिवि रावणस्य विमानम् ।
कृतसमयमिदं स्मृतमात्रमुपगच्छतीति । तत् सर्वेरारुह्यताम् ।
वही, पृ० 317.

आदि अतिप्राकृत प्रसंग भी आये है। ये प्रसंग रामायण पर आधारित हैं एवं नाटक के वस्तु-विकास में इनका कोई विशेष योगदान नहीं है।

अतिप्राकृत पात्र

प्रतिमा में भास का लक्ष्य मानव राम के चरित्र को अंकित करना है, न कि ईश्वरीय अवतार राम का। इस दृष्टि से प्रतिमा और अभिषेक में रात-दिन का अन्तर है। अभिषेक में राम को बार-बार विष्णु का अवतार बताया गया है तथा उनके ईश्वरीय रूप की स्तुति की गई है। दोनों नाटकों में राम के व्यक्तित्व के इस अन्तर को देखते हुए कुछ विद्वानों ने इन दोनों की एककर्तृकता में सन्देह व्यक्त किया है। हमारे मत में नाटककार के दृष्टिभेद, उद्देश्यभेद तथा नाटकीय वस्तु की भिन्नता के कारण दोनों नाटकों में राम का स्वरूप भिन्न रूपों में अंकित हुआ है। प्रतिमा में भी रावण के एक कथन में राम की ईश्वरता का संकेत दिया गया है।[1] इससे स्पष्ट है कि नाटककार राम के ईश्वरीय रूप से परिचित होते हुए भी प्रस्तुत नाटक में उनके मानव रूप को ही प्रमुखता देना चाहता है।

रावण : रामायण से कुछ भिन्न होने पर भी प्रतिमा के रावण का व्यक्तित्व पौराणिक कल्पनाओं में ढला हुआ है। वह एक वंचक, मायावी, दंभी और अत्याचारी व्यक्ति है। राक्षस होने के कारण वह रूप-परिवर्तन व माया-प्रदर्शन में कुशल है। उसमें आकाश में उड़ने की शक्ति है। वह दंभपूर्वक कहता है कि मैं वही रावण हूं जिसने युद्ध में देवों और दानवों को पराजित किया, इन्द्र को नष्ट किया, कुबेर को कँपा दिया, चन्द्रमा को खींच लिया तथा यमराज को कुचल दिया।[2]

दशरथ : नाटक में दशरथ का चरित्र मुख्यतः मानवरूप में अंकित है पर उसके बारे में कुछ अतिप्राकृत बातों का भी उल्लेख किया गया है। ये उल्लेख पौराणिक कल्पनाओं पर आधारित हैं। प्रथम अंक में प्रतिहारी ने दशरथ को 'देवासुरसंग्राम में अप्रतिहतरथ' बताया है।[3] राम के कथनानुसार 'दशरथ' दानवों के साथ युद्ध में देवों की सहायतार्थ अपनी सेना-सहित स्वर्ग जाया करते थे।[4]

अतिप्राकृत लोकविश्वास

प्रतिमा में कतिपय अतिप्राकृत लोकविश्वासों का भी चित्रण मिलता है।

---

1. अहो बलमहो वीर्यमहो सत्त्वमहो जयः।
   राम इत्यक्षरैरल्पैः स्थाने व्याप्तमिदं जगत्॥
   वही, 5.14.
2. वही, 6.17.
3. आर्य, महाराजो देवासुरसंग्रामेष्वप्रतिहतरथो दशरथ आज्ञापयति। भा०ना० च०, पृ० 250.
4. प्रतिमा, 4.17.

इनमें दैव-संबंधी विश्वास विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राम के यौवराज्याभिषेक मे कैकेयी द्वारा उत्पन्न विघ्न में 'दैव' की अदृश्य भूमिका मानी गयी है। राजप्रासाद से स्त्रियों व पुरुषों का तुमुल आर्तनाद सुनकर राम कहते हैं—"अवश्य ही दैव ने स्वयं को प्रभावशाली मानते हुए मूल पर आघात किया है।"[1] काचुकीय के कथनानुसार दशरथ जैसे महापुरुषों को आपत्तिग्रस्त देखकर यह विश्वास होता है कि विधि का विधान सर्वथा अनतिक्रमणीय है।[2] विधाता छोटे-बडे का अन्तर नही करता; वह श्रेष्ठ पुरुषों पर भी अपना वल दिखाता है।[3]

रस और अतिप्राकृत तत्त्व

म० म० गणपति शास्त्री के मत मे प्रतिमा का प्रधान रस धर्मवीर रस है किन्तु डा० पुसालकर, प्रो० ध्रुव व श्री वलदेव उपाध्याय ने करुण रस को इस का अंगी रस माना है। द्वितीय अंक में जहां मृत्यु के समय दशरथ को अपने मृत पूर्वज दिखायी देते हैं, वहां विस्मयपरिपुष्ट करुणारस की अभिव्यक्ति होती है। पंचम अंक में विद्युत्-संपात-सदृश कांचनपार्श्व मृग के दर्शन के स्थल मे अद्भुत रस व्यक्त होता है। रावण द्वारा जहां अपना राक्षस रूप प्रकट किया गया है वहां भयानक रस है। भरत ने राक्षस आदि सत्त्वो के दर्शन को भयानक रस का विभाव माना है, यह हम पहले वता चुके है। जटायु और रावण का युद्ध अद्भुत-परिपुष्ट वीर रस का स्थल है। षष्ठ अंक मे मुनि द्वारा दशरथ को दिये गये शाप तथा कैकेयी के रहस्योद्घाटन का प्रसंग विस्मय भाव को परिपुष्ट करता है। इस प्रकार अतिप्राकृतिक तत्त्वों के प्रयोग-स्थलो मे या तो अद्भुत रस की निष्पत्ति होती है। या विस्मय से पुष्ट अन्य रसों की।

अभिषेक

इस नाटक का नामकरण अतीव सार्थक है। इसमे दो अभिषेकों की कथा समाविष्ट है—प्रथम अंक मे सुग्रीव का और षष्ठ अंक मे राम का। रामायण के किष्किधा, सुन्दर व युद्ध काडो की कथा इस नाटक की विषयवस्तु है। लेखक ने एक-दो साधारण परिवर्तनों के सिवा रामायण की मूल कथा का ही अनुगमन किया है। वस्तुतः उक्त काडो की प्रमुख घटनाओ को संक्षिप्त कर नाटक का रूप दे दिया गया है। डा० पुसालकर का विचार है कि नाटककार ने वहुत जल्दी मे इसकी रचना की

---

1. प्रतिमा, 1.11.
2. भो. । कष्टम् । ईदृग्विधा पुरुषविशेषा ईदृशीमापदं
   प्राप्नुवन्तीति विधिरनतिक्रमणीयः . . . . . भा० ना० च० 2, पृ० 268.
3. प्रतिमा, 4.22.

होगी जिससे उसे नवीन प्रसंगों की उद्भावना के लिये समय नहीं मिला।[1] इसमे न वस्तु-योजना में विशेष अभिनवत्व है और न चरित्र-चित्रण और भाव-व्यंजना मे। नाटककार ने कुछ परिवर्तन किये है, पर वस्तु को प्रभावशाली बनाने मे उनका योगदान नगण्य है। डा० दे के मत में नाटक में चित्रित घटनाओं में उद्देश्यपरक अन्विति का अभाव है। इसकी कथावस्तु को यदि रामायण के सम्बन्धित कांडों का शुष्क संक्षेप न मानें तो भी 'वह स्थितियों की माला' मात्र है, स्वाभाविक रूप से विकसित घटनाओं की शृंखला नहीं।[2]

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

प्रथम अंक में वाली को मृत्यु के समय गंगा आदि नदियां, उर्वशी आदि अप्सराएं तथा सौ हंसो से चालित दिव्य विमान दिखायी देता है। वह वीरवाही विमान उसे लेने के लिए स्वर्ग से आया है। वह 'मैं आ रहा हूं' कहता हुआ स्वर्ग चला जाता है।[3]

यहां नाटककार ने यह सूचित किया है कि वाली को मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग की प्राप्ति हुई। अप्सरा, विमान आदि का दर्शन एक अतिप्राकृत घटना है। निश्चय ही नाटककार की यह कल्पना समकालीन लोकविश्वासों पर आधारित है। उस समय साधारण लोगों में यह विश्वास रहा होगा कि मृत्यु के समय वीर या पुण्यात्मा व्यक्ति को स्वर्ग ले जाने के लिए अप्सरा व विमान आदि आते है जो केवल मरने वाले व्यक्ति को ही प्रत्यक्ष दिखायी देते है। हम बता चुके है कि प्रतिमा और ऊरुभंग में भी क्रमशः दशरथ और दुर्योधन को मृत्यु के समय इस प्रकार का दृश्य दिखायी देता है।[4] पर दोनों मे एक अन्तर है; दशरथ और दुर्योधन को अपने मृत पूर्वज या स्नेही जन भी दृष्टिगत होते हैं, किन्तु वाली को नहीं। वाली के इस अनुभव को हम मरणासन्न व्यक्ति का दृष्टिभ्रम भी कह सकते है, पर उसके पीछे उस व्यक्ति की वैसी आस्था या विश्वास का आधार मानना आवश्यक है।

चतुर्थ अंक मे रावण द्वारा निष्कासित विभीषण समुद्र-तट पर स्थित राम के

---

1. भास-ए स्टडी, पृ० 222.
2. दे व दासगुप्त : ए हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ० 114.
3. वाली—(आचम्य) परित्यजन्तीव मा प्राणाः।
   इमा गंगाप्रभृतयो महानद्य एता उर्वश्यादयोऽप्सरसो मामभिगताः।
   एष सहस्रहंसप्रयुक्तो वीरवाही विमानः कालेन प्रेषितो मा नेतुमागतः।
   भवतु, अयमागच्छामि। (स्वर्यातः)
4. भासनाटकचक्र, पृ० 271, 508.

शिविर में आकाश मे उतरता है।[1] उसकी सलाह से राम समुद्र पर दिव्य बाणों से प्रहार करने को उद्यत होते है कि वरुण देवता प्रकट होकर उन्हें मार्ग देना स्वीकार करता है। वरुण अन्तर्हित हो जाता है और समुद्र अपने जल को दो भागों में विभक्त कर राम व उनकी सेना को मार्ग दे देता है।[2] राम सेना सहित समुद्र पार कर सुवेल पर्वत पर पड़ाव डालते है।

पंचम अंक में रावण की नगरी लंका एक नारी के रूप में वर्णित है। वह रावण को छोडकर राम के पास जा रही है, रावण उसे रोकने का प्रयास करता है, पर वह नहीं रुकती।[3] यह उल्लेख्य है कि लंका सामाजिकों के समक्ष साक्षात् उपस्थित नहीं होती, अपितु वह दूर जा रही है और रावण उसे पुकारता हुआ अकेला ही रगमंच पर उपस्थित है।

षष्ठ अंक के विष्कंभक में आकाशस्थित तीन विद्याधरों द्वारा राम व रावण के युद्ध का वर्णन किया गया है। यहां नाटककार ने युद्ध-प्रसंग को साक्षात् प्रस्तुत न करने की दृष्टि से विद्याधरों के माध्यम की कल्पना की है। राम कुछ समय तक पैदल ही युद्ध करते हैं, पर बाद में वे इन्द्र द्वारा प्रेषित दिव्य रथ पर आरूढ़ होकर लडते है। इन्द्र का रथ मातलि द्वारा संचालित है।[4] राम ब्रह्मास्त्र द्वारा रावण का वध करते हैं; ब्रह्मास्त्र अपना कार्य कर उन्ही के पास लौट आता है।[5]

सीता अपने चरित्र की शुचिता सिद्ध करने के लिए राम की अनुमति से अग्नि मे प्रवेश कर निर्विकार रूप में बाहर निकल आती है।[6] स्वयं अग्नि देवता उसे लेकर प्रकट होते है ओर उसके चरित्र की विशुद्धता प्रमाणित कर राम से उसे ग्रहण करने का अनुरोध करते है। वे कहते है कि सीता साक्षात् लक्ष्मी है जिसने मानुष शरीर ग्रहण कर आपको प्राप्त किया है।[7] राम अपने उत्तर में कहते हैं कि मैं वैदेही की शुचिता पहले से ही जानता हू, फिर भी लोक-प्रत्यय के उद्देश्य से मैने ऐसे किया।[8]

इसी समय नेपथ्य से दिव्य गन्धर्वगण राम का विष्णु के रूप में स्तवन करते है[9] तथा अग्निदेव राम को अभिषेक के लिए अपने साथ ले जाते है। नेपथ्य मे

1. अभि0 वही, पृ0 349.
2. विभीषण—देव। साम्प्रत द्विधाभूत इव दृश्यते जलनिधिः। वही, पृ0 351.
3. अभि0 5.4; वही, पृ0 356.
4. भा0 ना0 च0, पृ0 363.
5. वही, पृ0 364.
6. अभि0 6.25.
7. वही, 6.28.
8. वही, 6.29.
9. वही, 6.30.

देवताओ की उपस्थिति मे दशरथ के हाथो राम का राज्याभिषेक सम्पन्न होता है ।[1] इन्द्र के आदेश से भरत शत्रुघ्न तथा राम की प्रजा आदि भी वहां आ जाते है ।[2] सभी लोग राम को वधाइयां देते है ।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि नाटककार ने अधिकतर अतिप्राकृत तत्त्व रामायण से लिए हैं । हनूमान् का समुद्र-लंघन, लंका में उनके अतिमानुपिक कार्य, विभीपण का आकाश मार्ग से राम की शरण मे गमन, शुक व सारण द्वारा वानर-रूप का ग्रहण, इन्द्र द्वारा प्रेपित रथ पर आरूढ़ होकर राम का रावण के साथ युद्ध, सीता की अग्नि-परीक्षा, अग्नि देवता द्वारा सीता के सच्चरित्र का प्रमाणीकरण, मृत दशरथ की राम से भेंट इत्यादि प्रसग रामायण पर आधारित है तथा वे नाटक मे अविकल रूप से या किंचित् परिवर्तन के साथ ग्रहण किये गये है ।

नाटककार ने रामायण में वर्णित एक अतिप्राकृत प्रसंग को लेकर कुछ परिवर्तित किया है । नाटक के अनुसार वरुण देवता ने समुद्र के जल को दो भागों में वांट कर राम को मार्ग दिया । पर रामायण के अनुसार नल नामक वानर ने समुद्र के जल पर पत्थर तैराकर सेतु वनाया । इसी सेतु पर होकर राम ससैन्य समुद्र के पार गये । नाटककार ने यहां मूल कथा मे जो परिवर्तन किया है वह वालचरित के उस प्रसग से साम्य रखता है जिसमे यमुना नदी ने दो भागो मे वंट कर वसुदेव को मार्ग दिया है ।[3] सम्भवत: भास को सेतु की तुलना मे मार्ग की कल्पना अधिक प्रिय लगी होगी । वैसे इस परिवर्तन का नाटक के वस्तुविकास की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है ।

अभिपेक मे भास ने कुछ नवीन अतिप्राकृत प्रसगो की भी योजना की है जिनका समग्र नाटक की दृष्टि से तो विशेप महत्त्व नही है, पर जहां भी वे आये है वहां उनका कोई प्रयोजन अवश्य है । उदाहरणार्थ वाली को मृत्यु के समय अप्सरा, गगानदी व दिव्य विमान आदि अतिप्राकृतिक वस्तुएं दिखायी देती है । इस कल्पना द्वारा लेखक ने हमे वाली के स्वर्गगमन की सूचना दी है, जिससे उसके चरित्र का उत्कर्प सिद्ध होता है । अगम्यागमन का अपराधी होने पर भी राम के हाथों मृत्यु पाने से वह पापमुक्त होकर स्वर्ग का अधिकारी वना । यहां वाली के प्रति नाटककार की प्रच्छन्न सहानुभूति भी व्यक्त हुई है ।[4]

नाटककार की दूसरी नूतन उद्‌भावना पचम अक मे आयी है जहां लंका एक स्त्री का रूप धारण कर तथा रावण को छोड़ कर राम के पास चली जा रही है ।

---

1. अभि० 6.34.
2. भा० ना० च० पृ० 369.
3. वही, पृ० 516.
4. वही, पृ० 326.

स्पष्टतः यह प्रसंग प्रतीकात्मक है तथा बालचरित में आई राजश्री-सम्बन्धी घटना से तुलनीय है।[1] यहां लंका रावण की समृद्धि, सुख और सौभाग्य की प्रतीक है तथा उसका राम के पास गमन रावण पर राम की भावी विजय का सांकेतिक सूचन है। लंका को जाते हुए देखकर रावण कहता है—"मुझे इससे क्या ? अब तो मैं सीता को अपनी ओर आकृष्ट करता हूं।"[2] उसका यह कथन उसके घोर नैतिक पतन, अविवेक व अहंकार का परिचायक है जिसके कारण वह अपना और अपने कुल का सर्वनाश कराता है।

नाटककार की एक नयी कल्पना तीन विद्याधरों के द्वारा राम और रावण के युद्ध का वर्णन कराना है। लेखक युद्ध-दृश्य को सामाजिकों के सामने साक्षात् प्रस्तुत नहीं करना चाहता, इसीलिये उसने विकल्प के रूप मे इस प्रकार की कल्पना का आश्रय लिया है। सम्भवतः राम-रावण के इस महायुद्ध की रंगमंच पर प्रस्तुति व्यावहारिक दृष्टि से शक्य नही थी। दूसरे, यह दृश्य सामाजिकों के लिए भी उद्वेग-जनक होता। वैसे भास नाट्यशास्त्र के उस नियम[3] के प्रति विशेष आस्थाशील नहीं है जिसके अनुसार युद्धदृश्य रंगमंच पर वर्जित ठहराया गया है। बालचरित में भास ने युद्ध और मृत्यु दोनों को नाटक की दृश्य कथावस्तु मे निःसंकोच स्थान दिया है। अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से तो भास इस वर्जना के समर्थक नहीं है। संभवतः रंगमंच की व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण ही उन्होंने इस प्रसंग को सूच्य रूप दिया है।

नाटककार की एक नूतन कल्पना रावण-वध के अनन्तर लंका मे ही देवताओ द्वारा राम का राज्याभिषेक कराना है। इस घटना द्वारा राम के व्यक्तित्व को दिव्य रूप देने का प्रयास किया गया है। राम विष्णु के अवतार है; रावण को मार कर उन्होंने न केवल सीता को तथा समस्त लोक को आश्वस्त किया अपितु देवों का कार्य भी सिद्ध किया है।[4] अतः इस कार्य के लिए राम के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के उद्देश्य से देवताओ का उनके पास आगमन तथा उनका अभिषेक शीघ्राति-शीघ्र सम्पन्न करना नाटककार के धार्मिक दृष्टिकोण का परिचायक है। यह घटना बालचरित में कंसवध के अनन्तर कृष्ण के अभिनन्दन के लिए उनके पास गन्धर्वो व अप्सराओं के साथ नारद के आगमन के प्रसंग से साम्य रखती है।[5] यहां नाटक-कार की धार्मिक व पौराणिक भावना ने नाटक के अंत को अस्वाभाविक बना दिया

---

1. वही, पृ० 527–528.
2. किमनया। यावदहमपि सीता विलोभयिष्ये . . . . । वही, पृ० 356.
3. नाट्य-शास्त्र 18.38; दशरूपक 3.34.
4. द्वितीय.–भवतु। सिद्धं देवकार्यम्। भा० ना० च० पृ० 364.
5. बा० च० अंक 5, भा० ना० च० पृ० 556–557.

है। देवताओ द्वारा राम का लंका मे अभिपेक तथा इन्द्र के आदेश से भरत, शत्रुघ्न तथा प्रजा की वहां उपस्थिति की वात आकस्मिक और असंगत प्रतीत होती है। ऐसा लगता है कि नाटककार वहुत जल्दी में है और नाटक को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करना चाहता है।

अतिप्राकृत पात्र

कथावस्तु के समान नाटक के पात्र भी रामायण से गृहीत है। उनके व्यक्तित्व और चरित्र की मूल विशेपताएं अधिकतर रामायण के अनुसार है। जो भी अन्तर है वह काव्यरूप की भिन्नता का परिणाम है। रामायण एक महाकाव्य है, अतः उसका फलक अतिविस्तृत है। किन्तु नाटक की अपनी कलागत सीमाए होती है जिनके कारण उसमें वस्तु और पात्रों के निरूपण की सूक्ष्म और सांकेतिक पद्धति अपनायी जाती है। महाकाव्य में जहां चरित्रों की पूरी झांकी दिखायी जा सकती है, वहा नाटक मे उनकी रूपरेखा मात्र दी जा सकती है, या कुछ ही विशेषताओ को अंकित किया जा सकता है। अभिपेक के पात्रों के वारे मे सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि उन्हे रामायण के परम्परागत सांचे में ही ढाला गया है। केवल वाली और रावण के चरित्रों मे कुछ नवीनता है, जिससे ये पात्र रामायण की अपेक्षा अधिक मानवीय रूप में हमारे सामने आते हैं तथा हमारी सहानुभूति अर्जित करते है।

राम : ये नाटक के नायक है तथा धीरोदात्त प्रकृति के हैं। भास ने इनके व्यक्तित्व को मानवीय और दैवी दोनों तत्त्वों से समवेत किया है। तथापि यह कहना उचित होगा कि कुल मिलाकर उनके व्यक्तित्व में दैवी तत्त्वों की प्रधानता है। उनकी मनुष्यता को ईश्वरता ने आवृत-सा कर लिया है। वूलनर और सरूप के अनुसार वे 'निरनुक्रोश योद्धा' अथवा 'निष्करुण दैवी शक्ति' मात्र है।[1] वे पृथ्वी पर धर्म की रक्षा के लिए वाली का वध करते है तथा सीता की पवित्रता को मनसा जानते हुए भी लोकप्रत्ययार्थ उसकी अग्नि-परीक्षा लेते है।[2]

राम की परमेश्वरता का लेखक ने अनेक पात्रो के पात्रों के मुंह से वार-वार स्मरण कराया है।[3] नाटक के मंगल श्लोक में कवि ने अपने इष्ट देवता के रूप में इन्ही की स्तुति की है।[4] वरुण के अनुसार वे सव के कारण होते हुए भी कार्यार्थी

---

1. त्रिवेन्द्रम प्लेज, भाग 2, पृ0 144.
2. अभि0 6.29.
3. वही, 4.13,14; 6.30,31.
4. वही, 1.1.

के रूप में उपस्थित हुए है।[1] वे नररूप में नारायण है।[2] अग्नि के कथनानुसार राम विष्णु के और सीता लक्ष्मी की अवतार है।[3] दिव्य गन्धर्वो ने अपनी स्तुति में राम को सर्वदेवतामय तथा वामन, वराह आदि पूर्व अवतारों से अभिन्न बताया है। उन्होंने रावण का वध सीता की मुक्ति के लिए ही नहीं किया, अपितु विश्व को रावण जैसे दुराचारी से छुटकारा दिलाकर उन्होने देवताओं का कार्य भी सिद्ध किया है।[4] इसीलिये रावण का वध होने पर देवगण आकाश से पुष्पवृष्टि कर दुन्दुभियां बजाते हैं।[5] राम की वीरता उनके व्यक्तित्व के अलौकिकत्व का महत्त्वपूर्ण अंग है। रावण जैसे दुर्दान्त राक्षस का वध उनके दैवी पराक्रम का प्रमाण है। अग्नि आदि देवताओं व देवर्षियों द्वारा राम का अभिषेक पुनः उनके अलौकिक व्यक्तित्व की ओर इगित करता है। संक्षेप में, इस नाटक में राम का चरित अतिमानवीय धरातल पर अकित है।

हनूमान् · रावण को दिये गये परिचय के अनुसार हनूमान् मारुत व अंजना के औरस पुत्र है।[6] उनकी शक्ति अलौकिक है; समुद्रलंघन, अशोक वाटिका का विध्वंस तथा रावण के सेनापतियो, भटो व पुत्र अक्ष का वध आदि कार्य उनकी लोकोत्तर शक्ति व शौर्य के परिचायक है।[7]

रावण : लंका का अधिपति व राक्षसो का स्वामी रावण स्वभाव से दंभी, आत्मविकत्थन एवं कामी है। उसकी शक्ति व शौर्य अलौकिक है। वह अनेक बार देवताओं और दानवो को युद्ध में पराजित कर चुका है।[8] विभीषण के शब्दों मे क्रुद्ध रावण के समक्ष युद्ध में देवों सहित वज्रपाणि इन्द्र भी ठहरने में असमर्थ है।[9]

---

1. मानुष रूपमास्थाय चक्रशाङ्गगदाधरः ।
   स्वयं कारणभूत. सन् कार्यार्थी समुपागत' । वही, 4.14.
2. नारायणस्य नररूपमुपाश्रितस्य . . . . . . वही, 4.13.
3. इमा भगवती लक्ष्मी जानीहि जनकात्मजाम् ।
   स भवन्तमनुप्राप्ता मानुषी तनुमास्थिता ॥ वही 4.14.
4. वही, 6.30–31.
5. वही, 6.18.
6. वही, 3.15.
7. भा0 ना0 च0 पृ0 339.
8. रावण– ह ह ह।
   दिव्यास्त्रैस्त्रिदशगणा. मयाभिभूता ।
   दैत्येन्द्रा मम वशवर्तिन. समस्ताः ॥ भा0 ना0 च0 पृ0 343.
9. अभि0 4.7.

तीनों लोक उससे भयभीत है।[1] एक बार उसने कैलास पर्वत को उठाकर उस पर बैठे शिव-पार्वती को भी हिला दिया था। उसके इस कार्य से शिव प्रसन्न हुए थे पर गौरी व नन्दी ने शाप दे दिया था।[2]

नाटककार ने रावरण के व्यक्तित्व में जिन अतिप्राकृत तत्त्वों का उल्लेख किया है वे प्राय: उसके विगत जीवन से सम्बन्धित है; नाटक मे अकित उसके कार्यकलापो से उनका बहुत कम सम्बन्ध है। नाटकीय कथा में रावरण के व्यक्तित्व का दुर्बलताओं से ग्रस्त मानवीय पक्ष ही अधिक उभरा है। रामायरण के रावरण की अपेक्षा नाटक का रावरण सम्भवत: अधिक मानवीयता लिये हुए है। उसकी अतिमानवता या तो राम के साथ युद्ध में प्रकट हुई है या उसकी दभोक्तियों में।

देवपात्र : अभिपेक मे वरुण और अग्नि देवता मानव रूप मे प्रकट होते है। समुद्रदेव वरुण राम के बारण चलाने के लिए उद्यत होते ही भयभीत होकर अपना स्वरूप प्रदर्शित करता है तथा राम व उनकी सेना को समुद्र के जल मे पथ प्रदान करता है। वह राम के विष्णु-रूप का स्तवन भी करता है। अग्नि देवता का प्रादुर्भाव पष्ठ अंक मे सीता की अग्नि-परीक्षा के प्रसंग में होता है जब वह ज्वालाओ में प्रविष्ट सीता को लेकर बाहर आता है। वह सीता के चरित्र की विशुद्धता प्रमाणित करता है तथा राम को राज्याभिपेक के लिए ले जाता है। अग्नि सहित सब देवता मिलकर उनका राज्याभिपेक करते है।

सीता . नाटककार ने सीता को मुख्यत: एक वियोगिनी पतिव्रता नारी के रूप में चित्रित किया है, अत: उसके व्यक्तित्व का मानवीय पक्ष ही अधिक उभरा है। नाटक के अंत में वह अपने पातिव्रत व सच्चरित्र का प्रमारण देने के लिए अग्नि मे प्रविष्ट होती है, पर अग्नि उसका कुछ नही बिगाड़ पाता, प्रत्युत स्वयं प्रकट होकर उसके चरित्र की पवित्रता प्रमाणित करता है। अग्नि देवता के कथनानुसार सीता मूलत: लक्ष्मी है और राम भगवान् विष्णु।[3] इस प्रकार नाटकांत में सीता के व्यक्तित्व को अतिप्राकृत बना दिया गया है।

उक्त पात्रों के अतिरिक्त नाटक मे अनेक गौण पात्र भी आये है, जिनके व्यक्तित्व को विकसित करने का नाटककार को पर्याप्त अवसर नही मिला है। ऐसे चरित्रों मे लक्ष्मण, अंगद, विभीषण, नल, शंकुकर्ण, विद्युज्जिह्व, विद्याधर आदि उल्लेखनीय है। इनके अलावा अक्षकुमार, इन्द्रजित्, कुंभकर्ण व लंका आदि का भी उल्लेख मिलता है, पर वे नाटक की दृश्य कथा में अवतीर्ण नहीं होते।

---

1. अभि0 3.4.
2. वही, 3.12.
3. वही, 6.27–28.

अतिप्राकृत तत्त्व और रस : प्रथम अंक मे जहां मृत्यु के समय वाली को अतिप्राकृतिक वस्तुएं दृष्टिगोचर होती है, वहां करुण रस की निष्पत्ति होती है, पर इस करुण मे सामाजिक की दृष्टि से संचारीभाव के रूप में विस्मय का भी मिश्रण है ।

वरुण देवता के प्रकटीकरण, समुद्र द्वारा मार्ग-दान, सीता को लेकर अग्नि देवता का आविर्भाव तथा उसके सच्चरित्र का प्रामाणीकरण आदि घटनाएं अद्भुत रस की व्यंजक हैं ।

भरत ने नाटक की निर्वहण संधि मे अद्भुत रस की योजना का विधान किया है ।[1] प्रस्तुत नाटक में सीता का प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश, उसे लेकर अग्नि-देवता का प्रादुर्भाव तथा देवताओं द्वारा राम का राज्याभिषेक आदि घटनाएं अद्भुत रस की व्यंजक हैं तथा निर्वहण संधि की अग है ।

अभिषेक का प्रधान रस युद्धवीर है तथा अद्भुत व करुण इसके अंग है । राम और रावण के युद्ध का विद्याधरो द्वारा किया गया वर्णन अद्भुत परिपुष्ट वीररस का सुन्दर उदाहरण है । इसमें शत्रु पर विजय पाने के लिए राम का उत्साह वीर रस का स्थायिभाव है तथा राम की अलौकिक वीरता के विषय में आकाश-स्थित देव, यक्ष, किन्नर, विद्याधर आदि का तथा नाटक के प्रेक्षको का विस्मय भाव अद्भुत रस की व्यंजना का मूल आधार है । यद्यपि वीर रस प्रधान है, पर अद्भुत रस अग के रूप मे उसकी सौन्दर्य वृद्धि मे सहायक है ।

(ख) महाभारतमूलक नाटक

भास के तेरह नाटको मे से छह–मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, कर्णभार, पचरात्र, दूतघटोत्कच व ऊरुभग महाभारत के विभिन्न प्रसंगों पर आधारित है । ये प्रसग महाभारत के विभिन्न पर्वो से सम्बन्ध रखते हैं । उक्त नाटकों के अध्ययन से विदित होगा है कि भास महाभारत की प्रायः सम्पूर्ण कथा से भलीभाति परिचित थे । यह उल्लेखनीय है कि भास के महाभारतमूलक नाटक रूपक के गौण भेदों—व्यायोग, समवकार, उत्सृष्टिकाक आदि के उदाहरण है । भास ने महाभारत की किसी कथा या आख्यान को लेकर रूपक के प्रधान भेद 'नाटक' की रचना नही की । दूसरी ओर रामायण की कथा पर आधारित भास की दोनो कृतियां 'नाटक' है । पंचरात्र के सिवा सभी महाभारतमूलक रूपक एकाकी है ।

रामायणमूलक नाटको की अपेक्षा महाभारतमूलक नाटको मे भास ने वस्तु-योजना की अधिक मौलिकता प्रदर्शित की है । उदाहरणार्थ पंचरात्र, मध्यमव्यायोग व दूतघटोत्कच में महाभारत की कथा का आधार लेते हुए भी नाटककार ने वस्तु

---

1. नाट्यशास्त्र 18.43.

की अभिनव कल्पना की है। एक विशेष बात यह है कि भास के इन नाटकों पर भरत के नाट्यशास्त्र में वर्णित रूपक के लक्षण पूरी तरह लागू नहीं होते। जैसे पंचरात्र को कुछ विद्वानों ने समवकार माना है, पर न तो उसकी कथावस्तु 'देवासुर-वीजकृत' है और न पात्र ही देव या दानव। इसी प्रकार मध्यमव्यायोग को किसी ने ईहामृग वताया है तो किसी ने व्यायोग। इससे स्पष्ट है कि इन नाटकों को रूपकों की पारिभाषिक सीमाओं में नही बांधा जा सकता। इस स्थिति के कारण की विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। किसी के मत में वर्तमान नाट्य-शास्त्र भास के वाद अस्तित्व मे आया। कुछ मानते है कि भास के समय मे नाट्यशास्त्र तो था,[1] पर उसका प्रामाण्य इतना मान्य नही था कि भास उसका अक्षरशः अनुगमन करना आवश्यक समझते। एक संभावना मत यह भी है कि भास ने भरत के नाट्यशास्त्र से भिन्न किसी परम्परा का अनुसरण किया। यह सारा प्रश्न इतना उलझा हुआ है कि इस विषय में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचना वहुत कठिन है।

अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से इन नाटकों में 'मध्यमव्यायोग' 'दूतवाक्य' तथा 'कर्णभार' उल्लेखनीय है। अन्य नाटकों मे अतिप्राकृत तत्त्वों का लगभग अभाव है—विशेष रूप से कथावस्तु और पात्रों के रूप मे। इनमे केवल कुछ प्रचलित लोकविश्वासों के रूप मे इन अतिप्राकृत तत्त्वो का प्रयोग हुआ है। ऊरुभंग में एक विशिष्ट अतिप्राकृत तत्त्व–'मृत्युकालीन आभास' का विनियोग मिलता है। यह तत्त्व प्रतिमा और अभिषेक में भी आया है, पर ऊरुभंग में इसका प्रयोग कुछ नयी विशेषताओं को लिये हुए है। 'दूतवाक्य' मे प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व नाटकार की धार्मिक भावना से प्रेरित है। दूतघटोत्कच व ऊरुभंग मे सकेतित कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व में भी इसी भावना की अभिव्यक्ति हुई है।

मध्यमव्यायोग

यह एकाकी नाटक है। प्रो० मांकड़ ने इसे ईहामृग माना है।[2] किन्तु डा० पुसालकर इसे व्यायोग मानने के पक्ष में है।[3] नाट्यशास्त्र के अनुसार ईहामृग मे किसी दिव्य स्त्री के लिए युद्ध किया जाता है।[4] किन्तु इसमे युद्ध अन्य कारण से

---

1. अविमारक मे विदूषक की एक हास्योक्ति मे नाट्यशास्त्र का उल्लेख मिलता है—'अस्ति रामायण नाम नाट्यशास्त्रम् (भा0 ना0 च0, पृ0 119)। इससे सिद्ध है कि भास नाट्य-शास्त्र से परिचित थे। सम्भवत: उन्होंने स्वयं भी नाट्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा था। देखिये, कीथ-कृत 'संस्कृत ड्रामा' पृ0 292 की पाद टिप्पणी।
2. टाइम्स ऑव् संस्कृत ड्रामा, पृ0 61.
3. भास–ए स्टडी, पृ0 206.
4. दिव्यपुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्धः। ना0 शा0 18.78.

हुआ है। नाटक के अन्त मे राक्षसी हिडिम्बा व भीमसेन के मिलन को 'दिव्यस्त्री-समागम' के रूप में लेना ठीक प्रतीत नही होता।[1] इसलिए इसे व्यायोग[2] मानना ही अधिक उचित है।

यह नाटक महाभारत पर इसी अर्थ में आधारित है कि इसके कुछ पात्र महाभारत से लिये गये हैं, अन्यथा इसकी कथावस्तु का आधार महाभारत में प्राप्त नही होता। डा० दे के अनुसार नाटककार की मौलिकता इस बात में प्रकट हुई है कि उसने महाभारत की कथा में प्रस्तुत नाटक के इतिवृत्त की उद्भावना की है।

मध्यमव्यायोग में भीमसेन वृद्ध ब्राह्मण केशवदास के मध्यमपुत्र को राक्षस घटोत्कच के चंगुल से छुडाता है तथा उसके स्थान पर स्वयं राक्षस के साथ जाना स्वीकार करता है। भीमसेन अपने पुत्र को पहचान लेता है, पर घटोत्कच अनजान मे उससे युद्ध करता है, जिसमे उसे हार खानी पड़ती है। नाटक के अत मे राक्षसी हिडिम्बा और भीमसेन का मिलन बताया गया है।

अमानुषी शक्ति, मत्र व मायापाश : प्रस्तुत नाटक में भीमसेन और घटोत्कच के द्वन्द्व युद्ध में कुछ अतिप्राकृत तत्त्वो का प्रयोग मिलता है। भीमसेन पुत्र की बल-परीक्षा के लिए उसे चुनौती देता है कि तुममें शक्ति हो तो मुझे बलपूर्वक ले चलो। घटोत्कच चुनौती स्वीकार कर लेता है। वह पहले एक विशाल वृक्ष उखाड़ कर भीम पर प्रहार करता है, पर उसका कोई असर नही होता। इसके बाद वह एक पर्वत-शिखर उखाड़ कर पिता पर प्रहार करता है, किन्तु यह प्रयास भी व्यर्थ जाता है।[3] तब वह द्वन्द्व युद्ध आरम्भ कर भीमसेन को अपनी भुजाओं मे बांध लेता है, पर भीमसेन क्षण भर में उसके भुजपाश को तोड़ देता है। तत्पश्चात घटोत्कच माता हिडिम्बा की कृपा से प्राप्त मायापाश द्वारा उसे बांधने का निश्चय करता है। वह समीपवर्ती पर्वत से आचमन के लिए पानी मागता है जो उसे शीघ्र मिल जाता है। आचमन के बाद मंत्र जपकर वह भीमसेन को मायापाश से बाध लेता है।[4] पर भीमसेन को महेश्वर की कृपा से मायापाश खोलने का मंत्र आता है।[5] वह ब्राह्मण कुमार के कमण्डलु से जल लेकर आचमनपूर्वक मत्र जपता है जिससे मायापाश

---

1. भरत ने व्यायोग और ईहामृग को कार्य, पुरुष, वृत्ति व रस की दृष्टि से समान मानते हुए केवल 'दिव्य स्त्री के साथ समागम' को ईहामृग की विशेषता बताया है। देखिए ना0शा0 18.81.
2. वही, 18.90-93.
3. घटोत्कच : भा0 ना0 च0, पृ0 434.
4. म0 व्या0 47.
5. अस्ति मे महेश्वरप्रसादाल्लब्धो मायापाशमोक्षो मन्त्र :। भा0 ना0 च0, पृ0 435.

खुल जाता है। इसके बाद घटोत्कच को निरुपाय देखकर भीमसेन उसके साथ जाने को तैयार हो जाता है।

उक्त अतिप्राकृत प्रसंग का नाटक की योजना में कोई कलात्मक महत्त्व प्रतीत नहीं होता। इसके द्वारा नाटककार ने घटोत्कच तथा भीमसेन दोनो की अमानुपिक शक्ति तथा उनके मंत्र आदि के ज्ञान का परिचय दिया है तथा यह वताया है कि पुत्र से पिता अधिक वलशाली है। नाटक के वस्तुविन्यास मे उक्त अतिप्राकृत तत्त्वों का कोई योगदान नही दिखायी देता।

प्रस्तुत नाटक मे घटोत्कच, भीमसेन और हिडिम्वा ये तीन अतिप्राकृतिक पात्र आये हैं। घटोत्कच को अपनी माता से भयावह राक्षसी आकृति मिली है और पिता से शक्ति, स्वाभिमान और दर्प। नाटक के प्रारंभ में ब्राह्मण परिवार के सदस्यों ने उसकी राक्षसी आकृति का वर्णन किया है। इस वर्णन में कवि ने घटोत्कच को अधिक से अधिक भयावह रूप देने की कोशिश की है।[1] घटोत्कच के इस रूप को देख ब्राह्मण परिवार प्राण रक्षा के लिए भाग खड़ा होता है। भीमसेन के साथ द्वन्द्व युद्ध में घटोत्कच की अमानुपिक शक्ति का परिचय मिलता है, तथापि वह प्रकृति से मानव अधिक है, राक्षस कम। भीमसेन भी अलौकिक शक्ति-सम्पन्न व मंत्रवेत्ता है। हिडिम्वा एक मनुष्यभक्षिणी राक्षसी वतायी गयी है, किन्तु नाटक के अंत में उसका व्यक्तित्व एक स्नेहशील माता व अनुरागमयी पत्नी का है।

नाटक के प्रारभ मे जहा ब्राह्मण परिवार को राक्षस घटोत्कच का भयावह रूप दिखायी देता है, भयानक रस है तथा घटोत्कच व भीमसेन की अलौकिक शक्ति के परिचायक कार्य विस्मय की अनुभूति कराते हुए अगी वीररस को परिपुष्ट करते है।

पंचरात्र

तीन अको का यह नाटक भास के महाभारतमूलक नाटको में सवसे वड़ा है। पुसालकर[2] व कीथ[3] ने इसे समवकार माना है किन्तु समवकार के अनेक महत्त्वपूर्ण लक्षण इसमे नहीं है। समवकार का एक विशेप लक्षण वहुनायकत्व इसमें मिलता है, पर दशरूप ने वहुनायकत्व के साथ नायको की दिव्यता पर भी वल दिया है,[4] किन्तु पंचरात्र के सभी पात्र मानव है।

---

1. मध्यमव्यायोग 4.5,6.
2. भास–ए स्टडी, पृ0 213.
3. संस्कृत ड्रामा, पृ0 97.
4. नेतारो देवदानवा. द्वादशोदात्तविख्याता. । 3.63.

पंचरात्र की वस्तु महाभारत के विराट पर्व मे वर्णित कौरवों द्वारा राजा विराट् की गायो के अपहरण के प्रयास की घटना पर आधारित है। नाटककार ने इस घटना को कुछ नई कल्पनाओं के साथ जोड़ दिया है जिनमें दुर्योधन द्वारा पाडवो को आधा राज्य देने की बात भास की अपनी उद्भावना है।

पचरात्र की कथावस्तु व पात्रों में कोई भी अतिप्राकृतिक तत्त्व नही मिलता। केवल एक स्थान पर शकुन के रूप मे एक विशेष अतिप्राकृत लोक-विश्वास की अभिव्यक्ति हुई है। वृद्ध गोपालक देखता है कि एक शुष्क वृक्ष पर स्थित कौवा उसकी शाखा से अपनी चोंच रगड़ कर सूर्य की ओर देखता हुआ विकृत स्वर मे चिल्ला रहा है। वह इसे किसी भावी अशुभ का सूचक मानकर उसकी शान्ति के लिए प्रार्थना करता है।[1] इस अपशकुन के पश्चात् कौरवो द्वारा विराट् की गायो के हरण का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार कौवे की विशेष चेष्टा व स्वर-विकृति से भावी अनर्थ की सूचना के रूप में नाटककार ने अपने समय में प्रचलित एक अतिप्राकृत लोक-विश्वास का उल्लेख किया है। इस शकुन में यह विश्वास छिपा है कि पशु-पक्षी आदि मानवेतर जीवों को किसी भावी अनर्थ का पहले से ही आभास हो जाता है तथा उनकी विशेष चेष्टाओं से मनुष्य को उसकी सामान्य रूप से सूचना मिल जाती है।

दूतवाक्य

दूतवाक्य महाभारत के उद्योग पर्व के अन्तर्गत 'भगवद्‌यानपर्व' की कथा पर आधारित एकांकी नाटक है। अधिकतर विद्वानों ने इसे 'व्यायोग' माना है। इसमें पांडवों के दूत के रूप में कृष्ण के दुर्योधन की राजसभा में उपस्थित होने का वृत्तान्त अंकित है।

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

'दूतवाक्य' मे वासुदेव एक को अलौकिक पुरुष व विष्णु के अवतार के रूप मे दिखाने के लिए नाटककार ने वस्तु-योजना में जिन अतिप्राकृत तत्त्वों का समावेश किया है, उनका विवरण इस प्रकार है—

वासुदेव का विश्व रूप : दुर्योधन व वासुदेव के वार्तालाप में कटुता आने पर दुर्योधन वासुदेव को वन्दी वनाने के लिए दु:शासन आदि को आदेश देता है, पर जो भी उन्हें वांधने की कोशिश करता है वही औधा होकर गिरता है। जव दु:शासन और शकुनि दोनों की यही गति होती है, दुर्योधन स्वयं पाश लेकर वासुदेव को

1. किन्नु खल्वेष वायस: शुष्कवृक्षमारुह्य शुष्कशाखानिघट्टिततुण्ड मादित्याभिमुखं विस्वरं विलपति शान्तिर्भवतु शान्तिर्भवतु अस्माकं गोधनस्य च'। भा0 ना0 च0, पृ0 389.

पकड़ने के लिए आगे बढ़ता है। तब वे विश्वरूप धारण कर लेते है।[1] इस पर भी दुर्योधन अपनी चेष्टा से विमुख नही होता तो वासुदेव अदृश्य हो जाते है; वे पुनः प्रकट होने पर कभी ह्रस्व और कभी दीर्घ आकार ग्रहण कर लेते है। दुर्योधन को मंत्रशाला में सभी ओर केशव ही केशव दिखायी देते है। तब वहां उपस्थित प्रत्येक राजा को वह एक-एक केशव को बांधने का आदेश देता है, पर वे स्वयं ही अपने पाशों से बधकर गिर पड़ते है। इस पर निराश दुर्योधन कृष्ण को धमकी देता हुआ वहां से चला जाता है।[2]

महाभारत में भी कृष्ण को बदी बनाने की दुर्योधन की योजना का उल्लेख आया है, पर सात्यकि उसका भण्डाफोड कर देता है जिससे वह क्रियान्वित नही हो पाती। श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र की राजसभा मे अपना विश्वरूप प्रकट करते है।[3] परन्तु नाटक में जिस प्रकार वे क्षण-क्षण में आकार बदलते हैं तथा प्रकट व अदृश्य हो जाते है वैसा वर्णन वहा नही मिलता। यह नाटककार की मौलिक उद्भावना प्रतीत होती है।

विष्णु के आयुधों व वाहन का प्रकटीकरण : दुर्योधन के अनुचित व्यवहार से क्रुद्ध होकर वासुदेव पांडवो का कार्य स्वयं ही सम्पन्न कर देने का विचार कर अपने सुदर्शन चक्र का स्मरण करते है।[4] सुदर्शन तत्काल सशरीर उपस्थित हो जाता है। आकाश गंगा उसके आचमन के लिए जल-स्रवण करती है।[5] वासुदेव दुर्योधन को मारने के लिए सुदर्शन को आज्ञा देते है, पर वह उनसे निवेदन करता है–'आपने मही का भार उतारने के लिए जन्म लिया है, यदि आप दुर्योधन को इस प्रकार मार देगे तो आपका श्रम व्यर्थ जायेगा।[6] इस पर कृष्ण अपनी भूल अनुभव कर चक्र को लौट जाने का आदेश देते है। वासुदेव की आज्ञा से जब सुदर्शन लौट रहा होता है तब मार्ग मे क्रमशः शार्ङ्ग धनुष, कौमोदकी गदा, पाञ्चजन्य शख तथा

---

1. वासुदेव :–कथं बद्धुकामो मां किल सुयोधनः।
   भवतु सुयोधनस्य सामर्थ्यं पश्यामि। (विश्वरूपमास्थितः) वही, पृ० 451.
2. वही, पृ० 452,
3. महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय 131.
4. वासुदेव :–भवतु, पांडवाना कार्यमहमेव साधयामि। भो. सुदर्शन। इतस्तावत्।
   भा० ना० च० पृ० 452.
5. कुतः खलु आप, कुतः खलु आपः। भगवति आकाशगंगे। आपस्तावत्। हन्त स्रवति।
   वही, पृ० 452-453.
6. महीभारापनयन कर्तुं जातस्य भूतले।
   अस्मिन्नेवं गते देव। ननु स्याद् विफलः श्रम.। दू० वा० 46.

नन्दक असि से उसकी भेंट होती है। वह उन्हें बताता है कि भगवान् का क्रोध अब शांत है, अतः वे लौट जाएं।[1]

आयुधों के लौट जाने पर विष्णु का वाहन आता दिखायी देता है। उसके प्रचण्ड वेग से वायु कांप गया है, सूर्य तप उठा है, पर्वत हिल रहे है, समुद्र विक्षुब्ध है, वृक्ष गिर रहे हैं, मेघ चक्कर खा रहे है, वासुकि इत्यादि श्रेष्ठ सर्प कहीं छिप गये है।[2] सुदर्शन गरुड को भी वासुदेव का रोष शान्त होने की बात बताकर लौटा देता है।

अतिप्राकृतिक पात्र

दूतवाक्य के नायक वासुदेव अलौकिक व्यक्तित्व से युक्त है। यद्यपि दुर्योधन की दृष्टि में वे 'कंसभृत्य दामोदर', 'गोपालक' या जरासन्ध के राज्य, कीर्ति और भोग के अपहर्ता मात्र है,[3] पर बादरायण की दृष्टि मे, जो स्वय नाटककार की भी दृष्टि है, वे साक्षात् पुरुषोत्तम नारायण है।[4] नाटक के मगल श्लोक मे भास ने उन्हीं की स्तुति की है। दुर्योधन के मना करने पर भी कांचुकीय उन्हे 'पद्मनाभ' शब्द द्वारा सम्बोधित करता है। मंत्रशाला में प्रविष्ट होते ही उनके व्यक्तित्व का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता है कि समस्त राजा जिन्हे दुर्योधन ने उठने की मनाही कर दी थी, उनके स्वागत मे अपने आप उठ खड़े होते है और दुर्योधन अपने आसन से लुढ़क जाता है।

कृष्ण द्वारा प्रदर्शित ह्रस्व-दीर्घ आदि आकारो व विश्वरूप मे नाटककार ने उनके ईश्वरत्व की झलक दिखायी है। इसी प्रकार सुदर्शन चक्र व अन्य आयुधो की उपस्थिति भी उनके विष्णु-स्वरूप को सूचित करती है। सुदर्शन के शब्दो मे कृष्ण 'अव्यक्तादि', 'अचिन्त्यात्मा', व 'लोकसरक्षण में उद्यत' है तथा वे पृथ्वी का भार उतारने के लिए भूतल पर अवतीर्ण हुए है।[5] वामन अवतार में उन्होंने ही तीन डगों में तीनों लोकों को अतिक्रान्त किया था।[6] वृद्ध राजा धृतराष्ट्र की दृष्टि में भी वे साक्षात् नारायण है।[7]

---

1. दू० वा०, 47–52.
2. भा० ना० च०, पृ० 455.
3. वही, पृ० 443.
4. काञ्चुकीय;—जयतु महाराज । एप खलु पाडवस्कन्धावाराद्
   दौत्येनागत. पुरुषोत्तमो नारायण । वही, पृ० 443.
5. अव्यक्तादिरचिन्त्यात्मा लोकसंरक्षणोद्यत ।
   एकोऽनेकवपुः श्रीमान् द्विपद्बलनिषूदन. ।। दू० वा०, 43.
6. सुदर्शन.—यदाज्ञापयति भगवान नारायणः । कथं कथं गोपालक इति ।
   त्रिचरणातिक्रान्तत्रिलोको नारायण. खल्वत्रभवान् । भा० ना० च०, पृ० 453
7. धृतराष्ट्र.—क्व नु खलु भगवान् नारायण . . . वही, पृ० 456

पंच आयुध : भास ने 'दूतवाक्य' और 'वालचरित' दोनों मे भगवान् विष्णु के पंच आयुधों व वाहन गरुड को पात्रों के रूप में उपस्थित किया है।[1] भास उत्कट विष्णुभक्त है तथा आयुधों को मानवरूप मे उपस्थित करने की कल्पना उन्हें अतीव प्रिय है। इन आयुधो द्वारा उन्होंने ईश्वर की लोकरक्षिका शक्ति का दर्शन कराया है। हम वता चुके हैं कि नाट्यशास्त्र ने आयुध आदि निर्जीव वस्तुओं की रंगमंच पर सशरीर उपस्थिति की वात कही है ।[2]

गरुड : गरुड के वर्णन मे उसके स्वरूप आदि का परिचय नहीं दिया गया, केवल उसके आगमन से प्राकृतिक जगत् पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन किया गया है। नाटककार ने गरुड़ को काश्यप का प्रिय सुत कहा है तथा मां को छुड़ाने के लिए उसके द्वारा अमृतहरण की पौराणिक कथा का उल्लेख किया है ।[3]

'दूतवाक्य' में महाभारत के आधार पर यह भी कहा गया है कि युधिष्ठिर आदि पंच पांडव वस्तुतः देवताओं के पुत्र थे ।[4] इसी आधार पर दुर्योधन उन्हें आधा राज्य देने से इन्कार करता है। वासुदेव ने अर्जुन की वीरता का परिचय देते हुए, महाभारत के ही आधार पर, कुछ पौराणिक आख्यानों की ओर इंगित किया है ।[5]

'दूतवाक्य' की वस्तु व पात्रों में प्रयुक्त प्रायः सभी अतिप्राकृत तत्त्व वासुदेव के अलौकिक व्यक्तित्व से सम्वद्ध है। नाटककार प्रारम्भ से ही उन्हें भगवान् विष्णु का अवतार मान कर चला है। उनकी ईश्वरता का प्रतिपादन करने के लिए ही उनके विभिन्न आकारों व विश्व-रूप का वर्णन किया गया है। सुदर्शन आदि पचायुधों व गरुड के प्रकटीकरण द्वारा भी नाटककार ने भगवान् विष्णु के साथ वासुदेव की अभिन्नता तथा उनके प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की है। इस प्रकार कृष्ण के व्यक्तित्व को अलौकिक रूप देने से 'दूववाक्य' एक धार्मिक व पौराणिक भावना से अनुप्राणित नाटक वन गया है। इसमे आये अतिप्राकृत तत्त्व मुख्यतः अद्भुत रस के व्यंजक हैं।

दूतघटोत्कच

'दूतवाक्य' व 'कर्णभार' के समान इसमें भी एक अंक है। इसकी वस्तु-योजना मे हमे कोई अतिप्राकृतिक तत्त्व नही मिलता। 'वालचरित' और 'दूतवाक्य' के समान इसमें भी नाटककार ने कृष्ण को भगवान् विष्णु से अभिन्न माना है तथा धृतराष्ट्र

---

1. दू० वा०, 47–51, 53; वा० च० 1.21–26.
2. दे० प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ०
3. दू० वा० 53.
4. वही, 19.
5. वही, 32.

व घटोत्कच मे उनके प्रति भक्ति-भावना प्रदर्शित की है ।[1] एक जगह कृष्ण के अष्टभुजो का उल्लेख मिलता है[2] तथा उनके लिए 'चक्रायुध', 'जनार्दन', 'त्रैलोक्य-नाथ' आदि शब्दो का प्रयोग किया गया है ।[3]

नाटक का मूल स्वर नैतिक है । इसमे यह दिखाने का यत्न किया गया है कि मनुष्य को ईश्वर और धर्म का भय मानकर नीति के मार्ग पर चलना चाहिए । अनीति का मार्ग चाहे प्रारम्भ मे सुखद प्रतीत हो, पर उसका परिणाम विनाशकारी होता है । घटोत्कच द्वारा लाया गया भगवान् जनार्दन का सदेश, दुर्योधन और उसके साथियों के आसन्न विनाश की सूचना देकर धर्म और नीति के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है ।

कर्णभार

यह एकांकी नाटक आकार की दृष्टि से भास के नाटको मे सबसे छोटा है । डा० पुसालकर ने इसे उत्सृष्टिकाक माना है, पर वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि इसमें उत्सृष्टिकांक के सारे लक्षण नही मिलते ।[4]

कर्णभार मे नाटककार ने कर्ण की उदात्त दानशीलता का महाभारतीय वृत्तान्त नूतन संदर्भ मे गुम्फित किया है । कौरव सेनापति कर्ण युद्ध-भूमि की ओर जा रहा है । परशुराम के शाप के स्मरण से उसका मन उदास है । उसे अपने अस्त्र निर्वीर्य प्रतीत हो रहे है;[5] फिर भी वह अपने कर्तव्य से विमुख नही होता । इसी समय मार्ग में देवराज इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण कर उससे महाभिक्षा मागता है । यह महाभिक्षा है कर्ण के कुण्डल और कवच । यह जानते हुए भी कि मेरे साथ छल किया जा रहा है, कर्ण ब्राह्मण को दोनो वस्तुएं दान कर देता है । इन्द्र भी बदले में कर्ण को एक अमोघ 'शक्ति' प्रदान करता है ।

कर्णभार में परशुराम का शाप, कर्ण के सहजात कवच और कुण्डल, स्मरण-मात्र से उपस्थित होने वाली अमोघ शक्ति आदि अतिप्राकृत तत्त्वों का उल्लेख हुआ है । इसमे शक्र व देवदूत ये दो अतिप्राकृत पात्र भी आये है । कर्ण द्वारा संस्मृत अतीत वृत्तान्त मे परशुराम का भी उल्लेख किया गया है ।

---

1. घटोत्कच:—अहो कल्याण' खल्वत्रभवान् । कल्याणाना प्रसूति पितामहमाह भगवाश्चक्रायुध: । धृतराष्ट्र:—(आसनादुत्थाय) किमाज्ञापयति भगवाश्चक्रायुध: । भा0 ना0 च0, पृ0 470.
2. कृष्णस्याष्टभुजोपधानरचिते योऽके विवृद्धश्चिरम् . . . दूतघटोत्कच, 8
3. वही, 52,
4. भास—ए स्टडी, पृ0 173.
5. एतान्यस्त्राणि निर्वीर्याणीव लक्ष्यन्ते । भा0 ना0 च0, पृ0 480.

कर्णभार में नाटककार ने कोई नवीन अतिप्राकृत कल्पना प्रस्तुत नही की। परशुराम द्वारा कर्ण को दिये गये शाप की कथा महाभारत में दो स्थानों पर आयी है।[1] इसी प्रकार ब्राह्मणरूपधारी शक्र द्वारा कर्ण से कवच-कुंडल प्राप्त करने का वृत्तान्त भी महाभारत में एकाधिक स्थलों पर आया है।[2] शाप वाले प्रसंग को नाटककार ने कर्ण की अतीत स्मृति के रूप में प्रयुक्त किया है तथा दूसरे प्रसग को मूल सन्दर्भ से हटाकर नाटकीय दृष्टि से नूतन रूप में गुम्फित किया है। महाभारत में कवचकुण्डल-दान की कथा वन पर्व मे आयी है, पर नाटक में यह घटना कर्ण और अर्जुन के युद्ध के ठीक पहले उपन्यस्त की गयी है। नाटककार की यह योजना पर्याप्त प्रभावशाली व सोद्देश्य है। एक निर्णायक युद्ध के ठीक पहले कर्ण का अपने कुण्डल और कवच को दान में देना उसकी दानशीलता की पराकाष्ठा है। कर्ण इन्द्र के छल को जानते हुए भी अपने दानशीलता के आदर्श पर अटल रहता है।[3] वह अपने शरीर के साथ ही उत्पन्न व देवासुरों के लिए भी अभेद्य कवच व कुण्डल स्वेच्छा से उसे सौंप देता है। परशुराम का शाप जो शीघ्र ही अपना प्रभाव दिखाने वाला है तथा इन्द्र को कवच व कुण्डलों का दान ये दोनो बाते कर्ण को अपनी मृत्यु के बिल्कुल सामने ला खड़ा करती है। अतः इस लघुनाटक में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व सामाजिक को आश्चर्य-चकित नही करते, अपितु उसके हृदय में कर्ण के प्रति प्रशसा, सहानुभूति और करुणा के भाव जागृत करते है। इस दृष्टि से इसमे अतिप्राकृत तत्त्वो के प्रयोग का एक नया रूप सामने आया है।

ऊरुभग

इस एकांकी नाटक मे दुर्योधन के जीवन की अन्तिम झांकी दिखायी गयी है। गदा-युद्ध में भीम द्वारा ऊरु तोड़ दिये जाने पर वह युद्धभूमि में आहत पड़ा हुआ मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है। उसके निकट सम्बन्धी—माता-पिता, पुत्र, पत्नी उससे मिलने आते हैं। वह एक वीर पुरुष की भांति सबको धैर्य बंधाता है, सान्त्वना देता है। जीवन की इस अंतिम घड़ी मे उसका हृदय उदात्त भावनाओं से पूर्ण है। वह क्षमा, दया, सहिष्णुता, स्नेह व कोमलता की साक्षात् मूर्ति प्रतीत होता है। यहां महाभारत का दुर्योधन भास की प्रतिभा के कलात्मक स्पर्श से एक उदात्त चरित्र मे ढल गया है। नाटककार ने कथा के मुख्य सूत्र महाभारत से लिये हैं पर उनके संग्रथन मे अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है। कुछ परिवर्तनों और नवीनताओं का समावेश भी किया गया है। अधिकतर विद्वानों ने इसे रूपक का

1. शान्तिपर्व, अध्याय 3, 30–31, कर्णपर्व, 42, 3-9.
2. आदिपर्व, अध्याय 110 : वनपर्व, अध्याय 310.
3. कर्णभार, 22.

'उत्सृष्टिकांक' नामक भेद माना है,[1] तथा यह संस्कृत का एकमात्र दुःखान्त नाटक कहा गया है। नाटक के अंत मे नायक दुर्योधन की मंच पर ही मृत्यु हो जाती है।

मृत्युकालीन आभास : ऊरुभंग के अंतिम दृश्य में एक महत्त्वपूर्ण अतिप्राकृत तत्त्व का प्रयोग मिलता है। दुर्योधन अन्तिम सासे ले रहा है, उसके प्राण उसे छोड़कर जा रहे हैं। ऐसे समय में उसे अनेक प्रकार की आकृतियां दिखायी देती हैं। उसे शान्तनु आदि बाप-दादा, इष्टमित्र कर्ण, सौ भाई तथा अभिमन्यु आदि मृत व्यक्ति प्रत्यक्षवत् दृष्टिगोचर होते है। अभिमन्यु ऐरावत पर बैठा है, उसने इन्द्र का हाथ थाम रखा है, वह काकपक्ष धारण किये हुए है, तथा क्रुद्ध मुद्रा में दुर्योधन से कुछ कह रहा है। इसके अलावा महासमुद्र, गंगानदी तथा उर्वशी आदि अप्सराये भी उसके समीप में उपस्थित है। वह देखता है कि स्वर्ग से उसे लेने के लिए एक दिव्य वीरवाही विमान आया है जिसे सौ हंस खीच रहे है। "मैं भी आपके पास आ रहा हूं" यह कहता हुआ वह स्वर्ग चला जाता है।[2]

हम बता चुके हैं कि प्रतिमा नाटक में राजा दशरथ को तथा अभिषेक में वाली को भी मृत्यु के समय ऐसे ही दृश्य दिखायी देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि भास ने इनका चित्रण तत्कालीन लोक-विश्वासों के आधार पर किया होगा।

मृत व्यक्तियों तथा अप्सरा, विमान, गंगा आदि दिव्य वस्तुओं का दर्शन एक अतिप्राकृत घटना है। दुर्योधन के कथन से लगता है कि उसे शान्तनु, कर्ण, अभिमन्यु, उर्वशी, दिव्यविमान आदि सचमुच मे दिखायी देते है। कम से कम उसकी दृष्टि से इन वस्तुओं का यथार्थ अस्तित्व है। इस रूप मे यह वर्णन अतिप्राकृत ही कहा जायेगा।

इस घटना का हम एक अन्य दृष्टि से भी विवेचन कर सकते हैं। दुर्योधन ने जो दृश्य देखा वह एक दृष्टिभ्रम या मिथ्या-आभास भी हो सकता है। और मरणासन्न व्यक्ति के लिए तो इस प्रकार का मिथ्याभास और भी स्वाभाविक है। नाटककार ने यहां अतिप्राकृत तत्त्व और म्रियमाण व्यक्ति की मन.स्थिति का अतीव कौशलपूर्ण समन्वय किया है। यदि दुर्योधन के अनुभव को हम मिथ्याभास भी मानें तो भी वह नितान्त निराधार नही कहा जा सकता। उसकी पृष्ठभूमि में तत्कालीन लोकविश्वास ही नही, महाभारत युद्ध की अनेक करुण घटनाएं भी है। दुर्योधन जो कौरवों मे सबसे बड़ा है, अब भी जीवित है, जबकि सभी छोटे भाई मर चुके है। उसका परम सुहृद् कर्ण भी वीर गति प्राप्त कर चुका है। पांडव पक्ष

---

1. भास-ए स्टडी, पृ0 203.
2. भा0 ना0 च0, पृ0 508.

का अद्वितीय वीर अभिमन्यु भी अपनी अनुपम वीरता दिखाकर कौरवों के छल से अपने प्राणों से हाथ धो चुका है। अव ये सब स्वर्ग में हैं जहाँ की यात्रा पर दुर्योधन प्रस्थान कर रहा है। ऐसे अवसर पर मृत पूर्वजों या स्नेही बन्धुओं का स्मरण और उस स्मरण के अतीव सजीव हो जाने पर उनका प्रत्यक्षवत् दर्शन नितान्त स्वाभाविक है। कर्ण व सौ भाइयों के उल्लेख में दुर्योधन के हृदय का मित्र-स्नेह, भ्रातृ-स्नेह, उनकी मृत्यु का शोक तथा उनका सामीप्य प्राप्त करने की उसकी तीव्र लालसा व्यक्त हो रही है। अभिमन्यु की क्रुद्ध मुद्रा में दुर्योधन के पापभाव की स्पष्ट झलक देखी जा सकती है। पांडव पक्ष के वीरों में से दुर्योधन को केवल अभिमन्यु ही दिखायी देता है। कौरवों ने अभिमन्यु को अनीति से मारा था, दुर्योधन के अन्तर्मन में इस जघन्य घटना को लेकर अवश्य एक तीव्र पापबोध व अनुताप रहा होगा। अतः अभिमन्यु का क्रोध दुर्योधन की परितापग्रस्त आत्मा द्वारा अभिमन्यु मे कल्पित की गई एक प्रतिक्रिया मात्र है।

शत हंसों से युक्त दिव्य विमान तथा उर्वशी आदि अप्सराओं की कल्पना में तत्कालीन लोक-विश्वासों की अभिव्यक्ति हुई है। युद्ध में प्राणोत्सर्ग करने वाले वीरों के विषय में चिरकाल से यह धारणा रही है कि वे दिव्य विमानों में बैठकर स्वर्ग जाते है,[1] अप्सराये उनका वरण करती हैं तथा वे स्वर्ग में दिव्य ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं। ये धारणाये युद्ध को तो गौरवान्वित करती ही है, उसमें वीरगति प्राप्त करने वाले योद्धाओं को भी वर्तमान जीवन की क्षतिपूर्ति का एक सुखद आश्वासन देती है। ऐसे किसी आश्वासन के अभाव में युद्ध-कर्म घृणित कार्य हो जाता है। इस वर्णन द्वारा लेखक हमें बताना चाहता है कि दुर्योधन एक वीर पुरुष है तथा उसे वीरोचित गति प्राप्त हुई है।

यहां यह कहना उचित होगा कि नाटक के वस्तु-विधान में इस अतिप्राकृत तत्त्व का कोई विशेष महत्त्व नहीं है; इसके द्वारा लेखक ने दुर्योधन के चरित्र को कुछ गौरवान्वित करने का प्रयत्न अवश्य किया है। इससे उसका बन्धु-प्रेम, भ्रातृ-प्रेम तथा अभिमन्यु के अनीतिपूर्ण वध के लिए उसकी आत्मा का गूढ़ अपराधबोध सूचित होता है।

कृष्ण का परमेश्वरत्व : कृष्ण इस नाटक में प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित नही होते पर विभिन्न पात्रों के मुंह से उनके विषय में काफी चर्चा की गयी है। भास ने यहां भी कृष्ण और भगवान् विष्णु के एकत्व का संकेत दिया है। उल्लेखनीय बात यह है कि लेखक ने यह संकेत कृष्ण के विरोधी दुर्योधन और अश्वत्थामा के कथनों

---

1. हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम् . . . . . गीता, 2.37.

में दिया है।[1] इससे प्रतीत होता है कि नाटककार अपने इष्ट देव विष्णु या कृष्ण के प्रति अपनी उत्कट श्रद्धा व भक्ति-भावना प्रकट करना चाहता है, चाहे उसके लिए उचित अवसर या पात्र हो न हो।

(ग) कृष्णकथामूलक नाटक

बालचरित

यह भास का कृष्णकथा पर आधारित एकमात्र नाटक है। यद्यपि दूतवाक्य के नायक भी कृष्ण हैं, किन्तु उसकी वस्तु कौरवों व पाण्डवों के पारस्परिक कलह तथा कृष्ण के दौत्य से सम्बन्धित है, उनके व्यक्तिगत जीवन से नहीं। कृष्ण के व्यक्तिगत जीवन की जो भी चर्चा वहां आई है, वह आकस्मिक है। फिर भी 'दूत-वाक्य' के साथ प्रस्तुत नाटक की एक बात में समानता है। दोनों ही नाटकों में कृष्ण 'नारायण के अवतार' माने गये है तथा उनके व्यक्तित्व को अलौकिक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया गया है। कोनो का यह कथन ठीक मालूम होता है कि 'दूतवाक्य' भास के कृष्णपरक नाटक 'बालचरित' की ओर संक्रान्ति का सूचक है।[2] 'बाल-चरित' में भगवान् कृष्ण के बाल-जीवन के अलौकिक व आश्चर्यजनक कार्यो का चित्रण किया गया है। समस्त नाटक अतिप्राकृत तत्त्वों से परिपूर्ण है। भास ने कृष्ण को भगवान् विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित किया है, अतः नाटक में उनका व्यक्तित्व आलोकसामान्य रूप में प्रकट हुआ है। चामत्कारिक घटनाओ द्वारा उनके ईश्वरत्व की ओर बार-बार ध्यान खीचा गया है। नाटककार की यह धार्मिक भावना ही नाटक का मूल स्वर है और इसमें प्रयुक्त अतिप्राकृतिक तत्त्वों का भी आधार है।

बालचरित मे समाविष्ट अधिकांश अतिप्राकृत प्रसंग वही हैं जो चिरकाल से कृष्ण कथा का अभिन्न अंग रहे हैं। नाटककार ने कुछ ऐसी बातों का भी समावेश किया है जो कृष्णकथा-सम्बन्धी हरिवंश, विष्णु और भागवत आदि पुराणों में नही मिलती। उदाहरणार्थ पुराणों के अनुसार कृष्ण देवकी की आठवीं संतान थे किन्तु नाटक में उन्हे सातवीं बताया गया है। विष्णु और भागवत पुराणों के अनुसार आकाशवाणी ने कस को चेतावनी दी थी कि देवकी की आठवी सतति उसका वध करेगी।[3] हरिवंश पुराण के अनुसार नारद ने यह बात देवसभा में सुनी और फिर कंस को इसकी सूचना दी।[4] किन्तु नाटककार ने आकाशवाणी या नारद-प्रदत्त

---

1. ऊरुभंग, 30, 60.
2. स्टेन कोनो : दि इंडियन ड्रामा, पृ0 87 (अंग्रेजी रूपान्तर).
3. वि0 पु0 51.8; भा0 पु0 10. 1. 34.
4. हरि0 पु0, वि0 प0 1. 13-16.

सूचना को मण्डूक ऋषि के शाप में परिवर्तित कर दिया है तथा उसे भयावह आकृति में कंस के समक्ष उपस्थित किया है। इसी प्रकार शिशु कृष्ण का असाधारण भार, अंधकारपूर्ण मार्ग में प्रकाश की सृष्टि, नन्दगोप के स्नान के लिए भूमि से अकस्मात् जलधारा का उद्रेक, विष्णु के वाहन व आयुधों का मानव रूप में अवतरण, यशोदा की मृत पुत्री का पुनः जीवित हो जाना, कंस की राजश्री का उसके घर से प्रस्थान, अरिष्टर्षभ व कालिय नाग को कृष्ण की विशेष चुनौतियां आदि अतिप्राकृत प्रसंग इस नाटक में आये हैं, पर पुराणों में नहीं। ये नूतन प्रसंग व कल्पनाएं भास की मौलिक प्रतिभा की देन हैं अथवा कृष्णकथा के किसी प्राचीनतर रूप से सम्बद्ध, यह कहना कठिन है। पुसालकर[1], कीथ[2], वूलनर व सरूप[3] आदि विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि विष्णु, हरिवंश व भागवत पुराण अपने वर्तमान रूप में इस नाटक के कथास्रोत नहीं हो सकते। कीथ के अनुसार कृष्णकथा की परवर्ती परम्परा की एक मुख्य विशेषता—'शृंगारिक तत्त्व' का इस नाटक में लगभग अभाव है। वूलनर और सरूप के अनुसार बालचरित की कथा के जो अंश पुराणों से भिन्न हैं उनके विषय में यह विचारणीय है कि वे कहां तक भास की उद्भावना हैं और कहां तक कृष्णकथा के किसी प्राचीनतर या अधिक लोकप्रिय रूप से सम्बन्धित हैं।[4]

बालचरित में कृष्ण के जन्म से लेकर कंसवध व उग्रसेन के राज्याभिषेक तक की कथा अंकित है। कथा की पौराणिक प्रकृति, नायक के दिव्य व्यक्तित्व और उसके प्रति नाटककार की धार्मिक श्रद्धा ने सम्पूर्ण नाटक को अतिप्राकृत धरातल पर स्थापित कर दिया है।

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

बालचरित का वस्तु-विन्यास आद्यन्त अतिप्राकृतिक तत्त्वों से पूर्ण है। प्रथम अंक के प्रारम्भ में ही ब्रह्मलोक से आकर नारद बताते हैं कि भगवान् नारायण ने कंस के संहार व लोकहित के सम्पादन के लिए वृष्णिकुल में जन्म लिया है।[5] नारद कृष्ण का दर्शन व परिक्रमा कर उनके ईश्वरीय रूप की स्तुति करते हुए ब्रह्मलोक लौट जाते हैं।[6]

---

1. भास ए स्टडी, पृ० 90.
2. दि संस्कृत ड्रामा, पृ० 100.
3. त्रिवेन्द्रम प्लेज, भाग 2, पृ० 109.
4. वही.
5. तद्भगवन्तं लोकादिमनिधनमव्ययं लोकहितार्थं कंसवधार्थं वृष्णिकुल प्रसूतं नारायणं द्रष्टुमिहागतोऽस्मि। भा० ना० च० पृ 512,
6. यावदहमपि भगवन्तं नारायणं प्रदक्षिणीकृत्य ब्रह्मलोकमेव यास्यामि, वही.

कृष्ण के जन्म पर प्रकट हुए महानिमित्तों से देवकी व वसुदेव को अपने पुत्र की अलौकिकता का आभास मिलता है।[1] वसुदेव शिशु कृष्ण को कंस की क्रूरता से बचाने के लिए मथुरा से बाहर ले जाते है। उन्हे कृष्ण का शरीर विन्ध्य व मंदर के समान गुरु प्रतीत होता है।[2] नवजात शिशु पिता के अन्धकार-पूर्ण मार्ग को आलोकित कर देता है।[3] वृष्टि—जल से परिपूर्ण यमुना दो भागों में विभक्त होकर वसुदेव को मार्ग देती है।[4] यमुना पार कर वसुदेव एक न्यग्रोध वृक्ष के नीचे ठहरते है। वे उस वृक्ष के अधिष्ठाता देवताओ से प्रार्थना करते है कि नन्द गोप वहां आए। वसुदेव की प्रार्थना तत्काल फलवती होती है। नन्दगोप यशोदा से उत्पन्न अपनी सद्योजात मृत पुत्री के अंतिम सस्कार के लिए वहां आता है। वसुदेव के अनुरोध पर वह कृष्ण को अपने घर ले जाना स्वीकार कर लेता है। नन्दगोप को स्नान के लिए जल की आवश्यकता होती है तो वही भूमि से जल की धारा फूट निकलती है।[5] नन्दगोप कृष्ण के अतिशय भार के कारण उसे उठाने मे असमर्थ रहता है।[6] तभी भगवान् विष्णु का वाहन गरुड़ व पंच आयुध-चक्र, शख, गदा, खड्ग व धनुष सशरीर प्रकट होकर भगवान् कृष्ण के बालचरित में सम्मिलित होने के लिए गोपों की बस्ती में उतरने का निश्चय प्रकट करते है।[7] नंदगोप व चक्र की प्रार्थना पर शिशु कृष्ण अपना भार कम कर देते हैं। अतः नंदगोप अब उसे उठाने में समर्थ होता है। शिशु के दिव्य प्रभाव से नन्दगोप के पांवों की बेडियां अपने-आप टूट गिरती है।[8] नन्दगोप के लौटने पर यशोदा की मृत पुत्री पुनर्जीवित हो जाती है।[9] वसुदेव कंस को वंचित करने की दृष्टि से उसे लाकर देवकी को सौप देते है। लौटते सयय यमुना उन्हे पूर्ववत् मार्ग दे देती है।[10]

द्वितीय अक के प्रारम्भ मे कस अपशकुनो से उद्विग्न रूप में हमारे सामने आता है।[11] उसे अनेक प्रकार के अशुभ व भयावह प्राणी दिखाई देते हैं। कज्जल

---

1. भ0 ना0 च0 पृ0 513.
2. वही, 1.12.
3. वही, 1.17.
4. वही, पृ0 516.
5. नन्दगोपः—आश्चर्यमाश्चर्य भर्त.। आश्चर्यम्। पासून् मार्गयतो धरणी भित्त्वा युगप्रमाणा सलिलधारोत्थिता। वही, पृ0 521.
6. नन्दगोप.—भर्त। अतिदुर्बलौ मे बाहू मन्दरसदृशं बालकं ग्रहीतुं न समर्थौ। वही, पृ0 521.
7. बालचरित 1. 27-28
8. नन्दगोप.—आश्चर्यमाश्चर्य भर्तः। आश्चर्यम्। इमे बन्धने पतिते। वही, पृ0 524.
9. नन्दगोपः—. . . . (परिक्रम्य) अये प्रत्यागतप्राणेयं दारिका. . .। वही, पृ0 525.
10. नन्दगोप.—. . . . अये इय भगवती यमुना तथैव स्थिता। वही, पृ0 525.
11. बालचरित 2 1.

के समान काली चाण्डाल कन्यायें उससे विवाह का प्रस्ताव करती हैं।[1] कंस के डांटने पर वे अकस्मात् गायब हो जाती हैं।[2] तभी मधूक ऋषि का शाप उसे भीतर जाने से रोक देता है। वह कहता है कि तुम्हारे घर पर अब मेरा अधिकार हो गया है।[3] शाप का आकार अतीव भयानक है; वह शिव के साक्षात् क्रोध जैसा प्रतीत होता है। वह कंस के हृदय में प्रविष्ट होने के लिए श्मशान से आया है।[4] ज्यो ही कंस को नीद आती है, शाप और उसकी संगिनिया-लक्ष्मी, खलती, कालरात्रि, महा-निद्रा व पिंगलाक्षी कंस के प्रासाद में छा जाती है। वे कंस की राजश्री को विदा देकर वहां अपना आधिपत्य जमा लेती हैं।[5] शाप कंस के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। नींद खुलने पर कंस समझ नही पाता कि उसने सचमुच के प्राणियों को देखा है या स्वप्न मात्र।[6]

कंस को रात्रि में वायु का उद्भ्रमण, भूकम्प, दैवतप्रतिमा आदि जो निमित्त दिखायी दिये उनका अर्थ पूछने के लिए वह बालाकि नामक कांचुकीय को सांवत्सरिक और पुरोहित के पास भेजता है।[7] वे बताते है कि किसी दिव्य प्राणी के पृथ्वी पर जन्म लेने के कारण ये विकार उत्पन्न हुए है।[8]

कंस को बताया जाता है कि देवकी ने पुत्री को जन्म दिया है। वसुदेव व देवकी की प्रार्थना ठुकरा कर वह उस कन्या को शिला पर दे मारता है। कन्या दो अंशों में विभक्त हो जाती है; एक अंश आकाश में उड़कर कात्यायिनी बन जाता है।[9] कात्यायिनी हाथों में उज्ज्वल शस्त्र लिए हुए है तथा अपने पार्षद कुण्डोदर, शूल, महानील व मनोजव से परिवारित है।[10] कात्यायिनी भी कृष्ण की बाललीलाओं

---

1. सर्वा.-आगच्छ भर्त.। आगच्छ। अस्माकं कन्याना त्वया सह विवाहो भवतु। भा0 ना0 च0, पृ0 525-526.
2. राजा–आ अपध्वंस। कथं सहसैव नष्टा ... वही, पृ0 526.
3. शापः-ह क्वेदानी प्रविशसि। इद खलु मम गृहं संवृत्तम्। वही.
4. बालचरित 2. 4, 5.
5. शापः-एवम्। राजश्री.। अपक्रामतु भवती। इद खलु मम गृह संवृत्तम्। भा0 ना0 च0, पृ0 527.
6. राजा.-किं स्वप्नो नु मयानुभूतः ... वही, पृ0 529.
7. वही, पृ0 529.
8. बालचरित 2. 10.
9. एकांशः पतितो भूमावेकांशो दिवमुन्नतः।
   मां निहन्तुमिहोद्भूतः करैः शस्त्रसमुज्जवलैः॥ वही, 2.18.
10. वही, 2. 21-24.

का दर्शन करने के लिए अपने गणों सहित गोप-वेष में घोष की ओर चली जाती है ।[1]

तृतीय अंक के प्रवेशक में दामक बताता है कि कृष्ण का जन्म हुआ तब से घोष में गायें रोगमुक्त है तथा कंद, मूल, फल, दूध, घृत, व मधु का बाहुल्य हो गया है ।[2]

वृद्ध गोपालक शिशु कृष्ण द्वारा पूतना, यमलार्जुन, धेनुक, प्रलंब, केशी आदि दानवों के वध की सूचना देता है ।[3] अनन्तर हल्लीसक नृत्य करते समय दामोदर को दानव अरिष्टर्षभ के आगमन की सूचना मिलती हैं । यह दानव वृषभ का रूप धारण कर कृष्ण को मारने आया है ।[4] कृष्ण उसका दर्प चूर्ण करने के लिए एक पांव पर खड़े हो जाते हैं और चुनौती देते है कि तुममे शक्ति हो तो मुझे हिला दो । अरिष्टर्षभ उन्हे गिराने के प्रयत्न मे स्वयं मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है । वह कृष्ण को विष्णु या पुरुषोत्तम के रूप मे पहचान कर[5] उन्हीं के हाथ से मरने के लिये युद्ध करता हैं; कृष्ण उसे पल भर मे मार गिराते है ।

चतुर्थ अंक मे कालिय-मर्दन की घटना चित्रित है । कृष्ण यमुना ह्रद मे कूद कर कालिय नाग से युद्ध करते है । बाद में उसके फनों पर चढ़ जाते है और हल्लीसक नृत्य करते है ।[6] वे कालिय को चुनौती देते हैं कि तुम अपनी विष-ज्वाला से मेरे हाथ जलाकर तो दिखाओ । कालिय प्रयत्न करता है, पर सफल नहीं होता । तब वह भी दामोदर के ईश्वरत्व को पहचान कर[7] अपने व्यवहार के लिए उनसे क्षमा मांगता है । बाद में वह यमुना-ह्रद में व्याप्त सारा विष समेट कर अन्यत्र चला जाता है ।

पंचम अंक मे दामोदर कंस के निमन्त्रण पर धनुर्मह मे भाग लेने के लिए मथुरा जाते हैं । संकर्षण भी उनके साथ है । वहां वे उत्पलापीड नामक मदोन्मत्त हाथी का दांत उखाड़ कर उसे मार डालते है,[8] दासी मदनिका की कूबड़ मिटा देते

---

1. भा० ना० च०, पृ० 533.
2. वही, पृ० 535.
3. वही, पृ० 536-537.
4. वही, पृ० 545.
5. वही, पृ० 542.
6. भोगे विषोल्वणफणस्य महोरगस्य ।
   हल्लीसकं सललितं रुचिरं वहामि ।। बा० च० 4. 6.
7. कालिय.–प्रसीदतु, प्रसीदतु भगवान् नारायणः । भा० ना० च० पृ 547.
8. बाल चरित 5. 2.

है[1] धनुःशाला के रक्षक सिंहबल को एक ही घूंसे से मार गिराते हैं;[2] तथा चाणूर व मुष्टिक नामक मल्लों को मार कर[3] प्रासाद-शिखर पर स्थित कस को नीचे गिराकर उसका भी वध कर देते हैं ।[4]

कस का वध होने पर देवगण प्रसन्न होकर तूर्य-वादन व पुष्प-वृष्टि करते हैं । नारद गधर्वों और अप्सराओ के साथ कृष्ण का दर्शन व स्तुति करने के लिए देवलोक से आते है ।[5]

इस विवरण से स्पष्ट है कि 'बालचरित' मे कृष्ण के ईश्वरत्व का प्रतिपादन ही भास का ध्येय है । कृष्ण ने कंस आदि दुष्टो का वध करने के लिए वृष्णि कुल मे जन्म लिया है । वे भगवान् नारायण के अवतार हैं । नाटककार ने उनके नारायणत्व को कही भी दृष्टि से ओझल नही होने दिया है । कृष्ण के सभी कार्य उनकी ईश्वरता के परिचायक है । नारद, वसुदेव व नन्दगोप तो उनकी ईश्वरता से परिचित है ही, शरिष्टर्षभ व कालिय जैसे दुष्ट भी अत में कृष्ण के दैवी रूप को पहचानने में समर्थ होते है । अरिष्टर्षभ तो जानबूझ कर दामोदर के हाथों से मरता है जिससे उसे अक्षय लोक की प्राप्ति हो ।[6] कृष्ण के ईश्वरत्व का ही यह चमत्कार है कि कस सहित कोई भी दानव या दुष्ट युद्ध मे उनका समकक्ष नही हो पाता । इससे कृष्ण की अलौकिकता तो प्रकट होती है, पर युद्ध-दृश्यों मे वास्तविक संघर्ष का तत्त्व नही उभर सका है । कृष्ण के ईश्वरत्व व अलौकिक चमत्कारों को अतिशय महत्त्व देने का परिणाम यह हुआ है कि नाटक में मानव-तत्त्वों को उचित स्थान नहीं मिल सका है ।

शास्त्रीय दृष्टि से 'बालचरित' की कथावस्तु 'प्रख्यात' कही जायेगी । वह भास के युग की कृष्ण-संबधी पौराणिक कथाओ पर आधारित है । ये कथाएं बाद मे पुराण ग्रन्थों में भी सकलित की गई । डा० दे के अनुसार इस नाटक की कथा-वस्तु कृष्ण के प्रारम्भिक जीवन की असुसम्बद्ध घटनाओं पर आधारित है तथा इसमे प्रभाव की अन्विति व पूर्णता का लगभग अभाव है ।[7] किन्तु यह आलोचना तथ्य

1. भा० ना० च०, पृ० 550-1.
2. वही, पृ० 551.
3. वही, पृ० 553-4.
4. बाल चरित 5.11.
5. कसे प्रमथिते विष्णोः पूजार्थं देवशासनात् ।
   सगन्धर्वाप्सरोभिश्च देवलोकादिहागतः ॥ वही 5. 17.
6. वही, अंक 3, पृ० 542.
7. ए हिस्ट्री ऑव् सस्कृत लिट्रेचर, पृ० 115.

सगत नही कही जा सकती । यदि हम नाटककार के उद्देश्य को दृष्टि में रखें तो कह सकते हैं कि वस्तु-योजना और प्रभाव-सृष्टि में उसे काफी सफलता मिली है। उसने कृष्ण के बाल-जीवन के जिन प्रसंगों को नाटक में प्रदर्शित किया है, वे पर्याप्त प्रभावशाली है। पौराणिक कथाओं का आधार लेते हुए भी नाटककार ने घटनाओं के चयन में स्वतंत्र दृष्टि का परिचय दिया है। प्रथम अंक में शिशु कृष्ण की दिव्यता के सूचनार्थ परपरागत कथा में अनेक नवीन अतिप्राकृत प्रसंगो की योजना की गई है। विष्णु के पंच आयुध व गरुड का मानवीकरण भास की मौलिक कल्पना है जो 'दूतवाक्यम्' में भी इसी रूप में आयी है। डा० दे की यह आपत्ति कि इन प्रसंगो का कोई नाटकीय महत्त्व नही है, [1] उचित नही कही जा सकती। ये प्रसंग निश्चय ही कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व के सूचक है, और उनके ऐसे व्यक्तित्व की स्थापना ही नाटक का प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होता है।

भास की सबसे अधिक मौलिकता दूसरे अंक में प्रकट हुई है जहां उन्होने शाप, राजश्री तथा चाण्डाल कन्याओं जैसे पात्रो की मनोवैज्ञानिक व प्रतीकात्मक योजना की है। संस्कृत नाटक में अतिप्राकृतिक तत्त्वों की ऐसी योजना अत्यन्त विरल है। चाण्डाल कन्याओं का कस के प्रति विवाह का प्रस्ताव, शाप व उसकी भयानक मंडली का कस के घर पर अधिकार, राजश्री का प्रस्थान, कंस के हृदय मे शाप का प्रवेश आदि घटनाएं कंस की अशुभ दानवी प्रकृति, सर्वागीण नैतिक पतन तथा उसके आसन्न विनाश की सूचक हैं। साथ ही नाटककार ने बड़े कौशल से यह सदेह भी जाग्रत रखा है कि कंस ने इन विचित्र व भयानक प्राणियों को यथार्थ रूप मे देखा है कि स्वप्न में ? कंस प्रतिहारी यशोधरा से पूछता है कि क्या तुमने इधर मातग कन्याओं को घूमते देखा ? वह उत्तर देती है कि प्रतिदिन सेवा करने वाले लोगों का भी राज प्रासाद मे प्रवेश कठिन है फिर मातग कन्याओं की तो बात ही क्या ? [2] इस पर कंस कहता है कि मैंने कहीं स्वप्न ही तो नही देखा !

बालचरित के इस दृश्य की शेक्सपीयर के "मैकवेथ' नाटक के उस दृश्य से तुलना की जा सकती है जहां मैकवेथ व वेको की तीन डाइनों से निर्जन स्थान मे भेट होती है। ये डाइनें कुछ भविष्यवाणियां करके अकस्मात् अदृश्य हो जाती है। [3] जिस प्रकार वहां डाइनो की वस्तुगत सत्ता के साथ एक मनोवैज्ञानिक प्रतीकात्मक सत्ता भी है, उसी प्रकार प्रस्तुत दृश्य मे चाण्डाल कन्याओं, शाप व राजश्री आदि की

---

1. ए हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 115.
2. प्रतिहारी—हं मातंगीजन इति। नित्यं भर्तृपादमूले वर्तमानस्यैव जनस्येह प्रवेशो दुर्लभः, किं पुनर्मातंगीजनस्य। भा0 ना0 च0, पृ0 529.
3. शेक्सपीयर : मैकवेथ, अंक 1, तृतीय दृश्य

भी प्रतीति हमें दो रूपों में होती है। एक तो वास्तविक पात्रों के रूप में और दूसरे मनोवैज्ञानिक व प्रतीकात्मक तथ्यों के रूप में।

इसी अंक में देवकी-कन्या के आकाश में उड़कर देवी के रूप में परिवर्तन की घटना आयी है। भास ने यहां भी दो नयी बातें जोड़ी हैं—(१) कन्या के शरीर के दो अंशों में से एक ही अंश आकाश में उड़ता है और (२) कात्यायिनी अपने परिवार सहित कृष्ण के बाल चरित में सम्मिलित होने के लिए गोपवेष धारण कर घोष की ओर चली जाती है। तृतीय से पंचम अंकों तक की घटनाएं पौराणिक कथाओं का अनुसरण करती हैं, किन्तु यहां भी नाटककार की चयन-कुशलता द्रष्टव्य है। तृतीय अंक के प्रवेशक में वृद्ध गोपालक ने शिशु कृष्ण द्वारा अनेक दानवों के वध की सूचना दी है। इस प्रवेशक द्वारा भास ने पौराणिक कथा के विस्तार को नाटकीय दृष्टि से सीमित करने का सफल प्रयास किया है। नाटक की दृश्य कथा में कृष्ण की मुठभेड़ केवल अरिष्टार्षभ, कालिय, चाणूर व कंस के साथ दिखाई गई है; अन्य प्रसंगों की मात्र सूचना दी गई है। इससे नाटककार का वस्तुयोजना का प्रावीण्य प्रकट होता है।

भास ने इस नाटक में नाट्यशास्त्र के एक महत्त्वपूर्ण विधान का उल्लंघन किया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार रंगमंच पर मृत्यु के दृश्यों का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए।[1] भास ने इस नाटक में एक तो क्या, चार या पांच मौतें रंगमंच पर प्रदर्शित की हैं। परन्तु ये मृत्यु दृश्य अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होते; प्रत्युत नाटक में यथार्थता की सृष्टि कर कृष्ण की वीरता व अलौकिकता के प्रभाव को तीव्र करने में सहायक होते हैं।

कीथ के विचार में 'बालचरित' नाटक भास की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। उनके अनुसार द्वितीय अंक का 'प्रवेश-दृश्य' अपनी भयावहता में अतिशय प्रभावशाली है, तथा कवि ने विष्णु के पार्षदों व कात्यायिनी के परिवार की अद्भुत आकृतियों को प्रेक्षकों की कल्पना का विषय बनाने में तनिक भी संकोच नहीं किया है। ये सभी रंगमंच पर उपस्थित होते हैं, पर निःसन्देह ऐसी वेशभूषा में कि बहुत कुछ सामाजिकों के मनश्चक्षुओं पर छोड़ दिया जाता है। कीथ के अनुसार इस नाटक का एक प्रमुख दोष यह है कि इसमें पक्ष व प्रतिपक्ष के बीच अत्यधिक असमानता है। कृष्ण पर कभी विपत्ति नहीं आती तथा उनके साहसिक कर्म इतनी सरलता से निष्पन्न हुए हैं कि वे अपना अभीष्ट प्रभाव नहीं डाल पाते।[2]

---

1. ना० शा० 18.16; दशरूपक 3.34; सा० द० 6.16.
2. कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ० 106-107.

अतिप्राकृत पात्र

पौराणिक कथा पर आधारित होने से 'बालचरित' में अति प्राकृत पात्रों का बाहुल्य है। ये पात्र अधिकतर पौराणिक कल्पनाओं से निर्मित है। केवल द्वितीय अक मे भास ने कुछ नये पात्रों की सृष्टि की है जिनका कृष्ण-सम्बन्धी पौराणिक कथाओं मे उल्लेख नहीं मिलता।

'बालचरित' में चित्रित अतिप्राकृतिक पात्र अनेक प्रकार के है। कुछ दैवी पात्र है जो स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर मानवीय कार्यकलापो में भाग लेते है। ऐसे पात्रों में नाटक के नायक दामोदर, नारद, विष्णु के पांच आयुध तथा गरुड, कात्यायिनी तथा उसका परिवार उल्लेखनीय है। असुर पात्रों में कंस, पूतना आदि दानव तथा अरिष्टर्पभ व कालिय नाग उल्लेखनीय हैं। तीसरे प्रकार के पात्र प्रतीकात्मक व मनोवैज्ञानिक है जिनमे चाण्डाल युवतिया, शाप, वज्रबाहु, उसकी सहचरियां तथा कस की राजश्री सम्मिलित है।

दामोदर : ये भगवान् विष्णु के अवतार है जिन्होने कंस-वध तथा लोक-हित के प्रयोजन से वृष्णि कुल मे देवकी के गर्भ से जन्म लिया है। वे माया के द्वारा शिशु बने हैं,[1] वस्तुतः वे त्रिलोकेश्वर, लोकों के अभय-प्रदाता, सुरों के गुरु तथा दैत्यों के घातक है। पूर्व अवतारों में रावण और विरोचन का वध उन्होंने ही किया था।[2] नाटक का समस्त घटना-विन्यास कृष्ण या दामोदर के अलौकिक व्यक्तित्व का अनावरण मात्र है। वे अनेक चमत्कारो के जनक तथा अलौकिक शक्ति के धनी है। वे कितने ही असुरों को अनायास मार गिराते है। कोई भी प्रतिपक्षी शक्ति और प्रभाव मे उनका तुल्य नहीं है। नाटककार ने प्रत्येक प्रसंग में उनकी 'ईश्वरता' का स्पष्ट शब्दो मे उल्लेख किया है। शास्त्रीय दृष्टिसे'दामोदर' दिव्य या दिव्यादिव्य कोटि के नायक है।

नारद : नारद का व्यक्तित्व पौराणिक कल्पनाओ एव लोकविश्वासों का मिश्रित रूप उपस्थित करता है। वे वीणा-प्रेमी और कलहप्रिय है।[3] उन्हे शाति मे बैठना पसंद नही।[4] लोगों मे बैर पैदा करना और उन्हे आपस मे लड़ाना उनका प्रिय विनोद है।[5] वे लोक लोकान्तरों में भ्रमण करते है। नाटक मे वे कृष्ण का

---

1. मायया शिशुत्वमुपागतं त्रिलोकेश्वरं प्रगृह्य—भा० ना० च०, पृ० 512.
2. बा० च० 1.6-8.
3. वही, 1.5.
4. वही, 1.4.
5. वैराणि भीमकठिनाः कलहाः प्रिया मे। वही

दर्शन करने के लिए दो बार पृथ्वी पर आये हैं। दूसरी वार वे गन्धर्व व अप्सराओं को भी साथ में लाते हैं।

विष्णु के पंच आयुध व वाहन गरुड : भास ने 'दूतवाक्यम्' के समान इस नाटक में भी इन्हें मानव-आकार में प्रस्तुत किया है। इससे प्रतीत होता है कि भास को यह कल्पना विशेष प्रिय थी। जैसा कि पहले कहा गया है, इन आयुधों के रूप में नाटककार ने ईश्वर की लोकरक्षिका शक्ति का प्रतीकात्मक चित्रण किया है।

कात्यायिनी व उसका परिवार : संभवतः भास ने भगवती दुर्गा को ही कात्यायिनी कहा है। पुराणों के अनुसार वह भगवान् विष्णु की योगनिद्रा या योग-माया थी जो उन्हीं की आज्ञा से यशोदा के गर्भ से उत्पन्न हुई थी।[1] नाटक में इस बात का तो संकेत नहीं दिया गया, पर यह अवश्य कहा गया है कि वह सुम्भ, निसुम्भ, महिष व अन्य देव-शत्रुओं का वध कर कंस के कुल का नाश करने के लिए वसुदेव के वंश में पैदा हुई है।[2]

कंस : भगवान् नारायण ने इसी के वध के लिए अवतार लिया है। दामोदर के अनुसार वह पूर्व जन्म में असुर था,[3] किन्तु उसका चरित्र दानव या असुर के रूप में उतना नहीं उभर सका है जितना एक दुष्ट, दुराचारी और क्रूर राजा के रूप में।

अन्य असुर : पूतना, यमलार्जुन, प्रलंब, धेनुक व केशी आदि दानव क्रमश. स्त्री, वृक्ष, नन्दगोप, गर्दभ और तुरंग का रूप धारण कर कृष्ण को मारने आते हैं, किन्तु वे स्वयं ही उनके द्वारा मार दिये जाते हैं।[4] मृत्यु के पूर्व ये सभी अपने वास्तविक दानव रूप में प्रकट होते हैं।

चाण्डाल कन्यायें, शाप व राजश्री : ये सभी प्रतीकात्मक अतिप्राकृत पात्र हैं जिनका विवरण हम पहले दे चुके हैं। नाटक में प्रतीकात्मक पात्रों के समावेश की परम्परा भास से भी पुरानी है। उपलब्ध नाटक-साहित्य में सर्वप्रथम अश्वघोष के एक खंडित नाटक में कतिपय प्रतीकात्मक पात्रों की योजना मिलती है जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। इन पात्रों के अलावा बुद्ध स्वयं भी इस नाटक के एक पात्र हैं। अतः इसमें यथार्थ व प्रतीक दोनो प्रकार के पात्रों का सम्मिश्रण है।

---

1. विष्णु पुराण 5, 2-3 ; भागवत पुराण, 10, 3.47.
2. बा० च० 2.20.
3. मर्त्येषु जन्म विफलं मे तानि घोषे, कर्माणि चात्र नगरे धृतये न तावत्।
   यावन्न कंसहतकं युधि पातयित्वा जन्मान्तरासुरमहं कर्षयामि ॥ वहीं, 4.6.
4. भा० ना० च०, पृ० 536-7.

यही बात हमें भास के बालचरित के द्वितीय अंक में देखने को मिलती है। इसमें शाप, चाण्डाल युवतियां व राजश्री प्रतीकात्मक पात्र है और कंस एक यथार्थ पात्र। इस प्रकार इन प्रतीकात्मक पात्रों की कल्पना में भास ने संभवतः अपने पूर्ववर्ती नाटक-साहित्य की एक मान्य परम्परा को ही आगे बढ़ाने की चेष्टा की है। यह अन्तर अवश्य है कि जहां अश्वघोष के पात्र मानसिक तत्त्वों (बुद्धि, धृति आदि) के प्रतीक है वहां भास के पात्र तत्कालीन लोक विश्वासों के मूर्त रूप प्रतीत होते है। भास के पश्चात् एक दीर्घ काल तक हमें नाटकों में प्रतीकात्मक पात्रों की योजना नहीं मिलती। अनेक शताब्दियों बाद कृष्णमिश्र (११वीं सदी ई०) के प्रबोध-चन्द्रोदय में प्रतीकात्मक शैली का पुनः नवोन्मेष हुआ। यद्यपि भास ने अपने संपूर्ण साहित्य में ऐसे एक ही दृश्य की योजना की है, पर यह दृश्य प्रतीकात्मक पात्रों की प्रभावपूर्ण योजना में उसके नैपुण्य का सूचक है।

अतिप्राकृत तत्त्व और रस

शास्त्रीय दृष्टि से नाटक मे शृंगार और वीर इन दो रसों में से कोई एक अंगी होना चाहिए। अन्य रसों की योजना अंग के रूप में ही की जा सकती है। 'बालचरित' में शृंगार रस की हल्की सी झलक तृतीय अंक में हल्लीसक नृत्य के प्रसंग में मिलती है, किन्तु उसका सम्यक् विकास व परिपाक नही होता। नृत्य के बीच में ही दानव अरिष्टार्षभ के आगमन की सूचना मिलने से नाटक की भावधारा शृंगार से हटकर वीर रस की ओर मुड़ जाती है।

'बालचरित' का प्रधान रस वीर है जिसकी व्यंजना अंतिम तीन अंकों में हुई है। प्रथम अंक में शिशु कृष्ण का अलौकिक व्यक्तित्व व कार्य अद्भुत रस के व्यंजक है। द्वितीय अंक में कंस के राजप्रासाद में रात्रि के समय शाप व चाण्डाल-कन्याओं का भयावह रूप व कार्यकलाप विस्मय व भय के भाव जाग्रत करते है। यहा विस्मय भाव भयानक रस के संचारी के रूप में व्यक्त होता है। देवकी-कन्या के आकाश में उड़ने और कात्यायिनी के रूप में परिवर्तित होने का प्रसंग भी अद्भुत-मिश्रित भयानक रस का व्यजक है। इस प्रकार नाटक के विभिन्न स्थलों में विभिन्न रसों की निष्पत्ति होती है, किन्तु समग्र नाटक की दृष्टि से वीर रस ही प्रधान है। कृष्ण ने कंस के वध के लिए पृथ्वी पर जन्म लिया है, अतः प्रथम व द्वितीय अंकों में वर्णित अलौकिक वस्तु-व्यापार कस व अन्य दानवो के वध-रूप उद्देश्य के प्रति अंग है। अरिष्टार्षभ, कालिय व कंस आदि के वध के लिए कृष्ण का उत्साह तथा तज्जन्य अलौकिक कर्म अद्भुत परिपुष्ट वीर रस के व्यंजक है। यह भी उल्लेखनीय है कि नाटकीय घटनाचक्र के बीच-बीच में विभिन्न पात्रों के माध्यम से नाटककार

युक्ति से उसने वसन्तक का भी रूप बदल डाला।[1] कथासरित्सागर का यौगन्धरायण अदृश्य होने की विद्या में निष्णात है। वह उदयन, वासवदत्ता व उसकी सखियों के समक्ष देखते-देखते अदृश्य हो जाता है।[2] इस अदृश्य रूप में ही वह राजा की बेड़ियां काटकर वासवदत्ता व उसकी सखियों को वश में करने के लिए उसे वशीकरण की औषधियां देता है।[3] वह दूसरी बार पुनः अदृश्य रूप में[4] उदयन से भेंट कर वासवदत्ता के साथ उज्जयिनी से भाग निकलने की कूट योजना से उसे परिचित कराता है।

इससे स्पष्ट है कि लोककथा में यौगन्धरायण का व्यक्तित्व बहुत कुछ अतिमानवीय था जिसे भास ने यथासंभव मानव रूप मे ढालने का प्रयास किया है। भास की दृष्टि से यह उचित भी है। कथासरित्सागर में यौगन्धरायण का अलौकिक व्यक्तित्व उसके नीति-नैपुण्य को पूरी तरह उभरने नहीं देता। वहां यौगन्धरायण एक सिद्धिसम्पन्न पुरुष है, नीति-प्रवीण नहीं। नीतिज्ञता एक मानवीय गुण है जो तभी प्रभावी रूप में प्रकाश में आ सकती है जब उसका संबंध किसी मनुष्य से हो, अतिमानव से नहीं। भास का उद्देश्य यौगन्धरायण को एक नीति-कुशल व स्वामि-भक्त मंत्री के रूप में चित्रित करना था, अतः उसके व्यक्तित्व को अलौकिकता से सर्वथा मुक्त रखा गया है। इससे उसका व्यक्तित्व अधिक प्रभावशाली व विश्वसनीय हो सका है। नाटक का यौगन्धरायण एक मनुष्य पात्र है, इसलिए उसकी नीति-निपुणता उसे गौरवान्वित करती है, जबकि कथासरित्सागर में वह उसकी अलौकिकता का एक ही पक्ष है।

भविष्य-कथन व अदर्शन : नाटक के प्रथम अंक मे यौगन्धरायण का द्वारपाल निर्मुण्डक उसे एक आश्चर्यजनक सूचना देता है। राजा उदयन के कल्याण के निमित्त जब ब्राह्मण-भोजन हो रहा था तब किसी उन्मत्त-वेशधारी ब्राह्मण ने जोर से हसकर कहा—'आप लोग निश्चिन्तता से भोजन करें। इस राजकुल का अभ्युदय होगा।' यह कह कर तथा अपने उन्मत्त वेष को वहीं छोड़कर वह सहसा अदृश्य हो गया।[5] बाद मे एक ब्राह्मण यौगन्धरायण के पास उन वस्त्रों को लेकर आया। उसने बताया कि भगवान् द्वैपायन इन वस्त्रों को छोड़कर गये हैं।[6] तब यौगन्धरायण

---

1. कथासरित्सागर, लम्बक 2, तरंग 4.47–51
2. वही, 2, 4.59–60
3. वही, 63–64
4. वही, तरंग 5.2.
5. भा० ना० च०, पृ० 71.
6. वही, पृ० 71.

ने उन्हे पहन कर देखा और पाया कि उनके कारण उसका रूप कुछ और ही हो गया है।[1] उसने सोचा "द्वैपायन मेरे लिए इन वस्त्रों को छोड़ गये है। उस साधु पुरुष (द्वैपायन) के द्वारा धारित यह उन्मत्तसदृश वेष राजा को मुक्ति दिलायेगा और मुझे प्रच्छादित रखेगा।"[2] आगे के अंकों में हम यौगन्धरायण को इसी उन्मत्तवेष में उदयन की मुक्ति के लिए प्रयास करते देखते हैं।

कथासरित्सागर और नाटक दोनों में यौगन्धरायण का उन्मत्तरूप में परिवर्तन बताया गया है, पर इस परिवर्तन का कारण उनमें भिन्न भिन्न निर्दिष्ट है। प्रथम में ब्रह्मराक्षस द्वारा बतायी युक्ति से ऐसा होता है और दूसरे मे द्वैपायन द्वारा परित्यक्त वस्त्रों से। यहां नाटककार ने मूल कथा में जो परिवर्तन किया है वह सार्थक है। जहां लोककथा का यौगन्धरायण ब्रह्मराक्षस से युक्ति सीखकर मत्र-तंत्र व योग आदि द्वारा अपना रूप-परिवर्तन कर एक सिद्ध पुरुष बन जाता है वहां नाटक का यौगन्धरायण यथावत् रहता है, केवल महर्षि द्वैपायन के वस्त्र पहनने से उसका रूप उन्मत्त पुरुष जैसा हो जाता है, वह अलौकिक या सिद्ध पुरुष नही बनता। कथासरित्सागर के अनुसार यौगन्धरायण न केवल अपना ही रूप बदलता है अपितु वसन्तक के शरीर को भी बदल डालता है। नाटक के यौगन्धरायण में ऐसी कोई अलौकिक शक्ति नही बताई गयी। अगर कोई अलौकिकता है तो वह वेदव्यास के वस्त्रों में ही है। अतः यौगन्धरायण का मूल लौकिक व्यक्तित्व अपरिवर्तित रहता है। इस प्रकार नाटककार ने कथा को लौकिक धरातल से पृथक् नही होने दिया है तथा यौगन्धरायण के नीति-निपुण मानव-रूप को ही विशेष गौरव दिया है। किन्तु चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रशंसनीय होते हुए भी वस्त्रों से संबंधित कल्पना नाटकीय दृष्टि से संगत नहीं है। द्वैपायन का उन्मत्त रूप में आगमन तथा अपने वस्त्र छोड़कर अकस्मात् गमन आदि का नाटक की मुख्य कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः यह प्रसंग आरोपित-सा प्रतीत होता है। नाटककार ने केवल यौगन्धरायण के रूप-परिवर्तन के लिए इस प्रकार की कष्ट-कल्पना की है जो वस्तु-विधान की दृष्टि से उचित नहीं लगती। इस युक्ति द्वारा नाटककार ने यौगन्धरायण को तो अति-मानवीयता से बचा लिया है, पर कथावस्तु मे एक असंगत अतिप्राकृत प्रसंग को ग्रहण कर लिया है।

---

1. यौगन्धरायणः—कथमन्यद् रूपमिव मे संवृत्तम्। वही, पृ० 72.
2. उन्मत्तसदृशो वेषो धारितस्तेन साधुना।
   मोचयिष्यति राजानं मां च प्रच्छादयिष्यति।
   प्र०यौ० 1.17.

प्रस्तुत नाटक मे एक मात्र 'द्वैपायन' का व्यक्तित्व अलौकिकता लिए हुए है। उनके द्वारा परित्यक्त वस्त्रों मे कुछ ऐसी विशेपता है कि यौगन्धरायण का अपना वास्तविक रूप बिल्कुल छिप जाता है। नाटककार ने उन्हें भविष्यद्रष्टा और अन्तर्धान की अलौकिक शक्ति से युक्त बताया है। यह उल्लेखनीय है कि नाटक मे द्वैपायन की चर्चा मात्र आई है, वे किसी भी दृश्य मे प्रत्यक्ष उपस्थित नही होते।

स्वप्नवासवदत्त

छह अंकों का यह नाटक भास की सर्वश्रेष्ठ नाट्य कृति है। इसमें राजा उदयन के खोये हुए राज्य की पुनः प्राप्ति के लिए उसकी पत्नी वासवदत्ता के अनुपम आत्मत्याग की कथा निबद्ध है। पंचम अंक का स्वप्नदृश्य भास की एक अनूठी कल्पना है, जो इस नाटक के नामकरण का आधार है। नाटककार का सबसे अधिक कौशल उदयन व वासवदत्ता के मानसिक भावो के चित्रण मे प्रकट हुआ है। भास मानव-हृदय के कितने बड़े पारखी थे यह बात इस नाटक के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है।

स्वप्नवासवदत्त मे न कथावस्तु के अन्तर्गत कोई अतिप्राकृत तत्त्व आया है और न चरित्र-चित्रण में। नाटक की समस्त घटनाएं, पात्र एवं वातावरण सर्वथा मानवीय है। केवल कुछ लोक-प्रचलित विश्वासों के रूप में अतिप्राकृतिक तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। इन विश्वासो को नाटककार ने नाटकीय कथा तथा उसकी मूल भावना के साथ समन्वित करने का सफल प्रयास किया है। ये तत्त्व निम्नलिखित है—

सिद्धादेश : पुष्पकभद्रक आदि आदेशिको ने भविष्यवाणी की है कि मगध-नरेश दर्शक की बहिन पद्मावती राजा उदयन की रानी होगी।[1] इसी भविष्यवाणी को ध्यान मे रखकर यौगन्धरायण आदि मंत्रियों ने वासवदत्ता को पद्मावती के पास धरोहर के रूप मे रखने का निश्चय किया। उक्त आदेशिकों के कथन मे सन्देह के लिए तनिक भी अवकाश नही था, क्योकि उनकी कुछ भविष्यवाणिया पहले भी सच्ची प्रमाणित हो चुकी थी। उदाहरणार्थ उन्होने राजा उदयन पर आने वाली विपत्ति की भविष्यवाणी की थी जो सही निकली[2] यौगन्धरायण के अनुसार स्वय

---

1. यौगन्धरायण (स्वगतम्) एवम्। एपा सा मगधराजपुत्री पद्मावती नाम, या पुष्पकभद्रादिभिरादेशिकैरादिष्टा स्वामिनो देवी भविष्यतीति।
स्वप्नवासवदत्त (भासनाटकचक्र मे सकलित) पृ0 3.

2. पद्मावती नरपते र्महिपी भवित्री
दृष्टा विपत्तिरथ यैः प्रथमं प्रदिष्टा।
तत्प्रत्ययात् कृतमिदं न हि सिद्धवाक्या-
न्युत्क्रम्य गच्छति विधि सुपरीक्षितानि ॥ वही, 1.11.

विधि (विधाता) भी सिद्धजनों के सुपरीक्षित वाक्यो का उल्लंघन नही कर सकता।

यहां नाटककार ने सिद्ध पुरुष के आदेश या भविष्यवाणी के रूप में जिस अतिप्राकृत तत्त्व की योजना की है वह एक प्रचलित लोक-विश्वास तो है ही, नाटक की वस्तु-योजना की दृष्टि से भी सार्थक है। कथासरित्सागर की कथा में 'सिद्धादेश' की बात नही आयी। वहा भी वासवदत्ता पद्मावती के सरक्षण में सौपी गयी है, पर सिद्धादेश के कारण नहीं। वहां मंत्रियों को केवल राजनैतिक प्रयोजन से पद्मावती का उदयन के साथ विवाह इष्ट है। नाटक मे भी मुख्य कारण राजनैतिक ही है पर उसे सिद्धादेश द्वारा एक लोकोत्तर अनुमोदन भी दिया गया है जिससे नाटकीय घटनाचक्र में एक अवश्यंभाविता का तत्त्व समाविष्ट हो गया है। जिस प्रकार उदयन की राज्यनाशरूपी विपत्ति पूर्वनियत थी, उसी प्रकार पद्मावती के साथ उसका विवाह भी एक अपरिवर्तनीय दैवी-विधान है। इस तरह लेखक ने नाटक की विशुद्ध मानवीय कथा में एक अतिप्राकृत तत्त्व जोड़ दिया है, पर यह नाटक के मानव-तत्त्व का सहायक व पूरक मात्र है। वह उसके महत्त्व को कम नही करता; केवल उसे एक अतिरिक्त बल प्रदान करता है। नाटक का यौगन्धरायण कथासरित्सागर के यौगन्धरायण की तुलना में वासवदत्ता को पद्मावती के संरक्षण मे अधिक विश्वास के साथ सौंप सका है, क्योंकि उसे पद्मावती और उदयन के विवाह के विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है।[1] कथासरित्सागर में उदयन के मंत्रियों को केवल आशा ही है कि वासवदत्ता की मृत्यु की घोषणा के बाद मगधराज अपनी पुत्री का विवाह उदयन के साथ कर देगा, पर नाटक मे उन्हे यह पक्का भरोसा है कि ऐसा होगा ही। अत: जब भी ऐसा होगा तब पद्मावती वासवदत्ता के शील व चरित्र की साक्षिणी होगी। दूसरी ओर कथासरित्सागर की वासवदत्ता को अपनी सच्चरित्रता सिद्ध करने के लिए अग्निप्रवेश का प्रस्ताव करना पड़ा है[2] तथा अंत में एक आकाशवाणी द्वारा उसका पातिव्रत प्रमाणित किया गया है।[3]

---

1. राजा-अथ पद्मावत्या हस्ते किं न्यासकारणम्।
यौगन्धरायण:—पुष्पकभद्रादिभिरादेशिकैरादिष्टा स्वामिनो देवी भविष्यतीति।
भा० ना० चा०, पृ० 55.

2. अग्निप्रवेश: कार्यो मे राज्ञो हृदयशुद्धये।
इति वासवदत्ता च बभाषे बद्धनिश्चया॥ 3.2.116.

3. इत्युक्त्वा विरते तस्मिन् दिव्या वागुदभूदियम्।
धन्यस्त्वं नृपते यस्य मंत्री यौगन्धरायण:॥
यस्य वासवदत्ता च भार्या प्राग्जन्मदेवता।
न दोष: कश्चिदेतस्या इत्युक्त्वा वागुपारमत्॥ 3.2.119-120.

भाग्यवाद : स्वप्नवासवदत्त मे भाग्य की परिवर्तनशीलता,[1] विधि की अनतिक्रमणीयता[2] तथा दैव की निष्ठुरता[3] का भी अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। इस उल्लेख द्वारा नाटककार ने यह सकेत दिया है कि मानव-जगत् अपने आप में स्वतन्त्र और पूर्ण नही है, उसकी विभिन्न दशाओं और कार्यकलापो के पीछे किसी अदृश्य शक्ति का हाथ रहता है। यह शक्ति ही मानव के सुख-दुख, सफलता-असफलता, जीवन-मरण आदि का नियमन व निर्देशन करती है। कोई भी व्यक्ति दैवी विधान का अतिक्रमण नही कर सकता। उसके सामने मनुष्य सर्वथा असहाय व निरुपाय है। यह उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के विचार पात्रों के मुंह से प्राय: किसी अप्रिय परिस्थिति, निराशा या दु:ख के क्षणों में ही व्यक्त हुए हैं।

अविमारक

भास के लोककथाओं पर आधारित नाटकों में अविमारक में अतिप्राकृत तत्त्वो का सबसे अधिक प्रयोग हुआ है। इसकी वस्तु व पात्र दोनों की योजना मे इन तत्त्वों का उपयोग किया गया है। छह अंको के इस नाटक मे राजा कुन्तिभोज की पुत्री कुरंगी व शाप के कारण चाण्डाल बने सौवीरराज के पुत्र अविमारक के रोमांचकारी व साहसिक प्रणय की कथा निबद्ध है। सोमदेव कृत कथासरित्सागर,[4] क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामंजरी[5] एव कुणालजातक मे वर्णित 'एलकमारक' की कहानी मे अविमारक व कुरंगी की प्रेमकथा के विभिन्न रूप मिलते है, पर इनमें से कोई भी नाटकीय कथा से पूरी तरह साम्य नहीं रखता। गुणाढ्य की बृहत्कथा मे भी यह प्रेम कहानी रही होगी, पर उसके अप्राप्य होने से हम नही कह सकते कि उसमे इसका क्या रूप था? बृहत्कथा पर आधारित कथासरित्सागर मे सुरतमंजरी की कथा के अन्तर्गत कुरंगी व चाण्डाल कुमार के प्रणय की कहानी आई है। नाटकीय कथा के साथ इसकी अनेक बातो मे समानता है। राजकुमारी व चाण्डालकुमार के प्रेम व विवाह का मूल इतिवृत्त दोनों मे समान है। प्रेमी व प्रेमिका के प्रथम दर्शन

---

1. (क) कालक्रमेण जगत· परिवर्तमाना
   चक्रारपक्तिरिव गच्छति भाग्यपक्ति:। स्वप्न0 1.4.
   (ख) यावदिदानी भागधेयनिर्वृत्तं दुखं विनोदयामि।
   अहो अत्याहितम्। आर्यपुत्रोऽपि नाम परकीय. संवृत्त:। भा0 ना0 च0 16-17.
2. धारयतु धारयतु भवान्। अनतिक्रमणीयो हि विधि ईदृशमिदानीमेतत् भा0 ना0 च0 पृ0 32.
3. (क) एतदपि मया कर्तव्यमासीत्। अहो अकरुणा: खल्वीश्वरा·। वही, पृ 18.
   (ख) किं नाम दैव! भवता न कृतं यदि स्याद्, राज्य परैरपहृतं कुशलं च देव्या:॥
   स्वप्न0 6 5,
4. 16.2. 89-108.
5. 18.137-149.

व प्रणयारंभ की परिस्थिति भी लगभग वही है। चाण्डालकुमार एक उद्यान में मतवाले हाथी के आक्रमण से राजकुमारी कुरंगी के प्राणों की रक्षा करता है और इसी विन्दु से दोनों के हृदय मे पारस्परिक प्रणय जाग्रत होता है। निराश चाण्डाल-कुमार का आत्महत्या का प्रयास दोनो में वर्णित है, इस अन्तर के साथ कि नाटक मे यह प्रयास दो वार किया गया है। नाटक में नायिका कुरंगी भी आत्महत्या का प्रयत्न करती है जिसका कथासरित्सागर की कथा में उल्लेख नही मिलता। चाण्डाल-कुमार के अग्निपुत्र होने की बात दोनों में आयी है, यद्यपि उसके व्यौरों मे भिन्नता है। प्रणय की विवाह के रूप मे सुखमय परिणति दोनों मे समान है। किन्तु कथा-सरित्सागर की कथा मे अविमारक की राजपुत्रता, शाप के कारण उसके एक वर्ष के चाण्डालत्व, राजकुमारी के अन्तःपुर मे उसके गुप्त प्रवेश व दीर्घ काल तक प्रच्छन्न निवास तथा विद्याधर द्वारा प्रदत्त जादू की अंगूठी पहनकर कन्यान्तःपुर में उसके पुन. प्रवेश आदि का उल्लेख नही मिलता, जबकि नाटक की वस्तु-योजना में इनका अतिशय महत्त्व है। बृहत्कथामंजरी के अनुसार एक देवदूत स्वर्ग से आकर कुरंगी के पिता को अविमारक का जन्म वृत्तान्त सुनाता है जिसे मानकर राजा अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर देता है।[1] प्रणयकथा में दिव्य-साहाय्य का यह अभिप्राय नाटक के अंतिम अक में वहुत कुछ इसी रूप मे प्रयुक्त है। कुणाल जातक मे आई 'एलकमारक की कथा'[2] मे नायक व नायिका के नाम, चाण्डालकुमार (वस्तुत. राजकुमार) के साथ राजकुमारी का गुप्त-प्रेम व अन्त में दोनों का विवाह आदि वाते समान हैं। किन्तु हस्तिसंभ्रम, चाण्डाल कुमार का अग्निपुत्रत्व तथा विद्याधर-प्रदत्त अंगूठी की सहायता से कुरंगी के महल में उसका अदृश्य प्रवेश आदि महत्त्वपूर्ण प्रसंगों का जातक की कथा में उल्लेख नहीं मिलता।

श्री मेसन ने महाभारत की एक कथा की ओर हमारा ध्यान खीचा है जिसमें अग्नि देवता दुर्योधन की पुत्री सुदर्शना के साथ विवाह करता है।[3] नाटक में भी अविमारक की मां सुदर्शना दुर्योधन पुत्र कुन्तिभोज की वहन वतायी गयी है जो अग्निदेवता से पुत्र प्राप्त करती है। वे यह भी मानते हैं कि अविमारक की मूल कथा में 'अवैध-सन्तान' का अभिप्राय प्रधान रहा होगा तथा अवैध पुत्र का परित्याग

---

1. ततस्तु जन्मवृत्तान्तं यथोक्त न्वयमग्निना।
   देवदूतो दिवः प्राह तच्चामन्यत भूपति.॥ बृहत्कथामंजरी, 18.148.
2. दे० जर्नल ऑव् ओरियंटल इन्स्टीट्यूट, एम० एस० यूनिवर्सिटी, बडौदा, भाग 19 सं० 1-2, 1969 मे प्रकाशित श्री जे० मेसन का लेख 'ए नोट आन् दि सोर्सेज ऑव् अविमारक (?) पृ० 68-70.
3. वही, पृ० 73 की पादटिप्पणी।

करने वाली मां के प्रति पुत्र द्वारा आक्रोश व्यक्त किया गया होगा। किन्तु भास का उद्देश्य एक शृंगार-प्रधान नाटक की रचना करना था, अतः उसने मूल कथा में इस दृष्टि से अनेक परिवर्तन किये होगे। फिर भी नाटक मे ऐसे तत्त्व रह गये जिनकी प्रेमकथा से संगति नही बैठती। ये तत्त्व मूलकथा के वे अंश है जिन्हें भास नाटक मे भली-भांति समन्वित नही कर सके।[1] श्री मेसन के विचार मे अविमारक की कथा सभवतः बृहत्कथा से भी पहले की है और यह संभव है कि भास ने किसी ऐसे स्रोत का उपयोग किया हो जो अब लुप्त हो चुका है, अथवा उसने अपने समय में प्रचलित कहानियों का आधार ग्रहण किया होगा।[2] कीथ के विचार में इस नाटक की वस्तु कथासाहित्य से ली गयी है।[3] विंटरनित्स ने बृहत्कथा को इसका मूल स्रोत स्वीकार किया है।[4] डा० लक्ष्मण सरूप के मत मे नाटक की कथा भास की अपनी उद्भावना है।[5] प्रो० ध्रुव ने लोकवार्ताओं को इसकी कथा का स्रोत माना है।[6] श्री पुसालकर के अनुसार 'एलकमारक' कथा एक लोकप्रिय कथा रही होगी तथा भास उससे परिचित रहे होंगे। अतः उनके मत में नाटक की कथा भास की उद्भावना नहीं हो सकती। वे मानते है कि भास ने यह कथा लोकवार्ताओं से ग्रहण की तथा लोकरुचि के परितोषार्थ उसमें जादू की अंगूठी वाली घटना जोड़दी।[7]

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

चण्डभार्गव का शाप अविमारक मे प्रणय-कथा की पृष्ठ-भूमि के रूप में नाटककार ने चण्डभार्गव के शाप की योजना की है। कथासरित्सागर की कथा में इस शाप का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु नाटक मे इसका अतिशय महत्त्व है। एक तरह से कथा का सारा ढांचा इसी कल्पना पर आधारित है। इस शाप का विवरण छठे अंक मे सौवीरराज द्वारा कुंतिभोज को दिया गया है जो इस प्रकार है[8] "चण्डभार्गव नामक एक अतीव क्रोधी ब्राह्मण थे। एक वार वे सौवीरदेश मे आये। उनके शिष्य को वन में किसी व्याघ्र ने मार डाला। सयोग से सौवीरराज शिकार खेलते हुए उसी स्थान पर पहुंचे। राजा को देखकर क्रुद्ध ऋषि उसे भला-बुरा कहने लगे। राजा भी भवितव्य अर्थ की प्रवलता के कारण धैर्य-च्युत होकर क्रुद्ध स्वर में

1. वही, पृ0 73.
2. वही, पृ0 62.
3. संस्कृत ड्रामा, पृ0 101.
4. हिस्ट्री ऑव् इंडियन लिट्रेचर, भाग 3, खड 1, पृ0 221-222.
5. भास ए स्टडी, पृ0 92 पर उल्लिखित मत
6. वही,
7. वही,
8. भा0 ना0 च0 देवधर, पृ0 176-178.

बोल पड़ा—"तुम बताये बिना ही मुझे अकारण भला-बुरा कह रहे हो। तुम क्रोधी होने के कारण तपस्या के अधिकारी नहीं हो। तुम ब्रह्मर्षि के रूप मे श्वपाक हो।" राजा के इस अपमानकारी वचन को सुनकर क्रुद्ध ऋषि ने उसे यह शाप दिया "ब्रह्मर्षियो मे मुख्य मुझे तुमने श्वपाक कहा है, अतः तुम पुत्र व पत्नी सहित श्वपाकत्व को प्राप्त करोगे।[1]" शाप से विक्षुब्ध राजा ने ऋषि की बहुत अनुनय-विनय की। तब ऋषि ने प्रकृतिस्थ होकर अनुग्रह के स्वर में कहा—"तुम एक वर्ष का काल प्रच्छन्न रूप में बिताओ। संवत्सर पूरा हो जाने पर शाप-मुक्त हो जाओगे।" ऋषि ने प्रसन्न चित्त से अपने शिष्य को बुलाया—"हे काश्यप। चलो" और आश्चर्य कि गुरु का आदेश सुनकर मृत शिष्य उठकर ऋषि के पीछे चल दिया।

भास ने शाप की यह कल्पना सौवीरराज की वैरन्त्यनगर में सपरिवार उपस्थिति तथा अविमारक के अस्थायी चाण्डालत्व को सुसगत रूप देने के लिए की है। इन दोनों ही बातों का नाटक की कथावस्तु में विशेष महत्त्व है। हस्ति-संभ्रम मे अविमारक द्वारा राजकुमारी की प्राणरक्षा तथा उसके अन्तःपुर मे गुप्त प्रवेश आदि घटनाएं वैरन्त्य नगर में अविमारक की उपस्थिति पर ही निर्भर है। इसी प्रकार प्रणय-कथा मे सघर्ष व जटिलता के तत्त्वों का समावेश अविमारक के चाण्डालत्व का सीधा परिणाम है। हम देखते है कि शाप की अवधि समाप्त होते ही प्रणय-कथा भी सुखद परिणति पर पहुच जाती है। इस प्रकार नाटककार ने शाप-प्रसंग को नाट्य-वस्तु के साथ घनिष्ठतया सबंधित कर उसे समस्त नाटकीय घटना-चक्र का आधार बना दिया है।

भास ने अविमारक के कुल व जाति के विषय में सामाजिको व नाटक के अन्य पात्रों को प्रारंभ से ही एक अर्ध-सशय की स्थिति में रखा है। बीच मे यह सकेत तो दिया गया है कि अविमारक किसी ऋषि के शाप से चाण्डाल का जीवन बिता रहा है,[2] पर इस बारे में कोई स्पष्ट विवरण नही दिया गया। इस प्रकार नाटककार ने प्रेक्षको की कौतूहलवृत्ति को अनवरत जागरूक रखा है तथा नाटक के अंत मे ही चण्डभार्गव के शाप आदि रहस्यों का उद्घाटन किया है। इससे सिद्ध है कि भास घटनाओ की कौतूहलपूर्ण योजना में अतीत कुशल है। यह भी उल्लेखनीय है कि भास ने शाप-प्रसग को सूच्य रूप मे ही प्रस्तुत किया है, दृश्य घटना के रूप में नही। इससे प्रतीत होता है कि नाटककार को यह प्रसंग केवल पृष्ठभूमि के रूप में अभीष्ट है। उसने अविमारक को शाप के कारण कुछ काल के लिए अन्त्यज

---

1. भा० ना० च०, पृ० 177.
2. विदूषकः—किं समाप्तोऽस्माकमृषिशापः। भा० ना० च०, पृ० 129.

वनाकर एक राजकुमारी के साथ उसके गुप्त प्रणय का रोमांचकारी वृत्तान्त गुम्फित किया है । नाटक की कथा का वहुत कुछ स्वारस्य इसी में है कि चाण्डाल का जीवन विताने वाला एक युवक राजपुत्री से न केवल प्रेम करता है अपितु उसके महल में एक वर्ष तक छिप कर निवास भी करता है । लोगों की दृष्टि में वह एक अन्त्यज है, क्योंकि अन्त्यजों की वस्ती में रहता है, किन्तु उसका असाधारण सौन्दर्य, वीरता आदि गुण उसकी कुलीनता का संकेत देते हैं । अतः अविमारक चाण्डाल है और नहीं भी है । उसके व्यक्तिव के इस द्वैत ने प्रेमकथा को एक विशिष्ट सौन्दर्य प्रदान किया है, और यह द्वैत स्पष्टतः चण्डभार्गव के शाप का फल है । अविमारक और कुरंगी के प्रेम में सामाजिक मर्यादाओं की परवाह न करने वाली एक साहसिकता निहित है जो उसे विशेष चमत्कारकारी वनाती है; किन्तु निपुण नाटककार ने वास्तव में ऐसी किसी मर्यादा का अतिक्रमण भी नहीं कराया है, क्योंकि अविमारक का अन्त्यजत्व उसके जीवन की एक अस्थायी व प्रातिभासिक घटना मात्र है । वस्तु-स्थिति की दृष्टि से तो वह न केवल राजपुत्र है, अपितु देवपुत्र भी है ।

दैवभणित : यह प्रसंग द्वितीय अंक में आया है । कुरंगी की धात्री अविमारक को राजकुमारी के साथ गुप्त मिलन के लिए कन्यान्त पुर में आने का निमंत्रण देने जा रही है । तथापि उसका मन अविमारक के कुल व जाति के विषय में संशयग्रस्त है । तभी मार्ग में उसे ये शब्द सुनायी देते हैं–"कुलहीन व्यक्तियों में विभव, रूप, ज्ञान, सत्त्व तो हो सकते हैं, पर उनका चरित्र विशुद्ध नहीं हो सकता । इसके कुल के विषय मे तुम अवश्य ही यथासमय सुनोगे । अभी कुल-विषयक सन्देह त्याग दो तथा इस कार्य को सफल वनाओ ।"[1]

इन शब्दो को सुनकर धात्री ने नलिनिका से पूछा–'हला केन खलु भणितम् ।' नलिनिका ने आसपास देखकर कहा—अत्र कोऽपि न दृश्यते ।' इस पर धात्री ने अपना यह विचार प्रकट किया' असंशय दैवेन भणितम्' अहं पुनर्जानामि नैव केवलो मानुप इति' । नलिनिका ने धात्री का समर्थन किया—'गतस्तस्य कुलसंदेहः । अस्माकं वचनं करोति न करोतीति चिन्तयामि ।"

नाटक की वस्तुयोजना में उक्त दैवी वाणी का विशिष्ट महत्त्व है । नाटककार अविमारक और कुरंगी के मिलन से पूर्व यह विश्वास दिलाना चाहता है कि अविमारक निम्नकुलोत्पन्न नहीं है । तत्कालीन सामाजिक मर्यादाओं की दृष्टि से इस प्रकार का पूर्व आश्वासन अतीव आवश्यक रहा होगा । इस दैवी सूचना के कारण धात्री और नलिनिका द्विगुणित उत्साह एवं सन्देहहीन चित्त से प्रेमी-प्रेमिका के गुप्त

---

1. अविमारक 2·5.

मिलन का आयोजन करती हैं। इस प्रकार यह दैवी घोषणा कुरंगी व अविमारक के मिलन की नैतिक बाधा को दूर कर कथा को गतिशील बनाने में सहायक होती है। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि नाटककार ने यहां अविमारक के कुल आदि के बारे में पूरा रहस्य भी नहीं खोला है। उसने केवल यह संकेत दिया है कि अविमारक निम्नकुल का नहीं है। वह कौन है, चाण्डालों के बीच में क्यों रहता है, इत्यादि प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया है। इस सारे रहस्य के उद्घाटन को नाटककार ने अन्तिम अंक के लिए सुरक्षित रखा है, जिससे प्रेक्षक का कौतूहल अंत तक अक्षुण्ण रहे तथा नाटक का अंत भी चमत्कारपूर्ण हो।

नाटककार ने उक्त दैवी वाणी के वक्ता के विषय में केवल 'दैवेन भणितम्' इतना ही बताया है। यह दैव क्या है, अविमारक व कुरंगी के प्रणय-संबंध में उसकी रुचि क्यों है आदि बातें अस्पष्ट ही रहती हैं। इससे इतना ही प्रतीत होता है कि वह कोई ऐसी रहस्यमयी शक्ति है जो मानव-व्यापारों में उचित अवसर पर हस्तक्षेप कर उन्हें दिशा-विशेष मे प्रेरित करती है। यह 'दैव' संभवतः अविमारक या कुरंगी या दोनों के ही पूर्व जन्म के सुकर्मो से जन्मा उनका अदृष्ट या भाग्य है जो उनके प्रणय-संबंध के विकास की एक महत्त्वपूर्ण घड़ी में उनकी सहायता करता है।

शीतल अग्नि : यह प्रसंग चतुर्थ अंक का है। अविमारक राजा कुन्तिभोज के कन्या-अन्तःपुर में एक वर्ष तक कुरंगी के साथ गुप्त रूप से रहा, पर एक दिन उसका रहस्य खुल गया। कुन्तिभोज के रक्षियों से बचकर उसने वैरन्त्य नगर के समीप एक पहाड़ पर शरण ली। उस समय ग्रीष्म ऋतु थी, सूर्य प्रचण्ड रूप से तप रहा था। पहाड़ पर दावाग्नि सुलग रही थी। अब अविमारक को कुरंगी से वापिस मिलने की आशा नहीं थी। अतः निराश होकर उसने आत्महत्या का निश्चय किया। सर्वप्रथम उसने वन में प्रज्वलित अग्नि मे कूद कर प्राण देने का यत्न किया। वह दावाग्नि में प्रविष्ट हो गया, किन्तु आश्चर्य की बात कि ज्वालाएं उसके लिए चन्दन रस के समान शीतल हो गयी। आग की लपटों ने उसका उसी प्रकार प्रहृष्ट भाव से आलिंगन किया जैसे पिता पुत्र का करता है।[1]

इस प्रकार जब अग्नि ने उसे नहीं जलाया तो उसने पर्वत से गिरकर आत्महत्या करने का निश्चय किया। तभी एक विद्याधर-युगल आकाशमार्ग से जाता हुआ विश्रामार्थ उस पर्वत पर उतरा। विद्याधर ने अविमारक को आत्महत्या के प्रयत्न से रोका।

यहां नाटककार ने अग्नि की शीतलता की कल्पना द्वारा नायक अविमारक की प्राण-रक्षा तो की ही है, उसके व्यक्तित्व की अलौकिकता का भी संकेत दिया है।

1. भा० ना० च०, पृ० 151.

अविमारक वस्तुत: अग्निदेवता का पुत्र है, अत: यह स्वाभाविक ही है कि वह उसका पुत्र के समान आलिगन करे तथा उसके लिए शीतल हो जाए। इस अतिप्राकृतिक प्रसंग द्वारा भास ने अविमारक के दिव्य संबंध को सूचित करते हुए उसमे दैवी साहाय्य की पात्रता प्रदर्शित की है।

विद्या द्वारा वृत्तान्त-ज्ञान : जब अविमारक स्वय आत्महत्या के प्रयास का कारण नही बताता, तब विद्याधर मेघनाद अपनी विद्या से उसका सारा वृत्तान्त जान लेता है।[1] यह प्रसंग विद्याधर के दिव्य व्यक्तित्व का द्योतक है तथा अविमारक को सहायता देने की उसकी सामर्थ्य का संकेत देता है।

जादू की अंगूठी : नटक के वस्तुविकास में विद्याधर मेघनाद द्वारा अविमारक को प्रदत्त जादू की अंगूठी विशेष महत्त्व रखती है। विद्याधर अपनी विद्या से अविमारक की वस्तुस्थिति जान कर उसे एक ऐसी अंगूठी देता है जिसको अंगुली में पहनकर वह अज्ञात रूप में कुरंगी के महल मे जा सकता है। इस अंगूठी की विशेषता यह है कि उसे दाहिने हाथ में पहनने पर व्यक्ति अदृश्य हो जाता है और बायें मे धारण करने से प्रकृतिस्थ रहता है।[2] अविमारक को विश्वास दिलाने के लिए स्वयं विद्याधर अंगूठी को पहनकर उसका अद्भुत प्रभाव प्रदर्शित करता है।[3]

आश्चर्यजनक खड्ग : इसी अवसर पर विद्याधर अविमारक को एक खड्ग भी देता है जिसे हाथ में लेकर उसके आश्चर्यकारी प्रभाव से वह विस्मित रह जाता है। तदनन्तर भगवती विद्याओ के प्रभाव से अंगूठी द्वारा अदृश्य होकर वह कहता है—"यद्यपि मुझ मे वही गुण हैं जो पहले थे, तथापि अंगूठी के कारण अब मैं दिव्य स्वभाव को प्राप्त हो गया हूं। मेरा शरीर विद्यमान है, फिर भी निर्गुण मर्त्यजन मुझे नही देख सकते।"[4] विद्याधर अविमारक को बताता है कि न केवल अंगूठी को पहनने वाला ही अन्तर्हित होता है, अपितु वह जिसका स्पर्श करता है वह भी और उससे स्पृष्ट भी सब अन्तर्हित हो जाते हैं।[5] विद्याधर अविमारक को अंगूठी देकर सपत्नीक आकाश मे उड जाता है।[6] अनन्तर अविमारक की विदूपक सन्तुष्ट से

---

1. भा० ना० च०, पृ० 154.
2. एतदंगुलीयकं दक्षिणागुल्या धारयन्नदृश्यो भवति, वामेन प्रकृतिस्थ।
   वही, पृ० 155.
3. वही, पृ० 155.
4. अविमारक:—(खड्गंदृष्ट्वा) अहो भगवतीना विद्याना प्रभाव:।
   दिव्यं स्वभावं समुपागतोऽस्मि, स एव नामास्मि गुणै विशिष्टै:।
   इद यदा निर्गुणमर्त्यवृन्दैर्न ज्ञायते चास्ति च मे शरीरम्॥ वही, पृ० 156.
5. अन्तर्हितश्चान्तर्हितस्पृष्टश्च तत्स्पृष्टश्चान्तर्हिता भवन्तीति निश्चय।
   वही, पृ० 156.
6. वही, पृ० 157.

भेंट होती है। वह उसके सामने अंगूठी के अद्भुत प्रभाव का प्रदर्शन करता है। फिर इस अगूठी को पहन कर वह विदूषक के साथ दिन-दहाड़े कुन्तिभोज के कन्यान्त:पुर मे प्रवेश कर जाता है।

भास ने दैव भणित, जादू की अंगूठी, अद्भुत खड्ग तथा दिव्य पात्रों कासाहाय्य आदि अभिप्राय संभवत लोककथाओं से लिए हैं। बृहत्कथामंजरी व कथासरित्सागर की कथाओ में ये अथवा इनसे मिलते-जुलते अभिप्राय स्थान–स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार नाटककार न केवल कथावस्तु के लिए ही अपितु अनेक कथा–अभिप्रायों व पात्रों के लिए भी लोककथाओं का ऋणी है।

भरतमुनि ने नाटक के नायक की इष्ट-सिद्धि में दिव्य पात्रों से सहायता प्राप्त होने की बात कही है, जिसकी चर्चा हम दूसरे अध्याय में कर चुके है। प्रस्तुत नाटक मे विद्याधर द्वारा प्रदत्त मायामय अंगूठी और उसकी सहायता से अविमारक का कुरगी के साथ पुर्नमिलन दिव्याश्रय-प्राप्ति का ही उदाहरण है । इस प्रसंग द्वारा नाटककार ने प्रणयवृत्त में उत्पन्न अवरोध को दूर कर घटनाचक्र को पुन: गतिशील बनाया है। पहले अविमारक के आत्महत्या के प्रयास से नाटकीय कथा दु:खान्त की ओर उन्मुख थी, किन्तु जादू की अंगूठी ने उसमें मानों नये प्राणों का संचार कर दिया।

यह स्पष्ट है कि विद्याधर-संबंधी वृत्तान्त को लेखक नाटक की प्रेम-कथा मे अन्तर्ग्रथित नही कर सका है । विद्याधर–दम्पती का पर्वत पर अवतरण एक आकस्मिक घटना मात्र है। नाटकीय कथा के भावी विकास को नाटककार ने इसी आकस्मिक घटना पर निर्भर बना दिया है।

दिव्य साहाय्य : षष्ठ अक से ज्ञात होता है कि सौवीरराज का एक वर्ष का शाप समाप्त हो गया है। कुन्तिभोज के अमात्यों ने उन्हें वैरन्त्य नगर में ढूंढ निकाला है। अपने बालमित्र व सम्बन्धी कुन्तिभोज से मिलकर वे प्रसन्न हैं, पर अविमारक का लगभग एक वर्ष से कोई पता नहीं है । इस बात से वे अत्यधिक चिन्तित है। ऐसा जटिल स्थिति में नाटककार ने दिव्यपात्र नारद के साहाय्य से प्रणयकथा को सुखद परिणति पर पहुंचाया है। नारद ने अपने भूलोक में आने का उद्देश्य इस प्रकार बताया है–"अविमारक के अदर्शन से कुन्तिभोज और सौवीरराज आज कार्य संकट की स्थिति में है, अत: अविमारक से मिलकर उसकी व्याकुलता दूर करने के लिए मैं भूमि पर अवतीर्ण हुआ हूं" ।[1]

---

1. भा० ना० च० पृ० 180-181.

नारद कुंतिभोज व सौवीरराज को अविमारक व कुरंगी के प्रेम व गन्धर्व विवाह का समस्त वृत्तान्त बताकर अविमारक के विषय में उनकी चिन्ता और जिज्ञासा शान्त करते हैं। तदनन्तर वे काशीराज की पत्नी सुदर्शना को याद दिलाते हैं कि तुमने अग्नि देवता से एक पुत्र प्राप्त किया था और उसे अपनी बहिन सुचेतना को सौंप दिया था। सुचेतना के पति सौवीरराज ने उसका विष्णुसेन नाम रखा तथा अपना ही पुत्र समझ कर उसका लालन-पालन किया था। बाद में अविरूपधारी असुर को मारने के कारण वह अविमारक के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1] नारद ने अविमारक और कुरंगी के प्रणय व विवाह का समस्त पूर्ववृत्त सुदर्शना को भी सुनाया और सुझाव दिया कि वह अपने पुत्र जयवर्मा का विवाह कुरंगी के स्थान पर उसकी छोटी बहिन सुमित्रा से करे। इसके बाद नारद की आज्ञा से अविमारक व कुरंगी अन्तःपुर से बुलाये गये। वर-वधू के वेश में उपस्थित उन्हें नारद, कुन्तिभोज, सौवीरराज व सुदर्शना आदि सभी ने आशीर्वाद दिये। इस प्रकार दिव्य हस्तक्षेप से कुरंगी व अविमारक के प्रणय व गांधर्व विवाह को सबका अनुमोदन प्राप्त हुआ।

जहां तक नाटकीय कथा में नारद की उपस्थिति के औचित्य का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि अविमारक व कुरंगी की प्रणयकथा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। नाटककार ने निश्चय ही वस्तु-विन्यास की जटिलताओं को सुलझाने व नाटक को सुखान्त बनाने के लिए इस पात्र का सहारा लिया है। क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी की कुरंगी कथा मे देवदूत के हस्तक्षेप से अविमारक व कुरंगी का विवाह सम्पन्न होता है।[2] भास ने जिस लोककथा के आधार पर नाट्य-वस्तु की रचना की, संभव है उसमें ऐसा कोई प्रसंग रहा हो। इस पात्र की योजना में लोककथाओं का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। नारद सदा से भारतीय लोककथाओं व पौराणिक कथाओं के एक लोकप्रिय पात्र रहे हैं। अविमारक में उनका व्यक्तित्व अधिकतर लोककथाओं से गृहीत तत्त्वों से निर्मित है। नाटकान्त में अविमारक सम्बन्धी रहस्योद्‌घाटन द्वारा नाटककार ने संभवतः नाट्यशास्त्रीय विधान के अनुसार निर्वहणसंधि में अद्‌भुत रस की योजना का प्रयास किया है।

यहां यह कहना अनुचित न होगा कि नाटक का अंत मुख्यकथा से सर्वथा असंबद्ध नारद-जैसे दिव्य पात्र के हस्तक्षेप के कारण कृत्रिम हो गया है। नाटक का सुखमय अंत तो अप्रत्याशित नहीं है, पर वह नाटकीय वृत्त व पात्रों में से उद्‌भूत नहीं होता, अपितु एक बाह्य दैवी पात्र द्वारा उस पर आरोपित किया गया है। फिर भी भास के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने इस नाटक के कथानक के

1. भा० ना० च० पृ० 183-184.
2. 18.147-149.

सूत्र लोककथाओं से लिए है, अतः यह स्वाभाविक ही है कि इसकी वस्तु-योजना पर लोककथाओं की कथानक रूढ़ियों का प्रभाव हो। ऋषि के शाप से चाण्डालत्व, विद्याधर द्वारा प्रदत्त जादू की अंगूठी की सहायता से प्रेमी-प्रेमिका का मुनर्मिलन एवं नारद जैसे दिव्य पात्र के साहाय्य से प्रणयकथा की सुखमयी परिणति आदि अति-प्राकृत प्रसंग लोककथाओ की परम्परा से गृहीत प्रतीत होते है।[1] हम आगे देखेगे कि कालिदास ने भी नायक-नायिका के पुनर्मिलन के उपाय या साधन के रूप मे संगमनीय मणि तथा अगूठी जैसी अद्भुत वस्तुओं का उपयोग किया है। विक्रमो-र्वशीय के अन्त मे नारद की भूमिका लगभग वैसी ही है जैसी इस नाटक मे। यह जरूर है कि कालिदास ने उसे उचित पृष्ठभूमि के साथ उपस्थित किया है, भास के समान आकस्मिक रूप में नही।

अतिप्राकृत पात्र

'अविमारक' में प्रयुक्त अतिप्राकृत (दिव्य) पात्रों में अविमारक, विद्याधर मेघनाद तथा नारद उल्लेखनीय है। ये तीनों ही पात्र लोककथाओ की परम्परा से लिये गए है।

अविमारक : अविमारक का नाम ही उसके अतिप्राकृतिक व्यक्तित्व का सूचक है।[2] षष्ठ अंक में भूतिक ने कुंतिभोज को बताया है कि किस प्रकार सौवीरराज के पुत्र विष्णुसेन ने, जब वह कुमार ही था, धूमकेतु नामक एक अविरूपधारी नृशंस असुर को बिना किसी आयुध के खेल ही खेल मे मार डाला था जिसके कारण वह अविमारक नाम से विश्रुत हुआ।[3] द्वितीय अंक में स्वयं अविमारक ने भी इस प्रसंग की ओर संकेत किया है।[4]

अविमारक की इस असाधारण शक्ति का रहस्य उसके दिव्य उद्भव मे निहित है। चतुर्थ अंक में विद्याधर मेघनाद[5] तथा षष्ठ अंक मे नारद ने बताया है[6] कि अविमारक वस्तुतः सुदर्शना से उत्पन्न अग्निदेवता का पुत्र है। उसके इस दिव्य उद्भव का नाटक मे अनेक वार उल्लेख किया गया है।[7] उसके विषय मे वार-वार

1. यह स्पष्ट है कि अविमारक मे बहुत सारे जादू के प्रसंग बृहत्कथा की परम्परा से आये है। देखिए जे0 मेसन लिखित पूर्वोक्त निबन्ध, पृ0 64.
2. यस्मादविरूपधारी मारितोऽसुरः, तस्मादविमारक इति विष्णुसेन लोको ब्रवीति। भा0 ना0 च0; पृ0 183-184.
3. वही, पृ0 178-179.
4. अविमारक, 2.9.
5. अयं खलु भगवतोऽग्नेः पुत्र आत्मान न जानाति . . . . भा0 ना0 च0, पृ0 154.
6. वही, पृ0 183.
7. अविमारक, 4.8; भा0 ना0 च0, पृ0 156-184.

यह कहा गया है कि वह 'केवल मानुष' नहीं हो सकता ।[1] सक्षेप में, अविमारक एक अलोकसामान्य व्यक्ति है । किन्तु उद्भव की दृष्टि से दिव्य या अमानुप होते हुए भी उसका चरित्र मूलतः मानवीय है । उसके गुण वस्तुतः मानव गुणों के ही असाधारण प्रकर्ष के सूचक हैं । तत्त्वतः वह एक उद्दाम प्रेमी, साहसी और वीर चरित्र है । नाटक की दृश्य कथा मे अविमारक का यह मानवीय रूप ही प्रमुख रूप से उभरा है; उसके अतिमानवीय रूप की प्रायः सूचना मात्र दी गई है ।

विद्याधर मेघनाद : वह देव जाति का पात्रहै अतः उसके व्यक्तित्व में नाटककार ने अनेक दिव्य विशेषताओं का आधान किया है । उसका आकाशचारित्व उसकी दिव्यता के अनुकूल है । इस आकाशचारित्व के कारण देश की दूरी उसके लिए कोई समस्या नही है ।[2] विद्याधर होने के नाते वह विद्याओं का ज्ञाता है । उसके द्वारा प्रदत्त अद्भुत अंगूठी उसकी विद्या का ही सुन्दर प्रसाद है । उसके दिव्य व्यक्तित्व में तीन लोकोत्तर विशेषताएं बतायी गयी है—वनिता के साथ गगन-विचरण, मंत्रजन्य प्रभाव से समस्त विपयों का ज्ञान तथा अदृश्य या दृश्य रूप में सुखपूर्वक भ्रमण ।[3] भास ने विद्याधर युगल के आकाशोत्पतन का भी अतीव प्रभावशाली चित्र अंकित किया है ।[4]

नारद : भास ने नारद को कलह-उत्पादक के रूप मे नहीं अपितु मानव-जगत् की समस्याओं का समाधान करने वाले एक दयालु व उदार दिव्य पात्र के रूप मे अंकित किया है । वे अपने दिव्य ज्ञान द्वारा दूसरों के वृत्तान्त को जानने में समर्थ है । उन्हें अविमारक के अग्निपुत्र होने तथा उसके प्रणयजीवन के समस्त उतार-चढावों का ज्ञान है । हम बता चुके है कि उनकी व्यक्तित्व-सृष्टि में नाटककार ने मुख्यतः लोककथाओं से प्रेरणा ली होगी ।

अतिप्राकृत लोकविश्वास

अविमारक मे अनेकत्र दैव, भाग्य या विधि के विपय में सामान्य जनों मे प्रचलित लोकविश्वासों की अभिव्यक्ति भी मिलती है । एक बहुत प्रचलित विश्वास

---

1. दे0 भा0 ना0 च0, पृ0 124, 154, 179, 183.
2. अवि0 4.10.
3. ये संचरन्ति गगने वनितासहायाः
   क्रीडन्ति पर्वततटेपु कृतोपदेशाः
   सर्वं विदन्त्यपि च मन्त्रकृतैः प्रभावै—
   र्न्तर्हिताश्च विवृताश्च सुखं भ्रमन्ति ॥
   वही, 4.13.
4. वही, 4.19–20.

यह था कि मनुष्य किसी कार्य में तभी सफल होता है जब दैव उसके अनुकूल हो। उदाहरणार्थ, अविमारक धात्री के मुख से कुन्तिभोज के राजकुल के संविधान को सुनकर कहता है कि यदि दैव विसंवाद को प्राप्त न हो तो मेरा पौरुष दूसरों की दृष्टि मे निन्दनीय सिद्ध नही होगा ।[1] इसी प्रकार तृतीय अंक मे उसने कहा है कि मनुष्य का पौरुष उसके शुभ यत्नों में निहित है न कि कार्यसिद्धि में, क्योंकि वह तो दैव विधान का अनुगमन करती है ।[2] कुंतिभोज के यह पूछने पर कि कुरंगी को अविमारक को किसने सौंपा, नारद यह उत्तर देते हैं—'पहले विधि ने उन्हें सौंपा, फिर वह गज-संभ्रम में देखी गयी, पहले पौरुष का आश्रय लेकर और फिर माया के सहारे वह अन्त:पुर मे प्रविष्ट हुआ ।[3] आशय यह है कि कुरंगी और अविमारक का विवाह उनके जीवन की एक नियति थी ।

अविमारक में प्रयुक्त विभिन्न अतिप्राकृत प्रसग जिनकी हम ऊपर चर्चा कर चुके है अद्‌भुत रस के व्यंजक हैं । यह अद्‌भुत रस नाटक के अंगी शृंगार रस का परिपोषक है ।

निष्कर्ष

अतिप्राकृत तत्त्वो की दृष्टि से भास के नाटकों के उक्त अध्ययन से हम कुछ सामान्य निष्कर्षो पर पहुंचना चाहेंगे । इनमें प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वो के दो मूल स्रोत प्रतीत होते है—एक स्रोत भास के युग की धार्मिक व पौराणिक आस्थायें है तथा दूसरा तत्कालीन लोककथाएं व लोकविश्वास । अभिषेक, दूतवाक्य तथा बालचरित के अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व कवि की धार्मिक व पौराणिक मनोभूमि की देन है । दूसरी ओर लोककथा मूलक नाटकों विशेष रूप से अविमारक—में आये अतिप्राकृत तत्त्व लोककथा की परम्परा से गृहीत है । प्रतिमा, मध्यम-व्यायोग व कर्णभार में प्रयुक्त ये तत्त्व महाकाव्यों से प्रभावित है, यद्यपि उनमे लोककथाओं के भी तत्त्वो का किंचित् समिश्रण माना जा सकता है । प्रतिमा, अभिषेक और ऊरुभंग मे भास ने क्रमश: दशरथ, बाली व दुर्योधन के मृत्युकालीन आभास के रूप मे एक विशिष्ट लोकविश्वास का चित्रण किया है जिसके मूल मे कुछ अतिप्राकृत कल्पनाएं निहित है । अभिषेक, दूतवाक्य व बालचरित में नाटककार का लक्ष्य राम व कृष्ण की

---

1. न पौरुष वै परदूषणीय
   न चेद् विसवादमुपैति दैवम् । भा०ना०च०, पृ० 127, (अवि० 2.8)
2. दैवं विधानमनुगच्छति कार्यसिद्धि । वही, 3.12.
3. दत्ता सा विधिना पूर्वं दृष्टा गजसभ्रमे ।
   पूर्वं पौरुषमाश्रित्य प्रविष्टो मायया पुन. ॥ अवि० 6.14,

ईश्वरता का उद्घाटन करना है। इन नाटकों के अतिप्राकृत तत्त्व प्राय: इसी उद्देश्य के अंग हैं। मध्यमव्यायोग में वे केवल आश्चर्य व कौतुक की सृष्टि करते है; प्रतिमा में उन्हें पात्रों के चारित्रिक परिष्कार का साधन बनाया गया है; कर्णभार में वे कर्ण की कारुणिक नियति का हृदयस्पर्शी चित्र अंकित कर हमारे मन में उसके प्रति प्रशंसा व सहानुभूति के भाव जागृत करते हैं। अविमारक मे उनके द्वारा प्रणय-कथा में रोमांच, विस्मय व गतिशीलता की सृष्टि की गई है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण में प्रयुक्त एकमात्र अतिप्राकृत तत्त्व मुख्य कथा से असम्बद्ध व आकस्मिक होने पर भी उसे आगे बढ़ाने मे सहायक है। इन विविध तत्त्वो में से कुछ के ही प्रयोग में भास अपने कलात्मक नैपुण्य का सम्यक् परिचय दे सके है। अनेक स्थलों में ये तत्त्व नाटक की आन्तरिक सरचना के अविभाज्य अंग नही बन पाये है। उदाहरणार्थ, अविमारक मे जादू की अगूठी की प्राप्ति व नारद के हस्तक्षेप के प्रसंग कथा पर बाहर से आरोपित किये गये है, स्वय नाट्यवस्तु से उद्भूत नही होते। प्रतिज्ञायौगन्धरायण का द्वैपायन प्रसग भी इसी श्रेणी मे आता है। किन्तु बालचरित के द्वितीय अक में शाप की भयावह मंडली से सम्बद्ध दृश्य तथा प्रतिमा मे काचनपार्श्व मायामृग का प्रसग बाह्य व आन्तरिक दोनों स्तरो पर वस्तुयोजना का अभिन्न अग है। इस प्रकार भास इन तत्त्वो के विनियोग में कहीं सफल हुए है और कही नहीं।

इन नाटकों मे चित्रित अतिप्राकृत पात्रों के विषय में भी पूर्वोक्त कथन लागू होते है। अभिषेक के राम तथा दूतवाक्य व बालचरित के कृष्ण ईश्वर के अवतार होने से आद्यन्त अलौकिकता से मंडित है किन्तु प्रतिमा के राम पूर्णतया मानव है। एक ही नाटककार की कृतियो मे एक ही पात्र का यह द्वैत या तो नाटककार के दृष्टिभेद का परिणाम है अथवा ये दोनो भिन्न व्यक्तियो की कृतियां है। अन्य नाटको मे भीम, घटोत्कच, अविमारक, नारद आदि लोकोत्तर या दिव्य पात्र आये है जिनके व्यक्तित्व-निर्माण मे लेखक ने या तो पौराणिक कल्पनाओं का उपयोग किया है या उन्हें लोककथाओ के अतिमानवीय अद्भुत सांचों में ढाला है। बालचरित व अविमारक के नारद का व्यक्तित्व-भेद इन्हीं भिन्न पृष्ठभूमियों की देन है। भास की एक अनूठी उपलब्धि बालचरित में प्रतीकात्मक पात्रों की योजना है। ये पात्र नाटक में एक असाधारण मनोवैज्ञानिक प्रभाव की सृष्टि कर कंस की आसुरी प्रकृति तथा उसके भावी विनाश की सांकेतिक सूचना देते है। विष्णु के पंच आयुधों की सशरीर उपस्थिति की कल्पना भास की एक प्रिय कल्पना है जिसे उन्होंने दो नाटकों मे दुहराया है।

अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग द्वारा भास विविध भावों व रसों की सृष्टि करने में पर्याप्त सफल रहे हैं। ये तत्त्व अधिकतर अद्भुत रस के व्यंजक है, किन्तु यह अद्भुत रस प्राय: किसी अन्य रस के अंग के रूप में ही आता है। नाटक की निर्वहण

संधि में अद्भुत रस की निष्पत्ति के लिए भास ने अभिषेक, बालचरित व अविमारक आदि में अतिप्राकृतिक तत्त्वों का सहारा लिया है, पर इनकी योजना अधिकतर कृत्रिमता से युक्त है।

यद्यपि भास संस्कृत के श्रेष्ठ व अग्रणी नाटककारों में गिने जाते है, फिर भी कालिदास व शूद्रक आदि की तुलना में उनकी कृतियों में नाट्य-नैपुण्य, भाव-सम्पत्ति, शिल्प-सौन्दर्य व कलात्मक परिष्कृति की कमी है। उनके अनेक नाटक-विशेषत: महाभारतमूलक—महाकाव्यों की प्रकथन शैली से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सके है, जिसका परिणाम यह हुआ कि भास अपनी कई कृतियों मे कथ्य को नाट्य-शिल्प मे पूरी तरह नहीं ढाल सके है। अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग मे भी उनकी नाट्य-प्रतिभा की ये सीमाएं दृष्टि में आये विना नहीं रहती। भास जिस प्रकार नाटक के अन्यान्य क्षेत्रों मे कालिदास की तुलना में अपरिष्कृत व अपरिपक्व है उसी प्रकार अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग में भी। किन्तु यह तो प्रत्येक अग्रणी व मार्गदर्शक की अनिवार्य नियति है। यदि भास न होते तो क्या कालिदास 'कालिदास' बन पाते ? उनकी व्यक्तिगत प्रतिभा चाहे कितनी ही असाधारण रही हो, उसके विकास व परिष्कार में परम्परा के दाय को कम करके नही आंका जा सकता। अत: हम कह सकते है कि कालिदास के नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्वों के अधिक कलात्मक व निपुण-तर प्रयोग का मार्ग प्रशस्त करने में, उनकी अपनी विशिष्ट प्रतिभा के अलावा, भास जैसे पूर्ववर्तियो के अपेक्षाकृत अल्पपरिष्कृत किन्तु अग्र्य प्रयत्नो का भी महत्त्व-पूर्ण योगदान रहा होगा।

— . —

४ | कालिदास के नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व

कालिदास की कृतियां लौकिक संस्कृत साहित्य की सर्वोत्तम विभूतियां है। उनमें भारतीय सस्कृति, सौन्दर्यबोध व रस-संवेदना का रमणीयतम रूप देखने को मिलता है। प्राचीन व अर्वाचीन तथा पूर्व व पश्चिम के विद्वानों ने उन्हें समवेत स्वर से लौकिक संस्कृत साहित्य का शीर्षस्थ स्रष्टा कवि स्वीकार किया है। भारतीय परंपरा में वे सदा से 'कविकुलगुरु' के विरुद से प्रसिद्ध रहे है।

कालिदास ने संस्कृत-साहित्य के अनेक क्षेत्रों को अपनी अमूल्य कृतियों से समृद्ध व गौरवशाली बनाया। यों तो उसके नाम से परम्परया अनेक कृतियां प्रचलित रही है, पर उनमें से सात ही वस्तुत: उनकी रचनाएं मानी गई है जिनमे दो खण्ड-काव्य, दो महाकाव्य एवं तीन नाटक सम्मिलित है। इन सात कृतियों मे एक ही कवि-व्यक्तित्व की विकासात्मक अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। ऋतुसंहार व मालविकाग्नि-मित्र कालिदास के कृतित्व के उप:काल की कृतिया हैं; कुमारसंभव, विक्रमोर्वशीय व मेघदूत संभवत: कवि-जीवन के प्रखर मध्याह्न से सम्बन्ध रखती है तथा रघुवंश व शाकुन्तल उनकी प्रौढ़ व परिणत प्रतिभा की गंभीर प्रशांतिमय कृतियां है।

कालिदास ने अपने जीवनवृत्त व स्थितिकाल के विपय मे कुछ नही बताया है। इस बारे में परम्परा से कुछ किम्वदन्तियां प्रसिद्ध रही हैं, पर उनका कोई ऐतिहासिक आधार सिद्ध नही होता। आधुनिक विद्वानों ने अनेक आन्तरिक व वाह्य साक्ष्यों के आधार पर कालिदास के स्थितिकाल के निर्णय का प्रयत्न किया है, पर अभी तक कोई ऐसा प्रमाण नही मिला जिससे इस समस्या का अन्तिम समाधान किया जा सके। फिर भी इस विपय में दो मत अधिक मान्य हुए हैं। एक के अनुसार कालिदास ई० पू० प्रथम शतक में विक्रम संवत् के प्रवर्तक सम्राट् विक्रमादित्य के

आश्रित थे,[1] तथा दूसरे के अनुसार वे गुप्त वंश के सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३७५ से ४१४ ई०) की राजसभा के कवि थे। इन दोनों ही मतों के पक्ष व विपक्ष में अनेक तर्क दिये गए है, किन्तु अधिकांश विद्वानों का झुकाव दूसरे मत की ओर अधिक दिखाई देता है,[2] तथा हमने भी इसी को स्वीकार किया है।

गुप्तयुग भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना गया है। इस युग में भारतीय जनता ने जीवन के सभी क्षेत्रों मे असाधारण व अभूतपूर्व प्रगति की। यह शान्ति, सुव्यवस्था व सुस्थिरता का युग था। कालिदास की कृतियों में इस युग का स्पष्ट प्रतिबिंब देखा जा सकता है। गुप्तयुग ब्राह्मण धर्म व संस्कृति के पुनरुत्थान का काल माना गया है। यह पुनरुत्थान वस्तुतः ई० पू० द्वितीय शतक में शुंग राजवंश के प्रभुत्व मे आने के साथ प्रारंभ हुआ तथा काण्व, सातवाहन, शक आदि राजवंशों के शासनकाल में क्रमशः शक्ति संचित करता हुआ गुप्तयुग में अपने पूर्ण प्रकर्ष पर पहुंच गया।[3] ब्राह्मण धर्म के इस नव जागरण ने अपने प्रतिपक्षी बौद्ध व जैन धर्मों के मूल तत्त्वो को भी उदारतापूर्वक अपने में समन्वित करते हुए परम्परागत वैदिक धर्म व उसकी सांस्कृतिक विचारधारा को युग की आवश्यकताओ के अनुसार नये रूप मे ढाला। अवतारवाद के सिद्धान्त तथा वैष्णव, शैव व शाक्त आदि धार्मिक संप्रदायों की विचारधारा का भी इसी युग मे अभ्युदय हुआ। लोक मे परम्परा से चले आ रहे जातीय काव्यो–रामायण व महाभारत को भी इसी काल मे अपना अन्तिम रूप प्राप्त हुआ। ब्राह्मण-पुनरुत्थान की धार्मिक, दार्शनिक व नैतिक चेतना को लोकप्रिय अभिव्यक्ति देने के लिये परम्परागत पौराणिक कथाओं का नये सिरे से सपादन, संकलन व परिवर्धन किया गया।[4] कालिदास की रचनाओ पर उक्त ब्राह्मण-पुनरुत्थान की प्रवृत्तियों का—विशेष रूप से पौराणिक साहित्य की धार्मिक व दार्शनिक चेतना तथा पुराकथात्मक कल्पनाओ का गहरा प्रभाव पड़ा है। उनकी कृतियों मे—विशेष रूप से महाकाव्यों व नाटको मे—प्राप्त होने वाले अतिप्राकृत तत्त्व अधिकतर इसी प्रभाव की अभिव्यक्तिया है।[5] उन्होंने अपने

1. दे0 एस0 ए0 सवनीस. कालिदास: हिज् स्टाइल ए ड टाइम्स, पृ0 15.
2. दे0 कीथ: संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी रूपान्तर) पृ0 101;
   विंटरनित्स. हिस्ट्री ऑव् इंडियन लिट्रेचर, खण्ड 3, भाग 1, पृ0 47,
   वी0 वी0 मिराशी व एन0 आर0 नवलेकर, 'कालिदास', पृ0 35;
   दे व दासगुप्त: हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 125; स्टेन कोनो.
   इंडियन ड्रामा, पृ0 98.
3. दे0 डा0 राधाकमल मुखर्जी : भारत की संस्कृति और कला, पृ0 145.
4. दे0 हिस्ट्री एंड कल्चर ऑव् दि इंडियन पीपल.खण्ड 3.
   (क्लासीकल एज) पृ0 297–298.
5. कालिदास ने निश्चय ही कुछ अतिप्राकृत तत्त्व लोककथाओ व जनसामान्य मे प्रचलित विश्वासो से भी ग्रहण किये होगे। मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, व शाकुन्तल में प्रयुक्त क्रमशः वृक्ष-दोहद, अद्‌भुत मणि व अंगुलीय के अभिप्राय सभवतः लोक-परम्परा मे गृहीत है।

महाकाव्यों व नाटकों के कथानक तथा पात्र रामायण, महाभारत व पौराणिक साहित्य मे लिये है तथा वस्तु-योजना व चरित्र चित्रण मे पौराणिक विश्वासों का भरपूर उपयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि उनका युग पौराणिक धर्म और उसकी अतिप्राकृत आस्थाओं का युग था। पुराणो की सृष्टिविषयक व्याख्याएं नाना प्रकार की अलौकिक शक्तियों की कल्पनाओं पर आधारित थी। परब्रह्म, ईश्वर, दैवी व आसुरी शक्तियां, उनके परस्पर संघर्ष, सृष्टि की उत्पत्ति व उसका विकास-क्रम, पौराणिक राजा और महर्षि, लोक-लोकान्तर, मानवीय कार्यकलापों में दैवी हस्तक्षेप, देवों व मानवों का पारस्परिक सहयोग व बन्धुत्व, प्राकृतिक पदार्थों में दैवी तत्त्वों की अनुभूति, ऋषि-मुनियों की तपस्याजन्य अलौकिक शक्तियां, मानव-नियति के निर्माण मे कर्म, भाग्य या अदृष्ट की भूमिका, पुनर्जन्म इत्यादि कितने ही अतिप्राकृत तत्त्वों में विश्वास पौराणिक विश्व-दृष्टि के अविभाज्य अंग थे। निश्चय ही कालिदास के युग की लोकचेतना उक्त पौराणिक विश्वासों से अनुप्राणित रही होगी। कालिदास का समग्र साहित्य-विशेषत: पौराणिक कथाओं व चरित्रों पर आधारित उनके नाटक और महाकाव्य—उक्त कथन की सत्यता के साक्षी है।

मालविकाग्निमित्र

यह नाटक मालविका व अग्निमित्र की प्रणय कथा पर आधारित है। इसका नायक अग्निमित्र एक ऐतिहासिक व्यक्ति हुआ है जिसका स्थितिकाल ईसा पूर्व द्वितीय शतक माना जाता है। वह शुग राजवश के प्रतिष्ठापक पुष्यमित्र का पुत्र था तथा पिता के प्रतिनिधि के रूप मे विदिशा में शासन करता था। नाटक की प्रणयकथा की पृष्ठभूमि में कालिदास ने शुगकालीन इतिहास की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओ का उल्लेख किया है। पुष्यमित्र के अश्वमेघ यज्ञ और सिन्धुतट के युद्ध में यवनों पर वसुमित्र की विजय के प्रसगो को इतिहासकारों ने ऐतिहासिक तथ्यों के रूप मे स्वीकार किया है। इसी प्रकार विदर्भ के राजनैतिक घटनाचक्र में भी ऐतिहासिक सत्यता प्रतीत होती है।[1]

किन्तु नाटक के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि कालिदास का उद्देश्य मालविका व अग्निमित्र के प्रणय-वृत्त का ही चित्रण करना है, तत्कालीन इतिहास के घटनाचक्र पर प्रकाश डालना नही। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश केवल आकस्मिक रूप में हुआ है।

यद्यपि अग्निमित्र एक ऐतिहासिक राजा हुआ है, पर नाटक में चित्रित प्रणय-कथा कवि की उद्भावना प्रतीत होती है। श्री मिराशी व श्री नवलेकर ने कथासरि-

---

1. दे० दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑव् दि इण्डियन पीपल, भाग 2, अध्याय 6, पृ० 95-97.

रहा है। कथा-साहित्य में, विशेषकर जातक कथाओं में, स्त्री-दोहद के अनेक प्रसंग आये हैं।[1] इन प्रसंगों का मनुष्य व पशु दोनों की स्त्रियों से सम्बन्ध है। पेंजर ने ब्लूमफील्ड के आधार पर भारतीय कथा साहित्य मे स्त्री-दोहद के अभिप्राय के विविध रूपों व प्रयोगों का सविस्तर परिचय दिया है।[2] किन्तु वह हमारा प्रकृत विषय नही है, अतः हम अपनी चर्चा को वृक्ष दोहद तक ही सीमित रखेंगे।

कालिदास-साहित्य के अवलोकन से स्पष्ट है कि उन्हें दोहद द्वारा पुष्पोद्गम की कल्पना अतीव प्रिय है। उत्तरमेघ मे रक्ताशोक व केसर को क्रमशः स्त्री के वामपाद तथा मुखमदिरा-रूप दोहद का अभिलाषी बताया गया है।[3] कुमारसम्भव के अनुसार कामदेव और वसंत के प्रभाव से शिवजी के तपोवन में अशोक वृक्ष सुन्दरियों के नूपुरयुक्त चरण के संस्पर्श के बिना ही पल्लवों और पुष्पों से लद गये।[4] रघुवंश में कवि ने अशोक और वकुल वृक्षों के पूर्वोक्त दोहद का उल्लेख किया है।[5] इससे स्पष्ट है कि कालिदास के समय में कम से कम अशोक और बकुल वृक्षों के दोहद से सम्बन्धित विश्वास पर्याप्त व्यापक था। मल्लिनाथ ने मेघदूत के पूर्वोक्त श्लोक की टीका मे अशोक व वकुल के अलावा प्रियंगु, तिलक, कुरवक, मन्दार, नमेरु, चम्पक, आम्र और कर्णिकार वृक्षों के दोहदो का भी उल्लेख किया है।[6] इसी प्रकार कुमार सम्भव, सर्ग ३. श्लोक २६ की टीका में भी मल्लिनाथ ने दोहद-सम्बन्धी दो परम्परागत श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें 'अशोक, वकुल, कुरवक और तिलक' इन चार वृक्षों के दोहद की चर्चा की गयी है।[7] संस्कृत साहित्य में प्रायः इन्ही चार वृक्षो के दोहदों का उल्लेख मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि कालिदास के समय मे वृक्ष-दोहद सम्बन्धी विश्वास पर्याप्त व्यापक था। संभवतः काव्य-साहित्य मे वृक्षदोहद की

---

1. दे0 सुवण्णकक्कट जातक, थुस जातक, सुंसुमार जातक, वानरजातक, भद्दसाल जातक, चवक जातक, निग्रोध जातक आदि
2. एन0 एस0 पेंजर द्वारा सपादित 'दि ओशन ऑव् स्टोरी', प्रथम भाग, परिशिष्ट 3, पृ0 221–228.
3. उत्तरमेघ, 15.
4. कु0 सं0 3.26.
5. रघुवश, 8.62, 19.12.
6. उत्तरमेघ 15 की संजीवनी मे उद्धृत
7. सनुपुररवेण स्त्रीचरणेनाभिताडनम्।
   दोहदं यदशोकस्य ततः पुष्पोद्गमो भवेत्॥
   पादाहतः प्रमदया विकसत्यशोक.
   शोकं जहाति वकुलो मुखसीधुसिक्त.।
   आलोकितः कुरवकः कुरुते विकास-
   मालोडितस्तिलक उत्कलिको विभाति॥

कल्पना का सर्वप्रथम समावेश कालिदास ने ही किया। कालिदास के पूर्ववर्ती साहित्य मे स्त्री-दोहद के तो उल्लेख मिलते है, पर वृक्षदोहद की रमणीय कल्पना के प्रथम प्रयोक्ता कालिदास ही प्रतीत होते है। मालविकाग्निमित्र में उन्होंने वृक्षदोहद के लोकप्रचलित विश्वास का केवल उल्लेख ही नही किया है, अपितु उसे वस्तु-विन्यास का महत्त्वपूर्ण अंग भी बनाया है तथा उसके माध्यम से प्रकृति व मानव में आत्मैक्य का दर्शन करने वाली अपनी भावप्रवण काव्य-दृष्टि को भी बड़ी सशक्त अभिव्यक्ति दी है।

मल्लिनाथ ने दोहद-विषयक कल्पनाओ को 'प्रसिद्धि' कहा है।[1] निश्चय ही उनका आशय कवि-प्रसिद्धि से है। किन्तु राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा में जिन कविसमयों का वर्णन किया है उनमें दोहद-सम्बन्धी प्रसिद्धियां सम्मिलित नही है।[2] तथापि 'कर्पूरमंजरी[3] व 'काव्य-मीमांसा[4] से स्पष्ट है कि राजशेखर अशोक, वकुल, कुरवक और तिलक इन चार वृक्षों के दोहद की कल्पना से भलीभांति परिचित थे। संभवतः विश्वानाथ ने ही सर्वप्रथम वृक्षदोहद को कविसमय के रूप में स्वीकार किया।[5]

अनेक विद्वानो के अनुसार वृक्षदोहद की कल्पना के लिए भारतीय साहित्य और शिल्प दोनों प्राचीन लोक-धर्म के ऋणी है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने[6] फर्गुसन और डा० आनन्द के० कुमार स्वामी के अनुसंधानो के आधार पर वृक्ष-पूजा व वृक्ष-दोहद को असुर जातियों की यक्ष-पूजा से सम्बद्ध माना है। उनके विचार मे यक्ष-देवता मूलतः जल और वृक्षों के अधिपति माने गये थे। उनके अनुसार रामायण व महाभारत की अनेक कथाओं व प्रसगों मे यक्ष-देवता के इस प्राचीन रूप की झलक देखी जो सकती है। "वस्तुतः यक्ष और यक्षिणी मूलतः उर्वरता के प्रतीक देवता थे। भरहुत, बोधगया, मथुरा आदि में सतानार्थिनी स्त्रियों के इस प्रकार वृक्ष के पास जाकर यक्षों से वर प्राप्त करने की मूर्तियां बहुत अधिक पायी गयी है।"[7] वे आगे लिखते है—"इन वृक्षो मे सर्वाधिक रहस्यमय वृक्ष अशोक है। जिस प्रकार वृक्षदेवता स्त्रियों में दोहद का सचार करते थे; उसी प्रकार सुन्दरी स्त्रियों की अधिष्ठात्री

---

1. उत्तरमेघ, 15 पर संजीवनी टीका
2. अध्याय 14.
3. कर्पूरमंजरी, 2.43.
4. अध्याय 13, पृ0 73.
5. सा0 द0, 7.24.
6. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ0 228-230.
7. वही, पृ0 229.

यक्षिणियां स्त्री-अंक के संस्पर्श से वृक्षों में भी दोहद-संचार करती थीं।"[1]

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने वृक्षदोहद की कल्पना का मूल प्राचीन भारतीयों के वृक्ष-वनस्पतियों के प्रेम तथा उनके विकास व पुष्पोद्भास में सम्मिलित होने की स्वाभाविक भावना को माना है। प्राचीन वृक्षमह या वृक्षपूजा के मूल में उन्होंने यही प्रवृत्ति स्वीकार की है। वे कहते है—"इसी उद्देश्य से स्त्रियों के लिए दोहद नामक उत्सव का विधान किया गया। कुमारी कन्याए अशोक वृक्ष के समीप जाकर श्रद्धा से उसके चारों और नृत्य करती और नृत्य की भाव-भंगिमा मे ही वामपाद से वृक्ष का स्पर्श करती थी। इसके मूल में यह भावना थी कि उस पाद-प्रहार से अशोक का वृक्ष पुष्पों की समृद्धि से लहलहा उठेगा। उसके बाद जब पुष्पों का खिलने का समय आता तो प्रकृति के प्रेमी स्त्री-पुरुष मानसिक उल्लास से पुष्पप्रचायिका क्रीड़ा में भाग लेने के लिये उद्यान में पहुंचते थे।"[2] डा० अग्रवाल के अनुसार इन उत्सवों का सामाजिक महत्त्व था। साथ ही उन्हें धर्म का भी अंग बना दिया गया, ताकि उन्हें स्थायित्व प्राप्त हो सके।

डा० भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार कुषाण व गुप्त युग की मूर्तिशिल्प की कृतियों मे अशोक दोहद के दृश्य का अतीव सजीव अंकन मिलता है। उनके विचार मे मालविकाग्निमित्र में वर्णित दोहद-प्रसंग कालिदास पर तत्कालीन मूर्तिकला के प्रभाव की ही देन है।[3] हेनरी डब्ल्यू वेल्स ने इस प्रसंग में लोकवार्ता का तत्त्व स्वीकार किया है[4] तथा वाल्टर रूबेन ने इसे वृक्षपूजा की पुरातन परम्परा से जोड़ा है।[5]

मालविकाग्निमित्र में नायक-नायिका का प्रथम मिलन, नाटकीय संघर्ष का विकास एव अन्त में प्रेमियो की मनोरथ-पूर्ति इन सबको अशोकदोहद के साथ सम्बद्ध कर नाटककार ने वस्तु-विधान का अपूर्व कौशल प्रदर्शित किया है। साथ ही यहां कालिदास की प्रकृति-सम्बन्धी वह काव्य-भावना व दार्शनिक दृष्टि भी व्यक्त हुई है जिसके अनुसार मानव और प्रकृति दोनों एक ही प्राण-धारा से आप्यायित है तथा दोनो के जीवन-क्रम मे एक अन्तर्वर्ती साम्य है।[6] वस्तुतः यह नाटक एक साथ दो

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० 230.
2. प्राचीन भारतीय लोक धर्म, पृ० 83.
3. दे० इंडिया इन कालिदास, पृ० 240.
4. क्लासिकल ड्रामा ऑव् इण्डिया, पृ० 14.
5. कालिदास-दि ह्यूमन मीनिंग ऑव् हिज वर्क्स, पृ० 80.
6. "कालिदास के काव्य पर समग्र भाव से विचार करने पर यह बात खूब स्पष्ट एवं प्रधान होकर दिखायी पड़ती है कि उनके मन मे विश्व-सृष्टि के भीतर चिद्-अचित् की भेद-रेखा मानो कही भी स्पष्ट नही है, इस सम्बन्ध मे वे मानो बहुत कुछ अद्वयवाद के विश्वासी थे।" उपमा कालिदासस्य' डा० शशिभूषण दास गुप्त, पृ० 47.

दोहद-पूर्तियों की कथा है। एक दोहद प्रकृति के प्रतीक अशोक वृक्ष का है और दूसरा है मानव-दोहद मालविका और अग्निमित्र का। इन दो दोहदों की उत्पत्ति, विकास और पूर्णता की समानान्तर कथा प्रस्तुत कर कालिदास ने उच्चकोटि के नाट्य-कौशल का परिचय दिया है। उत्कण्ठिता मालविका को पुष्प-रहित दोहदाभिलाषी अशोक मे अपनी अनुकृति का दर्शन होता है।[1] उधर अग्निमित्र भी अकुसुमित दोहदापेक्षी अशोक के साथ अपना भाव-तादात्म्य स्थापित करते हुए मालविका के कोमल पादाघात की कामना करता है।[2] यह स्मरणीय है कि मेघदूत में विरही यक्ष ने भी ऐसी ही अभिलाषा व्यक्त की है।[3] अग्निमित्र की दृष्टि में अशोक वृक्ष एक प्रतिद्वन्द्वी प्रेमी का रूप धारण कर लेता है[4]—

आदाय कर्णकिसलयमस्मादियमत्र चरणमर्पयति।
उभयो. सदृशविनिमयादात्मानं वंचितं मन्ये॥ माल० ३.१६

तृतीय अक मे मालविका द्वारा अशोक की दोहद-निर्वृत्ति के पश्चात् अग्निमित्र सहसा उसके समक्ष पहुंच कर इन शब्दो मे अपना प्रणय-निवेदन करता है:—

धृतिपुष्पमयमपि जनो बध्नाति न तादृशं चिरात्प्रभृति।
स्पर्शामृतेन पूरय दोहदमस्याप्यनन्यरुचे:॥ माल०, ३.१६

यहा अग्निमित्र ने अशोक के साथ जिस भावैक्य का संकेत दिया है उससे प्रतीत होता है कि कालिदास ने सुन्दरी के पादाघात से उसके पुष्पोद्गम की कल्पना को नर-नारी के परस्पर आकर्षण और प्रणयाभिलाप के प्राकृतिक प्रतीक के रूप मे उपस्थित किया है। वकुलावलिका के एक द्वयर्थक वाक्य से, जो अशोक के पल्लव-गुच्छ के विषय मे कहा गया है, मालविका राजा के संदर्भ में अर्थ समझ लेती है।[5] यह कवि का उक्ति-चातुर्य मात्र नही है, अपितु मानवीय व प्राकृति व्यापारों मे

---

1. अयं स सुकुमारदोहदापेक्षी अगृहीतकुसुमनेपथ्य उत्कण्ठिता मामनुकरोत्यशोक:।
   माल0 3, पृ0 60.
2. राजा–सम्यगभिहित भवता।
   नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन।
   अकुसुमितमशोक दोहदापेक्षया वा प्रणिहितशिरसं वा कान्तमार्द्रापराधम्॥
   विदूषक–पारयिष्यसि तत्रभवत्या अपराद्धुम्।
   राजा–प्रतिगृहीत वच: सिद्धिदर्शिनो ब्राह्मणस्य। वही अंक 3, पृ0 66.
3. एक: सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी। उत्तरमेघ, 15.
4. तुलनीय– चलापाङ्गा दृष्टि • • • त्वं खलु कृती। अभि0 शाकु0 1, 24.
5. वकुलावलिका–एप उपारूढराग: उपभोगक्षम: पुरतस्ते दृश्यते।
   मालविका–(सहर्षम) किं भर्त्ता।
   वकुलावलिका–न तावद् भर्त्ता। एषोऽशोकशाखावलम्बी पल्लवगुच्छ:।
   अवतंसय तावदेनम्। माल0; 3, पृ0 76.

निहित एकत्व का सूक्ष्म संकेत है। पंचम अंक में जब विदूषक कहता है कि 'इस यौवनवती को विश्रब्ध भाव से देखो' तो राजा का ध्यान स्वभावतः समीप में स्थित मालविका की ओर जाता है, पर धारिणी के प्रश्न के उत्तर में विदूषक 'तपनीय अशोक की कुसुम शोभा को' कह कर स्थिति को बड़ी चतुराई से सम्हाल लेता है।[1] इस छोटे से संवाद द्वारा कालिदास ने समस्त यौवनवतियों की एकात्मकता सूचित करते हुए प्राकृतिक और मानवीय जगत् की समशीलता का सूक्ष्म संकेत दिया है। निश्चय ही अशोक और उसके पल्लव-पुष्प आदि विभिन्न अंग कवि दृष्टि में मानव-व्यक्तित्व के ही प्रतिरूप हैं जिनके माध्यम से उसने नर-नारी की सनातन प्रणयोत्कंठा और सौन्दर्य-लालसा का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। इसीलिए कवि ने अग्निमित्र के मुंह से अशोक के दोहद को ललित प्रेमियों का सर्वसाधारण दोहद कहा है।[2]

अशोक की दोहद-पूर्ति के पश्चात् मालविका वकुलावलिका से पूछती है कि हमने अशोक को जो स्नेह और आदर दिया है, क्या वह सफल हो सकेगा ?[3] वकुलावलिका ने इसका जो उत्तर दिया है वह हमारे समक्ष उस गुणहीन अभागे प्रेमी का चित्र अंकित कर देता है जो प्रियतमा की विह्वल प्रणय-याचना और समर्पण का उचित सम्मान न कर सौन्दर्य और प्रणय के आह्वान के प्रति असंवेदनशील रहता है।[4]

मालविका का उक्त प्रश्न निश्चय ही उसकी तत्कालीन मनःस्थिति का द्योतक है। उसका हृदय अग्निमित्र के प्रति सोत्कंठ है, पर उसे पता नहीं है कि उसके प्रणय का राजा की ओर से क्या प्रतिदान मिलेगा। वकुलावलिका के आश्वासन के वावजूद वह कहती है—"हला। देवी चिन्तयित्वा न मे हृदयं विश्वसिति।" इस वाक्य में मालविका के मन का जो अविश्वास और भय व्यक्त हुआ है। वही 'अपि नाम आवयोः संभावना सफला भवेत्" इस वाक्य मे अशोक के संदर्भ में प्रकट हुआ

---

1. विदूषकः-भोः विश्रब्धो भूत्वेमा यौवनवती पश्य।
   धारिणी-काम्।
   विदूषक -तपनीयाशोकस्य कुसुमशोभाम्। पृ० 136–138.
2. राजा-अनेन तनुमध्यया मुखरनूपुराविणा
   नवाम्वुरुहकोमलेन चरणेन संभावित.।
   अशोक यदि सद्य एव कुसुमै र्न सम्पत्स्यसे
   वृथा वहसि दोहदं ललितकामिसाधारणम्॥ वही. 3. 17.
3. मालविका-अपि नाम आवयोः संभावना सफला भवेत्। वही, 3, पृ० 78
4. वकुलावलिका–हला नास्ति ते दोषः निर्गुणोऽयमशोकः
   यदि कुसुमोद्भेदमन्थरो भवेद् य ईदृशं चरणसत्कार लभते। वही 3, पृ० 78.

है। इसका निष्कृष्ट अर्थ यह है कि अशोक-दोहद का प्रसंग नाटक में अंकित मानव-मनोव्यापार का ही प्राकृतिक प्रतिबिम्ब है। यही कारण है कि मानवीय और प्राकृतिक दोहद की दो कहानियां इस नाटक में बिम्बप्रतिबिम्बभाव से चलती है। दोनों कथाएं पृथक् होकर भी एकाकार हो जाती है या कम से कम एक दूसरे में अपनी प्रतिच्छाया अंकित करती चलती है।[1] इधर अशोक का दोहद है और उधर दोनों प्रेमियों का दोहद जो उनकी पारस्परिक उत्कंठा व मिलन-कामना मे व्यक्त हुआ है। इधर मालविका अशोक का दोहद सम्पन्न करती है तो उधर उसी प्रसंग मे वह राजा के प्रति अपने अनुराग की स्वीकृति द्वारा उसकी दोहद-पूर्ति की आशा जगा देती है। दोनों प्रेमी समानुराग की स्थिति मे पहुंच कर एक दूसरे के दोहद की पूर्ति के प्रति सचेष्ट है। इधर अशोक के दोहद की सफलता संदिग्ध है तो उधर इरावती व धारिणी के संगठित विरोध के कारण राजा और मालविका के प्रणय की सफलता भी अनिश्चितता लिये हुए है। इधर अशोक में दोहद की सूचक मंजि-रयां निकलती है, तो उधर समुद्र-गृह में दोनों प्रेमियो के मिलन मे उनका दोहद सफलता की ओर उन्मुख होता है। इधर तपनीय अशोक यौवनवती कुसुमशोभा से समलंकृत है तो उधर राजा वैवाहिक नेपथ्य से सुसज्जित मालविका को पाकर पूर्ण-काम है। एक ओर प्रकृति के जीवन मे दोहद सम्पन्न हो रहा है तो दूसरी ओर उसी की मांगलिक छाया में दो मानव-प्रेमियों के जीवन मे एक-दूसरे को पाने का दोहद चरितार्थ हो रहा है। कालिदास ने नाटक के अंतिम दृश्य मे एक साथ दो दोहद-पूर्तियों का मनोरम चित्र अंकित कर मानव और प्रकृति की आत्माओं को एक ही सूत्र में ग्रथित कर दिया है।

यद्यपि कवि ने चतुर्थ अंक के अन्त में अशोक के पुष्पोद्गम के रूप में एक अप्राकृतिक घटना की योजना की है, पर यह योजना कितनी स्वाभाविक और संगत है यह उक्त विवेचन से स्पष्ट है। यह कोई एकाकी व असम्पृक्त घटना नहीं है, अपितु नाटक की वस्तु-सरचना का एक अभिन्न तत्त्व है। तृतीय अंक में जिन स्थितियों का सूत्रपात हुआ है, यह घटना उन्हीं का एक स्वाभाविक परिणाम है एवं

---

1. इस संदर्भ मे विंटरनित्स का यह कथन द्रष्टव्य है—
"एक लोकप्रिय भारतीय विश्वास के अनुसार सुन्दरी स्त्री का पादस्पर्श इस वृक्ष (अशोक) को वलात् पुष्पित कर देता है। केवल कालिदास सरीखा कवि ही, जो प्रकृति का अनुपम चितेरा है तथा जिसके समक्ष प्रकृति व मनुष्य एक ही अनुगुण समग्रता मे इस तरह प्रकट होते है कि प्रत्येक मानव-भाव प्रकृति मे प्रतिबिम्बित हो जाता है, अपने नाटक में ऐसे विश्वासो को इतनी सुन्दरता से प्रदर्शित करने मे सफल हो सकता था।"
हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लिट्रेचर, खण्ड 3, भाग 1, पृ0 250.

नाटकीय वस्तु व चरित्र-चित्रण में इस घटना की पूर्वापर स्थितियां बड़ी गहराई से अन्तर्ग्रंथित है।

सिद्धादेश साधु की भविष्यवाणी : पंचम अंक में जब विदर्भ से आगत शिल्पदारिकाएं मालविका को पहचान लेती हैं, तो यह रहस्य खुलता है कि मालविका विदर्भ के शासक माधवसेन की बहिन तथा अग्निमित्र की वाग्दत्ता है। यही पर कवि ने शिल्पदारिकाओं व कौशिकी के मुंह से मालविका की वह दुर्भाग्यकथा कहलाई है जिसके कारण उसे एक राजकन्या होते हुए भी अग्निमित्र के अन्तःपुर में दासी का जीवन बिताना पड़ा। मालविका की इस दुःखपूर्ण गाथा को सुनकर उसके प्रति सबके हृदय में सहानुभूति का उमड़ना स्वाभाविक है। धारिणी को खेद होता है कि उसने मालविका-रूपी चन्दन को चरणपादुका के रूप मे काम मे लिया।[1] राजा भी ग्लानि के साथ कहता है कि कौशेयवस्त्र का अनजान में स्नानीय वस्त्र के रूप में उपयोग किया गया।[2] धारिणी पंडिता कौशिकी को उपालंभ के स्वर में कहती है—"भगवति। आपने अभिजनवती मालविका का परिचय हमें न देकर अनुचित कार्य किया है।"[3] इस पर कौशिकी ने उत्तर दिया—"ऐसा न कहें, मैं किसी कारण विशेष से ही इस विषय में चुप रही।" मालविका के पिता के जीवन काल में देवयात्रा के प्रसंग से आए किसी सिद्धादेश साधु ने मेरे समक्ष यह भविष्यवाणी की थी कि मालविका एक वर्ष तक दासीत्व का अनुभव कर अपने सदृश पति को प्राप्त करेगी। उस अवश्यंभावी आदेश को आपकी चरण-शुश्रूषा के रूप में परिणत होते देखकर मैंने उचित समय की प्रतीक्षा द्वारा ठीक ही किया, ऐसा सोचती हूं।"[4]

कौशिकी के उक्त कथन में दो प्रकार के अतिप्राकृत विश्वास निहित है—

(१) मनुष्य का जीवन पूर्व-नियत है। उसके भवितव्य के सूत्र किसी अदृश्य शक्ति के हाथों में हैं। उसके जीवन में आने वाली सम्पत्ति-विपत्ति, उन्थान-पतन, सुख-दुःख सब पूर्व-निर्धारित है तथा उनका उसी रूप में घटित होना आवश्यक है। उसके जीवन का नियमन करने वाली इस अदृश्य शक्ति के स्वरूप के विषय मे नाटककार ने हमे कुछ नही बताया है। यह शक्ति संभवतः मालविका के पूर्व जन्म के कर्मो से निर्मित उसका रहस्यमय व अव्याख्येय अदृष्ट, विधि या भाग्य है जिसके कारण वह राजकुमारी से दासी बनी और दासी से पुनः राजकुमारी।[5]

---

1. माल0 5, पृ0 142.
2. वही, 5,12.
3. भगवति त्वयाभिजनवती मालविकामनाचक्षाणया असाम्प्रतं कृतम्। वही, 5. पृ0 146.
4. वही 5. पृ0 146–148.
5. राजा—अथात्रभवती कथमित्थंभूता।
   मालविका (निःश्वस्यात्मगतम्) विधेर्नियोगेन। वही, 5, पृ0 142.

(२) दिव्य ज्ञान से सम्पन्न कुछ विशिष्ट व्यक्ति भविष्य की घटनाओं को जानकर उनके बारे में पहले ही बता सकते है।

कालिदास ने कौशिकी के मालविकाविषयक मौन की जो व्याख्या की है वह न केवल धारिणी और अग्निमित्र का ही समाधान करती है अपितु कालिदास के युग के सभी सहृदय प्रेक्षकों के लिए वह समान रूप से संतोषप्रद रही होगी। सिद्ध पुरुषों की भविष्यवाणियों की सत्यता तथा मानव-जीवन की संचालिका अदृश्य शक्तियों की सत्ता मे उस युग के सर्वसामान्य लोगों का गहरा विश्वास था। यह विश्वास लोगों मे आज भी पाया जाता है।

कालिदास ने मालविका और पडिता कौशिकी का रहस्य अतिम अंक मे उद्घाटित किया है, जिससे उनकी वास्तविकता के विषय मे नाटक के अत तक प्रेक्षक की कौतूहल-वृत्ति जाग्रत रहती है। यहां कालिदास ने मालविका के राज-कन्यात्व, उसके विपय मे साधु की भविष्यवाणी तथा उसके जीवन की दु खभरी कहानी के रहस्योद्घाटन द्वारा नाटक के अन्त को चमत्कारपूर्ण वना दिया है। यद्यपि यह कालिदास का प्रथम नाटक है, तथापि इसमे उनका वस्तु-विधान का प्रकृष्ट कौशल प्रकट हुआ है। यह भविष्यवाणी सभवत: धारिणी के धर्मभीरु आस्तिक मन को यह विश्वास दिलाती है कि मालविका और अग्निमित्र का विवाह अवश्यंभावी घटना है। यदि इस विषय मे वह स्वय पहल नही करती तो भी यही होकर रहता, क्योकि दैवी शक्तियो की ऐसी ही योजना है।

शकुन : मालविकाग्निमित्र मे दो स्थलो पर शकुन-सम्वन्धी अतिप्राकृत लोकविश्वास का भी उल्लेख मिलता है। ये दोनों ही स्थल पंचम अक मे आये है। इनमे आंगिक[1] या मानसिक विकारो[2] को भावी शुभ घटना के सूचक रूप में अकित किया गया है। यहा यह विश्वास भी व्यक्त हुआ है कि आगामी सुख या दु:ख हृदय को पहले से ही समर्थ वना देता है।

शकुनों मे यह विश्वास निहित रहता है कि कोई दैवी शक्ति आंगिक व मानसिक विकारो या प्राकृतिक जगत् के परिवर्तनों द्वारा मनुष्य को भावी शुभ या अशुभ का पूर्व संकेत दे देती है। वह उस सकेत को ग्रहण करे या न करे यह दूसरी वात है, किन्तु ऐसा संकेत उसे दिया अवश्य जाता है। इस दृष्टि से शकुनों को हम अतिप्राकृत शक्ति के अस्पष्ट संकेत कह सकते है। जिन क्रियाओं व तथ्यो को हम

---

1. मालविका—जानाभि निमित्त कौतुकालकारस्य। तयापि विसिनीपत्रगत सलिलमिव वेपते मे हृदयम्। दक्षिणेतरदपि नयन वहुशः स्फुरति। वही 5, पृ० 134.

2. प्रथमा—हला रजनिके अपूर्वमप्येतद्राजकुलं प्रविशन्त्याः प्रसीदति ममाभ्यन्तरगत आत्मा। द्वितीया—ज्योत्स्निके ममाप्येवम्। अस्ति खलु लोकवादः। आगामि सुख वा दुख वा हृदय समर्थीकरोति। वही, 5, पृ० 138.

शकुन कहते हैं वे तो प्राकृत ही होते हैं पर उनकी प्रतीकात्मकता अतिप्राकृतिक शक्तियों की मान्यता पर आधारित होती है।

यह पहले कहा जा चुका है कि मालविकाग्निमित्र में कोई भी पात्र अतिप्राकृत तत्त्वों से युक्त नहीं है। इसमें कवि का उद्देश्य मानवीय व लौकिक प्रेम का चित्रण करना रहा है।

चतुर्थ अंक के अन्त मे दोहद के फलस्वरूप अशोक में मुकुलों के आविर्भाव के विपय में नेपथ्य से दी गयी सूचना अद्भुत रस का विभाव है। उद्यानपालिका के "आश्चर्यम् आश्चर्यम्" आदि शब्द अद्भुत रस के अनुभाव है। यह अद्भुत रस नाटक के अंगी शृंगार का अंग है। पंचम अंक के अंत में मालविकाविपयक वास्तविक वृत्त का उद्घाटन तथा सिद्धादेश साधु की भविष्यवाणी की सूचना भी पूर्ववत् अद्भुत रस की व्यंजक है।

विक्रमोर्वशीय

कालिदास का दूसरा नाटक विक्रमोर्वशीय[1] अनेक दृष्टियों से मालविकग्निमित्र से भिन्न है। कालिदास की नाट्यकला के विकासक्रम में इसका स्थान मालविकाग्निमित्र और शाकुन्तल के मध्य मे माना जाता है। कवित्व और कला की दृष्टि से मालविकाग्निमित्र से इसकी श्रेष्ठता असदिग्ध है। वस्तु और पात्रों की परिकल्पना तथा अन्तश्चेतना की दृष्टि से यह नाटक मालविकाग्निमित्र की अपेक्षा शाकुन्तल के अधिक निकट है। इसकी कथावस्तु उर्वशी और पुरूरवा के प्राचीन आख्यान पर आधारित है। वस्तु की पौराणिक प्रकृति के कारण नाटककार को इसमें अतिप्राकृतिक तत्त्वों की योजना का प्रभूत अवसर मिला है।

विक्रमोर्वशीय मे कालिदास का प्रणय-संबंधी दृष्टिकोण भी अधिक विकसित रूप मे प्रकट हुआ है। इसमे चित्रित प्रेम अन्तःपुर की ऐन्द्रियलीला नही अपितु मानव-हृदय की एक तीव्र सवेदना है जो मिलनोत्कण्ठा और विरहव्यथा के रूप में

---

1. इस नाटक के दो पाठ मिले हैं—उत्तरभारतीय व दक्षिणभारतीय। उत्तरभारतीय पाठ की प्रस्तावना में यह 'त्रोटक' कहा गया है और दक्षिणभारतीय में 'नाटक'। प्रथम पाठ में चतुर्थ अंक के अन्तर्गत प्राकृत पद्य भी समाविष्ट हैं। कीथ के अनुसार उत्तरी पाठ मे विद्यमान नृत्य-तत्त्व के कारण यह त्रोटक कहा गया है (देखिये संस्कृत ड्रामा, पृ० 151) डा० दे के विचार मे इस पाठ के प्राकृत पद्यो में निहित गान-तत्त्व इसके त्रोटक नामकरण का आधार है। इन दोनो विद्वानो के विचार में विक्रमोर्वशीय वस्तुतः नाटक है, त्रोटक नही। विश्वनाथ ने त्रोटक को उपरूपको मे गिनते हुए 'विक्रमोर्वशीय' को उसका उदाहरण बताया है (सा०द०, 6.273) किन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नही होता।

व्यक्त हुई है। इसमें कालिदास का प्रधान लक्ष्य विरह के माध्यम से मानवीय प्रणय के अन्तःसौन्दर्य का उद्घाटन है, जबकि मालविकाग्निमित्र में वियोग की वास्तविक परिस्थिति के अभाव में प्रणय का यह पक्ष उपेक्षित रह गया है। हम आगे देखेंगे कि कालिदास ने विरह-चित्रण के लिए उपयुक्त परिस्थिति के निर्माण की दृष्टि से भी कुछ महत्त्वपूर्ण अतिप्राकृत तत्त्वों की योजना की है। मानव और प्रकृति में एक ही चेतना का दर्शन करने वाली कालिदास की काव्यभावना की अभिव्यक्ति मे भी ये तत्त्व सहायक रहे हैं।

उर्वशी और पुरूरवा का प्रणयाख्यान भारतीय साहित्य के प्राचीनतम लोकप्रिय आख्यानों मे से एक है। इसका सबसे पुराना रूप ऋग्वेद के एक सूक्त[1] में मिलता है जो उर्वशी और पुरूरवा के संवाद के रूप में है। इस सूक्त से वास्तविक प्रणय-कहानी का धुंधला-सा ही ज्ञान होता है। ऋग्वेद का यह अपूर्ण व अस्पष्ट-सा संवादात्मक आख्यान शतपथ ब्राह्मण में एक सुसम्बद्ध व सुस्पष्ट कथा के रूप में वर्णित है।[2] किन्तु विक्रमोर्वशीय की कथावस्तु का न ऋग्वेद के संवादात्मक आख्यान से कोई साम्य है और न शतपथ की कथा से। कालिदास ने अपने नाटक में उर्वशी की शर्तों, गन्धर्वों की कूट योजना एवं उसके फलस्वरूप पुरूरवा को छोड़कर उर्वशी के आकस्मिक गमन, कुरुक्षेत्र के सरोवर पर दोनों प्रेमियों के पुर्नमिलन, गन्धर्वों के निर्देशानुसार पुरूरवा के यज्ञानुष्ठान तथा गंधर्वत्व-प्राप्ति आदि प्रसंगों का जो शतपथ-ब्राह्मण की कथा में आये हैं, कोई उल्लेख नहीं किया। वैदिक कथा से कालिदास के नाटक का यदि कोई साम्य है तो इतना ही कि दोनों एक स्वर्गीय अप्सरा और उसके मानवप्रेमी के प्रणय, मिलन और विरह की मूलभूत विषयवस्तु पर आधारित हैं। सच तो यह है कि उर्वशी और पुरूरवा का वैदिक आख्यान सही अर्थ में एक प्रणयकथा कहलाने का अधिकारी नही है। उसमें केवल एकपक्षीय अनुराग का चित्रण हुआ है। ऋग्वेद व शतपथ ब्राह्मण की उर्वशी प्रेमिका की कसौटी पर खरी नही उतरती। वह नारी की सहृदयता व स्थिर प्रेम की योग्यता पर ही प्रश्न चिह्न लगा देती है।[3]

शौनककृत बृहद्देवता में देवराज इन्द्र सभवतः सर्वप्रथम उर्वशी-पुरूरवा की प्रणयकथा से सम्बद्ध किये गये है।[4] विक्रमोर्वशीय में कालिदास ने भी इन्द्र को

---

1 ऋग्वेद 10.95.

2. शतपथब्राह्मण 11.5.1.

3. न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणा हृदयान्येता।

ऋग्वेद 10, 95.15.

4. 7, 147-152.

महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान की है, किन्तु दोनों में वह परस्पर विपरीत रूप लिये हुए है। यह भी उल्लेखनीय है कि वृहद्देवता में उर्वशी को प्रेमिका का व्यक्तित्व देने का प्रयत्न किया गया है।

हरिवंश, विष्णु, भागवत, वायु, मत्स्य, पद्म आदि पुराणों में भी उर्वशी व पुरूरवा की प्रेम-कथा आई है,[1] पर प्रस्तुत नाटक की दृष्टि से इनमें से मत्स्य व पद्म का ही अधिक महत्त्व है।[2] इन दोनों पुराणों में उर्वशी की स्वर्गच्युति का कारण भरतमुनि का शाप कहा गया है,[3] तथा उसे उर्वशी की मनःस्थिति से सम्बद्ध करने का यत्न किया गया है। जहां तक कालिदास का सम्बन्ध है, उन्होंने उक्त दोनों पुराणों के समान भरतमुनि के शाप को ही उर्वशी के पृथ्वीलोक में आने का कारण बताया है तथा उसे नाटक के प्रणयवृत्त में बड़ी कुशलता से अन्तर्ग्रथित किया है। मत्स्य व पद्म पुराणों में से पद्म की रचना व संकलन का काल कालिदास के बाद का माना गया है।[4] अतः उसका उन पर कोई प्रभाव नहीं माना जा सकता। अब रही मत्स्य पुराण की बात। श्री काणे ने उसका रचनाकाल २००–४०० ई० निश्चित किया है,[5] अतः विक्रमोर्वशीय की वस्तु-कल्पना पर केवल इसी पुराण का प्रभाव स्वीकर किया जा सकता है। पद्मपुराण मे आई उर्वशी की कथा संभवत मत्स्यपुराण से ज्यों की त्यों ली गई है।[6] अतः मत्स्यपुराण की कथा के साथ विक्रमोर्वशीय की जितनी समानता है उतनी ही पद्मपुराण के साथ भी।

मत्स्यपुराण के अनुसार पुरूरवा इन्द्र से मिलने के लिए प्रतिदिन स्वर्ग जाया करता था। एक बार जब वह रथ मे बैठकर आकाशपथ से स्वर्ग जा रहा था तो उसने देखा कि दानवेन्द्र केशी उर्वशी व चित्रलेखा नामक अप्सराओं को बलात् पकड़-कर ले जा रहा है। उसने तत्काल वायव्यस्त्र से आक्रमण कर केशी को पराजित किया तथा दोनों अप्सराओं को छुड़ाकर उन्हें इन्द्र को सौंप दिया। पुरूरवा के इस शौर्य-

---

1. हरि० पु० प्रथम पर्व, 26, वि०पु० 4.6.34–94; भा० पु० 9 14. 15–19; वा०पु० 91 वा अध्याय, म०पु० 24 वां अध्याय, प०पु० सृष्टि खंड, 12 वा अध्याय,
2. शेष पुराणो मे इस कथा का प्रायः शतपथब्राह्मण में वर्णित रूप ही दोहराया गया है।
3. अन्य पुराणो मे उर्वशी के मर्त्यलोक मे पतन का कारण मित्रावरुण (भागवत व विष्णु मे) या ब्रह्मा का शाप (देवी भागवत, ब्रह्म व वायु में) कहा गया है।
4. दे० श्री पी०वी० काणे कृत हिस्ट्री ऑव् धर्मशास्त्र, खंड 5, भाग 2, पृ० 893 तथा 910.
5. वही, पृ० 899–900.
6. मत्स्यपुराण और पद्मपुराण के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में श्री काणे का मत है कि पद्म मे मत्स्य से सामग्री ली गई। उनके अनुसार यह आदान 1000 ई० से पूर्व कभी हुआ। दे० वही, पृ० 893.

पूर्ण कार्य से इन्द्र अतीव प्रसन्न हुआ और सदा के लिए उसके साथ मैत्री के सूत्र में बंध गया ।[1]

कालिदास ने भी इस घटना को कुछ हेरफेर के साथ विक्रमोर्वशीय के प्रथम अंक में निवद्ध किया है । किन्तु जहां पुराणकार ने इसे पुरूरवा व इन्द्र की मैत्री का ही आधार माना है, वहां कालिदास ने प्रणयवृत्त की पृष्ठभूमि के रूप में इसकी नाटकीय संभावनाओं का पूर्ण उपयोग किया है ।

मत्स्यपुराण के अनुसार एक वार स्वर्ग में भरतमुनि के निर्देशन में 'लक्ष्मी-स्वयंवर' नामक नाटक का अभिनय किया गया जिसमें उर्वशी ने लक्ष्मी की भूमिका ग्रहण की । मुनि ने उर्वशी, मेनका, रंभा आदि अप्सराओं को नृत्य करने का आदेश दिया । उर्वशी जव लय के साथ नृत्य कर रही थी तभी प्रेक्षकों में बैठे पुरूरवा को देखकर वह कामपीड़ित हो गयी तथा गुरु के सिखाये अभिनय को भूल गयी । उसके इस प्रमाद को देखकर भरतमुनि क्रुद्ध हो गये । उन्होंने उर्वशी को शाप दिया कि वह मर्त्यलोक में पुरूरवा से वियुक्त होकर पचपन वर्ष तक लता वनकर रहेगी तथा पुरूरवा भी पिशाच को जायेगा । मुनिद्वारा अभिशप्त उर्वशी ने पृथ्वीलोक में आकर पुरूरवा का पति के रूप मे वरण किया तथा शाप की अवधि समाप्त होने पर उससे अनेक पुत्रों को जन्म दिया ।[2]

पुराण की उक्त कथा का आधार लेते हुए भी कालिदास ने उसे नया रूप दे दिया है । नाटक की उर्वशी भी अभिनय में भूल करती है पर पुरूरवा की अनुपस्थिति मे तथा उसके प्रति तीव्र अनुराग के कारण । भरतमुनि द्वारा उर्वशी को शाप देने की वात मत्स्य पुराण व नाटक दोनों में आयी है पर जो शाप दिया गया है उसमें अन्तर है । पुराण मे उर्वशी को लतारूप मे परिवर्तित होने का शाप दिया गया है जवकि नाटक मे केवल स्वर्गच्युत होने का । इस प्रसंग में कालिदास ने यह भी वताया है कि महेन्द्र पुरूरवा के प्रति मैत्री के कारण उर्वशी को पुरूरवा के पास जाकर रहने की अनुमति दे देता है जिससे भरत के शाप की कठोरता कम हो जाती है, किन्तु पुराण मे महेन्द्र के ऐसे अनुग्रह का कोई उल्लेख नहीं मिलता ।

मत्स्यपुराण में उर्वशी के शाप के अतिरिक्त पुरूरवा को दिये गये दो शापों का भी उल्लेख मिलता है । ये शाप उसे अर्थ और काम द्वारा दिये गये थे, जिनका उसने धर्म के समान सत्कार नहीं किया था । काम के शाप में कहा गया है कि पुरूरवा गन्धमादन पर्वत पर कुमारवन में पहुंचकर उर्वशी के वियोग में उन्मत्त हो

1. म0 पु0, अध्याय 24. 22-26.
2. वही, अध्याय 24, 28-33.

जायेगा।[1] कालिदास ने उक्त शाप का तो उल्लेख नहीं किया, पर चतुर्थ अंक में उर्वशी के कुमारवन में लता बन जाने पर पुरूरवा के विरहोन्माद का वर्णन अवश्य किया है। उर्वशी के लता रूप में परिवर्तन की कल्पना कालिदास ने संभवतः मत्स्य-पुराण से ली है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी उर्वशी व पुरूरवा का प्रेमाख्यान विस्तार से आया है[2] तथा उसके कुछ अंश प्रस्तुत नाटक के कतिपय स्थलों से पर्याप्त साम्य रखते हैं। श्री काणे ने विष्णुधर्मोत्तर पुराण का रचनाकाल ६०० ई० के बाद का माना है,[3] अतः वही कालिदास का ऋणी प्रतीत होता है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कालिदास के समक्ष इस प्रणयकथा के जो विभिन्न रूप विद्यमान थे उनमें से किसी का भी उन्होंने ज्यों का त्यों अनुगमन नहीं किया। वस्तुतः उन्होंने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा इस चिर प्राचीन कथा को अपने विशिष्ट नाटकीय प्रयोजनों की सिद्धि के लिए नूतन रूप में ढालने का प्रयत्न किया है। पुरूरवा और उर्वशी के प्रणय, मिलन और वियोग का मूल इतिवृत्त तो वही है, पर उसे जो आकार और अर्थ कालिदास ने प्रदान किया है वह उनकी उत्कृष्ट सर्जनाशक्ति का निदर्शन है। प्राचीन साहित्य से कथानक और चरित्र के कुछ मूल सूत्र व सकेत ग्रहण करते हुए भी कालिदास ने उनके सगुम्फन और नियोजन मे अपनी प्रभूत मौलिकता का परिचय दिया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विक्रमोर्वशीय के कथानक और चरित्रों की परिकल्पना इस प्रणयकथा के वैदिक रूप की अपेक्षा उसके पौराणिक रूप के अधिक निकट है।

यह कथा दो साधारण लौकिक नर-नारियों की प्रणयकथा नहीं है, अपितु स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी और चन्द्रमा के पौत्र व इन्द्र के युद्धसहायक पुरूरवा के प्रणय, मिलन और विरह की अति प्राचीन व प्रख्यात कथा है जो वेदों से लेकर पुराणों तक नाना रूपों में वर्णित है। कालिदास के पूर्ववर्ती साहित्य एवं पुराकथाओं में उर्वशी और पुरूरवा के अतिप्राकृतिक व्यक्तित्व सुप्रतिष्ठित हो चुके थे। अतः ऐसे दिव्य और अर्धदिव्य प्रेमियो की प्रणयकथा में अलौकिक तत्त्वों की योजना के लिए कवि को यथेष्ट अवसर मिला है। यह स्वाभाविक ही है कि एक ऐसी पौराणिक कथा में कवि-कल्पना यथार्थ की सीमाओ का अतिक्रमण कर अतिप्राकृत जगत् में निर्बाध

---

1. कामोऽप्याह तवोन्मादो भविता गन्धमादने।
   कुमारवनमाश्रित्य वियोगादूर्वशीभवात्॥ वही 24.19.
2. 1, 129–137.
3. हिस्ट्री ऑव् धर्मशास्त्र, भाग 5, खण्ड 2, पृ० 910.

विचरण करे। यद्यपि कवि का मूल उद्देश्य मानवीय प्रणय की विविध अनुभूतियों का ही चित्रण करना है, परन्तु इसके लिए उसने जो माध्यम चुना है वह एक अतिप्राकृतिक जगत् की घटनाओं और व्यक्तियों का माध्यम है। इसी असाधारण माध्यम के कारण कवि ने प्रेमी और प्रेमिका के मिलन और विछोह के प्रत्येक प्रसंग में, जहां भी उसने चाहा है, अतिप्राकृतिक तत्त्वों की इच्छानुसार योजना की है। इन तत्त्वों में से अधिकतर के मूल संकेत किसी न किसी रूप में पूर्ववर्ती साहित्य में विद्यमान थे। कालिदास का कौशल इसी में है कि उन्होंने पूर्व साहित्य में संकेतित उन तत्त्वों का अपने विशिष्ट नाटकीय उद्देश्यों के लिए सफलतापूर्वक उपयोग किया है।

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

उर्वशी-उद्धार : विक्रमोर्वशीय के प्रायः प्रत्येक अंक की कथा मे अतिप्राकृत तत्त्वों का समावेश मिलता है। नाटक का आरंभ ही एक अतिप्राकृत घटना से हुआ है जो प्रेमकथा के सूत्रपात और विकास का मूल आधार है। यह घटना है असुर केशी द्वारा अपहृत अप्सरा उर्वशी का पुरूरवा द्वारा उद्धार। इस घटना के पात्र, स्थान एवं परिवेश सभी अलौकिक है। एक वार उर्वशी जव अपनी सखियों के साथ कुवेर के भवन से लौट रही थी तव मार्ग मे असुर केशी उसे उसकी सखी चित्रलेखा सहित वलपूर्वक वन्दी वनाकर ले गया।[1] उसी समय प्रतिष्ठान देश का राजा एव चन्द्रमा का पौत्र पुरूरवा सूर्यलोक से अपने रथ में पृथ्वी की ओर लौट रहा था।[2] उर्वशी की सखियों के अनुरोध पर उसने असुर का पीछा किया तथा अपने पराक्रम द्वारा उसे पराजित कर उर्वशी व चित्रलेखा को छुड़ा लिया। यह सारी घटना अन्तरिक्ष में घटित होती है तथा उससे संवद्ध सभी पात्र उर्वशी, पुरूरवा, चित्रलेखा, केशी तथा अन्य अप्सराये दिव्य या दिव्यादिव्य है। उनकी आकाशगति, एक लोक से अन्य लोक मे गमन आदि व्यापार उनके दिव्य या अर्धदिव्य व्यक्तित्व के सूचक है। नाटक में इस घटना के दो स्वाभाविक परिणाम वताये गये है—(१) उर्वशी और पुरूरवा के हृदय में पारस्परिक अनुराग का उदय, जिसका क्रमिक विकास और सफल परिणति ही इस नाटक की विपय-वस्तु है। (२) उर्वशी की रक्षा करने से पुरूरवा के प्रति इन्द्र की कृतज्ञता। यह कृतज्ञता कथा के भावी विकास से घनिष्ठतया सम्वद्ध

---

1. विक्रमोर्वशीय, 1.3 (श्री एच0डी0 वेलकर द्वारा सपादित, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1961)
2. राजा—अलमाक्रन्दितेन। सूर्योपस्थानात् प्रतिनिवृत्तं पुरूरवसं मामुपेत्य कथ्यतां कुतो भवत्यः परित्रातव्या इति। वही, 1, पृ0 3.

है। नाटक का नामकरण 'विक्रमोर्वशीय' (विक्रम द्वारा प्राप्त उर्वशीविषयक नाटक) भी इसी घटना पर आधारित है। नाटक के अन्त में पुरूरवा को यद्यपि इन्द्र के अनुग्रह से उर्वशी की स्थायी प्राप्ति होती है, किन्तु इस अनुग्रह में पुरूरवा के अतीत पराक्रम के प्रति उसकी कृतज्ञता तथा भावी देवासुर-संग्राम में उसके पराक्रम व सहयोग की आकांक्षा ही प्रधान प्रेरणा है। नाटक के प्रारंभ की यह घटना उर्वशी व पुरूरवा के हृदयों में प्रेम के प्रथम अंकुरण के लिए एक समुचित मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है। अपने प्राणरक्षक के प्रति उर्वशी की कृतज्ञता उसके ओजस्वी व्यक्तित्व के प्रति क्रमशः आकर्षण, उत्कंठा व प्रणय-भाव में विकसित होती है। पुरूरवा भी उर्वशी के दिव्य मनोहर रूप से प्रभावित होकर उसकी ओर आकृष्ट होता है।[1] इस प्रकार इस प्रसंग के माध्यम से दो भिन्न लोकों के प्राणी एक असाधारण परिस्थिति में एक-दूसरे के सम्पर्क में आकर परस्पर आकर्षण व प्रणय की भूमिका पर अवतीर्ण होते हैं।

गन्धर्वराज का आकाश से अवतरण : इसी अंक में गन्धर्वराज चित्ररथ के आकाश से हेमकूट पर अवतरण का नाटककार ने बड़ा प्रभावशाली चित्रण किया है।[2] चित्ररथ के आगमन का उद्देश्य पुरूरवा के प्रति देवताओं की कृतज्ञता, विशेषतः महेन्द्र की प्रसन्नता ज्ञापित करना है। उसके कथनानुसार पुरूरवा ने त्रिदश-परिपन्थी केशी आदि दानवों को पराजित कर एवं उर्वशी को उनके अवलेप से बचाकर इन्द्र का अतीव प्रिय कार्य अनुष्ठित किया है।[3] पहले जिस उर्वशी को नारायण ऋषि ने इन्द्र को भेंट किया था, अब दैत्य के हाथ से छीन कर पुरूरवा ने जैसे उसी कार्य को दोहराया है।[4] साथ ही दानव-पराभव व उर्वशी-रक्षण द्वारा पुरूरवा ने महेन्द्र का भी उपकार करने वाली अपनी विक्रम-महिमा का परिचय दिया है।[5] उर्वशी कोई साधारण अप्सरा नहीं, वह इन्द्र की अप्सराओं में विशिष्ट है। अतः उसके रक्षण व क्षेम के लिए देवराज की चिन्ता स्वाभाविक है। पुरूरवा ने स्वर्ग की अलंकार उर्वशी की रक्षा कर इन्द्र को सदा के लिए उपकृत कर दिया है। इस प्रकार यह प्रसंग उर्वशी के हरण और पुरूरवा द्वारा उसकी रक्षा की एक साधारण-सी

---

1. वही 1.8.
2. अयं च गगनात्कोऽपि तप्तचामीकराङ्गदः।
   अवरोहति शैलाग्रं तडित्वान्निव तोयदः॥ वही, 1.13.
3. चित्ररथः ··· महत्खलु तत्रभवतो मघोनः प्रियमनुष्ठितं भवता। वही 1, पृ० 11.
4. पुरा नारायणेनेयमतिसृष्टा मरुत्वते।
   दैत्यहस्तादपाच्छिद्य सुहृदा संप्रति त्वया॥ वही, 1.14.
5. चित्ररथः—(राजाभिमुखं स्थित्वा) दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्।
   वही, 1. पृ० 10.

वैयक्तिक घटना को नाटकीय व्यापार से वहिर्भूत दैवी शक्तियों के साथ जोड़कर उसे एक वृहत्तर संदर्भ प्रदान कर देती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विक्रमोर्वशीय के वस्तु-विधान में पुरूरवा के विक्रम के प्रति इन्द्र की प्रसन्नता व कृतज्ञता का विशेष महत्त्व है।

चित्ररथ के आगमन का दूसरा उद्देश्य उर्वशी व अन्य अप्सराओं को अपने संरक्षण में स्वर्ग ले जाना है जहां इन्द्र उनके सुरक्षित लौटने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। चित्ररथ पुरूरवा से भी स्वर्ग चलने की प्रार्थना करता है, पर वह मना कर देता है। इस अवसर पर आत्म-प्रशंसा सुनने के लिए स्वर्ग जाना उसकी विनम्र प्रकृति के अनुकूल नहीं है। उर्वशी के स्वर्ग जाने की वात से दोनों प्रेमियों का स्वल्प मिलन विच्छिन्न हो जाता है। किन्तु यह विच्छेद की घड़ी एक मनोवैज्ञानिक स्थिति के रूप में प्रस्तुत होती है जिसमें प्रेमी व प्रेमिका पारस्परिक अभिलाषा की तरंगों में डूवते-उतराते तथा मन में प्रेम की मधुर वेदना छिपाये एक दूसरे से विदा होते हैं।[2] उर्वशी को इच्छा न होते हुए भी चित्ररथ के साथ स्वर्ग लौटना पड़ता है, जिससे यह संकेत मिलता है कि वह महेन्द्र के अधीन होने के कारण पुरूरवा से प्रेम करने या उसके पास अपनी इच्छानुसार ठहरने के लिये स्वतन्त्र नहीं है। उर्वशी की यह परतंत्रता इस नाटक में अनेक वार दोनों प्रेमियों के मिलन और उनके प्रेम के स्वाभाविक विकास की प्रतिवन्धक शक्ति के रूप में चित्रित की गई है। इस प्रतिवन्धक शक्ति के समक्ष उर्वशी और पुरूरवा नैराश्य की मूक व्यथा का अनुभव करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि इस दृश्य में उर्वशी व अन्य अप्सराएं अपनी दिव्य प्रकृति के अनुसार आकाश में उड़ कर स्वर्ग की ओर प्रस्थान करती हैं।[3]

वायव्यास्त्र का प्रत्यावर्तन : प्रथम अंक के अंतिम भाग में उर्वशी के स्वर्ग चले जाने के वाद एक और अतिप्राकृत प्रसंग आया है। पुरूरवा ने जिस वायव्यास्त्र से केशी को पराजित किया था वह इन्द्र के अपराधी दैत्यो को समुद्र मे गिराकर पुरूरवा के तूणीर मे लौट आता है।[4] इस असाधारण घटना द्वारा पुरूरवा की

---

1. चित्ररथ.—वयस्य केशिना हृतामुर्वशी नारदादुपश्रुत्य प्रत्याहरणार्थमस्याः शतक्रतुना गन्धर्वसेना समादिष्टा .... वही, 1 पृ० 10.
2. वही, 1.16,18.
3. सर्वाः सगन्धर्वा. आकाशोपतन रूपयन्ति। वही, 1.12.
4. सूतः आयष्मन्

 अदः सुरेन्द्रस्य कृतापराधान्
 प्रक्षिप्य दैत्यान् लवणाम्वुराशौ।
 वायव्यमस्त्रं शरधिं पुनस्ते
 महोरगः श्वभ्रमिव प्रविष्टम्॥ वही 1.17.

लोकोत्तर वीरता तथा इन्द्र के प्रति उसके उपकार को प्रेक्षकों को पुनः स्मरण कराया गया है। पुरूरवा के विक्रम व उसके द्वारा इन्द्र-कार्य के अनुष्ठान पर कवि ने इस प्रथम अंक में और आगे भी जो विशेप वल दिया है उससे यह सूचित होता है कि वह इन्द्र की कृतज्ञता और अनुग्रह को प्रेमकथा के विकास और परिणति का मुख्य आधार वनाना चाहता है।

तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्यता : दूसरे अक मे कवि ने उर्वशी और चित्रलेखा के स्वर्ग से उतर कर आकाश मे उड़ते हुए पुरूरवा के राजप्रसाद के प्रमदवन में उतरने और वहां तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्य होकर विदूषक के साथ उसका वार्तालाप सुनने का प्रसंग प्रस्तुत किया गया है। पुरूरवा के पास जाकर अपने प्रति उसके मनोभाव को जानने और उससे भेंट करने के लिए उर्वशी ने जो पहल की है वह उसके अप्सरस्त्व के अनुकूल है। पौराणिक कथाओं में अप्सराओं को दिव्य सामान्या स्त्री माना गया है। स्वर्ग में देवताओं के मनोरंजन के लिए नृत्य और अभिनय करना तथा ऋपि-मुनियों की तपस्या भग करने के लिए अपने यौवन और सौन्दर्य का प्रदर्शन उनका प्रमुख कार्य वताया गया है। अतः पुरूरवा के प्रेम से आकृप्ट होकर अप्सरा उर्वशी का उससे मिलने के लिए उपक्रम उसके उक्त पौराणिक व्यक्तित्व के अनुसार ही है। यदि उर्वशी कोई मानवी होती तो उसका यह कार्य अनुचित प्रतीत होता। यह द्रष्टव्य है कि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र और शाकुन्तल में, जहां मानवी प्रेमिकाओं का चित्रण किया गया है, प्रणय-सम्वन्ध के विकास में स्त्री-पक्ष की ऐसी पहल का चित्रण नही किया है।

उर्वशी की यह पहल एक दूसरी दृष्टि से भी इस नाटक के वस्तु-विधान मे आवश्यक है। उर्वशी एक दिव्य स्त्री होने के नाते मानव पुरूरवा से श्रेष्ठतर और उसकी पहुंच से परे है। पुरूरवा चाहते हुए भी उससे मिलने के लिए स्वर्ग नही जा सकता। वह प्रायः इन्द्र के निमन्त्रण पर असुरों से युद्ध करने के लिए ही वहां जाता है। केवल उर्वशी से मिलने के लिए उसका स्वर्ग जाना उचित प्रतीत नही होता। यही कारण है कि इस नाटक की प्रेम-कथा के विकास में प्रेमिका पक्ष का प्रयत्न ही अधिक उभरा है,[1] पुरूरवा अधिकतर अवसरो पर निष्क्रियता और वैवश्य से ग्रस्त

---

1. विश्वनाथ ने यह साहित्यशास्त्रीय दृष्टिकोण स्पष्ट किया है कि पहिले नायिका के राग का कथन होना चाहिए, फिर उसके अभिलाप आदि इंगितो को देखकर नायक के अनुराग का—
आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंस. पश्चात्तदिंगितैः। 3.195.

कालिदास ने प्रस्तुत नाटक मे उर्वशी के प्रेम का संकेत तो पहले दिया ही है, नायक पुरूरवा की तुलना में प्रणय-सम्वन्ध के विकास में उसे अधिक सचेप्ट भी दिखाया है। यह दूसरी वात उन नाटको में जिनमें मानव नायिकाए होती हैं, देखने को नही मिलती। यह स्पप्ट है कि उर्वशी के दिव्य नायिका होने के कारण ही कालिदास ने नाटक की प्रणयकथा में उसे अधिक क्रियाशील भूमिका प्रदान की है।

रहा है। वैसे तो उर्वशी स्वयं भी पराधीन और विवश है, पर नाटक की प्रेम-कथा में जो थोड़ी बहुत सक्रियता दृष्टिगोचर होती है उसमें पुरूरवा की तुलना में उर्वशी का ही योगदान अधिक है और जैसा कि कहा जा चुका है, उर्वशी के इस योगदान में उसका अतिप्राकृत दिव्य व्यक्तित्व प्रमुख कारण है।

प्रत्येक प्रेमी अपने प्रिय में अपने प्रेम की प्रतिक्रिया देखना चाहता है, वह उससे अपने प्रेम का प्रतिदान चाहता है। किसी प्रेम-सम्बन्ध की सफलता की पहली शर्त है प्रेम की पारस्परिकता और प्रिय के प्रेम का बोध। प्रथम अंक में कालिदास ने दोनों प्रेमियों के मन में प्रेम का अंकुर तो उत्पन्न कर दिया है परन्तु उन्हें पारस्परिक प्रेम-बोध से अपरिचित रखा है। दूसरे अंक के उक्त प्रसंग में तिरस्करिणी द्वारा प्रच्छन्न उर्वशी व चित्रलेखा को पुरूरवा व विदूषक का सान्निध्य प्रदान कर कवि ने प्रेम-सम्बन्ध के विकास की इसी आवश्यकता की पूर्ति की है। तत्त्वतः यह दृश्य मालविकाग्निमित्र के तृतीय अंक के उस दृश्य से समानता रखता है जहां दोहद के लिये आगत मालविका और बकुलावलिका के वार्तालाप को अग्निमित्र और विदूषक लता के पीछे छिप कर सुनते हैं। दोनों प्रसंगों का उद्देश्य और प्रक्रिया समान है, दोनों में जो बाह्य अन्तर है वह उर्वशी के अतिप्राकृत व्यक्तित्व और अप्सरस्त्व के कारण है। उर्वशी अप्सरा होने के कारण तिरस्करिणी विद्या जानती है और राजा के समीप अदृश्य रूप में पहुंच सकती है। किसी लता आदि की आड़ में उर्वशी को खड़ा करना उसके दिव्य व्यक्तित्व के अनुकूल नही होता, अतः यहा कवि ने तिरस्करिणी द्वारा अदृश्य उर्वशी को पुरूरवा के पास उपस्थित कर अपने प्रति उसके प्रेम को जानने का अवसर दिया है, जो कालिदास की कलाकार-सुलभ सूझ-बूझ का परिचायक है।

राजा के प्रेम के बारे में आश्वस्त होकर उर्वशी पहले प्रणय-पत्र[1] द्वारा और फिर चित्रलेखा को भेजकर उसे अपने प्रेम से अवगत कराती है। इस प्रकार दोनों प्रेमी प्रणय की समभूमिका पर स्थित होकर उसी प्रकार परस्पर मिलन के अधिकारी हो जाते है जैसे एक तप्त अयस् दूसरे तप्त अयस् के साथ जुड़ने योग्य हो जाता है[2]। इसी उपयुक्त

---

1. यह प्रणयपत्र ऐसे भूर्जपत्र पर लिखा गया है जिसे उर्वशी ने अपने 'प्रभाव' से बनाया है।
देO विक्रमोO 2, पृO 27.

2. राजा-भद्रमुखि।
पर्युत्सुकां कथयसि प्रियदर्शनां ताम्
आर्ति न पश्यसि पुरूरवसस्तदर्थाम्।
साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य
तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम्॥ वही, 2.15.

अवसर पर उर्वशी अपनी तिरस्करिणी हटाकर राजा के समक्ष प्रकट होती है। किंतु उनका यह मिलन क्षणिक सिद्ध होता है। वे अभी दो-दो बातें भी न कर पाये थे कि नेपथ्य से देवदूत का संदेश सुनाई देता है कि स्वर्ग में भरतमुनि के द्वारा आयोजित अष्टरसाश्रय प्रयोग में देवराज लोकपालों सहित उर्वशी का ललित अभिनय देखना चाहते हैं, अतः उसे तुरन्त स्वर्ग के लिए प्रस्थान कर देना चाहिए।[1] दोनों प्रेमी मन मसोस कर रह जाते है। परवश उर्वशी को स्वर्ग लौटना पड़ता है।[2] पुरूरवा भी उर्वशी व चित्रलेखा को भेजे गये इन्द्र के आदेश का प्रत्यर्थी बनने में असमर्थ है। इस प्रकार एक अनुल्लंघनीय दिव्य आदेश प्रेमियों के चिर-प्रतीक्षित मिलन को भंग कर देता है। इस दैवी हस्तक्षेप के कारण यहां नाटकीय संघर्ष और तनाव के एक प्रमुख पक्ष का सूत्रपात होता है। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि इस संघर्ष और तनाव में दोनो पक्ष तुल्यबल नहीं है। दैवी शक्ति का पक्ष निश्चय ही प्रेमियों की शक्ति से बढ़कर है। दूसरे, प्रेमिका दैवी शक्ति के प्रतिनिधि महेन्द्र की अनुचरी है और पुरूरवा उसके अनुयायी व रण-सहायक से अधिक नहीं है। प्रारंभ में यह दैवी शक्ति उर्वशी और पुरूरवा के पारस्परिक अभिलाप से अपरिचित होने के कारण उनके विषय मे उदासीन और निरपेक्ष है। यही कारण है कि देवदूत के द्वारा लाया गया महेन्द्र का बुलावा दोनों प्रेमियों को मिलन की देहरी पर से लौटाता हुआ उन्हें परवशता और अकिंचनता के बोध से भर देता है। आगे यह दैवी शक्ति शाप के रूप में उर्वशी के प्रेम पर आघात करती है, किन्तु पुरूरवा के पराक्रम से उपकृत महेन्द्र उस शाप को वरदान मे बदलकर दोनों प्रेमियों को मिलन का अवसर प्रदान करते है। किन्तु कुमार कार्तिकेय के नियम के रूप में पुनः एक अज्ञात व रहस्यमय दैवी शक्ति प्रेमियो को वियुक्त कर नायक को विरह-व्यथा से विक्षिप्त बना देती है। किन्तु यह दैवी शक्ति निर्दय और असमावेय नही है। संगमनीय मणि के द्वारा उसके प्रकोप का समाधान संभव होता है जिससे बिछुड़े हुए प्रेमी पुनः मिल जाते है। किन्तु इन्द्र के द्वारा निश्चित की गई भरत के शाप की अवधि पुनः दोनों प्रेमियों के मिलन की प्रतिबन्धक बन जाती है। पर महेन्द्र के ही अनुग्रह से, जिसके पीछे पुरूरवा के अतीत पराक्रम के प्रति उसकी कृतज्ञता तथा भावी पराक्रम की आशा भरी याचना छिपी हुई है, अन्ततः दोनों प्रेमी स्थायी मिलन के अधिकारी होते है।

भरतमुनि का शाप व महेन्द्र का अनुग्रह : तृतीय अंक के विष्कंभक से ज्ञात होता है कि भरत द्वारा आयोजित 'लक्ष्मी स्वयंवर' नाटक में उर्वशी ने विविध रसों

---

1. वही, 2. 17.
2. दिव्य पात्रों-अप्सरा, यक्ष आदि की इस विवशता का चित्रण कालिदास ने अनेक पात्रों के माध्यम से किया है। राजराज के अनुचर यक्ष (दे0 पूर्वमेघ, 3) को स्वाधिकार मे प्रमाद के कारण भर्ता का वर्षभोग्य शाप मिला था जिससे उसे मेघ का याचक बनना पड़ा।

का अतीव तन्मय होकर अभिनय किया पर उससे एक अक्षम्य भूल हो गई। लक्ष्मी की भूमिका में स्थित उर्वशी से जब वारुणी की भूमिका में वर्तमान मेनका ने पूछा कि यहां लोकपाल और विष्णु आदि तीनों लोकों के जो दिव्य पुरुष एकत्र हैं उनमें से तुम्हारा भावाभिनिवेश किसमे है, तो उर्वशी ने जो उत्तर दिया वह बहुत बड़े अनर्थ का कारण बन गया। पुरूरवा के प्रेम मे बेसुध उर्वशी के मुख से प्रमादवश 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर 'पुरूरवा' का नाम निकल गया। इस पर भरतमुनि के क्रुद्ध होकर उसे शाप दिया–'तुमने मेरे उपदेश का उल्लंघन किया है, अतः अब तुम स्वर्गलोक में नहीं रहोगी।'[1] इस प्रकार अभिशप्त उर्वशी जब लज्जा से सिर झुकाकर खड़ी थी तब इन्द्र ने अनुग्रहपूर्वक उससे कहा 'तुम्हारा मेरे युद्धसहायक जिस पुरूरवा से प्रेम है, तुम्हें उसकी कामना पूर्ण करनी चाहिए। तुम इच्छानुसार पुरूरवा के पास जाकर रहो, जब तक कि वह अपनी संतान का मुख नहीं देख लेता।'[2]

यहां कालिदास ने उर्वशी को भरत के शाप तथा महेन्द्र के द्वारा उसमें छूट देने के जिस प्रसंग की योजना की है उसका नाटक के वस्तु-विधान मे विशेष महत्त्व है। हमने देखा कि उर्वशी की पराधीन स्थिति अब तक दोनों प्रेमियों के मिलन में सबसे बड़ी बाधा रही है। उर्वशी अपनी परवशता के कारण दो बार प्रिय के समागम-सुख से वंचित हो चुकी है। अतः प्रेम-कथा के स्वाभाविक विकास की यह मांग है कि उर्वशी कम से कम कुछ समय के लिए अपने दिव्य-बंधनों से मुक्त होकर पुरूरवा के पास रहने के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करे। भरत के शाप और इन्द्र के अनुग्रह द्वारा कालिदास ने इसी नाटकीय उद्देश्य को पूर्ण करना चाहा है।[3] यहां शाप के लिए जो कारण बताया गया है वह जहां एक ओर प्रेमिका उर्वशी की तत्कालीन मनःस्थिति का सूचक है, वहां दूसरी ओर वह महेन्द्र के अनुग्रह का भी समुचित प्रेरक है। यद्यपि उर्वशी ने 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर 'पुरूरवा' बोलकर गुरु के उपदेश का उल्लघन किया, पर उसकी यह भूल कितनी स्वाभाविक और निरीह है। वस्तुतः यह भूल क्षमा व सहानुभूति के योग्य है, दण्ड के नही। फिर भी गुरु भरत का शाप आपाततः दण्ड होते हुए भी एक प्रच्छन्न आशीर्वाद और वरदान ही है।

---

1. येन ममोपदेशस्त्वया लंघितस्तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यतीति उपाध्यास्य शापः।
विक्रमो० 3, पृ० 40.

2. पुरन्दरेण पुनर्लज्जावनतमुखीमुर्वशी प्रेक्ष्यैवं भणितम्-यस्मिन्बद्धभावासि त्व तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियं करणीयम्। सा त्वं पुरूरवसं यथाकाममुपतिष्ठस्व यावत्स परिदृष्टसंतानो भवतीति। वही, 3, पृ० 40.

3. शाप को कालिदास ने मिलन व विछोह दोनो का साधन बताया है। 'विक्रमोर्वशीय' मे वह मिलन का साधन है तथा शाकुन्तल व मेघदूत में वियोग का।

इस शाप के कारण स्वर्ग तो छूट जायेगा, पर उसके बदले में उर्वशी को पुरूरवा प्राप्त हो सकेगा। इन्द्र का अनुग्रह भरत के शाप के निष्ठुर आवरण को हटाकर उसमें अन्तर्निहित मांगल्य का दर्शन कराता है। साथ ही इस अनुग्रह में पुरूरवा के विगत उपकारों की स्मृति भी निहित है। पुरूरवा इन्द्र का रणसहायक है, उसने देवो की रक्षा के लिए असुरों से अनेक वार युद्ध किया है, और सबसे बड़ी बात यह है कि उसने स्वर्ग की अमूल्य निधि उर्वशी की दानव केशी से रक्षा की है। अतः उर्वशी के प्रति सहानुभूति और पुरूरवा के प्रति कृतज्ञता से प्रेरित होकर इन्द्र का उनके प्रेम और मिलन का अनुमोदन करना उचित ही है। भरत के शाप और इन्द्र के अनुग्रह की यह घटना नाटक की प्रेम-कथा के भावी विकास को एक नया मार्ग और गति प्रदान करती है। यहां इन्द्र ने उर्वशी के शाप की जो अवधि निर्धारित की है, उसका रहस्य पांचवें अंक में खुलता है, जहां कवि एक आसन्न वियोग की निराश व विवश परिस्थिति उत्पन्न कर दोनों प्रेमियों के अनुराग के गांभीर्य का पुनः परिचय देता है।

अदृश्य अभिसार : तृतीय अंक में उर्वशी अभिसारिका के वेष में आकाश मे उड़ती हुई चित्रलेखा के साथ पुरूरवा के हर्म्यपृष्ठ पर उतरती है। वहां राजा विदूषक के साथ उर्वशी के विषय में बातचीत करता हुआ व्रतधारिणी रानी औशीनरी की प्रतीक्षा कर रहा है। द्वितीय अंक के समान यहां भी उर्वशी तिरस्करिणी द्वारा अन्तर्हित होकर अपने प्रति पुरूरवा के मनोभाव का पता लगाती है।[1] प्रिय को अपनी उपस्थिति का भान न कराते हुए उसकी प्रेम-वेदना का साक्षात्कार प्रेमिका के लिए कितना सुखद हो सकता है, यह इस दृश्य से जाना जा सकता है। औशीनरी अपने पूर्व व्यवहार के लिए क्षमा मांगकर राजा को मनःप्रार्थित स्त्री के साथ प्रेम करने की स्वतन्त्रता दे देती है। अदृश्य उर्वशी के अज्ञात साक्ष्य में औशीनरी द्वारा किया गया पुरूरवा के प्रेम-संबंध का अनुमोदन दोनों प्रेमियों के निर्विघ्न समागम के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है।[2] किन्तु हम देखते है कि प्रेमियों का समागम हो जाने पर भी कवि ने संयोग शृंगार के चित्रण मे रुचि नही दिखायी है। इससे स्पष्ट है कि विक्रमोर्वशीय में कालिदास का ध्येय विरह-वेदना के माध्यम से मानवीय प्रेम के आंतरिक सौन्दर्य का दर्शन कराना है। चतुर्क अक की कथावस्तु इस मान्यता का समर्थन करती है।

---

1. उर्वशी—अनिर्भिन्नार्थेनानेन वचनेनाकम्पितं मे हृदयम्। अन्तरिते एव शृणवावास्य स्वैरालापं यावन्नः संशयच्छेदो भवति। विक्रमो० 3, पृ० 47
2. चित्रलेखा—सखि, महानुभावया पतिव्रतया अभ्यनुज्ञातः अनन्तरायस्ते प्रियसमागमो भविष्यति। वही, पृ० 53.

दूसरे अध्याय[1] मे हम बता चुके हैं कि भरत ने नाट्यशास्त्र में यह निर्देश दिया है कि जब शाप के कारण या अपत्य की लालसा से दिव्य-स्त्रियों का मनुष्यों के साथ समागम हो तो वह 'श्रृंगाररससंश्रय' होना चाहिए । दिव्य स्त्री को अदृश्य होकर अपने भूषणों के शब्दों से प्रिय को लुभाना चाहिए तथा अपना संदर्शन देकर पुनः अदृश्य हो जाना चाहिए । उसे नायक के पास वस्त्र, आभरण, माल्य, लेख आदि भेजकर उसे उन्मत्त बनाना चाहिए, क्योंकि उन्मादन से उत्पन्न काम अतीव आनंददायी होता है ।[2] विक्रमोर्वशीय के तृतीय अंक में उर्वशी की विविध चेष्टाओं व कार्यों के चित्रण में कालिदास ने नाट्यशास्त्र के उक्त निर्देशों का ही पालन किया है, यह स्पष्ट है । अभिनवगुप्त ने भी अपना यही मत प्रकट किया है—"समुन्माद्य इत्यत्र हेतुमाह उन्मादनादिति एतच्च विक्रमोर्वश्यां स्फुटमेव दृश्यतां इति शिवम् ।" (ना०शा० २२.३३१ पर अभिनवभारती) हमने देखा कि उर्वशी का शाप के कारण ही स्वर्ग से भ्रंश हुआ है तथा वह अभिसारिका के वेप मे[3] पुरूरवा के पास अदृश्य रूप में आई है । इस अवसर पर राजा यह अभिलाषा प्रकट करता है—"प्रियतमा उर्वशी गूढ रूप में उपस्थित होकर अपने नूपुरों का शब्द मेरे कानों मे डाले; पीछे की ओर से चुप-चुप आकर मेरी आँखे मूंद ले तथा हर्म्य पर उतर कर अपनी चतुर सखी के द्वारा साध्वसवश मन्द-मन्द चलती हुई मेरे पास लाई जाय ।"[4] उसके इस मनोरथ को उर्वशी तत्काल पूर्ण करती है । वह पुरूरवा के पीछे से आकर अपने करतलों से उसकी आँखे ढक देती है । हम बता चुके है कि द्वितीय अंक में भी उर्वशी राजा के पास अदृश्य रूप मे ही आती है तथा अपने प्रभाव से एक भूर्जपत्र निर्मित कर अपना प्रणय-लेख उसके पास भेजती है । इससे सिद्ध है कि विक्रमोर्वशी के द्वितीय व तृतीय अंकों के उक्त दृश्यों के विधान मे नाटककार ने नाट्यशास्त्र के पूर्वोक्त निर्देशों को ध्यान में रखा है ।

कार्तिकेय का नियम व उर्वशी का रूप-परिवर्तन : चतुर्थ अंक में दो अति-प्राकृत प्रसंगों की योजना मिलती है--(१) कुमारवन मे प्रविष्ट उर्वशी का लतारूप में परिवर्तन (२) सगमनीय मणि के स्पर्श से उसे नारी रूप की पुनः-प्राप्ति । पहले

---

1. दे० प्रस्तुत प्रबंध, पृ० 101.
2. ना०शा० 22.329–331
3. भरत ने दिव्य नारियो के लिए नील परिच्छद का विधान किया है, विशेप रूप से शृंगारिक प्रसंगो मे । (दे०ना०शा० 21.65) संभवत इसी निर्देश के अनुसार कालिदास ने यहां उर्वशी को नीलाशुक मे प्रस्तु किया है—सखि, रोचते तेऽयमल्पाभरणभूषितो नीलाशुकपरिग्रहोऽभि-सारिकावेपः । विक्रमो 3, पृ० 45.
4. वही, 3.15.

प्रथम प्रसंग को लें। इस अंक के प्रवेशक से पता चलता है कि गन्धमादन पर्वत पर मन्दाकिनी के तट पर उदयवती नामक किसी विद्याधर-दारिका की ओर देर तक देखने के कारण उर्वशी पुरूरवा से रुष्ट होकर उसके बहुत मनाने पर भी कुमारवन में प्रविष्ट हो गई। भरतमुनि के शाप से उसका हृदय संमूढ था। अतः वह भूल गई कि कुमारवन में स्त्रियों का प्रवेश प्रतिषिद्ध है।[1] यह कुमारवन शिवजी के पुत्र कुमार कार्तिकेय का तपस्या का क्षेत्र था। कार्तिकेय ने शाश्वत कुमारव्रत (ब्रह्मचर्य) धारण कर इस वन को अपना तपःक्षेत्र बनाया था तथा यह नियम कर दिया था कि इसमें जो भी स्त्री प्रवेश करेगी वह लता के रूप में बदल जायेगी। केवल गौरी के चरणराग से उत्पन्न मणि से ही वह अपने लताभाव से मुक्त हो सकेगी।[2] अतः जब उर्वशी पुरूरवा पर कुपित होकर उस वन में प्रविष्ट हुई तो कुमार कार्तिकेय द्वारा निर्धारित नियम के अनुसार वह एक लता के रूप में परिवर्तित हो गई। उर्वशी के इन रूप-परिवर्तन में दैवी शक्ति द्वारा निर्धारित एक अनुल्लंघनीय नियम काम कर रहा था। उर्वशी ने अपनी अविवेकपूर्ण क्षिप्रकारिता से उस दैवी नियम का उल्लंघन किया। साथ ही वह अपने अनन्यहृदय प्रेमी पर अनुचित क्रोध करने की अपराधिनी भी थी। उसका लतारूप मे परिवर्तन नैतिक दृष्टि से उसके इसी अनुचित कार्य का दुष्परिणाम है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कालिदास ने पुरूरवा के विरह-चित्रण के उद्देश्य से उर्वशी के रूप-परिवर्तन की यह कल्पना की है। उर्वशी लता बन जाने पर भी अपने अन्तःकरण द्वारा पुरूरवा की विरहदशा का प्रत्यक्ष ज्ञान करती है।[3] यह स्पष्ट है कि वनस्पति के रूप में बदल जाने पर भी उसकी मूल नारी चेतना नष्ट नष्ट नहीं होती।

---

1. भर्तुरनुनयमप्रतिपद्यमाना गुरुशापसंमूढहृदया विस्मृतदेवतानियमा स्त्रीजनपरिहरणीयं कुमारवनं प्रविष्टा। प्रवेशानन्तरं च काननोपान्तवर्तिलताभावेन परिणतमस्या रूपम्
   वही, 4 पृ० 62-63.
2. उर्वशी—शृणोतु महाराजः। पुरा भगवता महासेनेन शाश्वतं कुमारव्रतं गृहीत्वा, अयमकलुषो नाम गन्धमादनकच्छोऽध्यासितः। कृता च स्थितिः। या किल स्त्री इमं प्रदेशमागमिष्यति सा लताभावेन परिणता भविष्यति। गौरीचरणरागसंभवं मणिं वर्जयित्वा लताभावं न मोक्षयिष्यतीति। वही 4, पृ० 89.
3. राजा—. . . मयूर. परभृतो हंसो रथांगः
   अलिगंजः पर्वतः सरिता कुरंगमः।
   तव कारणेऽरण्ये भ्रमता
   को न खलु पृष्टो मया रुदता॥

   उर्वशी—एवम्। अन्तःकरणप्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तो महाराजः। वही, 4 पृ० 89.

हम बता चुके है कि उर्वशी के लतारूप में परिवर्तन की कल्पना के लिए कालिदास सभवतः मत्स्यपुराण के ऋणी है जिसका रचनाकाल उनके पहले का माना गया है। नाटक मे भरत ने उर्वशी को केवल स्वर्ग छोडकर मर्त्यलोक में जाने का शाप दिया है, जबकि मत्स्यपुराण में उसे पचपन वर्ष तक लता बनकर रहने का शाप दिया गया है। कालिदास ने पुरूरवा पर रुष्ट उर्वशी के देवता-नियम को भूलकर कुमारवन में प्रविष्ट होने का एक कारण यह भी बताया हैं कि उसका हृदय गुरु के शाप से संमूढ था। नाटक के इस प्रसंग मे भरत के शाप का उल्लेख संभवतः मत्स्यपुराण का ही प्रभाव है।

उर्वशी के लतारूप में परिवर्तन की कल्पना अप्सरा-सम्बन्धी प्राचीन लोक-विश्वास से सम्बद्ध प्रतीत होती है। मेक्डानल के अनुसार वैदिक साहित्य मे अप्सराएं जल और वृक्षो की अधिष्ठात्री देवियो के रूप मे मानी गई हैं।[1] अथर्ववेद मे न्यग्रोध व अश्वत्थ वृक्षों को तथा तैत्तिरीय संहिता में उदुम्बर और प्लक्ष को गन्धर्वो व अप्सराओ का आवास बताया गया है। अथर्ववेद के एक मंत्र मे उक्त वृक्षों में अधिष्ठित गन्धर्वो व अप्सराओं से प्रार्थना की गई है कि वे अपने पास से जाती हुई बरात के लिए मंगलप्रद हों।[2] इस परंपरागत लोकविश्वास के अतिरिक्त मानव और प्रकृति में एकत्व का दर्शन करने वाली कालिदास की काव्य-भावना भी इस कल्पना के मूल मे है। कालिदास ने अपनी कृतियों मे सर्वत्र प्रकृति को मानव का और मानव को प्रकृति का प्रतिरूप माना है। उनकी दृष्टि मे प्रकृति और मानव एक ही चेतना से अनुप्राणित है। यह उल्लेखनीय है कि कालिदास ने अपने काव्य-नाटकों में अनेक स्थलों पर लताओं को नारी-सौन्दर्य के उपमान के रूप में चित्रित किया है। कुमार-सभव की पार्वती 'पुष्पस्तवकों से अवनम्र सचारिणी पल्लविनी लता' के समान है,[3] जो तपस्या के समय अपनी विलास चेष्टाए लताओ को धरोहर के रूप मे सौंप देती हैं।[4] शकुन्तला की एक सुकुमार लता के रूप में कल्पना करते हुए कवि ने कहा है—'उसका अधर नई कोंपल की तरह अरुण है, बाहु कोमल टहनियों जैसे है, और लुभाने वाला यौवन उसके अग-प्रत्यंग मे पुष्पवत् विकसित है।[5] प्रियंवदा की निम्न-लिखित परिहासोक्ति में कालिदास ने प्रकृति और मानव की मूलभूत एकता का गूढ़ संकेत दिया है—'यथा वनज्योत्स्ना अनुरूपेण पादपेन संगता अपि नाम अहमपि आत्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति।' अभि० शकु० १, पृ० ३२।

---

1. दे0 वैदिक माईथॉलॉजी, पृ0 134.
2. वही
3. 3.54.
4. वही, 5.13.
5. अभि0 शाकु0 1.19.

जिस प्रकार मानव-सौन्दर्य प्रकृति का प्रतिरूप है उसी प्रकार प्रकृति भी मानवीय गुण-धर्मों से विभूषित है। कालिदास की दृष्टि में प्रकृति कोई निर्जीव वस्तु नही है। वह मनुष्य के समान ही संवेदनशील और भावनाप्रवण है। वह मनुष्य के समान ही हंसती, गाती और रोती है। केवल स्थूल दृष्टि मे देखने पर ही दोनों में तारतम्य दिखाई देता है। सहृदयता की अन्तर्दृष्टि से देखने पर दोनों मे कोई भेद प्रतीत नहीं होता। कालिदास को यह अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी। यही कारण है कि उनकी कृतियो मे प्रकृति और मानव दोनों एक ही विराट् व अखण्ड जीवनधारा से आप्यायित है। कुमारसंभव में कवि ने योग-मग्न शिव के तपोवन में आकालिक वसन्तागम होने पर लतावधुओं के साथ वृक्षों के आलिंगन का वर्णन किया है।[1] पतिगृह के लिए प्रस्थानोद्यत शकुन्तला को कण्वाश्रम के मानव ही विदा नही देते, वहां की मूक प्रकृति भी उस कारुणिक प्रस्थानकौतुक में सम्मिलित होती है। महर्षि कण्व तपोवन-तरुओं से शकुन्तला को पतिगृह-गमन की अनुज्ञा देने के लिए कहते हैं।[2] वनवास-बन्धु वे तरु भी परभृत-विरुत को प्रतिवचन बनाकर उसे सस्नेह गमन की अनुमति प्रदान करते है। शकुन्तला भी चलते समय अपनी लताभगिनी वन-ज्योत्स्ना से विदा लेना नहीं भूलती। विक्रमोर्वशीय के अनुसार उर्वशी कुमार कार्तिकेय के नियम से जिस लता में परिवर्तित हुई है, उसमें पुरूरवा को अपनी अनुतापशीला प्रियतमा की चेष्टाओं का आभास होता है—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्यैवाभरणैः स्वकालविरहाद् विश्रान्तपुष्पोद्गमा।
चिन्तामौनमिवास्थिता मधुलिहां शब्दैं विना लक्ष्यते
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा॥ विक्रमो० ४.८७.

कालिदास ने उर्वशी को लता रूप में बदल कर उसके प्राकृतिक व्यक्तित्व को उसके नारी-व्यक्तित्व से एकाकार कर दिया है। बाद में सगमनीय मणि के प्रभाव से उर्वशी पुनः अपने मूल नारी रूप को प्राप्त कर लेती है। नारी का यह लताभाव और लता का नारीभाव कालिदास के उस आधारभूत दृष्टिकोण का परिचायक है जिसके अनुसार प्रकृति और मानव एक ही विराट् सत्ता के अविभाज्य अग एव परस्पर परिवर्तनीय घटक है। यह प्रसंग इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि इससे कवि को प्रकृति के संदर्भ में नारी-सौन्दर्य तथा मानव-विरह की मार्मिक अभिव्यक्ति का अवसर मिला है। इसी ध्येय से कालिदास ने कुमारवन को प्रस्तुत अंक की कथावस्तु का घटनास्थल बनाया है।

---

1. 3.39.
2. सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्। अभि0 शाकु0 4,9.

यह संकेत किया जा चुका है कि विक्रमोर्वशीय में कालिदास ने प्रेम की उस स्थिति का प्रधानतया चित्रण किया है जिसमें प्रेमी-प्रेमिका मिलन के लिए उत्सुक होते हुए भी मिल नहीं पाते, और मिलते हैं तो किसी न किसी कारण से बिछुड़ जाते हैं। उनके समागम में बार-बार विघ्न उपस्थित होते है। प्रथम अंक में चित्ररथ का आकस्मिक आगमन उर्वशी पुरूरवा को प्रथम परिचय की घड़ी मे अपनी भावनाओं की परस्पर अभिव्यक्ति का अवसर नही देता। उर्वशी को विवश होकर उसके साथ स्वर्ग लौटना पड़ता है। द्वितीय अक में ज्यो ही उर्वशी पुरूरवा के सामने प्रकट होकर अपना अनुराग व्यक्त करना चाहती है त्यों ही देवदूत स्वर्ग से इन्द्र का बुलावा लेकर आ जाता है। तीसरे अंक मे इन्द्र के अनुग्रह और औशीनरी के आत्मत्याग से दोनों प्रेमियों का समागम निर्विघ्न दिखाई देता है, पर वह चिरस्थायी नहीं हो पाता। चतुर्थ अंक में उर्वशी का दूरारूढ़ असहनशील प्रेम पुनः समागम सुख का विघ्न बन जाता है।[1] विधि की अलंघनीयता[2] उर्वशी के हृदय की शापजन्य विमूढता, कार्तिकेय का नियम—ये सब अतिप्राकृतिक तत्त्व पुनः दोनों प्रेमियों को एक दूसरे से वियुक्त कर देते है। अतिम अंक में 'आयु' का रहस्य खुलने पर दोनों प्रेमी पुनः आसन्न वियोग की व्यथा से निर्विण्ण हो जाते हैं। इस प्रकार नाटक में समागम-सुख के जितने भी अवसर आये है उन पर वियोग की काली छाया पड़ी हुई है। सच तो यह है कि कालिदास इस कृति में जिस प्रेम का चित्र अकित करना चाहते है उसका सौन्दर्य और स्वारस्य मिलन में उतना नही, जितना विरहवेदना मे है। उनके अनुसार समागम-सुख के विघ्नित होने पर प्रेम सौगुना तीव्र हो जाता है, जैसे विषम शिलाओं के अवरोध से स्खलित वेग वाला नदी-प्रवाह (उस अवरोध से मुक्त होने पर) सौगुनी गति ग्रहण कर लेता है—

नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासंकटस्खलितवेगः।
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणीभवति ॥ विक्रमो० ३.८.

यद्यपि प्रेम की चरितार्थता मिलन मे है, पर उसके विकास, परिपाक और तीव्रता की सिद्धि विरह मे ही है। वियोग की पीड़ा झेलने के बाद जो मिलन-सुख मिलता है, वही अधिक आनन्ददायी होता है। वियोग की वेदना भोगे बिना प्रेम का मूल्य नही जाना जा सकता। इसीलिए कालिदास ने कहा है—

यदेवोपनत दुःखात् सुखं तद्रसवत्तरम्।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः। वही ३.२१.

---

1. सहजन्या—असहना खलु सा। दूरारूढश्चास्याः प्रणयः। तद्भवितव्यतात्र बलवती। . . . विक्रमो0 4, पृ0 63.

2. सहजन्या—सर्वथा नास्ति विधेरलंघनीयं नाम येन तादृशस्यानुरागस्यान्यादृश एव परिणामः संजातः . . . वही, 4, पृ0 63.

इसी दृष्टि से कालिदास ने चतुर्थ अंक में उर्वशी को लतारूप में परिवर्तित कर पुरूरवा की उन्मादकारिणी विरह-व्यथा का चित्रण किया है। विरह-चित्रण की दृष्टि से यह दृश्य समस्त संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है। विरह की तीव्रता में पुरूरवा मयूर, कोकिल, हंस, चक्रवाक, भ्रमर, गज, पर्वत, सरिता, हरिण आदि पक्षियों, पशुओं व निर्जीव वस्तुओं से उर्वशी का पता बताने के लिए कहता है। अन्त में संगमनीय मणि के प्रभाव से उसे उर्वशी की पुनः प्राप्ति होती है।

संगमनीय मणि : चतुर्थ अंक की दूसरी अतिप्राकृतिक घटना संगमनीय मणि के स्पर्श से लताभूत उर्वशी का मूल नारीरूप में परिवर्तन है। नाटककार के अनुसार यह संगमनीय मणि गौरी के चरण-राग से उत्पन्न हुई है। कोई अज्ञात मृगचारी मुनि पुरूरवा को शिलाओं की दरार में पड़ी इस मणि को उठाने के लिए कहता है।[1] इस रहस्यमय मणि को हाथ में लेकर ज्यों ही पुरूरवा एक लता का आलिंगन करता है, वह तुरंत उर्वशी बन जाती है।

यहां नाटककार ने संगमनीय मणि का द्विविध उद्देश्य से सन्निवेश किया है:—(१) उर्वशी को मूल रूप में परिवर्तित कर दोनों प्रेमियों के पुनर्मिलन के लिए (२) पंचम अंक मे आयु को च्यवनाश्रम से माता-पिता के पास लौटने की परिस्थिति उत्पन्न कर दोनों प्रेमियों के पुनर्वियोग का संकट उत्पन्न करने के लिए। इस प्रकार नाटककार ने यहां संगमनीय मणि का लगभग वैसा ही उपयोग किया है जैसा शाकुन्तल में मुद्रिका का। मणि और मुद्रिका दोनों ही बिछुड़े हुए प्रेमियों के पुनर्मिलन की साधक है, पर दोनों में अन्तर भी है। शाकुन्तल में मुद्रिका-वृत्तान्त कथावस्तु से घनिष्ठतया सम्बद्ध है, जबकि संगमनीय मणि का प्रसंग कथावस्तु पर एक आरोप-सा प्रतीत होता है। यह रहस्यगर्भित मणि कुमारवन में कैसे आई ? वह शिलाओं के बीच क्यों पड़ी थी ? वह मृगचारी मुनि कौन था जिसने पुरूरवा को प्रियजन का सगम कराने वाली उस मणि को उठा लेने के लिए कहा ? पुरूरवा पर उसकी इस अनुकपा का कारण क्या था ? हमारी इन स्वाभाविक जिज्ञासाओं की नाटककार ने सर्वथा उपेक्षा की है। उसने केवल इतना-सा संकेत दिया है कि गौरी के चरणो की लालिमा से उत्पन्न होने के कारण वह मणि अपने स्पर्शमात्र से वियुक्त

---

1. (नेपथ्ये) वत्स गृह्यता गृह्यताम्।
   संगमनीयो मणिरिह शैलसुताचरणरागयोनिरयम्।
   आवहति धार्यमाण. संगममाशु प्रियजने ॥
   राजा–(कर्णं दत्वा) को नु खलु मामेवमनुशास्ति। (दिशोऽवलोक्य)।
   अये, अनुकम्पते मां कश्चिन्मृगचारी मुनिर्भगवान्। भगवन्,
   अनुगृहीतोऽस्म्यहमुपदेशाद्भवत.। विक्रमो० 4, पृ० 86.

प्रियजनों का पुनर्मिलन कराने में समर्थन है । कुमार कार्तिकेय के नियम से कहा गया था कि जो भी स्त्री उनके तपःक्षेत्र में प्रवेश करेगी वह लता बन जायेगी तथा गौरी के पांवों के राग से उत्पन्न मणि के सिवा अन्य किसी वस्तु से वह लतात्व से मुक्त नहीं होगी ।[1] सहजन्या के अनुसार पुरूरवा-जैसे विशेष आकृति वाले व्यक्ति बहुत समय तक दु ख के भागी नही होते । अतः दिव्य अनुग्रह के फलस्वरूप उर्वशी व पुरूरवा के समागम का कोई उपाय अवश्य होगा ।[2] गौरी के चरणराग से उत्पन्न सगमनीय मणि ऐसा ही उपाय है ।

दिव्य साहाय्य : पचम अंक मे अतिप्राकृतिक शक्तियों की सहायता से नाटकीय वस्तु का सुखमय पर्यवसान होता है । च्यवनाश्रम से आयु के अकस्मात् आने से जहां स्वयं को निःसंतान समझने वाले पुरूरवा के आनन्द का कोई ठिकाना नहीं रहता, वहां उर्वशी की शापनिवृत्ति की बात जानने पर उसका सारा हर्षोल्लास विषाद और निराशा में बदल जाता है । दैवी-विधान के समक्ष पुरूरवा और उर्वशी दोनों एक निरुपाय विवशता का अनुभव करते है । इसके फलस्वरूप पुरूरवा आयु को राज्य सौंप कर वानप्रस्थ ग्रहण करने का विचार करता है । इस प्रकार जब दिव्य नारी और उसके मानव प्रेमी का यह प्रेम-वृत्तान्त एक दुःखान्त वियोग में पर्यवसित होता दिखाई देता है तभी दिव्य-अनुग्रह का सन्देश उस दुःख को पुनः सुख में बदल देता है । इन्द्र द्वारा प्रेषित नारद स्वर्ग से आकर सूचित करते है कि आगे देवों और असुरों का महायुद्ध होने वाला है, जिसमें देवताओं को पुरूरवा के पराक्रम की पुनः आवश्यकता होगी । इन्द्र चाहते है कि पुरूरवा विरक्त होकर वन में न जाएं । इसी उद्देश्य से उन्होंने उर्वशी को पुरूरवा के जीवन-पर्यन्त उसके पास रहने की अनुमति दे दी है ।[3] इस प्रकार महेन्द्र के दिव्य साहाय्य से नाटक का दुःखोन्मुख घटनाचक्र दोनों प्रेमियों के निर्विघ्न स्थायी मिलन मे पर्यवसित होता है ।

यहां कालिदास ने भारतीय नाट्यशास्त्र के सर्वमान्य विधान का अनुगमन किया है । नाटक को सुखान्तता नाट्यशास्त्र का अनिवार्य नियम है । संस्कृत नाटक अपने प्रेक्षक को नाट्यगृह से निराश और दुःखी बना कर नही भेजता । वह उसे मानव-जीवन की मागलिकता और दैवी शक्तियों की न्यायशीलता व अनुग्रहशीलता

---

1. गौरीचरणरागसभवं मणि वर्जयित्वा लताभाव न मोक्ष्यतीति । वही 4, पृ० 89.
2. न तादृशा आकृतिविशेषाश्चिरं दु.खभागिनो भवन्ति । तदवश्य कोऽप्यनुग्रहनिमित्तभूतः समागमोपायो भविष्यतीति तर्कयामि । वही 4, पृ० 64.
3. त्रिकालदर्शिभिर्मुनिभिरादिष्टः सुरासुरविमर्दो भावी ।
भवांश्च सांयुगीनः सहायो नः । तेन त्वया न शस्त्रं
संन्यस्तव्यम् । इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति । वही 7, पृ० 107.

के प्रति सुदृढ़ आस्था प्रदान करके ही प्रेक्षागृह से लौटने देता है । जीवन में चाहे कितनी भी विघ्न-बाधाएं हों, प्रतिकूल परिस्थितियां और विषम संघर्ष हों, उनका सदैव मंगलमय, प्रशान्त और सुखद अंत होता है, यह विश्वास भारत के कवि का सनातन जीवन-दर्शन और काव्य-दर्शन है । कालिदास ने विक्रमोर्वशीय की निर्वहण संधि में आधिकारिक कथावस्तु की फलसिद्धि के लिए इसी परम्परागत जीवन-दर्शन का अनुमोदन किया है । साथ ही उन्होंने आयु सम्बन्धी रहस्योद्घाटन, नारद के स्वर्ग से आगमन और इन्द्र के अनुग्रह-सूचन द्वारा नाट्यशास्त्र के निर्देशानुसार निर्वहण संधि मे अद्भुत रस की भी प्रभावशाली योजना की है । यद्यपि इन्द्र का यह हस्तक्षेप प्रणय-कथा के स्वाभाविक गतिक्रम के प्रतिकूल प्रतीत होता है, फिर भी उसे सर्वथा अप्रत्याशित नहीं कह सकते । हम देख चुके हैं कि पुरूरवा के पराक्रम ने ही उर्वशी को उसकी ओर सर्वप्रथम आकृष्ट किया था । असुर केशी के अनाचार से उर्वशी को बचाकर परूरवा ने उसे तो प्राणभय से मुक्त किया ही था, इस कार्य द्वारा उसने प्रत्यक्ष रूप में देवराज महेन्द्र का भी उपकार किया था, जिसके लिए वह उसके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ था । इसी कृतज्ञता की प्रेरणा से इन्द्र ने भरत के शाप की कठोरता को दूर कर उर्वशी को पुरूरवा के पास रहने की अनुमति दी थी । अतः यह स्वाभाविक ही है कि महेन्द्र ने पुरूरवा के विगत उपकार और असुरों के साथ भविष्य में होने वाले युद्ध में उसके पराक्रम की उपादेयता को दृष्टि मे रखते हुए उर्वशी को दीर्घकाल के लिए उसके पास रहने की स्वीकृति दी । इन्द्र की इस स्वीकृति में उसकी कृतज्ञता, अनुग्रह और स्वार्थ तीनों सम्मिलित है । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पुरूरवा ने उर्वशी को इन्द्र के अनुग्रह से प्राप्त नही किया, अपितु उसका अपना विक्रम ही इस उपलब्धि का मूल आधार है ।

विक्रमोर्वशीय में प्रणयकथा का समस्त विकास दैवी शक्तियो और अतिप्राकृत तत्त्वो पर निर्भर दिखाई देता है । इसका मुख्य कारण इसके प्रधान पात्रों का अतिप्राकृत उद्भव या सम्बन्ध है । उर्वशी तो पूर्णतया दिव्य है ही, पुरूरवा भी चन्द्रमा का पौत्र और इन्द्र का मित्र होने के कारण दिव्यता से युक्त है । ऐसे लोकोत्तर पात्रों की कथा मे अलौकिक तत्त्वों का समावेश अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता । दूसरे, उर्वशी और पुरूरवा की प्रेमकथा एक प्राचीन पौराणिक कथा है और ऐसी कथाओं में प्राकृत व अतिप्राकृत के बीच भेदरेखा खीचना सचमुच कठिन होता है । इसीलिए विक्रमोर्वशीय में प्रणयकथा का उद्भव, विकास, उसकी प्रत्येक गति, भंगिमा एवं अन्ततः उसकी सुखद समाप्ति-सक्षेप मे उसकी सभी अवस्थाएं प्राकृत व अति-प्राकृत का अद्वैत प्रस्तुत करती है । यहां किसको प्राकृत कहे और किसको अति-प्राकृत । यह आरोप लगाया जा सकता है कि इसमें समस्त नाटकीय घटनाचक्र अति-प्राकृत शक्तियों द्वारा संचालित व निर्देशित है तथा नायक व नायिका अपनी

अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए पद-पद पर दैवी अनुग्रह व साहाय्य के मुखापेक्षी हैं। यह आरोप एक दृष्टि से सत्य है, पर यदि हम इसे स्वीकार कर लेते हैं तो इस नाटक की मूल चेतना को समझने मे असमर्थ रहेंगे। वस्तुतः पौराणिक कथाओं में जो विश्व-दृष्टि व्यक्त हुई है उसमें मानव और देवता दोनो एक-दूसरे के विरोधी या प्रतिस्पर्धी नही है; अपितु एक ही विश्व में स्नेह, सहयोग व सख्य के साथ रहने वाले प्राणी हैं। यदि मानव पुरूरवा उर्वशी को पाने के लिए देवो की कृपा पर निर्भर है, तो देवों को भी भावी देवासुर संग्राम में विजय के लिए पुरूरवा के वल-पराक्रम की अपेक्षा है। अपितु यह कहा जा सकता है कि उर्वशी को पुरूरवा के हाथो में सौप कर देवताओं ने उसके प्रति अपनी कृतज्ञता ही प्रकट की है, उस पर कोई अनुग्रह नही किया। यह ठीक है कि देवता मनुष्य से अधिक शक्तिशाली है, पर मनुष्य भी सर्वथा अकिंचन नहीं। कालिदास ने नारद के निम्न शब्दों में देवता व मनुष्य के पारस्परिक संवंध के विषय में यही दृष्टिकोण व्यक्त किया है—

> त्वत्कार्य वासवः कुर्यात् त्वं च तस्येष्टमाचरेः।
> सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं च तेजसा ॥ विक्रमो० ५.२०

अतिप्राकृत पात्र :

विक्रमोर्वशीय में अनेक अतिप्राकृत पात्रों का समावेश मिलता है जो इसकी पौराणिक कथावस्तु के अनुकूल है। इसका नायक पुरूरवा अर्धदिव्य और अर्धमानव पात्र है तथा नायिका उर्वशी पूर्णतया दिव्य। अन्य पात्रों में कुछ अप्सरायें है, जैसे उर्वशी, चित्रलेखा, सहजन्या, रंभा, मेनका आदि। इनके अतिरिक्त गन्धर्वराज, चित्ररथ तथा देवर्पिनारद भी पात्रों के रूप मे अकित है। ये पात्र साक्षात् रूप से रंगमंच पर अवतीर्ण होते हैं। इनके अतिरिक्त असुर केशी, भरतमुनि तथा महेन्द्र को भी नाटकीय वस्तु में अप्रत्यक्ष स्थान दिया गया है।

यह द्रष्टव्य है कि नाटककार ने पात्रों के व्यक्तित्व-विधान मे पौराणिक कल्पनाओं को मुख्य आधार वनाया है। यों तो कालिदास वैदिक साहित्य के भी मर्मज्ञ थे, पर वे जिस समाज के लिए नाटक लिख रहे थे वह पौराणिक धर्म और उसकी आस्थाओं से अनुप्राणित था। अतः नाटककार ने वस्तु-योजना व पात्रों के चित्रण में महाकाव्यों व पौराणिक साहित्य की कथा-रूढ़ियों का मुख्यतः सहारा लिया है। उर्वशी, पुरूरवा, चित्ररथ, नारद आदि पात्र पौराणिक लोकविश्वासों के सांचों मे ढले हुए है। शाप, रूपपरिवर्तन, आकाशमार्ग से अवतरण व उत्पतन, रथ द्वारा आकाश में आवागमन, अप्सराओं का तिरस्करिणी द्वारा प्रच्छन्न होकर पृथ्वीलोक में भ्रमण एवं मानवीय कार्यकलापों में दैवी हस्तक्षेप आदि अतिप्राकृत

कल्पनाएं निश्चय ही नाटककार व उसके समकालीन समाज की पौराणिक-चेतनापन्न मनोवृत्ति की सूचक हैं।

उर्वशी : विक्रमोर्वशीय की नायिका उर्वशी जो एक दिव्य सामान्या स्त्री है, देवराज महेन्द्र की परम प्रिय अप्सरा है। अप्सरा के रूप में उसका व्यक्तित्व अनेक अतिप्राकृत तत्त्वों से विभूषित है, किन्तु मूलतः वह एक प्रेमिका है और इस रूप मे उसका चरित्र सर्वथा मानवीय प्रतीत होता है। इस प्रकार उर्वशी के चरित्र और व्यक्तित्व में दिव्य और मानवीय गुण-धर्मो का मणिकांचन योग हुआ है। उसके व्यक्तित्व का यह द्वैत ही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। आर्थर राइडर के मत में "उर्वशी का अप्सरा-रूप इतना प्रबल है कि उसे मानुषी नहीं माना जा सकता और उसका मानुषी रूप इतना स्पष्ट है कि वह अप्सरा नहीं कही जा सकती।"[1] हैनरी डब्ल्यू वेल्स के अनुसार "उर्वशी एक सच्ची अप्सरा होते हुए भी पुरूरवा के जीवन-काल तक पृथ्वी पर रहने तथा उसके मर्त्य पुत्र को जन्म देने की अपनी अभिलाषा पूर्ण करने में सफल होती है। उसके जीवन के तनाव उसकी प्रकृति के आन्तरिक द्वैत के परिणाम हैं। हृदय से वह अर्द्ध दिव्य और अर्द्ध मनुष्य है। जब वह दिव्य प्रकृति में आस्थित होती है, तब स्वर्ग में दिव्य नाटकों में अभिनय करती है, पर जब उसका मर्त्यप्रेम प्रबल हो जाता है तब वह देवता के स्थान पर अपने पार्थिव प्रेमी के नाम का उच्चारण करती है।"[2]

कालिदास की उर्वशी अप्सरा होते हुए भी एक प्रेमिका है। उसका अप्सरा-रूप पूर्ववर्ती साहित्य में सुप्रतिष्ठित हो चुका था, पर उसे एक सुकुमार-हृदया प्रेमिका में रूपान्तरित करने का श्रेय कालिदास की नाट्य-प्रतिभा को है। ऋग्वेद[3] में उर्वशी को जल से उत्पन्न (अप्या), अंतरिक्ष को पूर्ण करने वाली (अंतरिक्षप्रा) तथा विभिन्न लोकों में संचरण करने वाली (रजसो विमानी) कहा गया है। उसने चार शरदों तक विविध रूप धारण कर मर्त्य प्रेमियों में निवास किया और एक दिन प्रथम उषा के समान सहसा विलीन हो गई। वह वायु के समान पुरूरवा के लिए दुष्प्राप (दुरापना वात इवास्मि) है। इस प्रकार उसका व्यक्तित्व एक अतिमानवीय अप्सरा का व्यक्तित्व है। उसके हृदय में पुरूरवा के प्रति लेशमात्र भी प्रेम नही है। बार-बार प्रार्थना करने पर भी वह उसके साथ जाने को तत्पर नही होती। वह निष्ठुरता से उसे कहती है कि स्त्रियों का प्रेम स्थिर नही होता और उनका हृदय

---

1. श्री के0सी0 रामस्वामी शास्त्री कृत 'कालिदासः हिज् पीरियड़, पर्सनलिटी एंड पोयट्री' पृ0 263 पर उद्धृत
2. देखिए—'दि क्लासिकल ड्रामा ऑव् इंडिया' पृ0 60.
3. 10.95.

सालावृकों के समान क्रूर होता है।[1] शतपथ ब्राह्मण की कथा मे उर्वशी गन्धर्वों की प्रेयसी कही गई है ; वे उसे स्वर्ग वापिस ले जाने के लिए एक कूट योजना क्रियान्वित करते है। गन्धर्वों द्वारा उत्पन्न प्रकाश में पुरूरवा के नग्न दिखाई देने पर उर्वशी अपनी पूर्व शर्त के अनुसार सहसा विलीन हो जाती है। वाद में वह कुरुक्षेत्र के सरोवर में अपनी सखियों के साथ जलचर पक्षी के रूप में तैरती बताई गई है। ऋग्वेद की उर्वशी के समान शतपथ की उर्वशी में भी प्रेम-तत्त्व का अभाव है। वह पुरूरवा के वहुत गिड़गिड़ाने पर वर्ष में केवल एकबार मिलने का वादा करती है। मत्स्यपुराण, पद्मपुराण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा कथा-सरित्सागर में उर्वशी को एक प्रेमिका के रूप में ढालने का प्रयत्न नितान्त स्पष्ट है, पर उर्वशी के इस रूपान्तरण की प्रक्रिया का चरमोत्कर्ष यदि कहीं देखा जा सकता है तो विक्रमोर्वशीय में। कालिदास ने वैदिक साहित्य की स्वार्थनिष्ठ, अहम्मन्या उर्वशी को एक प्रेममयी नारी में रूपान्तरित कर दिया है। महाकाव्यों व पुराणों में अप्सरायें सुरवेश्या मानी गई है, जिनका काम इन्द्र की सभा में नृत्य, गायन व अभिनय करना या अपने शारीरिक सौन्दर्य द्वारा ऋषि-मुनियों का तप भंग करना है। कालिदास ने प्राचीन साहित्य और लोककथाओं मे स्वीकृत उर्वशी के अप्सरा रूप को अक्षुण्ण रखते हुए भी उसे एक प्रेमिका में परिवर्तित कर अपने असाधारण नाट्य-कौशल का परिचय दिया है। उनके सामने सवसे बड़ी समस्या एक दिव्य सामान्या स्त्री को, जो प्राचीन साहित्य में एक हृदय-हीन स्त्री के रूप में चित्रित थी, एक अनन्यहृदया प्रणयशीला नारी में रूपान्तरित करने की थी। साथ ही नाटककार के लिए उसके परम्परागत अप्सरा रूप को सुरक्षित रखना भी आवश्यक था। विक्रमोर्वशीय के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि कालिदास उक्त दोनों प्रयोजनो को सफलतापूर्वक सिद्ध कर सके है। उसे एक सच्ची प्रेमिका का रूप देने के लिए नाटककार ने प्राचीन कथाओं के उन सव अंशो को छोड़ दिया है जो उसके इस रूप को विकृत या विपर्यस्त करते थे। यही कारण है कि कालिदास ने शतपथ ब्राह्मण व उसके अनुगामी पुराणों में वर्णित उर्वशी की तीन शर्तो व मित्रावरुण के शाप का उल्लेख नही किया है। उर्वशी के हृदय मे प्रेम की स्वभाविक उत्पत्ति व विकास प्रदर्शित करने के लिए कालिदास ने पुरूरवा द्वारा असुर केशी के चंगुल से उर्वशी की रक्षा के प्रसंग की योजना की है। पुरूरवा के प्रति उसका प्रेम कृतज्ञता से प्रेरित है, वह शारीरिक आकर्षण या वासना मात्र पर आधारित नहीं है। चित्ररथ के साथ स्वर्ग जाने के समय वैजयन्तिका के लता में उलझने के वहाने उसका अपने प्रेमी को एक बार फिर से देखने का यत्न हमारे सामने एक मुग्धा प्रेमिका का चित्र अंकित कर देता है। चित्रलेखा के प्रति उसका

---

1. न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणा हृदयान्येता। ऋग्वेद, 10.95.15.

यह वचन 'सखि । मदनः खलु त्वामाज्ञापयति । शीघ्रं मां नय तस्य सुभगस्य वसतिम्'[1] उसके चरित्र की मूल प्रेरणा का परिचायक है। स्वर्ग में खेले गये लक्ष्मीस्वयंवर नाटक के अभिनय में उसके मुख से 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर 'पुरूरवा' का उच्चारण उसके हृदय की गाढ अनुरक्ति का द्योतक है। उदयवती की ओर निहारने पर पुरूरवा के प्रति उसका कोप उसके दूरारूढ़ व असहनशील प्रणय की स्वभाविक प्रतिक्रिया है।[2] उर्वशी अपने पुत्र 'आयु' को जन्म से ही च्यवन-ऋषि के आश्रम में तापसी के पास भेज देती है और पुरूरवा तक को उसके जन्म की सूचना नहीं देती। मातृत्व की दृष्टि से चाहे यह असंगत हो, पर उसके प्रेमिका के रूप को ध्यान में रखें तो यह बात उतनी आपत्तिजनक नहीं लगेगी। उसके इस कार्य में उसकी पुररूवा के पास अधिक से अधिक काल तक रहने की अभिलाषा व्यक्त होती है जिससे उसके प्रेमिका-रूप की गौरव-वृद्धि ही हुई है। कालिदास का ध्येय प्रस्तुत नाटक में उर्वशी के इसी रूप का चित्रण करना है, न कि उसके मातृरूप का। लेकिन इसका यह अर्थ नही है कि कालिदास ने उसके मातृरूप को कोई महत्त्व नहीं दिया। पंचम अंक में माता-पुत्र का मिलन-दृश्य उर्वशी के मातृ-हृदय की भावगरिमा का पर्याप्त प्रमाण है।[3]

जहां कालिदास ने उर्वशी के चरित्र को लौकिक प्रेमिका की मानवीयता से अलंकृत किया है वहां वे उसके व्यक्तित्व को एक अप्सरा-सुलभ दिव्यता से मंडित करना भी नही भूले है। उसके व्यक्तित्व में अनेक ऐसी विशेषताएं है जो उसके लोकोत्तर दिव्य रूप को उद्भासित करती है। मेनका के शब्दों मे उर्वशी 'तपोविशेष से परिशकित महेन्द्र का सुकुमार प्रहरण, रूपगर्विता श्री का प्रत्यादेश तथा स्वर्ग की अलंकार है।[4] उसका सौन्दर्य लोकोत्तर व दिव्य है। पुरूरवा के शब्दों में 'उसका शरीर आभरण का भी आभरण, प्रसाधन विधि का भी प्रसाधन-विशेष तथा उपमान का भी प्रत्युपमान है।'[5] उसके दिव्य सौन्दर्य-रस का आस्वादन करने के लिए ही पुरूरवा ने मानों चातक-व्रत ग्रहण किया है।[6] उसका सौन्दर्य-रसिक मन कल्पना करता है कि वेदाभ्यास से जड़बुद्धि, विषय-विरक्त पुराण मुनि ने भला क्या इस मनोहर रूप की सृष्टि की होगी, उसका स्रष्टा तो चन्द्रमा, कामदेव या वसन्त रहा

---

1. तृतीय अंक, पृ0 46.
2. सहजन्या–असहना खलु सा। दूरारूढश्चास्याः प्रणयः। विक्रमो0 4, पृ0 63.
3. 5.12.
4. विक्रमो0 1, पृ0 3.
5. वही, 2.3.
6. विदूषकः–अतः खलु भवता दिव्यरसाभिलाषिणा चातकव्रतं गृहीतम्। वही 2, पृ0 19.

होगा ।[1] उर्वशी की जन्मकथा, जिसमें नारायण ऋषि के ऊरु से उसकी उत्पत्ति बतायी गई है, अन्य अप्सराओं से उसके सौन्दर्य का वैशिष्ट्य प्रकट करती है ।[2]

अप्सरा होने के नाते उर्वशी अनेक अतिप्राकृतिक शक्तियों से युक्त है । वह आकाश में स्वच्छन्द उड़ती है, एक लोक से दूसरे लोक तक मुक्त विचरण करती है तथा तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्य रूप में पुरूरवा के निकट आकर उसका विश्रंभ वार्तालाप सुनती है । कुमारवन मे लता के रूप में वदल जाने पर भी वह अपने अन्तः-करण द्वारा पुरूरवा की वियोग-दशा का प्रत्यक्षीकरण करती है ।[3] उसके व्यक्तित्व मे एक विशेष 'प्रभाव' की भी कल्पना की गई है । विदूषक पुरूरवा से कहता है— 'दिव्य स्त्रियों में आप मानुषीसुलभ सभी धर्मों की संभावना न करें । उनके चरित प्रभावनिगूढ़ होते है ।"[4] इसी निगूढ़ता के कारण पुरूरवा यह नही जान पाया कि उर्वशी कब गर्भवती रही और कब उसने पुत्र को जन्म दिया ? राजा को प्रणय-पत्र लिखने के लिए वह अपने प्रभाव से भूर्जपत्र वना लेती है ।[5] पुरूरवा कल्पना करता है कि उर्वशी अपने प्रभाव द्वारा मेरे मन के अनुराग को जानकर भी मेरी उपेक्षा कर रही है[6] या कुपित होकर अपने प्रभाव से कही छिप गई है ।[7] देवगुरु बृहस्पति से उर्वशी ने अपराजिता नामक शिखाबन्धनी विद्या सीखी है जिसके कारण असुर-भय से मुक्त होकर वह आकाश मे स्वच्छन्द विचरण करती है ।[8]

उर्वशी के व्यक्तित्व के दोनों पक्ष-प्रेमिकात्व और अप्सरस्त्व-परस्पर विरोधी नही, प्रत्युत पूरक व पोषक है । उसके प्रेम ने उसके अप्सरस्त्व को मानवीय अनु-भूतियों से अनुप्राणित कर अधिक आकर्षक और रमणीय वनाया है और उसकी दिव्यता ने उसके प्रेम को अधिक स्पृहणीय, रोमांचक और उन्मादक । जहां ऋग्वेद व शतपथ ब्राह्मण की उर्वशी मात्र एक अप्सरा है वहां कालिदास की उर्वशी एक

---

1. वही, 1.8;
2. राजा—(प्रकृतिस्थामुर्वशी निर्वर्ण्य आत्मगतम्) स्थाने खलु नाराणमृषि विलोभयन्त्यस्तदूरुसभवामिमा दृष्ट्वा व्रीडिता; सर्वा अप्सरस इति । वही, 1 पृ0 7.
3. उर्वशी—एव । अन्त करणप्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तो महाराज । वही 4, पृ0 89.
4. विदूषक—मा भवान् सर्वा मानुषीधर्म दिव्यासु संभावयतु । प्रभावनिगूढानि तासा चरितानि वही 5, पृ0 97.
5. तत् प्रभावनिर्मितेन भूर्जपत्रेण सपादितोत्तरा भवितुमिच्छामि । वही, 2 पृ0 27.
6. प्रभावविदितानुरागमवमन्यते वापि माम् । वही, 2.11.
7. तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता . . . . वही, 4.9.
8. चित्रलेखा—सखि, विश्रब्धा भव । ननु भगवता देवगुरुणा अपराजितां नाम शिखाबन्धनविद्यामुपदिशता त्रिदशपक्षस्यालघनीये कृते स्वः । वही, 2 पृ0 24.

सच्ची प्रेमिका भी है। दिव्यता उसके व्यक्तित्व का बाह्य परिच्छद मात्र है, अन्तश्चेतना की दृष्टि से वह एक सच्ची मानवी है।

पुरूरवा : पुरूरवा शास्त्रीय दृष्टि से प्रख्यातवंशोत्पन्न धीरोदात्त नायक है। उसके व्यक्तित्व में मानवीय और अतिमानवीय द्विविध तत्त्वों का संमिश्रण है। वह इला का पुत्र,[1] सोमवंश में उत्पन्न,[2] तथा सूर्य का दौहित्र व चन्द्रमा का पौत्र[3] कहा गया है। ये उल्लेख उन पौराणिक कथाओं की ओर संकेत करते है जिनमें वह चन्द्रमा के पुत्र बुध तथा वैवस्वत मनु की पुत्री इला से उत्पन्न बताया गया है।[4] इस दृष्टि से पुरूरवा एक पुराकथात्मक व्यक्ति है। वह सुरपक्षपाती एवं आकाश मे अप्रतिहत गति रखने वाला है।[5] नाटक के प्रारम्भ में वह सूर्यलोक में भगवान् सूर्य का उपस्थान कर अपने रथ से पृथ्वी की ओर आता बताया गया है।[6] प्रथम अंक का सारा घटनाचक्र पहले अंतरिक्ष में और फिर दिव्य हेमकूट पर्वत पर घटित हुआ है जो पुरूरवा के अतिमानवीय व्यक्तित्व का सूचक है। वह एक वीर योद्धा व साहसी पुरुष है। मेनका के शब्दों में युद्ध उपस्थित होने पर देवराज महेन्द्र उसे सबहुमान पृथ्वीलोक से बुलाकर अपनी विजयिनी सेना का नेतृत्व सौपते है।[7] असुरों के विरुद्ध युद्धों में वह देवो का प्रमुख सहायक है। नाटक के पहले ही दृश्य में उसकी वीरता और ओजस्विता का प्रभावशाली चित्र अंकित किया गया है। असुर केशी के चंगुल से उर्वशी की रक्षा कर वह उसका हृदय जीत लेता है। इस प्रकार नाटककार ने पुरूरवा के अतिमानवीय विक्रम को ही नाटकीय प्रणय-वृत्त के विकास का प्रमुख आधार बनाया है। प्रेम-कथा के सूत्रपात, विकास और परिणति मे पुरूरवा के अलौकिक विक्रम की अदृश्य पृष्ठभूमि और प्रेरणा नितांत स्पष्ट है। महेन्द्र अपने रणसहायक पुरूरवा के पूर्व उपकारों का स्मरण करके ही भरत द्वारा शापित उर्वशी को उसके पास जाकर रहने की अनुमति देता है। हम देखते है कि पुरूरवा का पराक्रम ही अन्ततः उसे इन्द्र से उर्वशी को स्थायी रूप से पाने का अधिकारी बनाता है।

---

1. वही, 5.7.
2. अप्सरसः—सदृशमेतत्सोमवंशसंभवस्य। वही, 1, पृ0 3.
3. वही, 4.38.
4. देखिए विष्णुपुराण, 4.6.34.
5. विक्रमो0 1 पृ0 2.
6. राजा--अलमाक्रन्दितेन। सूर्योपस्थानात् प्रतिनिवृत्तः पुरूरवस मामुपेत्य कथ्यता कुतो भवत्यः परित्रातव्या इति। वही, 1 पृ0 3.
7. मेनका--मा ते संशयो भवतु। ननु उपस्थितसंप्रहारो महेन्द्रो मध्यमलोकात् सबहुमानमानाय्य तमेव विजयसेनामुखे नियोजयति। वही, 1 पृ0 4.

भरतमुनि ने नाटक के लक्षणों मे नायक को 'दिव्याश्रयोपेत' कहा है। इसकी व्याख्या में अभिनवगुप्त ने बताया है कि देवचरित दु:खरहित और प्रयत्न-पक्ष से शून्य होता है, अत: नाटक में देवता नायक नहीं होना चाहिए। हां, नायक के सहायक के रूप में उसका समावेश किया जा सकता है। विक्रमोर्वशीय में यही बात देखने को मिलती है। इसका नायक पुरूरवा देववंशज होने पर भी एक पार्थिव राजा है, अत: उसे मानव कोटि का नायक कहना ही उचित है। यद्यपि वह अपने पराक्रम द्वारा उर्वशी के प्रेम का अधिकारी वना है फिर भी यह स्पष्ट है कि महेन्द्र के अनुग्रहपूर्ण साहाय्य से ही वह उर्वशी को स्थायी रूप में पाने में समर्थ हुआ है। अत: शास्त्रीय दृष्टि से वह एक 'दिव्याश्रयोपेत' नायक है।

नाटकीय वस्तु-विन्यास में पुरूरवा के अतिमानवीय विक्रम को विशेष स्थान देते हुए भी कालिदास ने उसे पृष्ठभूमि मे ही रखा है। नाटककार का प्रमुख ध्येय पुरूरवा को एक प्रेमी के रूप में ही अंकित करना है। समग्र नाटक में उसका यही पक्ष प्रधान रूप से उभरता है। चतुर्थ अंक में पुरूरवा का यह प्रणयी रूप चरम उत्कर्ष पर पहुंच गया है। पुरूरवा को अप्सरा उर्वशी का योग्य प्रेमी सिद्ध करने के लिए ही संभवत: पुरूरवा के मानव-व्यक्तित्व में एक अलौकिक पक्ष का समावेश किया गया है। ऋग्वेद व शतपथ ब्राह्मण के पुरूरवा में इस अलौकिक पक्ष का अभाव है, अत: वह उर्वशी के सामने वड़ा दीन-हीन और निरुपाय प्रतीत होता है। वहां वह उर्वशी का समकक्ष नहीं दिखाई देता। संभवत: उर्वशी इसीलिये उसे मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग में मिलने का आश्वासन देती है[1] या गन्धर्वत्व-प्राप्ति के लिये प्रेरित करती है।[2] मत्स्य पुराण, पद्मपुराण, कथासरित्सागर आदि मे पुरूरवा के व्यक्तित्व को मानवीय धरातल से ऊपर उठाने का प्रयत्न स्पष्टतया परिलक्षित होता है। कालिदास ने पुराणों का अनुसरण करते हुए पुरूरवा के व्यक्तित्व को मानवत्व और दिव्यत्व की मिलन-भूमि वनाया है। उसकी उत्कट प्रणय-भावना, सौन्दर्य-प्रेम तथा सहृदयता उसके चरित्र व व्यक्तित्व की मानवीय विभूतियां है। दूसरी ओर उसकी विक्रममहिमा एव अभिजन उसके व्यक्तित्व का दिव्य परिपार्श्व है जो उसे देवताओ का मित्र तथा उर्वशी का प्रणय-पात्र वनाता है। हम कह सकते है कि जिस प्रकार उर्वशी के प्रेम ने उसकी दिव्यता को मानवीय महिमा प्रदान की है उसी प्रकार पुरूरवा की वीरता ने उसकी मानवीयता को दिव्य गरिमा से विभूषित किया है।

---

1. ऋग्वेद 10, 95.18.
2. शतपथ 11. 5.1.

दिव्यता और मानवता का यह द्वैत उर्वशी के समान पुरूरवा के भी व्यक्तित्व का सबसे बड़ा आकर्षण है। पर यह द्वैत परस्पर प्रतियोगी नही, अपितु पूरक और उपकारक है। इस प्रकार 'विक्रमोर्वशीय' मे एक दिव्य अंगना और पार्थिव मनुष्य का ही मिलन नहीं हुआ है, अपितु उनमें से प्रत्येक के व्यक्तित्व में दिव्य और मर्त्य तत्त्वों का समन्वय हुआ है। पुरूरवा और उर्वशी व्यक्ति ही नही, प्रतीक भी है। उर्वशी स्वर्ग की अजरता, अमरता, शाश्वत सौन्दर्य और यौवन की प्रतीक है और पुरूरवा उस दिव्य सौन्दर्य और यौवन के रसिक पार्थिव मनुष्य का। पृथ्वी को चिरकाल से स्वर्ग की चाह रही है और स्वर्ग को पृथ्वी की। दोनों एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं। हमारी प्रत्येक कल्पना और स्वप्न को एक पार्थिव धरातल की अपेक्षा है और हमारी पार्थिव वास्तविकताएं अपनी क्षुद्र सीमाओं का अतिक्रमण कर किसी रहस्यमय लोक का साक्षात्कार करना चाहती है। मर्त्य मनुष्य अपने क्षणभंगुर जीवन में उस दिव्यता का स्पर्श और अधिकाधिक साहचर्य पाना चाहता है जिसे कालिदास ने उर्वशी के प्रति पुरूरवा की उत्कट कामना में व्यक्त किया है।

चित्ररथ : नाटक में चित्ररथ का व्यक्तित्व गन्धर्व-सम्बन्धी पौराणिक कल्पनाओं पर आधारित है। वैदिक साहित्य और पौराणिक साहित्य की कथाओं में अप्सराओं के साथ गन्धर्वो का निकट सम्बन्ध माना गया है।[1] संभवतः इसी बात को दृष्टि में रखकर यहां नाटककार ने इस पात्र की योजना की है। शतपथ ब्राह्मण मे उर्वशी के स्वर्ग लौटने मे गन्धर्वो की जो छलपूर्ण भूमिका[2] वर्णित है, संभव है कालिदास को उसी से इस पात्र का संकेत मिला हो। यदि ऐसा हो तो भी यह स्पष्ट है कि कालिदास ने गन्धर्वराज को एक सर्वथा भिन्न परिस्थिति में तथा भिन्न उद्देश्य से नाटकीय कथा में स्थान दिया है।

नारद : महर्षि नारद पौराणिक सहित्य के एक अतीव रोचक पात्र है जिनमें अनेक परस्पर विरोधी तत्त्वों का एकत्र समावेश है। वे एक ऋषि, भक्त, देवों व मनुष्यों के संदेशवाहक, भ्रमण-प्रेमी, कलह-प्रेमी एवं सबकी खोज-खबर रखने वाले दिव्य मुनि के रूप में पुराणों और लोककथाओं में प्रसिद्ध रहे हैं। नाटक के अंत में इन्द्र के संदेशवाहक व प्रतिनिधि के रूप मे वे स्वर्ग से पृथ्वी पर आते है। कालिदास

---

1. देखिए–मेक्डानल-कृत 'वैदिक माइथॉलॉजी' पृ० 134–137.
2. शतपथ ब्राह्मण के अनुसार गन्धर्वो को उर्वशी का पुरूरवा के पास रहना अच्छा नही लगा। अतः उन्होंने उसे वापस स्वर्ग लाने के लिये एक कूट योजना बनाई। उन्होंने रात को चुपचाप आकर उर्वशी के मेमने चुरा लिये जिन्हे वह पुत्र के समान चाहती थी। ज्योंही नग्न पुरूरवा मेमनो को बचाने के लिए उठा, गन्धर्वो ने विद्युत् का प्रकाश उत्पन्न कर दिया। उर्वशी पुरूरवा को नग्न देखकर अपनी पूर्व शर्त के अनुसार तुरन्त उसे छोड़ कर स्वर्ग लौट गई।

ने नाट्यशास्त्र के विधानानुसार नाटक को सुखान्त बनाने के लिए दिव्य अनुग्रह और आशीर्वाद की मांगलिक प्रतिमूर्ति के रूप मे उन्हें प्रस्तुत किया है।

बृहत्कथा पर आधारित कथासरित्सागर की उर्वशी-पुरूरवा कथा[1] में नारद विष्णु के संदेशवाहक के रूप मे इन्द्र के पास जाकर उर्वशी को सौपने के लिए प्रेरित करते हैं। संभव है कालिदास ने बृहत्कथा के इसी प्रसंग से नाटक की प्रणय-कथा में नारद के समावेश का संकेत ग्रहण किया हो। यदि ऐसा हो तो कालिदास पर लोक-कथा की परम्परा का भी प्रभाव सिद्ध होता है।

चित्रलेखा : उर्वशी की अंतरंग सखी चित्रलेखा में अप्सरा-सुलभ सभी विषेशताएं है। वह आकाश मे विचरण करने में समर्थ है तथा तिरस्करिणी विद्या द्वारा स्वयं को अदृश्य रख सकती है। प्रणिधान मे स्थित होकर वह सुदूर देश और काल की घटनाओं का अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है। अप्सरा की अति-प्राकृतिक विशेषताओं से युक्त होने पर भी उसका चरित्र मूलत: एक मानव चरित्र है। हमें उसमे मालविकाग्निमित्र की वकुलावलिका और शाकुन्तल की प्रियंवदा की झलक देखने को मिलती है। चतुर्थ अक में उर्वशी के लता-रूप में बदल जाने पर चित्रलेखा और सहजन्या दोनों सहचरी के वियोग से व्याकुल हंसी-युगल के रूपक द्वारा अपनी मनोव्यथा प्रकट करती है।[2] कालिदास ने यहां संभवत: शतपथ की कथा मे उर्वशी व उसकी सखियों के कुरुक्षेत्र के सरोवर में जलचर पक्षियों के रूप में तैरने के उल्लेख से इस कल्पना का सकेत ग्रहण किया होगा। संक्षेप मे, चित्रलेखा का व्यक्तित्व उर्वशी के समान ही दिव्य और मानवीय तत्त्वो का समन्वय प्रस्तुत करता है।

अन्य पात्र : इनके अतिरिक्त सहजन्या, मेनका, रभा आदि अप्सराओं को भी नाटककार ने पात्रों के रूप मे अंकित किया है तथा उनमें अप्सरा-सुलभ अतिप्राकृत विशेपताएं बतायी है।

केशी, महेन्द्र व भरतमुनि का भी नाटकीय वस्तु के उत्थान व विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान है, पर नाटककार ने उन्हें दृश्य कथा में स्थान नहीं दिया है। नाटकीय कथा में इन पात्रों का महत्त्व पहले बताया जा चुका है।

अतिप्राकृत लोकविश्वास

मानव-जगत् की गतिविधियों मे भवितव्यता, विधि या भाग्य की प्रभावशाली

---

1. 3, 3.4–30.
2 सहचरीदुःखालीढ सरोवरे स्निग्धम्।
वाष्पापवलिगतनयनं ताम्यति हंसीयुगलम्॥ विक्रमो० 4.2.

भूमिका का उल्लेख किया गया है, विशेष रूप से उर्वशी के पुरूरवा पर कुपित होकर कुमारवन में प्रविष्ट होने और वहां लता के रूप में परिवर्तित होने के प्रसंग में।[1] इसी प्रकार भावी शुभ के सूचक के रूप में अहेतुक 'मनःनिर्वृति' (मानसिक उल्लास) तथा बाहुस्फुरण जैसे निमित्तों का निर्देश किया गया है।[2]

अतिप्राकृत तत्त्व और रस

हम बता चुके है कि विक्रमोर्वशीय की कथावस्तु आद्यन्त अतिप्राकृत तत्त्वों से पूर्ण है तथा इसके अधिकांश पात्र भी अलौकिक है। यही कारण है कि इस नाटक का अंगी रस श्रृंगार प्रायः सर्वत्र अद्भुत रस से संपुष्ट है। नाटक के प्रारंभ मे श्रृंगार की पृष्ठभूमि के रूप में पुरूरवा की अद्भुत वीरता का ओजस्वी चित्र अंकित किया गया है। प्रथम अंक में उर्वशी का दिव्य सौन्दर्य, आकाश से हेमकूट पर्वत पर चित्ररथ का अवतरण तथा अप्सराओं को लेकर उसका पुनः आकाश मे उत्पतन आदि प्रंसग विस्मयभाव को व्यजित करते हुए नाटक के प्रधान रस श्रृंगार को परिपुष्ट करते हैं। इसी अंक में पुरूरवा के वायव्यास्त्र का उसके तूणीर मे प्रत्यावर्तन उसकी अलौकिक वीरता का व्यंजक है। द्वितीय अंक में उर्वशी व चित्रलेखा का आकाशगमन, पुरूरवा के प्रमदवन में उनकी अदृश्य उपस्थिति, उर्वशी द्वारा स्वप्रभाव से भूर्जपत्र का निर्माण आदि प्रसंग विस्मय भाव के व्यजक हैं। तृतीय अंक के विष्कंभक में उर्वशी के शापित होने का प्रसंग महेन्द्र के अनुग्रह से प्रेमी-प्रेमिका के मिलन में पर्यवसित होता है, अतः वह श्रृंगार का ही पोषक है, करुण का नहीं। इसी अंक में उर्वशी का पुरूरवा के हर्म्य-पृष्ठ पर अवतरण तथा वहां अदृश्य रहकर विदूषक व महारानी औशीनरी के साथ उसके वार्तालाप का श्रवण श्रृंगार की व्यंजना मे सहायक है। चतुर्थ अक में कुमार कार्तिकेय के नियम से उर्वशी का लता-रूप मे परिवर्तन अद्भुत रस का व्यजक है जो यहां विप्रलंभ का अंग है। द्वितीय अध्याय में हम बता चुके है[3] कि अभिनवगुप्त के मत मे विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में विप्रलंभ श्रृंगार है, करुण रस नहीं। यद्यपि कुमार कार्तिकेय के नियम से उर्वशी का रूप परिवर्तित हो गया है, पर पुरूरवा इस बात से सर्वथा अनभिज्ञ है। यदि उसे यह ज्ञात होता तो शाप व देवता-नियम आदि के अप्रतिकार्य होने से पुरूरवा को शोक की अनुभूति होती, रति की नही। दोनों में मूल अन्तर यह है कि प्रथम में इष्ट व्यक्ति या वस्तु का नाश हो

---

1. असहना खलु सा। दूरारूढश्चास्याः प्रणयः। तद्भवितव्यतात्र बलवती। (विक्रमो० 4, पृ० 63) सर्वथा नास्ति विधेरलंघनीयं नाम येन तादृशस्यानुरागस्य एष परिणामः संवृत्त. (वही, 4, पृ० 63) सर्वथा मदीयाना भाग्यविपर्ययाणामयं प्रभावः (वही 4, पृ० 77)
2. वही, 2.9; 3.9.
3. दे० प्रस्तुत प्रबंध, पृ० 82-83.

जाने से उसकी पुनः प्राप्ति की कोई आशा नहीं रहती और द्वितीय में या तो इष्ट-नाश नहीं होता या होने पर भी उसकी प्राप्ति की आशा रहती है। चतुर्थ अंक में ही संगमनीय मणि के रहस्यमय प्रभाव से लताभूत उर्वशी का मूल रूप मे परिवर्तन अद्भुत रस का व्यंजक है। यह परिवर्तन नायक-नायिका के पुनर्मिलन का आधार है, अतः यहां भी अद्भुत रस (विस्मयरूप संचारिभाव) संयोग शृंगार का अंग है। पचम अंक में पुरूरवा का अपने पुत्र आयु के साथ विस्मयजनक रूप में मिलन होता है, किन्तु यह मिलन अपने साथ दुःख की छाया लेकर उपस्थित होता है। इन्द्र के पूर्व आदेश के अनुसार उर्वशी के लौटने की घड़ी आ जाती है। किन्तु तभी नारद जी महेन्द्र का सदेश लेकर विद्युत्-संपात के समान आकाश से उतरते है। इस संदेश से नायक व नायिका का स्थायी मिलन होता है। इस प्रकार यहां निर्वहण सधि में अभिव्यक्त अद्भुत रस नाटक के अंगी शृंगार रस का पोषक बन गया है।

अभिज्ञानशाकुन्तल

विक्रमोर्वशीय के समान यह नाटक भी अनेक अतिप्राकृत तत्त्वो से युक्त है। कथा और चरित्रों के विन्यास मे ये तत्त्व विशेष रूप से देखे जा सकते है। विक्रमोर्वशीय के सदृश इसमें भी शाप की लोकप्रिय कथानक-रूढ़ि प्रयुक्त हुई है। दोनो मे ही शाप-प्रसंग कथावस्तु का महत्त्वपूर्ण अग है। नाटकीय कथा का विकास और परिणति बहुत-कुछ उसी पर आधारित है। दोनों मे शाप ऋषि या मुनि के द्वारा दिया गया है। दोनों में ही नायिका की भूल जो उसके प्रगाढ़ प्रेम का परिणाम है शाप का कारण है। किन्तु इस विषय में दोनों के बीच एक महत्त्वपूर्ण अन्तर भी है। जहा विक्रमोर्वशीय में शाप नायक और नायिका के मिलन का हेतु है वहां शाकुन्तल में वह नायक के मन में विस्मृति को जन्म देकर दोनों के दीर्घ वियोग का आधार बनता है। जिस प्रकार विक्रमोर्वशीय में संगमनीय मणि वियुक्त प्रेमियों का पुनर्मिलन कराती है, उसी प्रकार शाकुन्तल मे मुद्रिका की प्राप्ति राजा के मन में शकुन्तला की स्मृति जाग्रत कर उनके पुनर्मिलन मे सहायक होती है। दोनों ही नाटकों में देवताओं की सहानुभूति और सहायता का प्रेमी-प्रेमिका के स्थायी पुनर्मिलन मे योगदान रहा है। दोनों मे ही असुरों के विरुद्ध देवों की सहायतार्थ नायक के स्वर्ग जाने की बात कही गई है। देवो और मनुष्यो के बीच परस्पर हितैषिता और सहायता के मधुर सम्बन्ध दोनों नाटकों में समान रूप से चित्रित है। पात्रो की दृष्टि से भी दोनों मे पर्याप्त साम्य है। उर्वशी स्वयं अप्सरा है तो शकुन्तला अप्सरा-पुत्री होने के कारण साधारण मानवियो से उच्चतर है। पुरूरवा के समान दुष्यन्त भी इन्द्र के मित्र और युद्धसहायक है तथा असुरों से युद्ध के निमित्त स्वर्ग बुलाये जाते है। इस प्रकार अतिप्राकृतिक तत्त्वों की दृष्टि से दोनों नाटकों में पर्याप्त समानता है।

किन्तु समग्र रूप में देखने पर यह स्पष्ट है कि विक्रमोर्वशीय की तुलना में शाकुन्तल में अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग अपेक्षाकृत सीमित एवं अधिक विवेकपूर्ण रूप में हुआ है।[1] इसकी विषय-वस्तु विक्रमोर्वशीय की तुलना में अधिक लौकिक और मानवीय है। कालिदास मानवीय कार्यकलापों मे भाग्य, नियति और देवताओं के हस्तक्षेप को स्वीकार करते है, पर ये दैवी शक्तियां मानव-जगत् मे सीधे हस्तक्षेप नहीं करती। वे प्राय: मानवीय चरित्र व आचरण के माध्यम से ही उसे प्रभावित करती हैं। श्री हेनरी डब्ल्यू वेल्स के अनुसार "शाकुन्तल स्पष्टत: धरती और मनुष्य का नाटक अधिक है, विक्रमोर्वशीय स्वर्ग और देवताओं का। शकुन्तला स्वयं अधिक से अधिक एक अवर देवता है जो एक अप्सरा और मनुष्य से उत्पन्न हुई है। वह नितान्त मानवी है एवं कन्यासुलभ गुणों से युक्त है। तथा दुष्यन्त एक विशुद्ध राजा है। इसके विपरीत पुरूरवा, ऐसा लगता है, अपने जीवन का अधिकतर भाग दिव्य भवनो में बिताता है और उर्वशी जन्मना एक विशुद्ध अप्सरा है जो नारायण ऋषि की ऊरु से जनमी है।[2]"

शाकुन्तल की कथावस्तु महाभारत के आदिपर्व[3] में आए शकुन्तलोपाख्यान पर आधारित है। कालिदास ने मूल कथा के कलेवर को बहुत-कुछ बदल दिया है। कथा के ब्यौरे ही नहीं, उसका मूल स्वर और प्रतिपाद्य भी उनके हाथों रूपान्तरित हो गये है। वीरयुग की एक सीधी, खरी किन्तु अनगढ़ कहानी को नाटककार ने एक सौन्दर्यमयी कलामूर्ति में ढाल दिया है। उसकी प्रतिभा के चमत्कारपूर्ण संस्पर्श से कथा और चरित्र दोनों नयी आभा से प्रदीप्त हो उठे है। नाटक के वस्तु-विधान में सबसे महत्त्वपूर्ण उद्भावना दुर्वासा-शाप और मुद्रिका का प्रसंग है जिसने महाभारत की मूल कथा को सर्वथा बदल दिया है। इस नूतन कल्पना द्वारा कालिदास ने जहा दुष्यन्त के चरित्र का परिष्कार किया है, वहां मानवीय प्रेम के अनेक नूतन व मार्मिक पक्षों का भी उद्घाटन किया है। पाचवे, छठे और सातवे अंकों की घटनावली दुर्वासा-शाप और मुद्रिका-प्रसग का ही स्वाभाविक विकास व विस्तार है। कालिदास ने जिस विन्दु पर ले जाकर नाटकीय कथा का समापन किया है, वह भी अपने आप में

---

1. कीथ का विचार है कि विक्रमोर्वशीय मे 'अतिप्राकृत' का आधिक्य है पर शाकुन्तल में उसका परिमाण सीमित कर दिया गया है। इसमे अन्तिम अंक, जहां शास्त्र अद्भुत के प्रयोग की न केवल अनुमति देता है अपितु उसकी माग भी करता है, से पूर्व अतिप्राकृतिक का प्रयोग नगण्य सा हुआ है। उनके मतानुसार मारीच का दिव्य आश्रम भाग्य द्वारा कठोरतापूर्वक वियोजित प्रेमियो के पुनर्मिलन के लिए सर्वथा उपयुक्त स्थान है। देखिए 'दि संस्कृत ड्रामा, पृ0 159'
2. क्लासिकल ड्रामा ऑव् इंडिया, पृ0 59–60.
3. अध्याय 68–74.

अद्वितीय है। कण्व का शकुन्तला के प्रतिकूल दैव के शमनार्थ सोमतीर्थ-गमन, मुनियों के निमंत्रण पर राजा का यज्ञरक्षार्थ आश्रम में निवास, तीर्थ यात्रा से लौटते ही कण्व द्वारा गर्भवती शकुन्तला की पति-गृह के लिये विदाई, मेनका द्वारा पति-परित्यक्ता शकुन्तला का सरक्षण, हेमकूट पर्वत पर मारीच के आश्रम में शकुन्तला के पुत्र का जन्म, देवो द्वारा असुरो के साथ युद्ध के लिये दुष्यन्त का आह्वान, स्वर्ग से लौटते समय मारीच के आश्रम मे दुष्यन्त का पत्नी व पुत्र के साथ पुर्नमिलन इत्यादि अनेकानेक नूतन उद्भावनाओं और परिवर्तनो द्वारा कालिदास ने अपनी प्रकृष्ट नाट्य-प्रतिभा का ज्वलन्त प्रमाण उपस्थित किया है। दूसरे, तीसरे, छठे और सातवे अंकों की वस्तु कालिदास की मौलिक देन है। शेष अंकों में भी उसने अपने विशिष्ट नाटकीय प्रयोजनों की दृष्टि से मूल कथा में अनेक हेरफेर किये है। चरित्र-चित्रण मे भी कालिदास ने नूतन दृष्टि का परिचय दिया है। महाभारत का दुष्यन्त एक कामी और लंपट पुरुष प्रतीत होता है जिसे कालिदास ने एक वीर, उदार, प्रजापालक, धर्मभीरु एव कोमल-हृदय प्रेमी का व्यक्तित्व प्रदान किया है। महाभारत की शकुन्तला स्वार्थ को प्रेम से भी ऊपर स्थान देने वाली नारी है। उसके चरित्र में तेजस्विता, खरापन और चातुर्य तो है, परन्तु उसमें नारीसुलभ गुणों का अभाव खटकता है। कालिदास ने शकुन्तला को नारीत्व की समस्त विभूतियों से विभूषित कर उसे मौलिक व अप्रतिम चरित्र बनाया है। दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय को कवि ने दैहिक वासना और स्वार्थनिष्ठा के छिछले स्तर से उठाकर मानसिक व आत्मिक सम्मिलन की भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है। साथ ही उसने पात्रों की मनोवृत्ति व आचरण को उनके परिवेश, शील और सस्कार के अनुरूप ढालने का भी प्रशंसनीय कार्य किया है। महाभारत की शकुन्तला का व्यवहार आश्रम में पली ऋषि-कन्या के अनुरूप नही है। इसी प्रकार दुष्यन्त का आचरण भी उसके राजत्व की गरिमा से मेल नही खाता। कालिदास ने पात्रों की ऐसी चारित्रिक विसंगतियों को दूर कर उन्हे सर्वथा नया रूप दे दिया है। जहां मूल आख्यान मे चार ही पात्र थे (शकुन्तला, दुष्यन्त, कण्व और सर्वदमन) वहा कालिदास ने प्रियवदा, अनसूया, गौतमी, दुर्वासा, मारीच, शार्ङ्गरव, शारद्वत, विदूषक, मातलि, इन्द्र, हसपदिका, वसुमती, सानुमती, धीवर, सिपाही आदि अनेकानेक नये पात्रों की यथास्थान सृष्टि की है।

महाभारत के अनुसार शकुन्तला महर्षि विश्वामित्र और अप्सरा मेनका की पुत्री थी। कालिदास ने भी शकुन्तला का अप्सरा-पुत्रीत्व स्वीकार किया है। पर जहां महाभारतकार ने उसके अमानुषी-प्रभव का उल्लेख मात्र किया है, वहां कालिदास ने वस्तु-विधान और शकुन्तला की व्यक्तित्व-परिकल्पना में उसका भरपूर उपयोग भी किया है। महाभारत की शकुन्तला अप्सरा-पुत्री होने पर भी मात्र

मानवी रह गई है, पर कालिदास ने नाटक के उत्तर भाग में उसके व्यक्तित्व के दिव्य पक्ष और सम्बन्ध का निर्वाह करते हुए प्रणयकथा को दैवी शक्तियों के साथ जोड़ दिया है ।

महाभारत में वताया गया है कि जव कण्व वन से फल लेकर आश्रम में लौटे तव उन्होंने दिव्य दृष्टि से यह जान लिया कि शकुन्तला ने उनकी अनुपस्थिति में दुष्यन्त के साथ गांधर्व विधि से विवाह किया है तथा वह गर्भवती है ।[1] शाकुन्तल के अनुसार जव महर्षि कण्व तीर्थ यात्रा से लौटकर आये तव अग्निशाला में प्रविष्ट होने पर एक अशरीरिणी वाणी ने उन्हें उक्त सूचना दी । इस प्रकार कालिदास ने दिव्य दृष्टि के स्थान पर अशरीरिणी वाणी के अभिप्राय का प्रयोग किया है । ये दोनों ही भारतीय साहित्य के वहुप्रयुक्त अभिप्राय रहे है । निश्चय ही कालिदास ने अशरीरिणी वाक् का अभिप्राय अपने पूर्ववर्ती साहित्य या लोककथाओ से ग्रहण किया होगा ।

महाभारत के अनुसार महर्षि कण्व ने दुष्यन्त व शकुन्तला के विवाह का समर्थन कर अपनी पुत्री से कहा कि मैं दुष्यन्त पर प्रसन्न हू, तुम मुझसे अभीष्ट वर मांगो । पिता के आग्रह पर शकुन्तला ने दुष्यन्त की धर्मिष्ठता व राज्य से अस्खलन का वरदान मांगा ।[2] कालिदास ने शाकुन्तल में इस वरदान का उल्लेख नहीं किया ।

महाभारतकार ने शकुन्तला के पुत्र भरत के सवध मे कुछ अतिप्राकृत तत्त्वों का उल्लेख किया है—(१) भरत का शकुन्तला के गर्भ में तीन वर्ष रहने के वाद जन्म हुआ[3] (२) वह वाल्यकाल से ही अमानुष शक्ति से सम्पन्न था । कालिदास ने इनमें से प्रथम का तो उल्लेख नही किया, पर वालक भरत की अतिमानवीय शक्ति का सप्तम अक मे वर्णन किया है ।

महाभारत के अनुसार जव दुष्यन्त ने जान-बूझ कर शकुन्तला और भरत के साथ अपने संवंध को अस्वीकार किया और वे दोनों लौटने लगे तव एक दिव्य वाणी ने राजा को वताया कि "शकुन्तला ने तुमसे जो कहा वह सत्य है, तुम अपने पुत्र को स्वीकार करो तथा शकुन्तला का भी निरादर न करो । तुमने ही उसमे यह गर्भ स्थापित किया था ।"[4] किसी देवदूत की इस आकाशवाणी को सुनकर राजा ने अपने पुरोहित और अमात्य आदि को कहा कि मुझे पहले से पता था कि ये मेरे पुत्र और

---

1. विज्ञायाथ च ता कण्वो दिव्यज्ञानो महातपा. ।
   उवाच भगवान्, प्रीत. पश्यन् दिव्येन. चक्षुपा ॥ महा० भा० आ० प०, 73.25.
2. आ० प० 73–74.
3. वही, 74. 1–2.
4. वही, 74.109–114.

पत्नी हैं, तथापि शकुन्तला के कहने भर से मैं उसे स्वीकार कर लेता तो लोग मुझे शंका की दृष्टि से देखते ।[1] उसने शकुन्तला से भी कहा कि मैंने लोकपरोक्ष रूप में तुमसे विवाह किया था, अतः तुम्हारी शुद्धि के लिए मुझे तुम्हारे प्रति निर्मम होना पड़ा ।[2]

कालिदास ने शाकुन्तल में इस प्रसंग को बिल्कुल बदल दिया है । यहां भी राजा के द्वारा शकुन्तला का प्रत्याख्यान किया गया है, परन्तु जान-बूझकर नहीं, दुर्वासा के शाप से उत्पन्न विस्मृति के कारण । महाभारतकार ने दिव्य वाणी के द्वारा शकुन्तला और दुष्यन्त का राजसभा में ही स्थायी पुनर्मिलन करा दिया है, पर कालिदास ने उनके मिलन मे शाप की बाधा उपस्थित कर उन्हें विरह की अश्रुपूर्ण वेदना, अनुताप और ग्लानि का अनुभव कराते हुए वात्सल्य-मंडित गंभीर व प्रशान्त प्रेम की दिव्य भूमि मे पहुंचाया है जहां वे एक दूसरे को अपने वास्तविक रूप में पाने और अपनाने मे समर्थ होते है ।

कालिदास ने महाभारत के मूल आख्यान में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन या परिवर्धन किये है वे पद्मपुराण मे भी उसी रूप मे मिलते है । दुर्वासा का शाप, शचीतीर्थ में अंगूठी का खोना, शापज विस्मृति के कारण दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का प्रत्याख्यान, मेनका द्वारा शकुन्तला को आकाश में उठाकर ले जाना, अंगूठी के धीवर से प्राप्त होने पर राजा की शकुन्तला-विषयक स्मृति का उद्बोध, देवों द्वारा युद्ध में सहायतार्थ दुष्यन्त को निमत्रण, दुष्यन्त की स्वर्ग से लौटते हुए हेमकूट पर्वत पर मारीचाश्रम में अद्भुत पराक्रमशाली बालक से भेंट और तदनन्तर शकुन्तला के साथ समागम—ये सब प्रसंग पद्मपुराण में शाकुन्तल के समान ही है । कथा की समानता के अलावा दोनों मे अनेक स्थलो पर भाषा, अभिव्यक्ति एवं भावों का भी साम्य है ।[3] पद्मपुराण की रचना व सम्पादन का काल कालिदास के बाद का माना गया है ।[4] अतः पुराणकार ही कालिदास के ऋणी हैं, कालिदास पुराणकार के नहीं । वस्तुतः पद्मपुराण के लेखक ने इस आख्यान के निर्माण में महाभारत व शाकुन्तल दोनों से सामग्री ली है ।[5] यह भी उल्लेखनीय है कि पद्मपुराण के सभी सस्करणों में

---

1. आ०प० 74 116–118.
2. कृतो लोकपरोक्षोऽय सम्बन्धो वै त्वया सह ।
   तस्मादेतन्मया देवि त्वच्छुद्ध्यर्थं विधारितम् ॥ वही, 74.122.
3. महाभारत व पद्मपुराण की संबधित कथाओ में लगभग सौ श्लोक शब्दशः समान हैं । पद्म-पुराण मे शकुन्तला व दुष्यन्त की प्रथम भेट व गाधर्व विवाह तक का वृत्तान्त महाभारत के समान है, किन्तु आगे का अंश शाकुन्तल की कथावस्तु का अनुगमन करता है ।
4. दे० श्री पी०वी० काणे : हिस्ट्री ऑव् धर्मशास्त्र, भाग 5, खण्ड 2, पृ० 893 तथा 910.
5. दे० श्री वी०वी० मिराशी व श्री एन०आर० नवलेकर : कालिदास, पृ० 304–306.

शकुन्तलोपाख्यान नही मिलता । 'आनंदाश्रम ग्रन्थमाला' में प्रकाशित पद्मपुराण में यह आख्यान नही मिलता । इससे प्रतीत होता है कि पद्मपुराण में यह आख्यान बहुत बाद में समाविष्ट किया गया होगा । अतः कतिपय विद्वानो का यह मत कि कालिदास ने अपने नाटक की कथा पद्मपुराण से ली,[1] स्वीकार करने योग्य नही है ।

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

शास्त्रीय दृष्टि से अभिज्ञानशाकुन्तल एक नाटक है । इसकी वस्तु व नायक दोनों प्रख्यात है । विक्रमोर्वशीय के समान इसमें भी नायक के दिव्य आश्रय की कल्पना की गई है । वस्तु व पात्रों के विधान मे नाटककार ने पौराणिक कल्पनाओ का भरपूर उपयोग किया है । समस्त नाटक पौराणिक विश्वासों से ओतप्रोत है । हम बता चुके हैं कि कालिदास का युग पौराणिक धर्म व उसकी आस्थाओं का युग था । अतः नाटककार का उनसे प्रभावित होना नितान्त स्वाभाविक था । प्रस्तुत नाटक में प्रयुक्त अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व तत्कालीन पौराणिक विश्वासो पर ही आधारित हैं । विक्रमोर्वशीय के समान इस नाटक का घटनाचक्र भी पृथ्वी से स्वर्ग तक फैला हुआ है । जर्मन महाकवि गेटे का कथन सर्वथा समीचीन है कि शाकुन्तल में पृथ्वी और स्वर्ग दोनों संयुक्त है । इस नाटक की वस्तु और पात्र दोनों के विधान में दिव्य व मर्त्य का यह मणिकांचन योग देखा जा सकता है ।

शकुन्तला का प्रतिकूल दैव : ऋषि की भविष्य-दृष्टि : कालिदास के अनुसार जब दुष्यन्त कण्व के आश्रम मे गया तब वे शकुन्तला के प्रतिकूल दैव के शमन के लिए सोमतीर्थ की यात्रा पर गये हुए थे ।[2] महाभारत की कथा के अनुसार कण्व उस समय फल लाने के लिए वन में गए थे ।[3] आश्रम मे कण्व की अनुपस्थिति के कारण के बारे में मूल कथा में किया गया यह परिवर्तन नाटकीय कथा के विकास व चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अतीव महत्त्वपूर्ण है । कण्व की दीर्घ अनुपस्थिति के कारण ही आश्रम की यज्ञ-क्रियाओ में राक्षसो का विघ्न होता है, जिसके निवारण के लिए राजा को वहा रहने के लिए आमंत्रित किया जाता है । राजा का आश्रम में निवास शकुन्तला के साथ उसके प्रणय-संबंध के विकास व गान्धर्व विवाह मे सहायक होता है । जहा महाभारत मे नायक-नायिका का परिचय, परिणय व सहवास कण्व की

---

1. देखिए डा0 विंटरनित्स कृत 'ए हिस्ट्री ऑव् इंडियन लिट्रेचर' भाग 1, खण्ड 2, पृ0 473. तथा पादटिप्पणी सं0 5.
2. वैखानस —इदानीमेव दुहितर शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूल शमयितु सोमतीर्थ गतः । अभि0 शाकु0 1, पृ0 22.
(निर्णयसागर प्रेस से राघव भट्ट की टीका सहित प्रकाशित, 11 वां संस्करण, बम्बई 1947).
3. आ0प0 71.9.

कुछ ही घण्टों की अनुपस्थिति में सम्पन्न हो गये है, वहां कालिदास ने महर्षि को लंबे समय के लिए तीर्थयात्रा पर भेजकर उक्त घटनाक्रम को क्रमशः स्वाभाविक रीति से विकसित होने का अवसर दिया है। इस परिवर्तन द्वारा कालिदास ने दुष्यन्त व शकुन्तला के चरित्रों को भी आमूलचूल बदल दिया है। जहां महाभारत का दुष्यन्त कण्व के वन से लौटने से पहले ही अपना वासनावेग शान्त कर तथा भोली आश्रम-कन्या को झूठा आश्वासन देकर राजधानी लौट आता है, वहां नाटक का दुष्यन्त प्रणय-पथ पर क्रमशः आगे बढ़ा है, जिससे उसका आचरण लम्पटपुरुष का नहीं, प्रेमी का आचरण दिखायी देता है। इसी प्रकार नाटक की शकुन्तला भी भावी पुत्र के राज्याधिकार[1] के लिए नहीं, अपने हृदय की सहज प्रेरणा से राजा की ओर आकृष्ट होकर कन्यासुलभ शील व संकोच की कितनी ही देहरियों को पार कर विवाह व शारीरिक मिलन की परिणति पर पहुंचती है। इस प्रकार कण्व को तीर्थ यात्रा पर भेजकर नाटककार ने प्रणय-कथा व उसके प्रमुख पात्रों के आचरण को सर्वथा नये रूप में ढ़ाल दिया है।

शकुन्तला का प्रतिकूल दैव क्या है, यह हम नहीं जानते। संभवतः उसके पूर्व जन्मों के कर्मो ने ही उसके प्रतिकूल दैव को जन्म दिया है। त्रिकालज्ञ कण्व ऋषि ने अपनी भविष्य-दृष्टि से शकुन्तला के जीवन के भावी अनर्थ को साक्षात् देख लिया है तथा उसके शमन के लिए वे कष्ट-साध्य तीर्थयात्रा पर निकल गये है। यह विवरण प्रारम्भ में ही कण्व के व्यक्तितत्व को अलौकिक पीठिका पर स्थापित कर देता है।

'प्रतिकूल दैव' के उल्लेख द्वारा कुशल नाटककार ने दुर्वासा के शाप और उसके कारण शकुन्तला के जीवन मे आने वाली भावी विपत्तियों का पूर्वाभास करा दिया है। यहां यह भी स्पष्ट है कि कालिदास 'दैव' या भाग्य की शक्ति को सर्वथा असमाधेय और क्रूर नहीं मानते। उनके विचार में प्रतिकूल दैव का शमन किया जा सकता है। संभवतः कण्व के प्रयासो से ही शकुन्तला का प्रतिकूल दैव अन्ततोगत्वा शान्त होता है। यह दैव-शक्ति आपाततः कठोर और हृदयहीन प्रतीत होने पर भी मूलत मानव-हितैषी और मंगलमय है। वह उसके पथ को कटकाकीर्ण बनाती है, पर उसे सर्वथा पददलित नही करती। यहां नाटककार ने शकुन्तला के प्रतिकूल दैव तथा उसके शमनार्थ महर्षि कण्व की तीर्थयात्रा के उल्लेख द्वारा नाटक के भावी दुःखद घटनाचक्र तथा उसकी सुखद परिणति का पूर्व संकेत दे दिया है।

---

1. महाभारत मे शकुन्तला ने इसी शर्त पर विवाह करना स्वीकार किया है कि दुष्यन्त उसके पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाएगा। दे० आ०प० 73.16–17.

विघ्न की बात दुष्यन्त को आश्रम में पहुंचाने का एक व्याज मात्र प्रतीत न हो। साथ ही इस उल्लेख द्वारा दुष्यन्त की अवसन्न मनःस्थिति को दिशान्तर भी दिया गया है। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कालिदास ने राक्षस-विघ्न की अतिप्राकृत कल्पना का नाटक की प्रणयकथा के विकास के लिए अतीव निपुणतापूर्ण विनियोग किया है।

दुर्वासा-शाप और अभिज्ञानाभरण : दुर्वासा-शाप अभिज्ञान-शाकुन्तल का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। नाटक का समस्त घटनाचक्र इस प्रसंग से प्रभावित है। वस्तुतः यह नाटक की प्रणयकथा को एक नयी दिशा में मोड़ने वाली घटना है। कालिदास ने शाप और अभिज्ञानाभरण की दो भिन्न और स्वतंत्र कथानक-रूढ़ियों को परस्पर संवद्ध कर वस्तु-विधान का अपूर्व कौशल प्रकट किया है। यह बताया जा चुका है कि महाभारत में दुर्वासा-शाप और मुद्रिका का यह प्रसंग प्राप्त नही होता। पद्मपुराण में यह प्रसंग इसी रूप मे आया है, पर संभवतः उसमे यह नाटक से ही लिया गया है। अतः शकुन्तला और दुष्यन्त के प्राचीन आख्यान में शाप और अगूठी का वृत्तान्त गुम्फित कर इसे सर्वथा नूनतम रूप और अभिप्राय प्रदान करने का सम्पूर्ण श्रेय कालिदास की सर्जनात्मक प्रतिभा को ही है।

दुर्वासा द्वारा शकुन्तला को शाप दिये जाने की घटना चतुर्थ अंक के विष्कंभक मे आयी है। शकुन्तला की सखियां अनसूया और प्रियंवदा उटज के पास बगीचे में देवार्चन के लिए फूल तोड़ रही है। उनकी वातचीत से पता चतला है कि शकुन्तला और दुष्यन्त का गाधर्व विवाह हो चुका है तथा ऋषियों का यज्ञ समाप्त होने पर राजा आश्रम से विदा होकर उसी दिन अपनी राजधानी लौटा है। शकुन्तला उटज के पास बैठी हुई उसी के ध्यान मे तल्लीन है। तभी नेपथ्य में किसी अतिथि का स्वर सुनाई देता है—अयमहं भोः। प्रियतम की मधुर स्मृतियो में खोई शकुन्तला इन शब्दों को नही सुन पाती। इस पर क्रुद्ध अतिथि का शाप गूंज उठता है—"अरी अतिथि का परिभव करने वाली। तू अनन्य हृदय से जिसके चिन्तन मे सुध-बुध खोकर अतिथि का अपमान कर रही है, वह याद दिलाने पर भी तुम्हें उसी तरह भूल जायेगा, जैसे कोई पागल व्यक्ति अपनी पहले कही बातों को याद नहीं कर सकता।"[1]

---

1. (नेपथ्ये) आः अतिथिपरिभाविनि !
   विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
   तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
   स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
   कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥ वही, 4.1.

शकुन्तला ने यह कठोरशाप वचन नही सुना पर उसकी सखियां इसे सुनकर स्तब्ध रह गईं। उन्होंने देखा कि क्रोध की साक्षात् मूर्ति दुर्वासा ऋषि शाप देकर जल्दी-जल्दी लौटे जा रहे हैं। प्रियंवदा दौड़कर ऋषि के पास गई और शाप-वचन वापस लेने के लिए उन्हें बहुत मनाया। प्रियंवदा के बहुत अनुनय करने पर उन्होंने शाप मे बस इतनी-सी ढील दी—"मेरे वचन अन्यथा नहीं हो सकते, पर अभिज्ञानाभरण दिखाने पर शाप समाप्त हो जायेगा।" यह कह कर ऋषि अन्तर्धान हो गये।[1] सखियों को याद आया कि दुष्यन्त जाते समय शकुन्तला को अपनी अंगूठी दे गये हैं। उसे दिखाने से वह शापमुक्त हो जायेगी। इस प्रकार मन की चिन्ता को किसी तरह दबाकर वे उटज में आईं। उन्होंने देखा कि शकुन्तला पूर्ववत् प्रियतम की चिन्ता मे लीन है। उस समय उसे दुर्वासा के आने और शाप देने का तो क्या, अपने आप का भी भान न था। दोनों सखियों ने निश्चय किया कि शाप का यह वृत्तान्त केवल उन्हीं तक सीमित रहेगा।[2]

शाप भारतीय साहित्य की एक अतीव लोकप्रिय कथानक-रूढ़ि रहा है। रामायण, महाभारत, पुराणों व लोककथाओं में इस कथानक-रूढ़ि का व्यापक प्रयोग मिलता है। शाप एक प्रकार का व्यक्तिगत दंड-विधान है। शाप देने वाले में सत्य, न्याय, धर्म, तपस्या या योग की विशेष शक्ति मानी जाती है जिसके प्रभाव से वह दोषी व्यक्ति को तत्काल दंड देने मे समर्थ होता है। निश्चय ही कालिदास ने शाप की कथानक-रूढ़ि अपने पूर्ववर्ती साहित्य व लोककथाओं से ली है, पर शाकुन्तल के कथानक में उसके विनियोग की पद्धति व उद्देश्य उनके अपने हैं। कालिदास की अन्य कृतियों में भी इस कथानक-रूढ़ि का प्रयोग हुआ है। मेघदूत का यक्ष 'स्वाधिकारप्रमत्त' होने के कारण वर्षभोग्य विरह-शाप का भागी बनता है।[3] रघुवंश का दिलीप ऋतुस्नाता पत्नी से मिलने की उतावली में कामधेनु के प्रति अवज्ञा दिखाने के कारण अनपत्यता के शाप का पात्र बनता है।[4] अज-पत्नी इन्दुमती जो पूर्वजन्म मे अप्सरा थी, किसी ऋषि का तप भंग करने के अपराध में शापवशात् मर्त्यलोक में जन्म लेती है।[5] राजा दशरथ को श्रवणकुमार के पिता द्वारा पुत्र-शोक

---

1. प्रियवदा—ततो मे वचनमन्यथाभवितु नार्हति। किन्त्वभिज्ञानाभरण-दर्शनेन शापो निवर्तिष्यते इति मन्त्रयन् स्वयमन्तर्हितः। वही, 4, पृ० 120.
2. अनसूया—प्रियंवदे ! द्वयोरेव ननु नौ मुख एष वृत्तान्तस्तिष्ठतु। रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी। वही, 4 पृ० 121.
3. पूर्वमेघ, 1
4. रघुवंश, 1.75–77.
5. वही, 8.80–82.

में मरने का शाप दिया गया है ।[1] हम देखते है कि उक्त सभी प्रसंगों में शाप किसी नैतिक त्रुटि या अपराध के लिए दंड के रूप में दिया गया है तथा उसकी निवृत्ति की कोई अवधि निश्चित कर दी गई है या उसका उपाय बता दिया गया है । हम यह भी देखते है कि उक्त सभी प्रसंगों में शाप आपाततः दुःखद व दारुण होते हुए भी परिणाम की दृष्टि से मंगलमय सिद्ध होता है ।

अभिज्ञान शाकुन्तल के शाप-प्रसंग के विषय में निम्नलिखित बातें ध्यातव्य है—(१) शाप के कारण दुष्यन्त शकुन्तला को तथा उसके साथ अपने प्रेम व विवाह के समस्त वृत्तान्त को पूरी तरह भूल जाता है । (२) दुर्वासा ने शाप के साथ उसकी निवृत्ति का उपाय भी बता दिया है जिससे प्रेमी-प्रेमिका के भावी पुनर्मिलन का गूढ़ संकेत मिलता है । (३) शकुन्तला व दुष्यन्त दोनों ही शाप की बात से अपरिचित है। इसकी सर्वप्रथम अवगति उन्हें सप्तम अंक में मारीच से होती है । (४) केवल शकुन्तला की सखियां–अनसूया व प्रियंवदा–शाप-वृत्तान्त से परिचित है । किन्तु वे शकुन्तला या किसी अन्य व्यक्ति को इसके बारे में कुछ नही बतातीं । यहां तक कि तीर्थयात्रा से लौटे कण्व को भी वे इसकी सूचना नही देतीं। केवल शकुन्तला के प्रस्थान के समय वे एक चलते ढंग से उसे इतना-सा कहती है कि यदि राजा तुम्हें पहचानने में विलंब करे तो उसे उसकी अंगूठी दिखा देना ।[2] उनके इस कथन से शकुन्तला पल भर के लिए कांप जाती है, पर उसे क्या पता था कि दुष्यन्त सचमुच ही उसे नहीं पहचानेगा और ऐसे अवसर पर अंगूठी भी उसके भाग्य के साथ खिलवाड़ करेगी ।

मुद्रिका या अभिज्ञानाभरण की कल्पना के लिए कालिदास संभवतः रामायण के ऋणी है । रामायण के अनुसार राम ने हनुमान को स्वनामांकित अंगूठी देकर लंका भेजा था जिससे सीता उन्हें पति के दूत के रूप में पहचान सके ।[3] सीता भी प्रत्यभिज्ञान के लिए अपना चूड़ामणि हनुमान के द्वारा राम के पास भेजती है ।[4] इससे स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य में प्रत्यभिज्ञान के रूप मे आभूषण की कथानक-रूढ़ि बहुत पहले से चली आ रही थी । कालिदास ने इसी परम्परागत कथानक-रूढ़ि को यहां नूतन रूप में प्रयुक्त किया है । विक्रमोर्वशीय में संगमनीय मणि व माल-

1. रघुवंश 9.79.
2. सख्यौ—सखि ! यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत् ततस्तस्ये-
   दमात्मनामधेयांकितमंगुलीयकं दर्शय । अभि० शाकु० 5, पृ० 146.
3. किष्किंधाकांड, 44,12–13.
4. सुन्दरकाण्ड, 39.1–2.

विकाग्निमित्र मे रानी धारिणी की नागमुद्रांकित अंगूठी में भी प्रत्यभिज्ञान का तत्त्व देखा जा सकता है।[1]

वाल्टर रूबेन के मतानुसार अभिज्ञानशाकुन्तल का आधार वह प्रसिद्ध लोक-कथा है जिसमें अपने घर से बहुत दूर भटका हुआ कोई व्यक्ति किसी सुन्दरी कन्या से प्रेम करता है तथा उसे अपनी अंगूठी देकर शीघ्र घर लौट आता है। अंगूठी देने का उद्देश्य यह है कि वह सुन्दरी उस व्यक्ति को अपनी तथा अपने भावी शिशु की पहचान करा सके।[2]

बौद्धों के कठ्ठहारी जातक की कथा अभिज्ञानशाकुन्तल के कथानक से कुछ बातो मे साम्य रखती है तथा उसमें अभिज्ञान के रूप मे अंगूठी का प्रयोग भी मिलता है। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि कालिदास ने अपने नाटक मे मुद्रिका-सम्बन्धी वृत्त की प्रेरणा उक्त जातक से ली होगी। किन्तु विचार करने पर यह मत समीचीन प्रतीत नही होता। शाकुन्तल मे मुद्रिका-प्रसंग कथावस्तु का अभिन्न अग है, पर जातक मे ऐसा नही है। शाकुन्तल में बताया गया है कि जब दुष्यन्त आश्रम से विदा होने लगा तो शकुन्तला ने पूछा कि अब मुझे आपका समाचार कितने समय बाद मिलेगा। इस पर राजा ने अपनी स्वनामाङ्कित अंगूठी शकुन्तला की अगुली में पहनाते हुए कहा कि मेरे नाम के एक-एक अक्षर को प्रतिदिन पढ़ते हुए जब तुम अंतिम अक्षर पर पहुंच जाओगी तब तक मेरे अन्तःपुर में तुम्हें लिवाने वाला व्यक्ति यहां आ पहुंचेगा।[3] इससे स्पष्ट है कि शाकुन्तल में अंगूठी मूलतः प्रत्यभिज्ञान के लिए नहीं, अपितु प्रणय-चिह्न के रूप में तथा शकुन्तला को अन्त पुर मे लिवाने की अवधि सूचित करने के लिए उसे दी गई है। उसका प्रत्यभि-ज्ञानत्व तो दुर्वासा के शाप का परिणाम है। दुर्वासा ने अपने शाप में छूट देते हुए यह कहा था कि जब शकुन्तला अभिज्ञानाभरण दिखायेगी तो शाप निवृत्त हो जाएगा। शकुन्तला के पास दुष्यन्त का एकमात्र अभिज्ञानाभरण अगूठी ही थी, अतः दुर्वासा के कथनानुसार उसी के दर्शन से शाप की निवृत्ति होकर दुष्यन्त के मन में शकुन्तला की स्मृति जागती है। इस प्रकार मूलतः अभिज्ञान न होते हुए भी दुष्यन्त

---

1. हम बता चुके हैं कि भास ने अविमारक मे अद्भुत अगूठी के अभिप्राय का प्रयोग किया है, पर अदृश्यता के साधन के रूप मे ही, अभिज्ञान के रूप में नही। अतः भास की इस कल्पना का कालिदास पर प्रभाव सिद्ध नही होता।
2. कालिदास. दि ह्यूमन मीनिंग ऑव् हिज वर्क्स, पृ0 50.
3. राजा—पश्चादिमा मुद्रिकां तदगुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहिता—

   एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं नामाक्षरं गणय गच्छति यावदन्तम्।

   तावत्प्रिये! मदवरोधगृहप्रवेशं नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति॥

   अभि0 शाकु0 6.12.

की अंगूठी नाटक में अभिज्ञान बन गई है। किन्तु कठ्ठहारी जातक में राजा ब्रह्मदत्त द्वारा प्रदत्त अंगूठी अभिज्ञान के रूप में दी जाने पर भी वन्य सुन्दरी के प्रत्यभिज्ञान का प्रयोजन पूरा नहीं करती। अतः जातक की कथा को नाटक के मुद्रिकावृत्त का मूलस्रोत मानना उचित प्रतीत नहीं होता। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि मुद्रिका-रूप अभिज्ञान का अभिप्राय भारतीय साहित्य में प्राचीन काल से ही लोकप्रिय था। कालिदास ने नाटक में इसी परम्परागत अभिप्राय को अपने विशिष्ट कलात्मक उद्देश्यों के लिए सर्वथा नए रूप में गुम्फित किया है। मुद्रिका के दर्शन से शाप-निवृत्ति की बात संभवतः कालिदास की मौलिक कल्पना है। मुद्रिका के मत्स्य के पेट में पहुंचने और वहां से पुनः प्राप्त होने की बात कालिदास की अपनी सूझ है या उन्होंने किसी अन्य स्रोत से यह कल्पना ग्रहण की, इस बारे मे निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना कठिन है। यह कहा गया है कि यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस (ई० पू० पंचम शती) ने पोलीक्रीटस नामक किसी राजा के बारे में यह बताया है कि उसने अपने भाग्य की परीक्षा के लिए अपनी एक रत्नजड़ित अंगूठी समुद्र में फेंक दी थी। संयोग की बात कि कुछ दिन बाद उसकी रसोई में लाये गये एक मत्स्य के पेट में से वह अंगूठी प्राप्त हो गई।[1] कुछ विद्वानों का मत है कि कालिदास ने मत्स्य के उदर से अंगूठी के मिलने की बात इसी यूनानी कथा से ली होगी। किन्तु कालिदास को यह कथा विदित थी या नहीं और थी तो किस स्रोत से यह उनके पास पहुंची, इस बारे में हम निश्चय के साथ कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं है। हम तो इतना ही कह सकते हैं कि नाटककार ने चाहे किसी भी स्रोत से यह कल्पना ली हो, उन्होंने नाटक में इसका अतीव कलात्मक विनियोग किया है।

जैसा कि कहा जा चुका है दुर्वासा-शाप अभिज्ञान शाकुन्तल की वस्तु-योजना का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। तृतीय अंक के आगे की सारी कथावस्तु इस प्रसंग से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ी हुई है। पंचम से सप्तम अंक तक का नाटकीय कार्य-व्यापार समग्रतया इसी पर आधारित है। चतुर्थ अंक के विदाई-प्रसंग को शाप की पृष्ठभूमि ने अत्यधिक करुण व हृदयस्पर्शी बना दिया है। प्रथम अंक में शकुन्तला के प्रतिकूल दैव का उल्लेख इसी शाप-प्रसंग का पूर्व संकेत प्रतीत होता है। इस प्रकार दुर्वासा के शाप की घटना लगभग पूरे ही नाटक पर छाई हुई है।

इस शाप-प्रसंग द्वारा कवि ने महाभारत की प्रेमकथा को एक नया स्वरूप और दिशा प्रदान की है। इसके अभाव में नाटकीय कथा महाभारत की कथा के समान एक सीधी और सपाट कथा रह जाती। उसमें जीवन की विषमताओं व भाग्य के आघातों से जूझने वाले मनुष्य का चरित्र अंकित नहीं होता। कालिदास ने इस

---

1. दे0 श्री मिराशी व श्री नवलेकर द्वारा रचित 'कालिदास' पृ0 297.

नाटक में मानवीय प्रणय की जिन सम-विषम व सरल-वक्र सरणियों का चित्रण किया है वह बहुत-कुछ शाप की घटना पर निर्भर है।

शाप की योजना का एक उद्देश्य दुष्यन्त के चरित्र को नैतिक दृष्टि से निर्दोष बनाना है। महाभारत के दुष्यन्त का आचरण नैतिक कसौटी पर खरा नही उतरता। वह जानबूझ कर परिणीता पत्नी का प्रत्याख्यान करता है। इस आचरण की दृष्टि से वह एक लम्पट व अनुत्तरदायी व्यक्ति प्रतीत होता है। कालिदास ने शाप की कल्पना द्वारा दुष्यन्त को इस गम्भीर चरित्र-भ्रंश से बचा लिया है। महाभारत के दुष्यन्त के समान वह भी शकुन्तला का प्रत्याख्यान करता है, पर जान-बूझ कर नही। नाटक मे उसका यह आचरण शाप का परिणाम है, न कि ऐच्छिक कृत्य। नाटक में शापजन्य विस्मृति के कारण शकुन्तला को वह परस्त्री के रूप मे ही देखता है तथा उसी दृष्टि से धर्म व मर्यादा के अनुसार उसके साथ व्यवहार करता है। 'अनार्य परदारव्यवहार:' 'अनिर्वचनीयं परकलत्रम्' आदि कथन उसकी शाप-ग्रस्त मन:स्थिति के परिचायक हैं। इस प्रकार कालिदास ने शाप की योजना द्वारा दुष्यन्त को पत्नी का प्रत्याख्यान करने पर भी उसके नैतिक दायित्व से मुक्त रखा है तथा उसे एक प्रजापालक, मर्यादावादी व धार्मिक राजा का आदर्श व्यक्तित्व प्रदान किया है।

यह भी द्रष्टव्य है कि कालिदास ने शाप को नितान्त यान्त्रिक नही बनाया है। शाप के कारण राजा शकुन्तला को भूल गया है, पर उसके हृदय का प्रेम-स्रोत सूखा नही है; वह केवल कुछ समय के लिए तिरोहित हो गया है। इस तिरोहित दशा मे भी वह बीच-बीच में अपनी झलक दिखाये बिना नहीं रहता। रानी हंसपदिका की उपालंभपूर्ण करुण रागिनी[1] सुनकर दुष्यन्त का हृदय इष्टजन का विरह न होने पर भी किसी अज्ञात प्रेम-वेदना से कराह उठता है।[2] शकुन्तला के अवगुण्ठन-युक्त मुख को देखकर एक क्षण उसका मन संशय-ग्रस्त हो जाता है। वह निश्चय नहीं कर पाता कि शकुन्तला के साथ उसका विवाह हुआ था या नही।[3] इसी प्रकार शकुन्तला की अकृत्रिम क्रोधमुद्रा देखकर उसका हृदय पुन. संशय में पड़ जाता है।[4] पंचम अक के अंत में शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के हृदय की प्रेमवेदना विस्मृति के कठोर आवरण को भी चीरकर उसे अपने अस्तित्व का विश्वास दिलाती है—

---

1. अभि0 शाकु0 5.1.
2. राजा—(आत्मगतम्) किं न खलु गीतार्थमाकर्ण्येष्टजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि। अथवा, रम्याणि वीक्ष्य . . . भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि। वही 5.2, पृ0 152.
3. वही, 5.19.
4. राजा—(आत्मगतम्) संदिग्धबुद्धिं मा कुर्वन्नकैतव इवास्या. कोपो लक्ष्यते। वही, 5 पृ0 175.

कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।
वलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम् ।। अभि० शाकु० ५.३१.

यहां कालिदास ने दुष्यन्त के हृदय के दवे-बिसरे प्रेम की झलक दिखाकर हमे सूचित किया है कि चाहे शाप ने उसकी स्मृति को आच्छादित कर दिया हो, पर शकुन्तला के प्रति उसके प्रेम मे कोई कमी नहीं हुई है । उसके अन्तरतम में विस्मृति के घने आवरणों के नीचे कहीं प्रेम का अथाह समुद्र हिलोरे मार रहा है । शाप-निवृत्ति के पश्चात् इसी प्रेम के आधार पर दोनों प्रेमियों का पुर्नमिलन होता है ।

चतुर्थ अक में हम देखते है कि शकुन्तला समस्त आश्रमवासियों की स्नेहपूर्ण विदाई, मंगलकामनाओं और आशीर्वादो से अभिपिक्त होकर अपने पति के घर जा रही है । उसका मन आशाओं, उमंगों और भविष्य के सपनों से भरा है । किन्तु तभी अनभ्र वज्रपात होता है । जिस शाप का उसे पता भी नहीं है, अदृश्य रूप मे उसका दारुण परिपाक आरम्भ हो चुका है । स्वीकार करना तो दूर, राजा उसे पहचानने से भी मना कर देता है । पिता कण्व के आशीर्वचन, सखियों की मंगलकामनाएं, तपोवन-देवताओ के आशीर्वाद एव आश्रमवासियो के स्वस्तिवचन सब व्यर्थ हो जाते है । कराल दुर्दैवका एक ही अदृश्य प्रहार शकुन्तला के सुख-सपनों को सहसा ध्वस्त कर डालता है । उसकी दूराधिरोहिणी आशाए[1] धूलिसात् हो जाती है । प्रतिकूल दैव शाप के रूप मे प्रकट होकर उसका सब कुछ छीन लेता है; वह कहीं की भी नही रहती । न पति उसे अपनाता है और न पिता कण्व का आश्रम ही उसे वापस आश्रय देने को उद्यत है । निराधार और निराश्रय होकर वह करुण स्वर मे पुकार उठती है– 'भगवति वसुन्धे ! देहि मे विवरम् ।' मानव के इस आकस्मिक भाग्य-विपर्यय की दारुण व्यथा को कालिदास शाप की कल्पना द्वारा ही अंकित करने मे समर्थ हुए है ।

पचम अक में राजा दुष्यन्त और आश्रमवासियों के संघर्ष का दृश्य शाप की कल्पना के कारण ही अतीव नाटकीय व प्रभावशाली वन सका है । नाटककार ने वड़ी कुशलता से दोनो ही पक्षो के प्रति पाठक की सहानुभूति को जाग्रत रखा है । हम दोनो में से किसी भी पक्ष को दोषी नही ठहरा सकते । दोनों के ही तर्क, अपनी-अपनी दृष्टि से, बिलकुल सही है । दुष्यन्त की स्मृति शाप के कारण आच्छादित है, अतः वह शकुन्तला को परायी स्त्री मानते हुए उसके साथ निर्मम व्यवहार करता है । दूसरी ओर राजा के व्यवहार को छलपूर्ण समझकर आश्रम-वासियों ने उसे जो कटुवचन कहे है, वे भी अनुचित नहीं कहे जा सकते । इस प्रकार नाटककार ने दोनों

---

1. शकुन्तला—(अपवार्य) आर्यस्य परिणय एव सदेहः । कुत इदानी मे दुराधिरोहिण्याशा ।
वही, 5 पृ० 170.

पक्षों के बीच बड़े ही कोमल सन्तुलन का निर्वाह किया है। प्रेक्षक जानता है कि शकुन्तला, गौतमी, शार्ङ्गरव व शारद्वत को दुर्वासा के शाप का पता नहीं है। उधर राजा भी शाप के विषय में अनभिज्ञ है। अतः दोनों ही पक्ष स्वयं को सही समझते हुए तथा एक-दूसरे को वंचक मानते हुए तीक्ष्ण व अपमानकारी वचन कहने में संकोच नही करते। यह स्पष्ट है कि इस उत्कृष्ट नाटकीय दृश्य की योजना शाप के अतिप्राकृत प्रभाव की कल्पना पर ही आधारित है।

कालिदास उस प्रेम को मानव के लिए कल्याणकारी नही मानते जो मात्र इन्द्रियाकर्षण और कामवासना से अपना जीवन ग्रहण करता है। साथ ही जो प्रेम व्यक्ति को समष्टि के प्रति कर्त्तव्यों से विमुख बनाकर अपना एक ऐकांतिक संसार बसाने का यत्न करता है उसे भी कालिदास शुभ नहीं मानते। ऐसे प्रेम पर दुर्वासा के शाप के रूप में निष्ठुर प्रहार कर नाटककार ने उसके परिष्कार और उन्नयन का मार्ग प्रशस्त किया है।

प्रथम तीन अंकों में दुष्यन्त व शकुन्तला के आचरण पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि उनका प्रेम स्वस्थ व सुदृढ़ नींव पर आधारित नहीं है। दुष्यन्त महर्षि कण्व के प्रति भक्ति निवेदित करने के लिए आश्रम में प्रविष्ट होता है,[1] पर लता-वृक्षों को सींचती हुई नवयुवती कन्याओं को देखकर उसका भक्तिभाव न जाने कहां विलीन हो जाता है? उसे इन वनलताओं मे उद्यानलताओं से भी अधिक सौन्दर्य दिखायी देता है।[2] वह लता-कुज के पीछे छिपकर उनके शरीर–सौष्ठव को निरखने और अल्हड़ हास-परिहासों को सुनने मे तनिक भी संकोच का अनुभव नही करता। शकुन्तला व उसकी सखियों को अपना झूठा परिचय देते हुए भी उसे किसी नैतिक वाधा का अनुभव नहीं होता। यहां तक कि शकुन्तला को आश्रम के कार्यो मे नियुक्त करने के लिए वह महर्षि कण्व को 'असाधुदर्शी' तक कह देता है।[3] किन्तु उसका सबसे वड़ा नैतिक अपराध कण्व की अनुपस्थिति में शकुन्तला के साथ गुप्त परिणय करना है। उसने न कण्व के लौटने की प्रतीक्षा की और न गौतमी या अन्य किसी आश्रमवासी से अनुमति मांगी। कण्व जैसे महान् तपस्वी की इससे अधिक अवज्ञा और क्या हो सकती थी? शकुन्तला की परवशता[4] को जानते हुए भी उसने

---

1. राजा—भवतु ! तामेव द्रक्ष्यामि। सा खलु विदितभक्ति मा महर्षेः कथयिष्यति।
अभि०शाकु० 1 पृ० 23.
2. वही, 1,15,
3. राजा—(आत्मगतम्) कथमियं सा कण्वदुहिता ? असाधुदर्शी खलु तत्रभवान्काश्यपः य. इमामाश्रमधर्मे नियुंक्ते। वही, 1 पृ० 27.
4. शकुन्तला—पौरव ! रक्षविनयम्। मदनसंतप्तापि न खल्वात्मनः प्रभवामि।
वही, 3 पृ० 108.

उसे पत्नी रूप में अविलम्ब प्राप्त करने का आग्रह नहीं छोड़ा। उसने उसे समझा-बुझाकर गान्धर्व विवाह के लिए सहमत कर ही लिया। इस प्रकार कण्व के पवित्र तपोवन को उसने अपनी कामवासना द्वारा दूषित किया। दूसरी ओर शकुन्तला का आचरण भी आश्रम-जीवन की मर्यादाओं के अनुरूप नहीं कहा जा सकता। दुष्यन्त को देखने के क्षण से ही वह तपोवन-विरोधी विकार से ग्रस्त हो गई।[1] निश्चय ही नवयौवन अवस्था, राजा के प्रभावशाली व्यक्तित्व का जादू तथा उसकी शिराओं में प्रवाहित अप्सरा मेनका व तपोभ्रष्ट विश्वामित्र का रक्त आश्रम में सिखाये गये शील और संयम के पाठों से अधिक प्रबल सिद्ध हुए। शकुन्तला से सबसे बड़ी भूल यह हुई कि पिता कण्व उसे जो दायित्व सौंप गये थे उसका निर्वाह करने में वह असफल सिद्ध हुई। महर्षि उसे अतिथि-सत्कार के लिए नियुक्त करके गये थे।[2] हम देखते हैं कि एक अतिथि का तो उसने इतना सत्कार किया कि उसे अपना सर्वस्व ही दे डाला, पर दूसरे अतिथि के उपस्थित होने का भी उसे पता न चला। वह अपने प्रेम व पति की चिन्ता में इतनी बेसुध हो गई कि उसे आश्रम-जीवन के पावन कर्त्तव्य विस्मृत हो गये। इस प्रकार दुष्यन्त व शकुन्तला दोनों ही तपोवन की पवित्र मर्यादाओं को भंग करने के दोषी हैं। उनका प्रेम शारीरिक उद्रेकों पर आधारित है। वह वस्तुतः काम है, प्रेम नहीं। ऐन्द्रिय लालसा और मांसल सुख ही उसके सर्वस्व हैं; उसमें आवेग और अधीरता है, आत्मिक शान्ति और स्निग्धता नहीं। कालिदास की दृष्टि में ऐसा प्रेम मानव-जीवन के उद्देश्यों को पूर्ण नहीं कर सकता। इसीलिए कवि ने उसे शापित कर दोनों प्रेमियों को अपनी अन्तःप्रकृति के परिष्कार व पवित्र प्रेम की साधना के लिए अवसर दिया है। हम देखते हैं कि शाप द्वारा वियुक्त होकर दुष्यन्त व शकुन्तला एक दूसरे के लिए आंसू बहाते हुए दीर्घकाल तक मौन कष्ट सहते हैं। दुःख व पश्चात्ताप की अविरल अश्रुधारा उनके प्रेम के दूषित अंश को प्रक्षालित कर उन्हें आत्मिक प्रणय की उदात्त पीठिका पर प्रतिष्ठित कर देती है। सप्तम अंक के दुष्यन्त व शकुन्तला प्रथम तीन अंकों के दुष्यन्त व शकुन्तला से भिन्न हैं। दुःख ने उनके स्वभाव व दृष्टिकोण को कितना बदल दिया है? भाग्य के दारुण आघातों ने उनको कितना धीर, गंभीर, परिपक्व और अन्तर्मुखी बना दिया है? अब दैहिक आकर्षणों का उनके लिए कोई महत्त्व नहीं है। उनका प्रेम वासना की पांसुलता से मुक्त होकर आत्मिक पवित्रता की दिव्यभूमि पर पहुंच गया है। मारीच के तपोवन में दुष्यन्त व

---

1. शकुन्तला—(आत्मगतम्) किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता। वही, 1 पृ0 38.
2. वैखानसः—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः। वही, 1 पृ0 22.

शकुन्तला का पुनर्मिलन प्रेम की इसी मंगलमयी परिणति का प्रतीक है। इस प्रेम में सत्य, शिव और सौन्दर्य तीनों समन्वित हैं। ऐसा तपःपूत पवित्र प्रेम ही मानव के कल्याणमय जीवन का सुदृढ़ आधार बन सकता है, यही कालिदास का सन्देश है। रवीन्द्रनाथ के अनुसार "इस नाटक में कालिदास ने उद्दाम वासना की ज्वालाओं को पश्चात्तापशील हृदय के आंसुओं से निर्वापित किया है।" उनके विचार में "यौवन के एक तीव्र व आकस्मिक आवेग ने शकुन्तला को दुष्यन्त के हाथों में सौंप दिया, पर यह उसकी वास्तविक व पूर्ण प्राप्ति नहीं थी। उसे अनुराग व तपस्या के मार्ग से ही प्राप्त किया जा सकता था। कालिदास ने इसीलिए दोनों प्रेमियों से दीर्घ व कठिन तपस्या करायी है जिससे वे एक दूसरे को सच्चे रूप में तथा सदा के लिए पा सकें।"[1]

इस प्रकार दुर्वासा का शाप वाह्यतः निष्ठुर होते हुए भी एक प्रच्छन्न वरदान है। भला ऋषि-हृदय से निकला शाप अशुभ परिणाम वाला कैसे हो सकता है? श्री उमाशंकर जोशी के शब्दों में—"दुर्वासा के शाप से दुष्यन्त व शकुन्तला के लिए आत्मशोधन की एक विकट प्रक्रिया आरंभ होती है और मारीच ऋषि के आश्रम में दोनों का मिलन होता है तब यह प्रक्रिया पूरी होती है। इस प्रकार दोनों को आत्म-शुद्धि के मार्ग पर ले जाने वाला शाप निष्ठुर वेश में छिपा हुआ आशीर्वाद ही है।"[2]

श्री द्विजेन्द्रलाल राय ने प्रस्तुत नाटक में दुर्वासा शाप व मुद्रिका-सम्बन्धी वृत्त की योजना के औचित्य पर सदेह प्रकट किया है तथा उसे कालिदास की नाट्यकला की शक्ति न मानकर अक्षमता का परिचायक कहा है।[3] उनका मत है कि कालिदास ने दुष्यन्त के चरित्र को दोष-मुक्त करने के लिए ही शाप की कल्पना की है। उनके विचार में इस कल्पना में कुछ भी सौन्दर्य नहीं है। शाप द्वारा स्मृति का लोप एक अघटनीय बात है। ऐसी अस्वाभाविक कल्पना के लिए नाटक में स्थान नहीं हो सकता। उनका यह भी कहना है कि दुर्वासा के अतिथि रूप में आने की घटना का नाटक की प्रणय-कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'यदि उपाख्यान भाग के किसी भी अंश के साथ कुछ भी सम्बन्ध रखकर दुर्वासा के आगमन की कल्पना होती तो उससे नाटककार की निपुणता प्रकट होती। दुर्वासा का आना उपाख्यान भाग के बिल्कुल बाहर की बात है।"[4] श्री राय के विचार में शकुन्तला शाप की उचित पात्र न थी। "अगर दुर्वासा शकुन्तला की मानसिक अवस्था को जानते होते तो उसे शाप

---

1. श्री देवधर द्वारा संपादित 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की प्रस्तावना में उद्धृत, पृ0 24.
2. श्री और सौरभ, पृ0 101.
3. दे0 कालिदास और भवभूति, पृ0 148–154.
4. वही, पृ0 150–151.

के वदले आशीर्वाद देकर चले जाना ही उनका कर्त्तव्य था ।[1] .... इस कल्पना द्वारा कालिदास ने दुष्यन्त को अवश्य कुछ वचा लिया है लेकिन दुर्वासा की हत्या कर डाली है ।"[2] इसी प्रकार अभिज्ञान द्वारा शाप की निवृत्ति को श्री राय "लड़कपन की पराकाष्ठा मानते हैं ।"[3] उनके अनुसार इन कल्पनाओं द्वारा कालिदास ने नाटक की समस्त गतिविधि के सूत्र मानों दुर्वासा के हाथों में सौप दिये है ।[4]

ओल्डेनवर्ग ने शाकुन्तल की तीव्र आलोचना करते हुए यह मत प्रकट किया है कि इसमें शाप और अन्ध दैवयोग (Blind Chance) ही समस्त नाटकीय व्यापार का विधाता है तथा मनुष्य उनके हाथ का खिलौना मात्र बन गया है ।[5]

श्री राय व ओल्डेनवर्ग के उक्त आक्षेप स्पष्टतः पूर्वग्रहों पर आधारित है । उन्होने कालिदास के नाटक को आधुनिक मान्यताओं व मानदण्डो की कसौटी पर परखने का यत्न किया है जो उचित नही है । किसी भी कृति को हम उसके ऐतिहासिक व सांस्कृतिक सदर्भ से पृथक् कर उसका सही मूल्यांकन नही कर सकते । सच तो यह है कि प्रत्येक कृति के साथ धर्म, दर्शन, लोकविश्वास व साहित्य की एक विशेष पृष्ठभूमि होती है जिसे जाने विना उसके सौन्दर्य का रसास्वादन नही किया जा सकता । पश्चिमी विद्वानों को इसीलिए भारत के प्राचीन साहित्य की अन्तश्चेतना को समझने मे कठिनाई का अनुभव होता है । वे उस पर या तो पश्चिमी साहित्य के प्रतिमानो को लागू करते है या भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के प्रति निष्ठा न होने से उसमे दोष ही दोष देखने लगते है । यही हाल उन भारतीय विद्वानों का है जो पश्चिमी साहित्य के सस्कारो या पाश्चात्य सस्कृतज्ञो के चश्मे से इस साहित्य का अध्ययन करते है । इस पृष्ठभूमि में शाकुन्तल के विषय मे प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् विटरनित्स का यह वक्तव्य पठनीय है—

"पश्चिम के लोग जैसा समझते है उस अर्थ मे कालिदास के काव्य मे नाटक का सर्वथा अभाव है । जो व्यक्ति यूनानी त्रासदी के मानदड से विचारपूर्वक रचित इस कल्पनात्मक नाटक की गंभीरता को थाहने की इच्छा करेगा वह इसके अतुलनीय सौन्दर्य को तनिक भी हृदयगम करने मे समर्थ नही हो सकता । इस विस्मयजनक काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य को पूरी तरह जानने और उसका आस्वादन करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि इसका अध्येता स्वय को क्षणभर के लिए भारतीय

---

1. दे० कालिदास और भवभूति, पृ० 151.
2. वही, पृ० 153.
3. वही
4. वही, पृ० 154.
5. दे० एम० विटरनित्सकृत 'हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लिट्रेचर' भाग 3, खंड 1, पृ० 241.

अन्तरात्मा मे निमज्जित करदे, उन सब बातों में विश्वास करे जिनमें भारतीय करते हैं, नथा शाप की प्रभविष्णुता, देवों व मनुष्यों के आध्यात्मिक संसर्ग व तपोवन में खोने और पुन: पाने के चमत्कारों मे निष्ठावान् हो ।"[1]

ओल्डेनवर्ग की आलोचना का खंडन करते हुए विटरनित्स ने कहा है कि भारतीय धारणा के अनुसार सम्मान्य महर्षि के प्रति अपराध एक गंभीर पाप है तथा उसका दिया शाप निश्चित और अमोघ माना जाता है । इसी प्रकार अंगूठी के खोने व पुन: प्राप्त होने की बात भी 'अन्ध दैवयोग' नहीं है, अपितु जैसा कि भारतीय लोग समझते है, दैवी योजना व मानवीय आचरण (पूर्व जन्म का) द्वारा निर्धारित 'नियति' है ।[2]

माना कि दुर्वासा का अतिथिरूप में आगमन नाटक की मुख्य कथा का अविभाज्य अंग नही है–वह एक संयोग मात्र है—तथापि सयोग या दैवयोग को हम मानव-जीवन से सर्वथा वहिष्कृत नही कर सकते । हमारा अनुभव प्रमाण है कि आकस्मिक व असंवद्ध घटनाएं भी कभी-कभी जीवन की दिशा और गति को पूरी तरह वदल देती है । इसी प्रकार शाप द्वारा स्मृति का लोप तथा अगूठी के दर्शन से उसका पुन: उद्‌वोध जैसी कल्पनाएं चाहे आधुनिक दृष्टि से अविश्वसनीय व असगत लगे, पर कालिदास के युग में लोग निश्चय ही उनमे विश्वास करते होंगे । कम से कम पौराणिक कथाओं में ऐसी घटनाओं की योजना को वे स्वाभाविक मानते होंगे । हम वता चुके हैं कि कालिदास का युग पौराणिक धर्म की आस्थाओं से अनुप्राणित था, इन्ही आस्थाओं के आधार पर उन्होंने शाप तथा दुष्यन्त की स्वर्गयात्रा जैसी अतिप्राकृत कल्पनाओं को नाटक में ग्रहण किया होगा । ये कल्पनाएं आज हमें असत्य प्रतीत होती है, पर कालिदास के समय में वे एक जीवित धर्म व लोकवार्ताओं की अंग थीं । सूक्ष्म दृष्टि से विचार करे तो ये कल्पनाएं आज भी निरर्थक नहीं कही जा सकती । इन कल्पनाओं के आवरण के भीतर नाटककार ने मानव-जीवन के मार्मिक भाव-सत्यों को विन्यस्त किया है । इस विषय में हेनरी डब्ल्यू वेल्स का यह कथन द्रष्टव्य है—"विस्मृति का शाप जो शकुन्तला की क्षणिक आत्मलीनता का परिणाम है तथा जो दुष्यन्त को भी दारुण दु:ख का अनुभव कराता है, एक शुद्ध लोकवार्ता है । वह तार्किक चिन्तन तथा अनुभव की विषयनिष्ठ दृष्टि का विरोधी है । यह नाटक एक स्वप्न है—पर एक अपरिमेय मूल्य का स्वप्न जो भावात्मक जीवन की गम्भीर मीमांसा द्वारा मन को पवित्र करने के लिए निर्मित किया गया है ।"[3]

---

1. वही, भाग 3, खंड 1, पृ0241.
2. वही, पृ0 241.
3. दे0 श्री वेल्स द्वारा संपादित 'सिक्स संस्कृत प्लेज' पृ0 197–198.

यह सत्य है कि शाकुन्तल में नाटकीय व्यापार की प्रगति व विकास में प्रेम-कथा से वाहर की शक्तियों का वहुत वड़ा हाथ है। इन शक्तियों में प्रतिकूल दैव, प्राक्तन कर्म, शाप, ऋषियों व दैवों का अनुग्रह आदि को गिन सकते हैं। ये शक्तियां ही मानव की पथ-प्रदर्शक व सूत्रधार दिखायी देती हैं, इनके समक्ष वह नितान्त शक्तिहीन व असहाय प्रतीत होता है। 'चरित्र ही नियति है' यह विचारधारा आधुनिक युग की देन है, प्राचीन काल में तो यही माना जाता था कि मनुष्य का जीवन कर्म, भाग्य या दैवी शक्तियों द्वारा अधिशासित है। कालिदास के काव्यों मे भी प्राचीन काल की यह विचारधारा प्रकट हुई है; पर यह उल्लेखनीय है कि भारतीय परम्परा में दैवी शक्ति स्वेच्छाचारी, अनैतिक व अविवेकी नहीं मानी गई। वह सदैव धर्म और नीति का ही पक्ष लेती है। स्थूल दृष्टि से देखने पर वह निर्दय और कठोर प्रतीत हो सकती है, पर परिणाम की दृष्टि से वह सदैव मंगलमय ही होती है। दुर्वासा के शाप के विषय में भी यह वात कही जा सकती है।

यहां यह भी उल्लेख्य है कि कालिदास ने शाप को सदैव वाह्य शक्तियों द्वारा निर्धारित 'नियति' के रूप में नही लिया है, अपितु अपने पात्रों के चरित्र व आचरण में भी उसका आधार वतलाया है। शकुन्तला अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा व अतिशय आसक्ति के कारण शाप की भागी वनी। दुष्यन्त ने भी अपने अनुचित आचरण के द्वारा आश्रम की मर्यादा का अतिक्रमण किया, इसीलिए शकुन्तला के शाप का प्रभाव उस पर भी पड़ा। अत: शाप के लिए एकान्तत: दुर्वासा को या शकुन्तला के प्रतिकूल दैव को दोष नही दिया जा सकता, ये स्वयं भी उसके लिए उतने ही उत्तरदायी है। इस दृष्टि से देखने पर शाप नाटक की प्रणय-कथा में वाहर से किया गया हस्तक्षेप नहीं लगता अपितु प्रेमियों की आचरणगत त्रुटियों का ही एक दु खद परिणाम कहा जा सकता है।

दुष्यन्त शाप के कारण शकुन्तला को सर्वथा भूल गया; इस विस्मृति का आधार, कालिदास के अनुसार, दुष्यन्त के स्वभाव में भी विद्यमान था। पंचम अंक के आरंभ में हंसपदिका ने राजा को उसकी भ्रमरवृत्ति के लिए मार्मिक उपालंभ दिया है। इस प्रकार शाप को आचरण व स्वभाव से संवद्ध कर कालिदास ने उसे अधिक विश्वसनीय और सत्यनिष्ठ वना दिया है। इस दृष्टि से शाप से उत्पन्न विस्मृति कोई रहस्यमय तत्त्व नही रह जाती; वह मानव के स्वभावगत दोप की ही एक अतिरंजित पौराणिक कल्पना वन जाती है।

अशरीरिणी वाणी · महर्षि कण्व जिस दिन तीर्थयात्रा से लौट कर आये उसी दिन अग्निशरण में प्रविष्ट होने पर एक शरीररहित छन्दोमयी वाणी[1] ने उन्हें यह सूचना दी—

---

1. अनसूया—अथ केन सूचितस्तातकाश्यपस्य वृत्तान्तः।
प्रियंवदा—अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं विना छन्दोमय्या वाण्या। अभि० शाकु० 4 पृ० 126.

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः ।
अवेहि तनयां ब्रह्मन् अग्निगर्भा शमीमिव ।। अभि०शाकु० ४.३

'शरीर विना' द्वारा नाटककार ने उक्त वाणी की दिव्यता का निर्देश किया है । महर्षि को जो वाणी सुनाई दी वह किसी शरीरधारी के मुख से निस्सृत नहीं हुई थी, वरन् किसी अदृश्य दैवी शक्ति द्वारा उच्चारित थी । इसी दृष्टि से वह अशरीरिणी कही गयी है । किन्तु कवि ने हमें यह नही बताया कि वह दैवी शक्ति कौन थी तथा उसने किस उद्देश्य से महर्षि को सबोधित किया ? संभवतः अग्निशरण में महर्षि द्वारा आराधित अग्नि देव ने ही उन्हें यह सूचना दी होगी । इससे यह संकेत भी मिलता है कि महर्षि कण्व की तपःशक्ति इतनी बढ़-चढ़ी हुई थी कि भूत, भविष्य व वर्तमान की कोई भी बात उनसे छिपी नहीं रह सकती थी । प्रथम अंक मे यह बताया गया है कि महर्षि ने शकुन्तला के प्रतिकूल दैव को पहले ही जान लिया था तथा उसके शमन के लिए वे सोमतीर्थ की यात्रा पर गये थे । उनकी अनुपस्थिति मे शकुन्तला के जीवन में जो परिवर्तन हुए उनकी जानकारी ऋषि को होनी ही चाहिए । किन्तु उन्हें यह जानकारी कौन दे ? स्वयं शकुन्तला और उसकी सखियों के अतिरिक्त आश्रम मे किसी को भी उसके गान्धर्व-विवाह का पता नही है ? किन्तु इन तीनों मे से कोई उन्हें सूचना दे, इसकी तो आशा ही नही की जा सकती ? ऐसी स्थिति में दो ही विकल्प रह जाते है । या तो ऋषि अपने दिव्य ज्ञान से विगत वृत्तान्त को जाने या किसी देवता आदि के द्वारा उन्हें सूचना दी जाए । जैसा कि कहा जा चुका है, महाभारतकार ने इस प्रसंग में 'दिव्यज्ञान' का सहारा लिया है और कालिदास ने 'अशरीरिणी वाणी' का । सभवतः अशरीरिणी वाणी की यह कल्पना कवि ने महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान से ही ली है ।[1] तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि महाभारतकार की तुलना में कालिदास ने इसके प्रयोग मे अधिक निपुणता का परिचय दिया है । अग्निहोत्रशाला जैसे पवित्र स्थान मे कण्व जैसे तपःपूत ऋषि को अशरीरिणी वाणी का सुनाई देना तनिक भी अस्वाभाविक नही लगता । यह घटना महर्षि कण्व की आध्यात्मिक सिद्धियों का भी संकेत देती है ।

कथावस्तु के विकास की दृष्टि से अशरीरिणी वाणी द्वारा कण्व को दी गयी सूचना अतीव महत्त्वपूर्ण है । चतुर्थ अंक मे शकुन्तला का पतिगृह के लिए प्रस्थान इसी सूचना का सीधा परिणाम है । अशरीरिणी वाणी ने शकुन्तला की गर्भावस्था की जिन शब्दों मे सूचना दी है उनसे दुष्यन्त व शकुन्तला के विवाह का अनुमोदन भी

---

1. एतावदुक्त्वा राजानं प्रातिष्ठत शकुन्तला ।
अथान्तरिक्षाद् दुष्यन्तं वागुवाचाशरीरिणी ॥ आ०प० 74.109.

व्यक्त होता है । इस विवाह के फलभूत गर्भ में भावी लोककल्याण की असीम संभावनाएं छिपी हुई हैं, संभवतः इसीलिए महर्षि कण्व भी इस विवाह को अपनी स्वीकृति प्रदान करते है । शकुन्तला ने पिता की अनुमति के विना विवाह करके भूल अवश्य की थी, पर उदार-हृदय महर्षि इसके लिए उसे क्षमा कर देते हैं । वे शकुन्तला को गले लगाकर कहते है—"यद्यपि यजमान की दृष्टि धुंआ से भर गयी थी, फिर भी सौभाग्य से उसकी आहुति अग्नि में ही गिरी । अब तुम सुशिष्य को दी गई विद्या के समान मेरे लिए अशोचनीय हो गयी हो । मैं तुम्हें आज ही ऋषियो के संरक्षण में तुम्हारे पति के घर भेज देता हूं ।"[1]

हम देखते है कि कण्व की उक्त प्रतिक्रिया से परिस्थिति की अनिश्चितता तत्काल दूर हो जाती है तथा नाटक का अवरुद्ध-सा कथाप्रवाह एक नवीन स्फूर्ति के साथ आगे बढ़ चलता है । नाटक का घटनाचक्र जैसे महर्षि कण्व के तीर्थयात्रा से लौटने तथा उनकी प्रतिक्रिया जानने को ही रुका हुआ था । कण्व की अनुपस्थिति मे एक सशय व अनिश्चितता की स्थिति सारे वातावरण पर छायी हुई थी । प्रियवदा को चिन्ता थी कि जब तात काश्यप तीर्थयात्रा से लौट आयेगे तब न जाने क्या होगा ?[2] ऋषि इस सारी घटना पर क्रुद्ध होकर शाप भी तो दे सकते हैं ? पर अनसूया को विश्वास है कि उन्हें दुष्यन्त व शकुन्तला का विवाह अनुमत होगा । किसी गुणवान् व्यक्ति को कन्या दी जाए, यही तो उनका संकल्प था । इस कार्य को यदि स्वयं दैव ने सम्पन्न कर दिया तो गुरुजन विना प्रयास के कृतार्थ हो गये ।[3] और हुआ भी यही । कण्व ने अपने दयालु आर्ष स्वभाव के अनुरूप ही दुष्यन्त व शकुन्तला को क्षमा कर उनके विवाह का सहर्ष अनुमोदन किया ।

यह उल्लेखनीय है कि 'अशरीरिणी वाणी' की घटना नाटक में केवल सूच्य रूप मे निबद्ध की गयी है । इससे विदित होता है कि नाटककार ने नाटकीय कथा को आगे बढ़ाने के लिए एक सर्वमान्य कथानक रूढ़ि के रूप में ही इसका प्रयोग किया है । यह घटना नाटक के प्रधान वृत्त का अंग नहीं है, अपितु उसके विकास का एक उपाय मात्र है । संभवतः इसीलिए नाटककार ने इसे दृश्य रूप में उपस्थित नही किया ।

---

1. दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता । वत्से । सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीया संवृत्ता अद्यैव ऋषिरक्षिता त्वाभर्तुः सकाश विसर्जयामि इति ।
अभि0 शाकु0 4, पृ0 125.
2. तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति । वही, 4 पृ0 116.
3. यथाहं पश्यामि, तथा तस्यानुमतं भवेत् । . . . गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत्प्रथमः संकल्पः । तं यदि दैवमेव संपादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः । वही

वनदेवताओं का अनुग्रह और आशीर्वाद : शकुन्तला के प्रस्थान-कौतुक की तैयारियां हो रही है। अनसूया और प्रियंवदा दोनों उसे तपोवनसुलभ मांगलिक प्रसाधनों से सजा रही है। शकुन्तला की आंखों में यह सोचकर आंसू उमड़ आते हैं कि यह सखीमंडन अब भविष्य मे उसके लिए दुर्लभ हो जायेगा। प्रियंवदा को इस बात का खेद है कि शकुन्तला का आभरणोचित रूप आश्रम-सुलभ प्रसाधनों से विकृत हो रहा है। तभी अकस्मात् दो ऋषिकुमार—नारद और गौतम शकुन्तला के लिए उत्तम वस्त्र और आभूषण लेकर उपस्थित होते है। वे बताते है कि उन्हें तात काश्यप के प्रभाव से ये वस्तुएं मिली हैं।[1] महर्षि ने उन्हें आज्ञा दी थी कि वे शकुन्तला के लिए आश्रम की वनस्पतियों से पुष्प ले आये। जब वे इस कार्य से उनके पास गये तो किसी वृक्ष ने इन्दु-धवल मांगलिक क्षौम प्रकट किया, किसी ने पाद-रंजन के लिए लाक्षारस चुआया तो अन्य वृक्षों में से अदृश्य वन-देवताओ ने अपने मणिबन्ध-पर्यन्त करतल उठा कर नवपल्लव-सदृश आभरण प्रदान किये।[2] प्रियंवदा के अनुसार वनदेवताओ का यह अनुग्रह इस बात का सूचक है कि शकुन्तला अपने भर्तृगृह मे राजलक्ष्मी का सुख भोगेगी।[3]

इस अतिप्राकृत घटना द्वारा कालिदास ने महर्षि कण्व के तपोवन में मानव और प्रकृति के पूर्ण हृदय-सवाद का मार्मिक सकेत दिया है। कण्व का आश्रम-परिवार केवल मनुष्यों का परिवार नही है, वह वस्तुतः एक विश्व-परिवार है जिसके सदस्य मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति सभी है। वे सब स्नेह के परम आत्मीय सूत्रों मे बंधे हैं। महर्षि कण्व व गौतमी के शब्दों में तपोवन के वृक्ष 'वनवास-बन्धु'[4] और उनमें रहने वाले वनदेवता 'ज्ञातिजनों के समान स्नेहशील'[5] है। यही कारण है कि वे उन वृक्षों और वनदेवताओं से शकुन्तला को पतिगृहगमन के लिए अनुज्ञा देने के लिए कहते है।[6] और यह अनुज्ञा तत्काल मिल भी जाती है। तपोवन के तरु कोकिल के शब्द द्वारा शकुन्तला को गमन की अनुमति प्रदान करते है[7] और वन-देवताओ का मांगलिक आशीर्वाद आकाश मे गूंज उठता है—

---

1. गौतमी—वत्स नारद। कुत एतत् ?
   प्रथम—तातकाश्यपप्रभावात्। वही, 4 पृ0 130.
2. वही, 4.4
3. प्रियवदा—(शकुन्तलां विलोक्य) हला। अनयाभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तृगृहेऽनुभवितव्या राज्यलक्ष्मीरिति। वही, 4 पृ0 131.
4. वही. 4.9.
5. वही, 4 पृ0 136.
6. वही, 4.8.
7. वही, 4.9.

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि-
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः ।
भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्या.
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ।। अभि० शाकु० ४. १०

इस प्रकार कण्व के तपोवन में मानव और प्रकृति एक ही विराट् जीवन-धारा के अविभाज्य अग वन गये है । उनके पृथक् अस्तित्व की कल्पना ही नही की जा सकती । प्रकृति और मानव के आत्मैक्य का विश्वसाहित्य में शायद ही किसी अन्य कवि ने इतना मार्मिक साक्षात्कार किया हो ।

कालिदास ने शकुन्तला को प्रकृति-कन्या के रूप में चित्रित किया है । उसका व्यक्तित्व व जीवन तपोवन की विराट् प्रकृति का ही अंग है । वृक्षों और लताओं के प्रति उसके हृदय में सोदर-स्नेह है ।[1] केसरवृक्ष चंचल पल्लवांगुलियों से उसे अपनी ओर आने का संकेत करता है ।[2] वनज्योत्स्ना उसकी स्निग्ध भगिनी है । आश्रम से चलते समय वह उसे गले लगा कर उससे विदा लेती है ।[3] उसका पुत्रकृतक मृग उसका वस्त्रांचल पकड़ कर अपना मूक स्नेह प्रकट करता है ।[4] गर्भमन्थरा उटजपर्यन्तचारिणी मृगी के सुख-प्रसव के लिए शकुन्तला की चिन्ता कितनी मर्मस्पर्शी है ।[5] वह वृक्षों को जल पिलाये विना स्वयं नही पीती, मंडन-रसिक होने पर भी स्नेहवशात् उनके पल्लव नही तोड़ती; उनके प्रथम पुष्पोद्भवकाल में वह हर्ष से नाच उठती है ।[6] शकुन्तला के इस स्नेह का प्रकृति ने भी पूरा प्रतिदान किया है । उसकी विदाई की वेला में मृगियां अर्धचर्वित दर्भ-कवल उगल देती है; मयूर अपना नृत्य भूल जाते है और लताएं पांडुपत्र गिराकर मानो अश्रुमोचन करती है ।[7] आश्रम के प्राकृतिक जीवन के साथ यह हृदय-संवाद केवल शकुन्तला की ही विशेपता नही है, अपितु वहां का प्रत्येक प्राणी मानव व प्रकृति की इस विराट् अद्वैत जीवनलीला में समान रूप से सम्मिलित है । कण्व की दृष्टि में शकुन्तला व नवमालिका दोनों में कोई अन्तर नहीं है । उन्होंने पहले दोनों के ही योग्यवरण के लिए सकल्प किया था । प्रथम ने आत्मसदृश दुष्यन्त का स्वयं वरण कर लिया तो दूसरी (नवमालिका) ने भी

---

1. वही 2, पृ0 27.
2. वही, 1 पृ0 30.
3. वही, 4 पृ0 137-138.
4. वही, 4.13.
5. वही, 4 पृ0 139.
6. वही, 4.5
7. वही, 4.11

आम्रवृक्ष का संश्रय ग्रहण किया है। अब कण्व दोनों के ही विषय में समान रूप से वीतचिन्त है।[1]

कालिदास ने वनदेवताओं द्वारा शकुन्तला को वस्त्र, आभूषण आदि का उपहार दिलाकर उसके प्रकृतिकन्यात्व को पूर्ण परिणति पर पहुंचा दिया है। इस कल्पना में कालिदास के प्रकृति-दर्शन की बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। श्री उमाशंकर जोशी के शब्दों में—"पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणी-सृष्टि, यहां तक कि वनस्पति भी, मनुष्य के जीवन मे कैसे गुंथ गयी है, प्रकृति के विरुद्ध जाने वाला मानव नहीं, किन्तु प्रकृति के साथ एकराग होकर जीने वाला मानव परस्पर स्नेह से छलकता कैसा धन्य जीवन जीता है, इसका कवि ने इस चौथे अंक मे प्रत्यक्ष दर्शन कराया है।"[2]

पतिगृह के लिए प्रस्थित शकुन्तला पर पिता कण्व, मातृ-सदृश गौतमी, स्नेहमयी सखियां प्रियंवदा और अनसूया एव जड़ व मूक समझे जाने वाले वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी आदि आश्रम के सभी चराचर निवासी अपने हृदय का स्नेह उंडेल देते है। वनदेवताओं के उपहार इसी विराट् स्नेहवर्षण और करुणा-प्रवाह के अंग है। शकुन्तला को यहां जितना स्नेह मिला है उतना ही दारुण आघात उसे आगे लगने वाला है। दुर्वासा का शाप इस स्नेहसिक्त प्रेममयी नारी के मनोरथों पर वज्राघात करने के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा कर रहा है। जिस अनुपात में उस पर स्नेह और आशीर्वादों की वृष्टि की जा रही है उसी अनुपात में आगे स्थिति-विपर्यय व स्वप्न-भग की दारुण यातना उसे भोगनी है। पंचम अंक में शकुन्तला के प्रत्याख्यान को अधिकाधिक कारुणिक बनाने के लिए चतुर्थ अंक मे उसे चतुरस्र स्नेह और आशीर्वचनों का भाजन बनाया गया है।

प्रियंवदा ने ठीक ही कहा है कि वनदेवताओ की अभ्युपपत्ति शकुन्तला को पतिगृह में प्राप्त होने वाली राजलक्ष्मी की सूचक है।[3] यद्यपि संप्रति शकुन्तला के भाग्याकाश पर शाप की भयावह काली घटा मंडरा रही है, पर उसके स्निग्ध परिजनों की शुभकामनाएं व आशीषें व्यर्थ होने वाली नहीं है। उनकी शक्ति से शकुन्तला के सुख-सौभाग्य का प्रतिबन्धक दुर्दैव एक दिन अवश्य निराकृत हो सकेगा। देवता स्वयं जिस पर अनुग्रहशील है, उसका कल्याण कब तक बाधित रह सकता है? वनदेवताओं

---

1. वही, 4.12
2. श्री और सौरभ, पृ० 115.
3. प्रियवदा (शकुन्तला विलोक्य)—

हला, अनयाभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तुर्गृहेऽनुभवितव्या राजलक्ष्मीरिति।

अभि० शाकु० 4, पृ० 131.

की अभ्युपपत्ति हमें विश्वास दिलाती है कि दुर्वासा के शाप के कारण शकुन्तला को चाहे कितना भी कष्ट भोगना पड़े, अन्ततोगत्वा उसे अपने पति के घर में सुख व समृद्धि की प्राप्ति अवश्य होगी ।

स्त्री-संस्थान ज्योति : पंचम अंक में शकुन्तला के प्रत्याख्यान के बाद एक आश्चर्यजनक घटना हुई । राजपुरोहित सोमरात शकुन्तला को आश्रय देने के लिए अपने घर ले जा रहा था और वह अपने भाग्य को कोसती हुई बाहु उठाकर करुण क्रन्दन कर रही थी । तभी मार्ग में अप्सरस्तीर्थ के पास स्त्री के आकार की एक ज्योति उसे उठाकर ले गई ।[1] यह घटना नाटक की दृश्य-कथा में नहीं आई, अपितु पुरोहित द्वारा दुष्यन्त को इसकी सूचना मात्र दी गयी है । इस अद्भुत घटना को सुनकर राजा इतना ही कहता है–"हम इस विषय का पहले ही निराकरण कर चुके है, अब (इस विषय में) वृथा तर्क करने से क्या मिलेगा ?" इस प्रकार वह बाहर से तो उदासीनता दिखाता है, पर उसका हृदय भीतर ही भीतर कुलबुलाता हुआ मानों उसे शकुन्तला के साथ सम्बन्ध का विश्वास दिलाता है ।[2] शकुन्तला को सहसा उठाकर ले जाने वाली यह ज्योति कौन थी, वह उसे किस प्रयोजन से और कहां ले गई, इस बारे में नाटककार ने प्रस्तुत प्रसग में हमें कुछ नहीं बताया । छठे अंक में सानुमती[3] व दुष्यन्त[4] के कथनों से प्रेक्षकों को यह आभास मिलता है कि शकुन्तला को ले जाने वाली स्त्रीसंस्थान ज्योति संभवत: उसकी मां मेनका या उसकी सहचारिणी कोई अन्य अप्सरा रही होगी । किन्तु इस रहस्य का पूर्ण उद्घाटन नाटककार ने अंतिम अंक में दुष्यन्त व शकुन्तला के पुनर्मिलन के पश्चात् महर्षि मारीच के मुख से कराया है ।[5] अतः इस विषय मे प्रेक्षक के मन मे नाटक के अन्त तक औत्सुक्य व कौतूहल का भाव बना रहता है ।

---

1. पुरोहित —स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमाराद्
   उत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम ॥ वही 5.30.
2. वही, 5.31.
3. सानुमती—साम्प्रतमस्य राजर्षेरुदन्तं प्रत्यक्षीकरिष्यामि ।
   मेनकासंबन्धेन शरीरभूता मे शकुन्तला । तया च
   दुहितृनिमित्तमादिष्टपूर्वास्मि . . . वही, 6 पृ० 189.
4. राजा—क. पतिदेवतामन्यः परामष्टुमुत्सहेत ? मेनका किल सख्यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति
   श्रुतवानस्मि । तत्सहचारिणीभि : सखी ते हृतेति मे हृदयमाशंकते ।
   वही, 6 पृ० 202.
5. मारीच.—यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात्प्रत्यक्षवैक्लव्या शकुन्तलामादाय मेनका
   दाक्षायणीमुपगता . . . वही, 7 पृ० 260.

उक्त अद्भुत प्रसंग में 'स्त्रीसंस्थानं ज्योतिः' द्वारा नाटककार ने अप्सरा के ज्योतिर्मय व्यक्तित्व की ओर संकेत किया है। मेनका का शरीर इतना अधिक ज्योति-संवलित था कि पुरोहित को उसका सामान्य स्त्री-आकार ही दिखाई दिया, विशिष्ट मुखाकृति नहीं। इससे स्पष्ट है कि नाटककार के मेनका के वास्तविक परिचय को छिपाने के लिए ही उसे 'स्त्रीसंस्थान ज्योति' के रूप में उपस्थित किया है। इस युक्ति से कौतूहल व आश्चर्य की भावना को पराकाष्ठा पर पहुंचाया गया है। यदि मेनका पहचान ली गयी होती तो इस भावना को ऐसा उत्थान नहीं मिलता।

महाभारत में मेनका का शकुन्तला की जननी के रूप में उल्लेख मिलता है, पर वहां दुष्यन्त व शकुन्तला की प्रेमकथा में उसे कोई भूमिका नहीं दी गयी है। कालिदास ने पुत्री को जनमते ही त्याग देने वाली इस निष्ठुर अप्सरा में अपनी मानववादी दृष्टि के अनुसार मातृ-हृदय की प्रतिष्ठापना का सुन्दर प्रयास किया है। यद्यपि मेनका नाटक की दृश्य कथा में अवतीर्ण नहीं होती, पर उसे जो अप्रत्यक्ष भूमिका दी गयी है, वह वस्तु-विकास की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व रखती है। सभी ओर से तिरस्कृत व लांछित शकुन्तला को वह अपने स्नेहमय संरक्षण में लेकर हेमकूट पर स्थित महर्षि मारीच के आश्रम में पहुंचा देती है जहां कठोर विरह-साधना के रूप में उसके जीवन का एक नया अध्याय आरंभ होता है। इस प्रसंग के साथ नाटक की लौकिक प्रणयकथा अतिमानवीय शक्तियों के साथ सम्बद्ध हो जाती है। शकुन्तला मारीच के जिस आश्रम में पहुंचाई गई है वह दिव्य-भूमि है। नाटककार ने इसी दिव्य-भूमि में बिछुड़े हुये प्रेमियों का सप्तम अंक में पुर्नमिलन कराया है। इस पुर्नमिलन की पृष्ठभूमि के रूप में दुष्यन्त असुरों से युद्ध करने के लिए स्वर्ग बुलाये जाते हैं और वहां से लौटते समय देवताओं की योजना के अनुसार मार्ग में इसी स्थान पर दोनों प्रेमियों का पुर्नमिलन होता है। नाटकीय कथा की दिव्य लोक में यह परिणति वासनात्मक पार्थिव प्रेम के पवित्र आत्मिक प्रेम के रूप में उन्नयन और विकास की सूचक है। प्रेम की इस आध्यात्मिक परिणति का आरंभ, जहां तक शकुन्तला का सम्बन्ध है, उसके मारीच आश्रम की दिव्य-भूमि में पहुचने के साथ होता है। अतः स्त्री-सस्थान ज्योति के द्वारा शकुन्तला को पार्थिव लोक से दिव्य लोक में ले जाये जाने की घटना नाटक की पार्थिव प्रेमकथा के गुणात्मक परिवर्तन व उत्क्रान्ति की द्योतक है।

यह घटना एक अन्य दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। पंचम अंक में नाटकीय संघर्ष के चरम स्थिति पर पहुंचने तथा शकुन्तला का निर्ममतापूर्वक प्रत्याख्यान किये जाने से उत्पन्न नाटक के तनावपूर्ण वातावरण तथा प्रेक्षक की विक्षुब्ध मनःस्थिति को इस घटना द्वारा आश्चर्यपूर्ण विश्रान्ति प्रदान की गई है। यह घटना नाटक के प्रेक्षक

को एक सुखद विस्मय से भरकर शकुन्तला के भाग्य व भवितव्य के प्रति आश्वस्त बना देती हैं। श्री उमाशंकर जोशी के मत मे "जहां मनुष्यों की न्यायतुला पूरी तरह कार्यक्षम नहीं हुई वहा अतिमानव शक्ति न्यायतुला को अपने हाथ मे ले लेती है और पांचवे अंक की यातना के अत मे हमे थोड़ी राहत मिलती है।"[1]

श्री वाल्टर रूबेन का विचार है कि "यहां कालिदास ने राजा के पुत्र की वास्तविकता को सिद्ध करने वाले अशरीरिणी वाणी के प्राचीन चमत्कार[2] के स्थान पर शकुन्तला के अकस्मात् उठाकर ले जाये जाने के नये चमत्कार का प्रयोग किया है। इस प्रकार की अद्भुत घटना कुछ असंगत-सी लगती है; हम यह ज्यादा पसन्द करते कि नाटकीय व्यापार अद्भुत तत्त्व के हस्तक्षेप के विना ही विकसित होता। किन्तु भारतीय लोग परियों और अप्सराओं के दिव्य जगत् में विश्वास करते थे; और शकुन्तला की मां इसी जगत् से सम्वन्ध रखती थी। वह और उस जैसी अन्य (अप्सरायें) शकुन्तला के भाग्यकृत दुःख को कम करने की इच्छुक थी। वह अपने हस्तक्षेप द्वारा उसके प्रतीक्षाकाल को, अंगूठी के दर्शन से दुष्यन्त की स्मृति के लौटने तक, सुवह बनाना चाहती थी।"[3]

तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्यता : षष्ठ अक में मेनका की सखी अप्सरा सानुमती तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्य होकर राजा दुष्यन्त के प्रमदवन में आती है। उसके आगमन का उद्देश्य दुष्यन्त के वृत्तान्त का ज्ञान प्राप्त करना है। उसे मेनका ने इस कार्य के लिए आदेश दिया है। मेनका की पुत्री होने के कारण शकुन्तला उसकी भी परम स्नेहपात्र है। यद्यपि वह अपनी प्रणिधान शक्ति से सव कुछ जान सकती है तथापि मेनका की इच्छानुसार राजा की दशा का प्रत्यक्ष अवलोकन करने के लिए वह स्वय उपस्थित होती है।[4]

सानुमती पहले परभृतिका व मधुकरिका नामक उद्यानपालिकाओं के समीप अदृश्य रूप मे उपस्थित होकर कचुकी के साथ उनका वार्तालाप सुनती है।[5] इस वार्तालाप से उसे विदित होता है कि राजा दुष्यन्त को अपनी अंगूठी देखने से

---

1. श्री और सौरभ, पृ० 92.
2. श्री रूवेन का अभिप्राय महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान मे वर्णित दिव्यवाणी के अद्भुत प्रसग से है।
3. कालिदास—दि ह्यूमन मीनिंग ऑव् हिज् वर्क्स, पृ0 55–56.
4. अस्ति मे विभव प्रणिधानेन सर्वं ज्ञातुम्। किन्तु सख्या आदरो मया मानयितव्य :।
   अभि0 शाकु0 6, पृ0 189.
5. भवतु, अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये।
   वही, 6 पृ0 189.

शकुन्तला-सम्बन्धी समस्त वृत्तान्त स्मरण हो आया, तभी से वह पश्चात्ताप की आग में जल रहा है ।[1] इसी दुःख के कारण उसने वसन्तोत्सव पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया । कुछ ही देर बाद राजा दुष्यन्त अपने मित्र विदूषक के साथ मनोविनोद के लिए प्रमदवन में आता है । सानुमती अदृश्य रूप में राजा का अनुगमन करती हुई विदूषक के साथ उसका अन्तरंग वार्तालाप सुनती है और उसकी उत्कट विरह-दशा को निकट से देखती है । शकुन्तला के विरह मे राजा को पश्चात्ताप के आंसू बहाने और उन्माद की सीमा तक व्याकुल होते देखकर उसे यह सन्तोष होता है कि शकुन्तला राजा द्वारा अपमानित होकर भी उसके प्रेम मे जो दुःख भोग रही है वह व्यर्थ नही है ।[2] वह निश्चय करती है कि लौटकर शकुन्तला को दुष्यन्त के बहुमुख अनुराग की सूचना देगी ।[3] जब राजा सार्थवाह धनमित्र-संबधी प्रसंग से अपनी अनपत्यता का स्मरण कर दुःखावेग से मूच्छित हो जाता है तब एक बार सानुमती के मन में इच्छा होती है कि वह दुष्यन्त को शकुन्तला व उसके पुत्र का समाचार दे दे पर तभी उसे स्मरण होता है कि इन्द्र की माता अदिति ने शकुन्तला को सान्त्वना देते हुए कहा था कि यज्ञभाग के लिए उत्सुक देवगण शीघ्र ही कुछ ऐसा करेंगे जिससे दुष्यन्त अपनी धर्मपत्नी का अभिनन्दन करेगा ।[4] इसलिए वह शकुन्तला को दुष्यन्त का वृत्तान्त बताकर आश्वस्त करने के लिए लौट जाती है ।

हम बता चुके है कि कालिदास ने तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्यता की कल्पना का विक्रमोर्वशीय में भी प्रयोग किया है । अप्सराएं दिव्य प्राणी हैं जिनमे परम्परा से अनेक प्रकार की अतिप्राकृतिक शक्तियां मानी गई हैं, जैसे आकाश में उड़ना, एक लोक से दूसरे लोक मे जाना, प्रणिधान द्वारा दूरस्थ विषयों का ज्ञान प्राप्त करना तथा तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्य होना आदि । तिरस्करिणी विद्या अन्तर्धान होने की विद्या का नाम है । यहां कवि ने सानुमती के अप्सरा होने के कारण उसमें आकाश में उड़ने, प्रणिधान द्वारा दूरवर्ती विषयो का ज्ञान करने तथा तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्य होने की शक्तियां मानी है ।[5]

---

1. कंचुकी . . . . . (प्रकाशम्) यदैव खलु स्वांगुलीयकदर्शनादनुस्मृत देवेन सत्यमूढपूर्वा मे तत्रभवती रहसि शकुन्तला मोहात्प्रत्यादिष्टेति ।
   तदाप्रभृत्येव पश्चात्तापमुपगतो देवः । वही, 6 पृ० 194.
2. सानुमती—स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताप्यस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति ।
   वही, 6 पृ० 197.
3. सानुमती—लतासंश्रिता द्रक्ष्यामि तावत्सख्याः प्रतिकृतिम् ।
   ततोस्या भर्तुर्बहुमुखमनुराग निवेदयिष्यामि । वही, 6 पृ० 200.
4. सानुमती— . . . अथवा श्रुत मया शकुन्तला समाश्वासयन्त्या महेन्द्रजनन्या मुखाद् यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथानुष्ठास्यन्ति यथाचिरेण धर्मपत्नी भर्ताभिनन्दिष्यतीति ।
   वही, 6 पृ० 222.
5. देखिए वही, पृ० 188–189.

यहां नाटककार ने दुष्यन्त के प्रमदवन में सानुमती के आने व राजा की विरह दशा का अदृश्य रूप मे अवलोकन करने की जो कल्पना की है वह नाटकीय दृष्टि से साभिप्राय है । नाटककार को सप्तम अंक में दुष्यन्त व शकुन्तला का पुर्नमिलन कराना है; इसके लिए यह आवश्यक है कि दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला के हृदय की उच्छिन्न आस्था को पुनः जमाया जाये । यह आस्था तभी पुनः संस्थापित हो सकती है जब शकुन्तला को अपने प्रति दुष्यन्त के प्रेम की पूर्ण प्रतीति हो । अप्सरा सानुमती की भूमिका नाटक में इसी आवश्यकता की पूर्ति करती है । हम अनुमान कर सकते है कि उसने शकुन्तला को दुष्यन्त का सारा वृत्तान्त सुनाया होगा। और उससे पति द्वारा तिरस्कृता शकुन्तला को पर्याप्त सान्त्वना मिली होगी । 'दुष्यन्त मेरे प्रत्याख्यान के लिए पश्चात्ताप के आंसू बहा रहा है' यह जानकर शकुन्तला को अपनी घोर निराशा की घड़ी मे भी आशा की किरण दिखाई दी होगी । इसी आशा के संबल से उसने मारीच के आश्रम में पुत्र का पालन करते हुए अपनी विपत्ति के दिन बिताये होंगे । इस प्रकार सानुमती शकुन्तला की उस मनोभूमि को तैयार करती है[1] जिसके आधार पर सप्तम अंक में उसका दुष्यन्त के साथ मिलन संभव होता है ।

सानुमती की अदृश्यता इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि वह इसके द्वारा राजा के अत्यन्त निकट उपस्थित होकर उसके पश्चात्तापशील विरहविधुर हृदय का साक्षात् दर्शन कर सकी जो अन्यथा संभव नहीं था ।

पार्थिव राजा का स्वर्गगमन : छठे अंक के अंतिम भाग मे इन्द्र का सारथि मातलि दुष्यन्त को लेने के लिए स्वर्ग से आता है । कालनेमि से उत्पन्न दुर्जय नामक दानवगण के साथ युद्ध मे देवसेना का नेतृत्व करने के लिए दुष्यन्त को इन्द्र ने स्वर्ग बुलाया है । मातलि इसी उद्देश्य से दुष्यन्त के पास आता है, पर उसे विरह-सतप्त अवस्था मे देखकर युद्धोचित मनःस्थिनि में लाने के लिए वह एक कौतुक खड़ा कर देता है । वह अदृष्ट रूप मे विदूषक माढव्य को पकड़ कर मेघप्रतिच्छन्द नामक प्रासाद की अग्रभूमि मे ले जाता है तथा उसकी गर्दन मरोड़ने लगता है । माढव्य अपनी रक्षा के लिए चीख पड़ता है तथा इस सारी घटना में मातलि स्वयं तो तिरस्करिणी विद्या से अदृश्य रहता ही है[2] वह अपने प्रभाव से माढव्य को भी अदृश्य बना देता है ।[3] राजा को उत्तेजित करने के लिए वह विदूषक को चुनौती देता है ।[4] दुष्यन्त जो

1. शकुन्तला--विकारकालेऽपि प्रकृतिस्था सर्वदमनस्यौषधिं श्रुत्वा न मे आशासीदात्मनो भागधेयेषु । अथवा यथा सानुमत्याख्यात तथा संभाव्यत एतत् ।
अभि० शाकु० 7, पृ० 250.
2. प्रतिहारी--अदृष्टरूपेण केनापि सत्त्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्य प्रासादस्याग्रभूमिमारोपितः ।
वही, 6, पृ० 223.
3. (नेपथ्ये) अविहा । अहमत्रभवन्तं पश्यामि । त्वं मा न पश्यसि ? वही, 6 पृ० 226.
4. वही, 6 27.

पहले शकुन्तला के विरह मे सुध-बुध खोये हुए था, इस चुनौती से विक्षुब्ध होकर उस अदृश्य सत्त्व के वध के लिए अपने धनुष पर बाण चढ़ा लेता है । तभी मातलि विदूषक को छोड़कर राजा के सामने प्रकट हो जाता है और उसे इन्द्र का संदेश सुनाता है ।[1] दुष्यन्त इन्द्र के आदेश को शिरोधार्य कर उसके द्वारा भेजे गये रथ से स्वर्ग के लिए प्रस्थान करता है ।

उक्त प्रसंग में निम्नलिखित अतिप्राकृत तत्त्वों का समावेश है:—

(१) असुरों के साथ युद्धार्थ पार्थिव राजा का स्वर्गगमन ।

(२) इन्द्रसारथि मातलि द्वारा अदृश्य रूप में विदूषक माढव्य का पीड़न ।

(३) मातलि के प्रभाव से माढव्य की अदृश्यता ।

असुरों से युद्ध करने के लिए मानव राजा के स्वर्ग जाने की कल्पना स्पष्टतः एक पौराणिक कल्पना है । पौराणिक साहित्य में असुरों व देवों के युद्धों की अनेक कथाएं आयी है । वैदिक साहित्य में भी असुरो के साथ इन्द्र के युद्धों का वर्णन मिलता है, पर वहां इन्द्र व असुर विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिनिधि है । रामायण, महाभारत व पुराणों के काल तक आते-आते वैदिक पुराकथाओं का इस सीमा तक मानवीकरण हुआ कि उनका मूल प्राकृतिक आधार व अर्थ प्रायः आच्छन्न हो गया । कालिदास ने अपने काव्यों में जिन पुराकथात्मक कल्पनाओं का उपयोग किया है, उनका स्रोत परवर्ती पौराणिक साहित्य ही है, वैदिक साहित्य नहीं ।

पौराणिक कथाओं में देवों व असुरों की शत्रुता प्रसिद्ध रही है । भौतिक बल की दृष्टि से असुर प्रायः देवों से अधिक शक्तिशाली माने गये है । यही कारण है कि देवता लोग उनसे सदैव भयभीत रहते है । असुरों के वध के लिए उन्हें अनेक अवसरों पर विष्णु या ब्रह्मा की शरण में जाना पड़ता है । विष्णु देवों की प्रार्थना पर विभिन्न अवतार ग्रहण कर असुरों का संहार करते है । कभी-कभी देवराज इन्द्र पृथ्वी के शक्तिशाली राजाओं को असुरों के विरुद्ध युद्ध में देवसेना का नेतृत्व करने के लिए निमंत्रित करते हैं । इनकी सहायता से इन्द्र असुरो पर विजय पाने मे समर्थ होता है । कालिदास ने विक्रमोर्वशीय व शाकुन्तल दोनों में ही अपने नायको को महेन्द्र

---

1. मातलि :—राजन्

कृता शरव्य हरिणा तवासुरा ·
शरासनं तेषु विकृष्यतामिदम् । वही, 6.29.

— — —

सख्युस्ते किल शतक्रतोरजय्यस्तस्य त्व रणशिरसि स्मृतो निहन्ता ।
उच्छेत्तु प्रभवति यन्न सप्तसप्तिस्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः ॥ वही, 6.30

स भवानात्तशस्त्र एव इदानी तमैन्द्ररथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम् । वही, 6 पृ० 228.

का मित्र व रणसहायक बताया है । हम देख चुके हैं कि विक्रमोर्वशीय मे नायक-नायिका का स्थायी मिलन इन्द्र के अनुग्रह से होता है और यह अनुग्रह वस्तुतः पुरूरवा के द्वारा असुरों के विरुद्ध युद्धों मे पहले दिखाये गये और भविष्य में दिखाये जाने वाले पराक्रम का ही सीधा परिणाम है।

शाकुन्तल मे भी कालिदास ने दुष्यन्त को इन्द्र का सखा[1] और असुरो के विरुद्ध युद्धो मे उसका सहायक[2] बताया है। दूसरे अंक में ऋषिकुमार ने बताया है कि असुरों से वैर रखने वाली सुरयुवतियां या तो इन्द्र के वज्र से असुर-विजय की आशा रखती हैं या दुष्यन्त के प्रत्यचा युक्त धनुप से ।[3] दुष्यन्त की इसी वीरता के कारण उसकी उपस्थिति मात्र से कण्वाश्रम के यज्ञ-कार्यो में विघ्न डालने वाले राक्षस वहां से भाग छूटते है। इस प्रकार नाटककार ने दूसरे अंक मे ही असुरों से युद्ध करने के लिए दुष्यन्त के स्वर्गगमन की योग्य पृष्ठभूमि का निर्माण कर दिया है। इसलिए जब छठे अंक मे मातलि इन्द्र की ओर से उसे युद्धार्थ स्वर्ग चलने का निमंत्रण देने आता है तो कथावस्तु का अतिमानवीय दिशा में यह विकास हमें अस्वाभाविक नही लगता। आज के प्रेक्षक या पाठक को दुष्यन्त के स्वर्ग जाने की बात बड़ी असंगत लग सकती है, पर यदि हम कालिदास के युग की पौराणिक आस्थाओ को दृष्टि में रखे तो यह कल्पना हमें इतनी अनर्गल नहीं लगेगी। ऐसी कल्पनाएं पौराणिक धर्म व पुराकथाओं की अभिन्न अग थी, अतः कालिदास के समकालीन प्रेक्षकों को उनमें कुछ भी अनौचित्य नही दिखाई दिया होगा। यह भी द्रष्टव्य है कि कालिदास ने समुचित पृष्ठभूमि के साथ इस घटना की योजना की है । सानुमती के कथन से प्रेक्षकों को ज्ञात हो चुका है कि शकुन्तला किसी दिव्य स्थान में अपनी माता मेनका के संरक्षण में रह रही है। यज्ञभाग के लिए उत्सुक देवगण शीघ्र ही कुछ ऐसा करने वाले है जिससे बिछुड़े हुए दम्पती का शीघ्र पुर्नमिलन होगा ।[4] इस पृष्ठभूमि में दुष्यन्त का स्वर्गगमन कथावस्तु का एक आवश्यक व प्रत्याशित विकास प्रतीत होता है। प्रेक्षकों को इस घटना से आभास मिलता है कि देवता लोग वियुक्त दम्पती के मिलन के लिए जो उपाय करने वाले है, यह उसी का आरंभ है। शकुन्तला पहले से ही किसी दिव्य लोक या स्थान मे है तो दुष्यन्त का स्वर्गगमन दोनों के पुर्नमिलन की दिशा मे ही कथावस्तु का स्वाभाविक विकास है।

दुष्यन्त के स्वर्गगमन की कल्पना एक अन्य दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इसके

---

1. द्वितीयः—गौतम । अयं स बलभित्सखो दुष्यन्तः । वही, 2 पृ० 78.
2. वही, 6.29,30.
3. वही, 2.15.
4. वही, 6 पृ० 222.

द्वारा कालिदास ने देवों व मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में भारतीय धारणा को बड़ी सुन्दर रीति से प्रकट किया है। यह ठीक है कि मनुष्य को अपने अभीष्टों की प्राप्ति के लिए देवो की सहायता व अनुग्रह की आवश्यकता है, पर देवता लोग भी कुछ बातों में मनुष्यों पर निर्भर है। उन्हें भी असुरों के विरुद्ध युद्धों में मानवीय पराक्रम की अपेक्षा रहती है। भोगपरायण और सुखान्वेषी होने से वे युद्ध-कुशल नहीं है, अतः स्वयं अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते।[1] इस प्रकार देवों व मनुष्यों के सम्बन्ध परस्पर-निर्भरता के हैं, शासक व शासित के या स्वामी व अनुगामी के नहीं।[2] यदि कुछ बातों में देवता मनुष्य से श्रेष्ठतर है तो दूसरी कुछ बातों में मनुष्य उनसे भी श्रेष्ठतर स्थिति मे है। अतः दोनों समकक्ष और समान हैं—एक श्रेष्ठ और दूसरा हीन नहीं। इस विचारधारा को कालिदास ने विक्रमोर्वशीय व शाकुन्तल दोनों में प्रतिपादित किया है। दुष्यन्त व शकुन्तला के पुर्नमिलन में देवता लोग योग देते हैं, पर यह योगदान दुष्यन्त के द्वारा उन पर किये गये उपकार का प्रत्युपकार मात्र है। देवताओ ने दोनों का मिलन कराया, पर उसका मूल्य भी तो उन्होंने प्राप्त किया। दुष्यन्त ने पहले त्रिदशकंटक दुर्जय नामक असुरगण को नष्ट किया; तभी वह देव-अनुग्रह का योग्य पात्र बना। अतः कालिदास की दृष्टि में देव-साहाय्य मनुष्य के गौरव का विरोधी नही, अपितु प्रकारान्तर से उसका सम्मान ही है। देव और मनुष्य का संबंध विरोध और संघर्ष पर नहीं, प्रत्युत साहाय्य और सहयोग पर आधारित है। देवगण मनुष्यों से अपना यज्ञभाग पाने के लिए उत्सुक रहते हैं।[3] मनुष्य उन्हें यज्ञों में आहुतियां देकर प्रसन्न करते हैं। प्रसन्न होने पर वे उन पर अपना अनुग्रह प्रदर्शित करते है। दुष्यन्त के प्रति मारीच के निम्न शब्दों मे कालिदास ने अपनी इसी मान्यता को वाणी दी है—"इन्द्र तुम्हारी प्रजाओं पर प्रचुर वृष्टि करे और तुम भी यज्ञों का विस्तार कर इन्द्र को प्रसन्न करो। इस प्रकार तुम दोनो सैकड़ों युग-परिवर्तनों तक उभय लोकों का उपकार करने वाले प्रशंसनीय पारस्परिक कृत्य करते रहो।"[4]

---

1. दे0 वही, 6.30; 7.3.
2. अभि0शाकु0 7.4 में दुष्यन्त ने देवो के लिए 'ईश्वर' व स्वयं के लिए 'नियोज्य' शब्द का प्रयोग किया है, पर इस कथन मे दुष्यन्त के शिष्टाचार की ही अधिक अभिव्यक्ति हुई है। इसके पूर्ववर्ती श्लोक मे मातलि ने दुष्यन्त की पुरुषकेसरी (नृसिंह) से समता का संकेत दिया है तथा 6.29 में स्वयं को 'सुहृत्' की कोटि मे रखा है।
3. सानुमती—...श्रुत मया शकुन्तलामाश्वासयन्त्या महेन्द्रजनन्या मुखाद् यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथानुष्ठास्यन्ति यथाचिरेण धर्मपत्नी भर्ताऽभिनन्दिष्यति।
   अभि0शाकु0 6 पृ0 222.
4. मारीच.—अपि च
   तव भवतु बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं प्रीणयस्व।
   युगशतपरिवर्तानेवमन्योन्यकृत्यैः नयतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः॥ वही, 7.34.
   (श्री एम0आर0 काले द्वारा संपादित संस्करण)

इससे स्पष्ट है कि कालिदास ने अपने युग में प्रचलित पौराणिक धर्म व उसकी अतिप्राकृतिक आस्थाओं को जिस रूप में ग्रहण किया है वह मनुष्य की महिमा को बढ़ाता ही है, घटाता नहीं। यह ठीक है कि कालिदास अपने नाटक की प्रणय-कथा को अतिमानव लोक में ले गये हैं पर इससे उसकी मूल मानवीय गरिमा को कोई क्षति नही पहुंची है, अपितु उसकी श्रीवृद्धि ही हुई है । शकुन्तला और दुष्यन्त का दिव्य लोकों में गमन और वहां दैवी योजना के अनुसार उनका मिलन वस्तुत. मानव के ही चारित्रिक उत्कर्ष, आत्मपरिष्कार और ऊर्ध्वगमन का प्रतीक है।

उक्त प्रसंग में दूसरा अतिप्राकृतिक तत्त्व है मातलि की अदृश्यता। मातलि देवराज इन्द्र का सारथि होने से एक दिव्य प्राणी है, अतः उसमें भी अप्सरा आदि के समान तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्य होने की शक्ति है। मातलि जब तक दुष्यन्त के सामने प्रकट नहीं होता तब तक राजा उसे एक 'अदृष्ट सत्त्व' समझता है। संभवतः 'अदृष्ट सत्त्व' से उसका आशय राक्षस, भूत, प्रेत आदि से है। इससे विदित होता है कि कालिदास के युग में लोग ऐसे सत्त्वों के अस्तित्व में विश्वास करते थे।

दुष्यन्त का स्वर्ग से अवतरण : सप्तम अंक का आरम्भ दुष्यन्त के स्वर्ग से अवतरण के दृश्य से होता है। वह इन्द्र के रथ पर आरूढ़ होकर मातलि से वार्तालाप करता हुआ आकाश-मार्ग से पृथ्वी की ओर लौट रहा है। स्वर्ग से प्रस्थान के समय इन्द्र ने दुष्यन्त का जो कल्पनातीत सत्कार किया उससे उसका हृदय गद्गद् हो रहा है।[1] वह अनुभव करता है कि मैंने देवताओं के लिए जो कार्य किया उसकी तुलना मे वह सत्कार बहुत अधिक था। मातलि बताता है कि इन्द्र भी दुष्यन्त की तरह यही अनुभव करते हैं कि मै दुष्यन्त के उपकार का उचित प्रत्युपकार नहीं कर सका।[2]

स्वर्ग से पृथ्वी की ओर आते समय सर्वप्रथम परिवह नामक वायु का मार्ग आता है। इस मार्ग मे आकाश गंगा की स्थिति बतायी गयी है । वह रश्मियों को विभक्त कर ग्रह-नक्षत्रो को अपने-अपने पथ पर संचालित करता है तथा भगवान् विष्णु (वामन अवतार) के द्वितीय पदनिक्षेप से तमोरहित है।[3] इस मार्ग में चलते समय दुष्यन्त की अन्तरात्मा बाह्य इन्द्रियो सहित प्रसन्नता का अनुभव करती है।[4] कुछ आगे चलने पर रथ मेघों के मार्ग मे पहुच जाता है ।[5] रथ के वेगपूर्वक उतरने से

---

1. वही, 7.2.
2. वही, 7.1.
3. वही, 7.6
4. वही, 7 पृ0 235.
5. वही, 7.7

वहां से मनुष्यलोक अतीव आश्चर्यजनक दिखाई देता है। दुष्यन्त को लगता है कि पृथ्वी मानों अकस्मात् प्रकट होते हुए पर्वतों के शिखरों पर से उतर रही है। पहले वृक्ष पत्तों में छिपे हुए थे, पर अब उनके स्कन्ध प्रकट हो रहे हैं। नदियां, जिनका जल सूक्ष्मता के कारण पहले नहीं दिखायी दे रहा था, अब विस्तार के कारण स्पष्टत दिखायी दे रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई उस पृथ्वी को ऊपर फेंकता हुआ-सा उसकी ओर ला रहा है। तदनन्तर दुष्यन्त को पूर्व व पश्चिम समुद्र में डूबा हुआ तथा स्वर्ण-रस प्रवाहित करने वाला एक पर्वत दिखायी देता है। मातलि बताता है कि यह किंपुरुषों का हेमकूट नामक पर्वत है जो तपःसिद्धि का क्षेत्र है। इस पर्वत पर ब्रह्मा के पुत्र मारीचि से उत्पन्न प्रजापति जो देवों और असुरों के पिता हैं, अपनी पत्नी सहित तप करते है।[1] दुष्यन्त ऋषि की प्रदक्षिणा करने की इच्छा प्रकट करता है, अतः मतलि रथ को हेमकूट पर्वत पर रोक देता है। रथ के उतरने पर भी उसका भूमि से स्पर्श नहीं होता, इसलिए पहियों की नेमि शब्द नही करती, न धूल ही उड़ती है और न घोड़ों की रास ही खींचनी पड़ती है। अतः रथ पर्वत पर उतर जाने पर भी उतरा हुआ प्रतीत नहीं होता।[2]

दुष्यन्त की उक्त यात्रा स्पष्टतः एक अतिप्राकृत घटना है। नाटककार का वास्तविक उद्देश्य दुष्यन्त को हेमकूट पर्वत पर स्थित मारीच ऋषि के आश्रम में पहुंचाना है जहां शकुन्तला अपने पुत्र सहित रह रही है। दुष्यन्त का स्वर्गगमन और प्रत्यावर्तन इसी उद्देश्य के साधन है। स्वर्ग से हेमकूट तक की दुष्यन्त की रथयात्रा नाटकीय कथा की पौराणिक प्रकृति के अनुकूल है। पुराणों में देवताओं के रथों व विमानो की ऐसी यात्राओं के अनेक वर्णन आये है।

दिव्य तपोवन : हेमकूट पर्वत पर स्थित मारीच ऋषि का तपोवन स्वर्ग से भी अधिक आनन्दप्रद है। वहां आने पर दुष्यन्त अनुभव करता है मानों उसने अमृत-सरोवर मे अवगाहन किया हो।[3] इस तपोवन मे मुनि लोग श्रेष्ठ कल्प-वृक्ष के वन मे वायु द्वारा प्राण धारण करते है; स्वर्णिम कमलों के पराग से पिंगल हुए जल मे

---

1. स्वायंभुवान्मरीचेर्यः प्रबभूव प्रजापति. ।
   सुरासुरगुरु सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति ॥ वही, 7 9.

2 राजा—(सविस्मयम्)
   उपोढशब्दा न रथागनेमयः प्रवर्तमानं न च दृश्यते रज. ।
   अभूतलस्पर्शतयानिरुद्धतस्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते ॥ वही, 7.10.

3. राजा—स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम् । अहममृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि ।
   वही 7, पृ0 239.

धर्मार्थ स्नान क्रिया सम्पन्न करते है, रत्नशिलाओं पर बैठकर ध्यान करते है तथा देवस्त्रियों के सामीप्य में संयम धारण करते है। इस प्रकार अन्य मुनिजन तप द्वारा जिन वस्तुओं की इच्छा करते है, ये मुनि लोग उन्ही के बीच रहते हुए तपस्या मे निरत है।[1] इस आश्रम में हिंस्र जन्तु भी पालतू पशुओं के समान विनीत हैं। शकुन्तला का पुत्र सर्वदमन सिहशिशु को, जिसने अपनी मां का स्तनपान आधा ही किया है, खेलने के लिए बलपूर्वक अपनी ओर खीच रहा है और उसके दांत गिनने के लिए उसका मुंह खोल रहा है।[2]

मारीच के तपोवन का यह वर्णन एक ओर उसकी दिव्यता का सूचक है और दूसरी ओर ऋषि के आध्यात्मिक प्रभाव का जिसके कारण सिंह जैसे भयानक जन्तुओं के साथ मानव शिशु क्रीड़ा करते है।

रक्षाकरडक : मारीच ऋषि ने सर्वदमन के जातकर्म सस्कार के समय अपराजिता नामक औषधि दी थी जो एक रक्षाकरंडक के रूप में सर्वदमन की कलाई पर बांध दी गई थी। उसके भूमि पर गिर जाने पर यदि सर्वदमन व उसके माता-पिता के सिवा कोई अन्य व्यक्ति उसे उठा लेता तो वह रक्षाकरंडक सर्प बनकर उसे डस लेता था। ऐसा पहले कई बार हो चुका था।[3] सर्वदमन जब सिंह शिशु के केसर पकड़कर उसे खीच रहा था, तब उसकी कलाई पर से रक्षा-करंडक नीचे गिर गया। दुष्यन्त ने अनजान मे उसे भूमि पर से उठा लिया तो भी वह सर्प नही बना। इससे यह सिद्ध हो गया कि सर्वदमन दुष्यन्त का ही पुत्र है।

उक्त प्रसग मे रक्षाकरडक की सर्परूप में विक्रिया की बात कही गयी है। सभवतः मारीच ऋषि ने उसे अभिमंत्रित कर उसमें किसी अलौकिक शक्ति का आधान किया है। यहां नाटककार ने पुत्र के प्रत्यभिज्ञान के साधन के रूप मे इस अतिप्राकृत तत्त्व की योजना की है। इससे दुष्यन्त को निश्चय हो जाता है कि सर्वदमन उसी का पुत्र है।

अतिप्राकृत तत्त्व

शाकुन्तल मे दिव्य, अर्धदिव्य व मानव तीनों प्रकार के पात्रों का समावेश

---

1. वही, 7.12.
2. वही, 7 पृ० 241.
3. प्रथमा—शृणोतु महाराज.। एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता। एतां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वा परो भूमिपतितां न गृह्णाति।
   राजा—अथ गृह्णाति।
   प्रथमा—ततस्त सर्पो भूत्वा दशति।
   राजा—भवतीभ्यां कदाचिदस्या. प्रत्यक्षीकृता विक्रिया।
   उभे—अनेकशः। वही, 7 पृ० 249.

मिलता है। सानुमती, मातलि, मारीच व अदिति दिव्य पात्र है। मेनका व इन्द्र नाटक में साक्षात् उपस्थित नही होते, पर वस्तु-विकास मे उनकी भूमिका अतीव महत्त्वपूर्ण है। इन दिव्य पात्रों के चित्रण में कालिदास ने अनेक अतिमानवीय विशेषताओ का उल्लेख किया है। शकुन्तला अप्सरा व मानव ऋषि की पुत्री होने के कारण अर्धदिव्य व अर्धमानव की कोटि में रखी जा सकती है, पर नाटक मे उसके व्यक्तित्व का मानव-पक्ष ही सर्वोपरि रहा है। दुष्यन्त, कण्व व दुर्वासा मानव होते हुए भी कुछ दृष्टियों से अतिमानव हैं। दुष्यन्त प्रेमी के रूप में तो पूर्णतया मानव है, पर एक वीर योद्धा के रूप मे उसका व्यक्तित्व अतिमानवीय सीमाओं का स्पर्श करता है। कण्व एक वीतराग ऋषि व स्नेहमय पिता हैं, पर आध्यात्मिक साधना से प्राप्त सिद्धियों ने उनके व्यक्तित्व को अलौकिकता से मंडित कर दिया है। दुर्वासा की शाप देने की शक्ति उन्हें अतिमानव की कोटि में रख देती है। इस प्रकार नाटककार ने अपने कुछ मानव पात्रों को आंशिक रूप से अतिप्राकृत बना दिया है। किन्तु नाटककार का ध्येय मानव-सवेदनाओं व चरित्र का ही सौदर्य अंकित करना है, अतिप्राकृत तत्त्व इसी उद्देश्य के अंग या साधन के रूप में प्रयुक्त हैं। अत इन तत्त्वो के कारण नाटक के मानवीय मूल्य व महत्त्व को कोई क्षति नही पहुचती।

दुष्यन्त : शास्त्रीय दृष्टि से दुष्यन्त एक प्रख्यात व धीरोदात्त नायक है। मानव होते हुए भी उसके व्यक्तित्व का एक पक्ष अतिमानवीय है जिसका विस्तृत विवरण पिछले पृष्ठों मे दिया जा चुका है। यह अतिमानवीय पक्ष नाटककार के युग की पौराणिक कल्पनाओं पर आधारित है। यह भी द्रष्टव्य है कि दुष्यन्त के इस पक्ष को नाटककार ने मुख्य प्रणय-कथा के अंग के रूप में ही निबद्ध किया है। हम देख चुके है कि राक्षसविघ्न के निवारण के लिए दुष्यन्त का कण्व के आश्रम मे निवास नाटक के प्रणयवृत्त के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार असुरों से युद्ध करने के लिए दुष्यन्त का स्वर्गगमन भी हेमकूट पर दोनों वियुक्त प्रेमियों के पुनर्मिलन की पृष्ठभूमि मात्र है।

शकुन्तला के विपय मे दुष्यन्त की विस्मृति तथा अंगुलीयक के दर्शन से स्मृति का पुनर्जागरण---ये दोनो बाते अतिप्राकृत है, परन्तु इनके पीछे दुर्वासा के शाप का प्रभाव माना गया है। तथापि नाटककार ने दुष्यन्त के चरित्र में भी उनका आधार दिखाने का यत्न किया है। हम बता चुके हैं कि दुर्वासा के शाप की कल्पना द्वारा कालिदास ने दुष्यन्त के चरित्र को परिष्कृत व उन्नीत किया है।

शकुन्तला : शकुन्तला वैसे तो एक मानवी प्रेमिका है, पर उसकी दिव्य उत्पत्ति उसके व्यक्तित्व के एक अतिमानवीय परिपार्श्व की सूचक है। महाभारत के

को बहुत अधिक जानने का प्रयत्न नहीं किया और उसे अपने भाग्य पर ही छोड़ दिया। सप्तम अंक में मारीच के कथन से ज्ञात होता है कि कण्व को अपने तप के प्रभाव से शकुन्तला व दुष्यन्त के पुनर्मिलन की बात प्रत्यक्ष है,[1] तथापि मारीच ऋषि शकुन्तला की शाप-निवृत्ति तथा पति द्वारा उसके ग्रहण किये जाने की सूचना देने के लिए अपने शिष्य गालव को आकाश मार्ग से कण्व के पास भेजते हैं।[2] इससे प्रतीत होता है कि कण्व अपनी सिद्धियों द्वारा सब कुछ जानने की सामर्थ्य रखते हैं, पर उस सामर्थ्य का वे उपयोग भी करें, यह आवश्यक नहीं। संभवतः इसी दृष्टि से मारीच ने कण्व के पास उक्त सूचना भेजी है।

कण्व के लोकोत्तर व्यक्तित्व का संकेत देते हुए यह भी स्पष्ट है कि नाटककार ने उनके वात्सल्यमय पितृत्व, सर्वभूतस्नेह, औदार्य, क्षमाशीलता आदि मानवीय गुणों को ही प्रधानता दी है।

दुर्वासा : दुर्वासा नाटक में साक्षात् उपस्थित नहीं होते, केवल चतुर्थ अंक के विष्कंभक में नेपथ्य से उनका शापमात्र सुनाई देता है। जहां कण्व उदार, दयालु व क्षमाशील हैं, वहां दुर्वासा असहिष्णु, क्रोधी और निर्मम। उनकी शाप देने तथा अन्तर्हित होने की शक्ति उनके व्यक्तित्व को अलौकिक पीठिका पर स्थापित कर देती है। शाप के फलस्वरूप दुष्यन्त शकुन्तला को पूरी तरह भूल जाता है और अंगुलीयक के दर्शन से ही उसकी स्मृति पुनरुद्बुद्ध होती है। दुर्वासा का शाप आपाततः निष्ठुर होते हुए भी प्रेमी-प्रेमिका के व्यक्तित्व के आंतरिक विकास व प्रेम के परिष्कार का साधन होने से परिणाम की दृष्टि से शुभ ही सिद्ध होता है। इस प्रकार उनकी क्रोधोद्दीप्त निष्ठुर मुद्रा में भी एक मंगलमय आशीर्वाद छिपा हुआ है।

नाटक में मातलि, सानुमती व मेनका आदि दिव्य पात्रों की भूमिका व उनके व्यक्तित्व की अलौकिक विशेषताओं पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। अप्सरा मेनका में मातृ-हृदय की प्रतिष्ठापना कालिदास की अपनी सूझ है। नाटक में इन्द्र की भूमिका महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अप्रत्यक्ष है। इस दृष्टि से उसकी विक्रमोर्वशीय से तुलना की जा सकती है। चतुर्थ अंक में वनदेवताओं से संबंधित उल्लेख काव्यात्मक होने के साथ-साथ तत्कालीन लोकविश्वासों से भी प्रभावित हैं। भारतीय परंपरा में वृक्ष-लता, वन, पर्वत, नदी आदि को सदा से चेतनाधिष्ठित मानने की प्रवृत्ति रही है।

---

1. मारीच—तपःप्रभावात्प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः। वही, 7 पृ० 262.
2. मारीच—गालव। इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनात्तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय यथा पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीता इति। वही, 7 पृ० 263.

'वनदेवता' की कल्पना इसी प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखती है । प्रकृति के विभिन्न पदार्थों में दैवी तत्त्व की अनुभूति वैदिक काल से ही भारतीय धर्म की एक प्रधान विशेपता रही है ।

अतिप्राकृत लोकविश्वास

शकुन : प्रस्तुत नाटक मे भावी शुभ या अशुभ के सूचक के रूप में कतिपय शकुनो का उल्लेख मिलता है । प्रथम अंक में वताया गया है कि जब राजा दुष्यन्त कण्व के तपोवन में प्रविष्ट होने लगा तव उसकी दक्षिण बाहु में स्फुरण हुआ । शकुनशास्त्र व लोकप्रचलित विश्वास के अनुसार पुरुष के लिए दक्षिण भुजा का स्पन्दन शुभ माना जाता है । दुष्यन्त सोचने लगा कि यह आश्रम तो त्यागी-विरागियों का शान्त स्थान है, भला यहां बाहु-स्फुरण का फल क्या हो सकता है ? अथवा होनहार तो होकर ही रहता है । उसके लिए क्या नगर, क्या तपोवन ? भवितव्य के प्रकट होने के लिए द्वार कहां नही है ? कहीं भी उसका अस्थान नही है ।[1]

उक्त शकुन द्वारा नाटककार ने दुष्यन्त व शकुन्तला के प्रेम व परिणय की भावी घटना का पूर्वाभास देकर पात्र व प्रेक्षक दोनों के मन मे 'भवितव्य' के प्रति औत्सुक्य व प्रत्याशा का भाव जाग्रत किया है । यहां यह सकेत भी निहित है कि नाटक के भावी घटनाक्रम के पीछे किसी दैवी शक्ति की पूर्वनिर्धारित योजना काम कर रही है । लेकिन नाटककार ने इसे एक अस्पष्ट संकेत ही रहने दिया है जिससे नाटक में मानवचरित्र का महत्त्व कम नही होता ।

पचम अंक में दुष्यन्त के सामने उपस्थित होने पर शकुन्तला के दक्षिण नेत्र में स्फुरण होता है जो स्त्रियों के लिए अशुभ माना गया है ।[2] इसके द्वारा नाटककार ने पात्र व सामाजिक को शकुन्तला के (प्रत्याख्यान रूप) भावी अनिष्ट की पूर्व सूचना दे दी है । यहां भी आभास मिलता है कि कोई अलौकिक शक्ति शारीरिक विकार आदि के द्वारा भावी मगल या अमंगल की सूचना देकर मनुष्य को उसके लिए पहले ही सन्नद्ध कर देती है ।

सप्तम अक मे मारीच के तपोवन में प्रविष्ट होते समय दुष्यन्त की बाहु में पुनः स्फुरण होता है । इस अवसर पर दुष्यन्त के कथन से उसकी परिवर्तित मनः-

---

1. राजा–(परिक्रम्यावलोक्य च) इदमाश्रमद्वारम् । यावत्प्रविशामि ।
   (प्रविश्य, निमित्तं सूचयन्)
   शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ।
   अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥ अभि० शाकु० 1, 14.
2. शकुन्तला–(दुर्निमित्तं सूचयन्ती) अम्मो किं वामेतरन्मे नयनं विस्फुरति ।
   गौतमी–प्रतिहतममंगलम् । सुखानि ते भर्तृकुलदेवता वितरन्तु ; वही, 5 पृ० 162.

स्थिति विदित होती है। प्रथम अंक में कण्व के तपोवन में प्रविष्ट होते समय उसका मन भवितव्य के प्रति आशा, उमंग और विश्वास से भरा था। तब शान्त आश्रम पद में बाहु-स्फुरण की फल-प्राप्ति की संभावना न होते हुए भी वह शुभ भवितव्य के प्रति आशावान् था, पर सप्तम अंक में परिस्थितियों ने दुष्यन्त के दृष्टिकोण को बिल्कुल बदल दिया है। वह निराशा के स्वर में कहता है—

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते ॥ ७.१३

यद्यपि बाहु-स्पन्दन मनोरथ-पूर्ति की सूचना दे रहा है फिर भी दुष्यन्त को इसकी आशा नहीं है। शकुन्तला के रूप में श्रेय स्वयं उसके द्वार पर आया, पर उसने उसे ठुकरा दिया; अब वह श्रेय दुःख में बदल गया है।

यहां कुशल नाटककार ने शकुन के द्वारा दुष्यन्त की मनःस्थिति का परिचय देते हुए शकुन्तला के साथ उसके भावी मिलन का भी पूर्व संकेत दे दिया है जिससे सप्तम अंक के आगामी घटनाक्रम के प्रति प्रेक्षकों के मन में औत्सुक्य जाग्रत हो जाता है।

दैव और कर्मविपाक : कालिदास ने मानव-व्यापारों को अदृश्य रूप में प्रभावित व संचालित करने वाली शक्ति के रूप में प्रस्तुत नाटक में दैव,[1] भवितव्यता,[2] विधि,[3] भागधेय,[4] कर्मविपाक आदि का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। नाटक के प्रारंभ में ही शकुन्तला के प्रतिकूल दैव के शमनार्थ महर्षि कण्व के तीर्थयात्रा पर जाने की बात कही गयी है। इससे प्रेक्षकों को संकेत मिलता है कि शकुन्तला के जीवन में कोई गंभीर दैवी विपत्ति आने वाली है। आगे हम देखते है कि दुर्वासा के शाप के रूप में शकुन्तला के सुखस्वप्न पर प्रतिकूल दैव का दारुण वज्रपात होता है। दैवी विधान की अटलता के समक्ष मनुष्य की सभी योजनायें निरर्थक हो जाती है। कठोर नियति का एक ही झटका उसे आकाश मे से धरती पर ला पटकता है। दुष्यन्त के हृदय में शकुन्तला के प्रति अगाध प्रेम होने पर भी शापजन्य विस्मृति के कारण वह उसे निर्ममतापूर्वक ठुकरा देता है। एक अज्ञात शाप दोनों प्रेमियों के मिलन में

---

1. इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः। (1, पृ० 22); गुणवते कन्या प्रतिपादनीयेत्यय तावत्प्रथम. कल्पः। तं यदि दैवमेव संपादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः। (4, पृ० 117).
2. अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र (1.14); अथवा भवितव्यता खलु बलवती। (6, पृ० 200).
3. अत्र तावद् विधिना दर्शित प्रभुत्वम्। अपरं ते कथयिष्यामि। (5 पृ० 173)
4. विकारकालेऽपि प्रकृतिस्था सर्वदमनस्यौषधि श्रुत्वा न म आशासीदात्मनो भागधेयेषु (7, पृ० 250); वत्स! ते भागधेयानि पृच्छ। (7 पृ० 252).

एक दुर्लंघ्य अन्तराय बन कर खड़ा हो जाता है । अंगूठी को दिखाने से शाप की निवृत्ति हो सकती है, पर वह भी शकुन्तला की अंगुली से निकलकर कहीं गिर जाती है । शाप का न शकुन्तला को पता है न दुष्यन्त को । पर उसके कारण दोनों को ही दुःसह दुःख भोगना पड़ता है । अंत में दैव की प्रतिकूलता शान्त होने पर हेमकूट की दिव्यभूमि में दोनों वियुक्त प्रेमियों का आकस्मिक पुनर्मिलन होता है । इस प्रकार नाटकीय कथा के माध्यम से नाटककार ने मानवजीवन की गतिविधियों में दैव या भाग्य की अदृश्य किन्तु प्रभावशाली भूमिका का मार्मिक संकेत दिया है ।

किन्तु यह स्मरणीय है कि भारतीय विचारधारा दैव या भाग्य को मानव-कार्यकलापों में बाहर से हस्तक्षेप करने वाली शक्ति नही मानती, अपितु उसकी दृष्टि में वह प्राणी के अपने ही कर्मो से उद्भूत एक ऐसी शक्ति है जो उन कर्मों के अनुसार ही उसके भावी जीवनक्रम को निर्धारित व नियंत्रित करती है । इस दृष्टि से शकुन्तला व दुष्यन्त के प्रणय-जीवन के दैवकृत उतार-चढ़ाव वस्तुतः उनके पूर्व कर्मों के ही विपाक हैं । सप्तम अंक मे शकुन्तला ने पावों में गिरकर क्षमा मांगने वाले दुष्यन्त को दोषमुक्त कर अपने सुचरित-प्रतिबन्धक परिणामोन्मुख पूर्व कर्मों को ही अपने दुःख व दुर्भाग्य का कारण माना है—"उत्तिष्ठतु आर्यपुत्रः । नूनं में सुचरित-प्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणामसुखमासीद् येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः ।[1] यहां नाटककार ने कर्मविपाक की लोकप्रचलित धारणा का सहारा लेकर शकुन्तला के क्षमाशील व उदार हृदय की भव्य झांकी दिखाई है । जिस दुष्यन्त के हाथो शकुन्तला को अपमानित व लांछित होना पड़ा था उसके विरुद्ध वह एक शब्द भी नही कहती, अपितु अपने पुराकृत को ही समस्त कष्टों का मूल कारण मानकर मन का समाधान कर लेती है ।

भारतीय विचारधारा मे दैव या भाग्य की कल्पना एक नैतिक शक्ति के रूप में की गई है । यह शक्ति मनुष्य के शुभ या अशुभ कर्मो से उद्भूत होकर उनके अनुसार ही उसे सुख या दुःख का भोग कराती है । इसलिए वह कोई अंधशक्ति नहीं है अपितु विश्व की नैतिक व्यवस्था का संरक्षण करने वाली एक विवेकयुक्त शक्ति है । वह मनुष्य को नैतिक त्रुटियों के लिए दंड देती है और दुःखों का भोग कराकर उसकी असत् प्रकृति का परिष्कार करते हुए विश्व की मगलमयी नैतिक व्यवस्था के साथ उसका सामंजस्य स्थापित करती है । अभिज्ञानशाकुन्तल में दुर्वासा-शापरूप दैवी विपत्ति की यही भूमिका है ।

मानव-नियति के विधान में दैव, भाग्य व प्राक्तन कर्म की भूमिका का संकेत

1. वही, 7 पृ0 253.

देते हुए भी कालिदास ने इन्हे पृष्ठभूमि में ही रखा है। नाटक का अधिकांश घटनाक्रम मानवीय इच्छा, आचरण व कर्तृत्व का ही अनुगमन करता है। दुर्वासा का शाप जो पात्रों के अधिकांश कष्ट-क्लेशों का मुख्य स्रोत है, अतिथि के प्रति शकुन्तला की उपेक्षा का ही सीधा परिणाम है। शाप के रूप मे मानवीय प्रणयकथा में दैव या भाग्य का हस्तक्षेप अवश्य हुआ है, पर उसका आधार दुष्यन्त व शकुन्तला की आचरणगत त्रुटिया हैं। इस प्रकार दैव मानवीय चरित्र और आचरण के माध्यम से ही नाटक की प्रणयकथा को प्रभावित करता है, मानव-निरपेक्ष बाह्य शक्ति के रूप में नहीं।

अतिप्राकृत तत्त्व और रस

अभिज्ञानशाकुन्तल का मुख्य रस शृंगार है जिसके संयोग व वियोग दोनो पक्ष प्रस्तुत किए गए हैं। शास्त्रीय दृष्टि से इसमें चित्रित वियोग 'शापज वियोग' कहा जायेगा, क्योंकि दुर्वासा-शाप के कारण ही शकुन्तला व दुष्यन्त एक दूसरे से बिछुड़ते है। नाटककार ने शृंगार रस के अंग के रूप में करुण, भयानक, अद्भुत आदि रसों की भी योजना की है। नाटक में प्रयुक्त अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व अद्भुत रस की निष्पत्ति में सहायक होते है, किन्तु कुछ तत्त्व भयानक, करुण आदि के भी व्यंजक है।

प्रथम अक मे शकुन्तला के दिव्य उद्भव व लोकोत्तर सौन्दर्य का वर्णन सामाजिकों के हृदय में विस्मय का भाव जाग्रत करता है। यह विस्मय रति का पोषक होने से शृंगार रस का अंग है। तृतीय अंक के अत मे यज्ञवेदिका के चारों ओर मडराने वाले छायाकार राक्षसों का वर्णन भयानक रस को अभिव्यक्त करता है। द्वितीय अध्याय मे हम बता चुके है कि भरत ने सत्त्व-दर्शन को भयानक रस के विभावों मे गिना है। चतुर्थ अक में अशरीरिणी वाणी द्वारा कण्व को शकुन्तला के गर्भवती होने की सूचना तथा वनदेवताओ द्वारा शकुन्तला को वस्त्र-आभूषण व आशीर्वाद दिए जाने के प्रसग अद्भुत रस के अभिव्यजक हैं। पचम अक मे दुर्वासा के शाप के प्रभाव से राजा दुष्यन्त की विस्मृति तथा शकुन्तला के निष्ठुर प्रत्याख्यान मे करुण रस की मार्मिक व्यजना हुई है। पचम अक मे स्त्रीसस्थान ज्योति द्वारा शकुन्तला को उठाकर आकाश मे ले जाने की घटना अद्भुत रस का स्थल है। इस घटना से जाग्रत विस्मयभाव शकुन्तला के प्रत्याख्यान के दृश्य की करुणा को एक सुखद विश्रान्ति प्रदान करता है। षष्ठ अंक मे मातलि द्वारा किया गया कौतुक अद्भुत, भयानक, बीभत्स व रौद्र आदि अनेक रसो का उन्मीलन करता है। इस प्रसंग में मातलि व विदूषक की अदृश्यता अद्भुत रस की, मातलि द्वारा विदूषक के रक्तपान की घोषणा बीभत्स की तथा अदृश्य सत्त्व की धृष्टता से दुष्यन्त के क्रोध की जागृति रौद्र रस की व्यंजक है।

सप्तम अंक में निर्वहण सन्धि के अन्तर्गत नाटककार ने अद्भुत रस की बड़ी प्रभावशाली योजना की है। सारा ही अंक विभिन्न प्रकार के अद्भुत तत्त्वों से युक्त है। इन्द्र के रथ में स्थित दुष्यन्त की पृथ्वी की ओर यात्रा, सुदूर आकाश से पृथ्वी के आश्चर्यजनक रूप का दर्शन, हेमकूट पर उतरने पर भी इन्द्र के रथ का भूमि को न छूना, मारीच के तपोवन का लोकोत्तर स्वरूप एवं प्रभाव, एक विशेष स्थिति मे भरत के रक्षासूत्र के सर्प बनकर डसने का उल्लेख, महर्षि मारीच का अलौकिक व्यक्तित्व व उनकी अतिप्राकृत सिद्धियां (ध्यान द्वारा दुर्वासा के शाप का ज्ञान, भरत के चक्रवर्तित्व की भविष्यवाणी, कण्व के विषय में यह ज्ञान कि वे अपने तपः-प्रभाव से शकुन्तला के विषय में सब कुछ जानते है आदि) तथा मारीच की आज्ञा से उनके शिष्य गालव का कण्व को सदेश देने के लिए आकाश मार्ग से गमन आदि अलौकिक तत्त्व अद्भुत रस के व्यंजक हैं। इन तत्त्वो के कारण नाटक का अन्त अतीव चमत्कारपूर्ण बन गया है।

निष्कर्ष

हमने पिछले पृष्ठों में कालिदास के तीनों नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृतिक तत्त्वों का परिचय देते हुए उनके नाटकीय विनियोग की विशेषताओं का विवेचन किया। इस विवेचन से स्पष्ट है कि कालिदास ने अपने नाटकों में जिन अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग किया है वे उनके युग की धार्मिक आस्थाओं, पौराणिक कल्पनाओं व लोकविश्वासों के अंग है। किन्तु नाटककार का ध्येय इन आस्थाओं व विश्वासों की अभिव्यक्ति मात्र नही है अपितु नाटक की कलात्मक संरचना के अविभाज्य अंग के रूप मे उनका प्रयोग करना है। उनका प्रयोग सर्वत्र किसी न किसी प्रयोजन से किया गया है। कहीं उनका उद्देश्य कथा को आगे बढ़ाना है तो कहीं उसे अभीष्ट दिशा में परिवर्तित करना। कहीं उनके द्वारा नाटकीय कथा को जटिल बनाया गया है तो कही उसकी उलझी हुई ग्रथियों को सुलझाया गया है। नाटक को चमत्कारपूर्ण परिणति पर पहुचाने के लिए भी नाटककार ने उनका उपयोग किया है। विक्रमोर्वशीय व शाकुन्तल में इन तत्त्वों द्वारा कथावस्तु व चरित्रों को पौराणिक सांचे में ढाला गया है। कालिदास ने अपने प्रेम-दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए भी अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग किया है। शाकुन्तल में दुर्वासा-शाप के द्वारा प्रेमी-प्रेमिका को वियुक्त कर नाटककार ने प्रेम के आदर्श स्वरूप का चित्रण किया है। विक्रमोर्वशीय में पुरूरवा के विरह-चित्रण के लिए कुमार के नियम व उर्वशी के रूप-परिवर्तन की कल्पना की गयी है। परम्परागत चरित्रों का परिष्कार करना भी इन तत्त्वों के प्रयोग का एक उद्देश्य रहा है। शाकुन्तल में दुर्वासा-शाप की कल्पना द्वारा नाटककार ने महाभारतीय दुष्यन्त के चरित्र का कायाकल्प कर दिया है।

नाटकों में रस-सवेदना को समृद्ध बनाने में भी इन तत्त्वों का विशिष्ट योगदान है। अधिकतर अतिप्राकृत तत्त्व अद्भुत रस के व्यंजक हैं। कहीं-कही वे भयानक, वीर, करुण, रौद्र आदि रसों को भी अभिव्यक्त करते है। इन तत्त्वों के विनियोग से कालिदास के नाटकों में विस्मय, रहस्य व कौतूहल की भावनाओं को तीव्र उत्थान मिला है। अनेक स्थलों पर इन तत्त्वों द्वारा नाटककार ने नैतिक व मनोवैज्ञानिक प्रभाव की सृष्टि की है।

कुछ अतिप्राकृत तत्त्वों द्वारा कालिदास ने प्रकृति और मानव की आन्तरिक एकता तथा उनके एकरस अखंड जीवन की झांकी दिखायी है। मालविकाग्निमित्र में अशोक-दोहद की कल्पना विक्रमोर्वशीय में उर्वशी का लता रूप मे परिवर्तन, शाकुन्तल में वनदेवताओं द्वारा शकुन्तला को वस्त्र व आभूषण आदि का उपहार तथा उनके आशीर्वाद इसी उद्देश्य के साधक है। इन तत्त्वों मे प्रकृति और मानव के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में कालिदास की जीवन-दृष्टि व्यक्त हुई है। कालिदास मानव को मानवेतर सृष्टि से पृथक् करके नही देखते; वे उसे विराट् सृष्टि का ही एक अग मानते है। इस सृष्टि में देवता, असुर, राक्षस, पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति आदि सभी है। मनुष्य इन सबके साथ विभिन्न सम्बन्धों से जुड़ा है। कालिदास ने मनुष्य को उक्त सभी के बीच मे रखकर उनके प्रति उसके राग-विरागो का चित्रण करते हुए समस्त सृष्टि के साथ उसके जीवन का सामंजस्य दिखाया है। कालिदास की दृष्टि मे मनुष्य की नियति शेप सृष्टि से पृथक् नहीं है, अपितु सबकी नियति के साथ सम्बद्ध है। यही कारण है कि इन नाटकों में प्राकृत और अतिप्राकृत की भेद रेखा स्पष्ट नही हैं। प्राकृतिक जगत् अतिप्राकृतिक लोक में विलीन हो जाता है और अतिप्राकृतिक प्राकृतिक मे। अतिप्राकृतिक घटनायें प्राकृतिक क्रिया-कलापों मे इस प्रकार घुलमिल गई है कि वे उन्हीं का सहज व स्वाभाविक अग प्रतीत होती है। एक ओर दिव्य जगत् के प्राणी मानव जगत मे अवतीर्ण होकर उसके कार्यकलापों में भाग लेते है या उनकी समस्याओं को सुलझाने के लिए सहयोग व साहाय्य का हाथ बढ़ाते है तो दूसरी ओर मानवलोक के प्राणी भी देवों की सहायतार्थ दिव्य लोको में जाते हैं। इस प्रकार कालिदास के नाटकों में प्राकृत और अतिप्राकृत की सीमाएं एक-दूसरे में ओझल हो गई है।

मानव-जीवन में भाग्य, अदृष्ट या कर्म की अपरिहार्य शक्ति का दर्शन कराने के लिए भी कालिदास ने कुछ अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग किया है। मालविकाग्निमित्र में सिद्धादेश साधु की भविष्यवाणी, विक्रमोर्वशीय में भरतमुनि का शाप व कुमार कार्तिकेय के नियम से उर्वशी का लता रूप में परिवर्तन तथा शाकुन्तल में दुर्वासा के शाप से शकुन्तला का प्रत्याख्यान आदि प्रसंग मानव-जीवन में अदृष्ट तथा कर्म की शक्तिशाली भूमिका का संकेत देते हैं।

कालिदास के नाटकों में कथावस्तु का विकास व उसकी सुखान्त परिणति प्राय: अतिप्राकृत तत्त्वों पर निर्भर रहती है। मालविकाग्निमित्र—जैसे नाटक में भी जिसकी वस्तु व पात्रों की योजना सर्वथा लौकिक है, कालिदास ने प्रेमी-प्रेमिका की मनोरथ-पूर्ति को अशोक वृक्ष की दोहदपूर्ति पर निर्भर बना दिया है। विक्रमोर्वशीय में भी प्रणयकथा का विकास नायक व नायिका के चरित्र व प्रयत्नों की अपेक्षा भरत-मुनि के शाप, महेन्द्र के अनुग्रह, कुमार कार्तिकेय के नियम तथा संगमनीय मणि के रहस्यमय प्रभाव आदि पर आधारित दिखाई देता है। इसी प्रकार शाकुन्तल में दुर्वासा का शाप, रहस्यमय अंगूठी एवं देवों व ऋषियों के अनुग्रह आदि के सहारे प्रणय-कथा का विकास हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि कालिदास ने अपने पात्रों की नियति के सूत्र किसी सीमा तक दैवी शक्तियों के हाथों में सौंप दिये है। इन्हीं की सहायता, सहयोग या हस्तक्षेप से मानवजगत् की समस्याओं का समाधान होता है। अतिमानवीय शक्तियों की इस सर्वोपरिता के कारण कालिदास के नाटकों के मानव-पात्र कभी-कभी बड़े निरुपाय व निरीह प्रतीत होते है। पर इस स्थिति के लिए हम कालिदास को दोष नहीं दे सकते। उन्हें अपनी सस्कृति, धर्म, दर्शन व पौराणिक विश्वासों की जो परम्परा मिली थी उसे वे अस्वीकार कैसे कर सकते थे? कालिदास का युग व समाज पौराणिक धर्म व उसके अलौकिक विश्वासो को स्वीकार करता था। उनके समय में पौराणिक धर्म एक जीवित-जाग्रत धर्म था जिसकी आस्थाओ से समस्त लोकचेतना अनुप्राणित थी। पौराणिक विश्व-दृष्टि के अनुयायी होने के कारण कालिदास विश्व में एक दैवी व्यवस्था की सर्वोपरिता स्वीकार करते थे। उनके अनुसार यह दैवी व्यवस्था मानव-हितैषी तथा न्याय व नीति की संरक्षक है। मनुष्य का जीवन देवताओं की सहायता या अनुग्रह के बिना अपूर्ण है। मनुष्य विश्व में अकेला नही है, उसके कर्म व प्रयत्नों की सफलतता विश्व का नियमन करने वाली अतिमानवीय शक्तियों के अनुमोदन पर निर्भर है। उसका जीवन-क्रम किन्ही दैवी नियमों द्वारा पूर्व निर्धारित है। उसके वर्तमान जीवन के सुख-दु खों का रहस्य उसके पूर्व जन्म के कर्मो मे निहित है। इस प्रकार कालिदास मानवीय कार्यकलापों को सृष्टि की एकाकी घटना नही मानते अपितु वे उन्हें किसी विश्वव्यापी ईश्वरीय या दैवी व्यवस्था का अग स्वीकार करते है।

कीथ न कालिदास की कृतियों को प्रशंसनीय मानते हुए भी उन पर यह दोषारोपण किया है कि "कालिदास ने अपने नाटकों व महाकाव्यों में जीवन व नियति की महती समस्याओं के प्रति कोई रुचि नहीं दिखाई है। उनके मतानुसार ब्राह्मण जीवन-दर्शन के प्रति कालिदास की एकान्त निष्ठा ने उनकी रुचियों पर एक संकुचित सीमा आरोपित कर दी थी। मनुष्य अपने ही कर्म द्वारा निर्मित एक न्यायशील भाग्य से शासित है, अपने इस विश्वास के कारण वे जगत् को एक दुःखान्त

दृश्य के रूप में देखने, अधिकांश मनुष्यों के दुर्भाग्य के प्रति सहानुभूति अनुभव करने या विश्व में अन्याय के प्रभुत्व को समझने मे समर्थ थे ।"[1]

कीथ का यह आरोप स्पष्टतः पूर्वग्रहों पर आधारित है । इस विषय में हेनरी डब्ल्यू वेल्स का यह मत उल्लेखनीय है कि कीथ ने संस्कृत नाटक पर जो लिखा उसमे उनके अनेक पूर्वग्रह व्यक्त हुए है जो इन नाटकों के प्रति उदार व सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण में बाधक रहे हैं । उनके विचार में कीथ का सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण रूढ़िवादी है जिसके कारण वे यूनानी ट्रेजेडी को ही गंभीर नाटक का एकमात्र आदर्श मानते हैं तथा अरस्तू के नाट्य-सिद्धान्तों को ही नाट्यालोचन की सर्वोत्तम कसौटी के रूप में देखते हैं ।[2]

कीथ का यह कथन किसी सीमा तक ठीक है कि कालिदास की कृतियों का विषयक्षेत्र सीमित है, किन्तु इसके लिए उनका ब्राह्मण जीवन-दर्शन को दोष देना उचित नहीं है । कालिदास ने संभवतः अपने समय के सहृदय पाठकों व श्रोताओं की रुचि को ध्यान में रखकर ही अपनी रचनाओं की विषय-वस्तु का चयन किया होगा । उनके नाटकों का प्रधान प्रतिपाद्य 'प्रेम' है । यह स्पष्ट है कि उन्होंने प्रेम को जीवन का कोई एकांगी भाव नही माना है, अपितु उसे एक सर्वव्यापी भाव मानते हुए उसके माध्यम से अपना सम्पूर्ण जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया है । कालिदास के साहित्य की जो भी सीमाएं है वे उनकी प्रतिभा की सीमाएं नही है, अपितु उनके युग की परिस्थितियों, प्रवृत्तियों व रुचियों की सीमाएं प्रतीत होती है । कालिदास भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग के कवि है, यही कारण है कि उनकी कृतियों मे द्वन्द्व, विक्षोभ और संघर्ष का नही, अपितु शान्ति, समृद्धि, आशावादिता व सुस्थिरता का स्वर प्रधान है । कीथ ने ग्रीक जीवन-दर्शन के प्रकाश मे कालिदास के मूल्यांकन का प्रयत्न किया है, जो उचित नहीं है । कालिदास की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि नितान्त भिन्न थी, अतः कीथ का ऐसा प्रयत्न उनकी निष्पक्ष दृष्टि का सूचक नही है । यदि ग्रीक जीवन-दृष्टि की तुला पर संस्कृत नाटक दोषपूर्ण लगते हैं तो भारतीय जीवन-दर्शन की तुला पर रखकर तोलने पर ग्रीक-नाटक भी हमें वैसे ही लगेंगे । हम बता चुके है कि कालिदास भी मानव-जीवन में भाग्य व दैव की प्रभविष्णु भूमिका स्वीकार करते हैं, पर वे यूनानियों के समान उसे स्वेच्छाचारी, अनियंत्रित और विवेकहीन नही मानते । कालिदास ने अपने नाटकों में भाग्यकृत दुःखांत स्थितियों का चित्रण न किया हो ऐसा नही है; पर उनसे यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे यूनानी जीवन-दर्शन व

---

1. संस्कृत ड्रामा, पृ० 160.
2. क्लासिकल ड्रामा, ऑव् इंडिया, पृ० 2.

नाट्यादर्शों के अनुसार जीवन को एक दु:खांत दृश्य के रूप में चित्रित करते। ईश्वर, देवता व अदृष्ट के साथ मानव-जीवन के सम्बन्ध के विषय में कालिदास से पहले भारत में पर्याप्त चिन्तन हो चुका था तथा इस विषय में भारतीय विचारधारा कुछ सर्वमान्य निष्कर्षो पर पहुंच चुकी थी। इस विचारधारा का सार यही था कि मनुष्य अपने जीवन मे जो भी सुख-दु.ख भोगता है वे उसके अपने ही पूर्व कर्मो के परिणाम हैं, उसके लिए किसी और को दोष नहीं दिया जा सकता। उसके अपने प्राक्तन आचरण ही उसकी नियति हैं। ईश्वर, देवता व भाग्य मनुष्य को वही देते हैं जिसे उसने अपने कर्मो द्वारा अर्जित किया है। इस विचारधारा में यह आश्वासन छिपा है कि मनुष्य को वर्तमान मे चाहे कितने भी दु:ख भोगने पड़ रहे हों, वह शुभ कर्मो द्वारा अपने भावी जीवन को अपने आदर्शों व अभिलाषाओं के अनुकूल बना सकता है। सस्कृत नाटक में सुखान्तता का नियम इसी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति है। यह जीवन-दर्शन मनुष्य को भविष्य के प्रति आशावान् बनाकर सत्कर्मो के लिए प्रेरणा देना है, उसे निराशा के गह्वर में नहीं ढकेलता। अत यह कहना ठीक नहीं है कि कालिदास ने जीवन और भाग्य की समस्याओं का विवेचन नहीं किया। उन्होंने जहां भी संभव हुआ है भारतीय जीवन-दृष्टि के अनुसार इन समस्याओ का चित्रण किया है। कीथ की सीमा यही है कि वे ग्रीक नाटकों को दृष्टि में रखकर कालिदास से मानव व नियति सबधी किन्ही विशेप समस्याओं का विशेष दृष्टि से विवेचन चाहते है, पर उनका ऐसा आग्रह उचित नही कहा जा सकता। वस्तुतः भारतीय व पाश्चात्य नाटकों में जीवन को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखा गया है। इन दृष्टिकोणों के पीछे पूर्व व पश्चिम की अपनी-अपनी सांस्कृतिक परम्परा व इतिहास की परिस्थितियां रही है। अत: एक की उपलब्धियों के प्रकाश में दूसरे को परखकर उसके महत्त्व को नकारना न्यायपूर्ण दृष्टिकोण नही है।

यद्यपि कालिदास ने अपने नाटकों मे—विशेप रूप से विक्रमोर्वशीय व शाकुन्तल में—अतिमानवीय तत्त्वो का यथेच्छ प्रयोग किया है, पर हमें यह नही भूलना चाहिए कि इन नाटकों का मूल स्वर सर्वथा मानवीय है। ये तत्त्व केवल साधन के रूप मे प्रयुक्त हुए है, साध्य तो मानव-जीवन और उसकी संवेदनाएं ही है। यह इसी से स्पष्ट है कि कालिदास ने तीनों नाटकों मे मानवीय प्रणय को ही केन्द्र मे रखा है तथा अतिप्राकृत तत्त्व उसके सौन्दर्योद्‌घाटन की नाटकीय युक्तियां मात्र है। यही कारण है कि नाटककार ने इन तत्त्वो को अधिकतर सूच्य रूप में ही निवद्ध किया है। उदाहरणार्थ, शाकुन्तल मे राक्षसविघ्न की मौखिक चर्चा मात्र आई है तथा यज्ञवेदिका के चारों ओर डरावनी छायाओं के रूप में उनके मंडराने की नेपथ्य से केवल सूचना दी गयी है। जिस दुर्वासा के शाप के कारण प्रेमी-प्रेमिका को असह्य व्यथा सहनी पड़ी, उसे भी कालिदास ने सामाजिकों के सामने साक्षात् प्रस्तुत नहीं

किया। इसी प्रकार अग्निशरण मे अशरीरिणी वाणी के गूंजने, वन-देवताओं के उपहार देने व स्त्रीसंस्थान ज्योति-संबंधी अतिप्राकृत प्रसंग भी केवल सूचित किये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि रंगमंच पर अतिप्राकृत घटनाओं की प्रस्तुति का नाटककार ने यथासंभव परिहार किया है। विक्रमोर्वशीय में भरतमुनि का शाप, इन्द्र का अनुग्रह, उर्वशी का रूप-परिवर्तन आदि प्रसंग भी सूच्य कथावस्तु के अंग हैं। हम बता चुके हैं कि मालविकाग्निमित्र मे अशोक-दोहद की रमणीय कल्पना, जिसके मूल में एक अतिप्राकृत विश्वास निहित है, वस्तुतः नाटक की मानवीय प्रणय-कथा का ही एक प्राकृतिक प्रतिरूप है। इन उदाहरणों से सिद्ध है कि कालिदास ने अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग अपने नाटकों की मानवीय कथा को अधिक मर्मस्पर्शी व प्रभावशाली बनाने की दृष्टि से ही किया है। यह ठीक है कि उनके कारण नाटकों में एक अवास्तविक वातावरण की सृष्टि हुई है, पर यह अवास्तविकता नाटककार की कला का एक छद्म या आवरण मात्र है जिसके भीतर उसने मानव-जीवन के गंभीर व मार्मिक पक्षों का विधान किया है। यही कारण है कि कालिदास ने जिन धार्मिक व पौराणिक कल्पनाओं के आधार पर अतिप्राकृत तत्त्वो का प्रयोग किया था आज उनमे वैसी श्रद्धा न रहने पर भी उनकी कृतियों का मानवीय महत्त्व व मूल्य अक्षुण्ण है।

---

५ शूद्रक और विशाखदत्त के नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व

संस्कृत के सामाजिक नाटकों की परंपरा मे शूद्रक का मृच्छकटिक और विशाखदत्त का मुद्राराक्षस मूर्धन्य कृतिया है। शास्त्रीय दृष्टि से प्रथम 'प्रकरण' है और द्वितीय 'नाटक'। प्रथम मे उज्जयिनी के दरिद्र ब्राह्मण व्यापारी चारुदत्त व गणिका वसन्तसेना की प्रणय-कथा दस अकों मे प्रस्तुत की गयी है। मुख्य कथा के साथ राजनैतिक विद्रोह का प्रासंगिक वृत्त गुम्फित कर नाटककार ने वस्तुविधान का अपूर्व प्रावीण्य प्रकट किया है। मुद्राराक्षस में चाणक्य और राक्षस दो विरोधी राजनीतिज्ञों के राजनैतिक दावपेचो से भरे सघर्ष तथा उसमे चाणक्य की कुटिल व सुप्रयुक्त नीतियो की सफलता की कहानी सात अकों में निवद्ध की गयी है। चाणक्य का उद्देश्य दिवंगत नन्दों के स्वामिभक्त व सुयोग्य अमात्य राक्षस को चन्द्रगुप्त का मंत्रित्व स्वीकार कराना है। उसकी सभी नीतिया व कार्य इसी उद्देश्य की ओर उन्मुख हैं। नाटकीय वृत्त की लक्ष्योन्मुख, तर्कसम्मत व संश्लिष्ट योजना की दृष्टि से मुद्राराक्षस एक अद्वितीय कृति है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप मे शृंगार रस का अभाव इसकी एक विरल विशेषता है। यह एकान्ततः पुरुष-प्रधान नाटक है, केवल अंतिम अंक मे एक स्त्री पात्र को नगण्य भूमिका दी गयी है।

मृच्छकटिक व मुद्राराक्षस के रचनाकाल के विषय मे विद्वानो में मतैक्य का अभाव है तथापि इनकी गणना सस्कृत के अपेक्षाकृत प्राचीन नाटको मे की जाती है।[1] इनके रचयिता शूद्रक व विशाखदत्त के विषय मे हमारी जानकारी प्रस्तावनाओ

---

1. विभिन्न विद्वानो ने ई० पू० द्वितीय शतक से लेकर षष्ठ शतक ई० के वीच मृच्छकटिक का रचनाकाल स्थिर किया है। कुछ इसे कालिदास के पहले की कृति मानते है तो कुछ बाद की। मुद्राराक्षस के रचनाकाल के विषय में मुख्यतः दो मत अधिक प्रचलित हैं। एक मत के अनुसार विशाखदत्त गुप्तसम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन थे जिनका उल्लेख मुद्राराक्षस के भरतवाक्य में किया गया है। इस मत के अनुसार विशाखदत्त कालिदास के कनिष्ठ समकालीन सिद्ध होते हैं। मुद्राराक्षस की कुछ प्रतियो मे भरतवाक्य के अन्तर्गत चन्द्रगुप्त के स्थान पर 'अवन्तिवर्मा' पाठ मिलता है जिसे विद्वानो ने मौखरि अवन्तिवर्मा से अभिन्न माना है तथा इसके आधार पर विशाखदत्त का स्थितिकाल छठी शताब्दी के अन्तिम चरण में स्वीकार किया है। मृच्छकटिक व मुद्राराक्षस के रचनाकाल के विषय में दे० कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ० 128–131 तथा पृ० 204; कोनो : इण्डियन ड्रामा, पृ० 89–93 तथा 112–113; दे व दासगुप्त : हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर पृ० 239–242 तथा पृ० 262–264.

में बतायी गई बातों से आगे नहीं जाती । शूद्रक को कुछ विद्वानों ने ऐतिहासिक राजा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, पर अन्य विद्वान् उसे मात्र एक पौराणिक व्यक्ति मानते है । भास के चारुदत्त के साथ मृच्छकटिक का सम्बन्ध भी विवाद का ज्वलन्त विषय रहा है । पर अब अधिकांश विद्वान् इस बात पर सहमत प्रतीत होते है कि मृच्छकटिक चारुदत्त का ही परिबृंहित रूप है ।[1] किन्तु 'चारुदत्त' का ऋणी होने पर भी मृच्छकटिक को अनेक दृष्टियों से एक मौलिक व महान् नाटक होने का गौरव प्राप्त है ।

यद्यपि ये दोनों ही नाटक सामाजिक विषयवस्तु पर आधारित हैं, पर मृच्छकटिक का सामाजिक फलक मुद्राराक्षस से अधिक विस्तृत है । तत्कालीन लोक-जीवन के विभिन्न स्तरों व पक्षों का—विशेष रूप से मध्यम व निम्न वर्गो का—जैसा विशद व व्यापक चित्रण इसमें हुआ है वैसा संस्कृत के किसी अन्य नाटक में नहीं । मुद्राराक्षस भी राजनैतिक यथार्थवादी नाटक के रूप में एक अप्रतिम कृति है । नाटक के रूप मे उसकी संरचनात्मक उपलब्धियां प्रथम कोटि की हैं । ये दोनों नाटक अनेक दृष्टियों से समानता लिये हुए है । दोनों के कथानक घटनाबहुल और गतिशील है, पात्र जीवन्त, व्यक्तित्वसम्पन्न और प्रामाणिक हैं तथा नाटकीय वातावरण ऐहिक और मानवीय । सस्कृत नाटक के क्षेत्र मे शूद्रक और विशाखदत्त दोनो ही लीक छोड़ कर चलने वाले तथा नूतन मार्ग के अन्वेषक नाटककार है । नाटक को काव्यात्मक कल्पना और भावना के वायव्य लोक से उतार कर लोक-जीवन की कठोर भूमि पर स्थापित करने में इन दोनों का अपूर्व योगदान रहा है । संस्कृत के विस्तृत नाट्य-साहित्य मे ये दो कृतियां ही ऐसी हैं जो नाटक के भारतीय व पाश्चात्य उभय मानदण्डों पर समान रूप से खरी उतरती हैं । इसीलिए पाश्चात्य विद्वानों ने इन दोनों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है ।[2]

संस्कृत में नाटक और प्रकरण—रूपक की इन दो प्रतिनिधि विधाओं में प्रकृति

---

1. दे0 ए0डी0 पुसालकर : भास ए स्टडी, पृ0 155–178.
2. आर्थर विलियम राइडर के विचार में "शाकुन्तल और उत्तररामचरित केवल भारत मे ही लिखे जा सकते थे, किन्तु भारतीय नाटककारो की दीर्घ परम्परा मे एकमात्र शूद्रक ही सर्वदेशीय प्रकृति के हैं । शकुन्तला एक हिन्दू कन्या है और माधव हिन्दू नायक, पर सस्थानक मैत्रेय व मदनिका विश्वनागरिक है ।" दे0 मृच्छकटिक के आर्थर राईडर कृत अंग्रेजी अनुवाद 'दि लिटिल क्ले कार्ट' की भूमिका पृ0 16 (हार्वर्ड ओरियन्टल सिरीज, नवम भाग, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी, 1905) हेनरी वेल्स के मतानुसार 'मृच्छकटिक' एक ऐसा रथ है जिसमें आसीन होकर संस्कृत नाट्य-प्रतिभा विश्व के सुदूरतम स्थानों तक विचरण करती है । दे0 सिक्स संस्कृत प्लेज, पृ0 43: कीथ ने मुद्राराक्षस को संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में से माना है जिसका भारत में समुचित सम्मान नही हो सका । दे0 संस्कृत ड्रामा, पृ0 205.

और उद्देश्य की दृष्टि से प्रारंभ से ही अन्तर रहा है। संभवतः ये संस्कृत-नाट्य की दो स्वतंत्र धाराओं के चरम विकसित रूप हैं।[1] इसीलिए इनमे कथावस्तु, पात्र तथा समग्र नाटकीय वातावरण की दृष्टि से प्रभूत अन्तर पाया जाता है। नाटक प्रायः महाकाव्यों, पुराणों व लोक-कथाओं की प्रख्यात कथाओं को लेकर लिखे गये हैं, जबकि प्रकरण की वस्तु उत्पाद्य और समसामयिक होती है। नाटक प्रायः पुराण-कथाओं व महाकाव्यों के अतीत, दूरवर्ती, अलौकिक व अतिमानवीय वातावरण में श्वास लेते है जबकि प्रकरण का सर्वस्व है सन्निकृष्ट, प्रस्तुत व सामयिक जीवन के परिचित व दैनन्दिन परिदृश्य का चित्रण। अतः प्रकरण की सामाजिक व यथार्थोन्मुखी वस्तु में अतिप्राकृत तत्त्वों के लिए बहुत कम अवकाश रहता है। यह बात मृच्छकटिक पर पूरी तरह लागू होती है। दूसरी ओर मुद्राराक्षस नाटक होते हुए भी परंपरागत नाटकों की धार्मिक व पौराणिक कल्पनाओं तथा अतिमानवीय संदर्भों से सर्वथा रहित है। उसके अर्ध-ऐतिहासिक प्रख्यात कथानक में नाटककार ने संभवतः अपने समकालीन राजनैतिक जीवन की निर्मम यथार्थताओं का ही प्रकारान्तर से चित्रण किया है। उसका ध्येय चाणक्य और राक्षस के नीति-निष्णात मानव-व्यक्तित्व को ही प्रकाश में लाना है, अतः मृच्छकटिक के समान इसमें भी अलौकिक तत्त्वों का अभाव सर्वथा युक्तिसंगत है।

अतिप्राकृत लोकविश्वास

कथा व पात्रों के रूप में अतिप्राकृतिक तत्त्वों का विनियोग न होने पर भी कतिपय लोकविश्वासों से सूचित ये तत्त्व इन नाटकों में भी आ गये हैं। सिद्धादेश, शकुन व दैव-संबंधी विश्वास इसी कोटि में आते हैं। सिद्धादेश भविष्यज्ञान का, शकुन मानवीय व प्राकृतिक जगत् में निहित दैवी संकेतों का तथा दैवविषयक विश्वास मानव-कार्यकलापों को अदृश्य रूप मे संचालित करने वाली किसी दैवी शक्ति का बोधक कहा जा सकता है।

सिद्धादेश : मृच्छकटिक के अनुसार किसी सिद्ध पुरुष ने गोपालदारक आर्यक के बारे में यह आदेश (भविष्यवाणी) किया है कि वह राजा बनेगा। इस भविष्यवाणी में विश्वास करके ही दर्दुरक व शर्विलक जैसे उज्जयिनी के असन्तुष्ट नवयुवक उसके गुप्त दल में सम्मिलित हो जाते हैं तथा राजा पालक भी संत्रस्त होकर उसे कारागार में डलवा देता है।[2] इस प्रकार राजनैतिक विद्रोह के प्रासंगिक वृत्त के

1. दे० वी० राघवन: दि सोशल प्ले इन संस्कृत, पृ० 2
2. दर्दुरक : "...कथितं च मम प्रियवयस्येन शर्विलकेन, यथा किल आर्यकनामा गोपालदारकः सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति" इति। सर्वश्चास्मद्विधो जनस्तमनुसरति। तदहमपि तत्समीपमेव गच्छामि। (इति निष्क्रांन्तः) मृच्छ०, 4, पृ० 63 (निर्णय-सागर प्रेस, अष्टम संस्करण, बबई, 1950); (नेपथ्ये) कः कोऽत्र भो.। राष्ट्रियः समाज्ञापयति—'एव खल्वार्यको गोपालदारको राजा भविष्यतीति' सिद्धादेश-प्रत्यय-परित्रस्तेन पालकेन राज्ञा घोषादानीय घोरे बन्धनागारे बद्धः ... वही, 4, पृ०112.

विकास तथा मुख्य कथा के साथ उसके एकसूत्रीकरण में 'सिद्धादेश' को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है । यह उल्लेखनीय है कि भास ने स्वप्नवासवदत्त में, कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में तथा हर्ष ने रत्नावली में सिद्धादेश का एक कथानक-रूढ़ि के रूप में प्रयोग किया है । ऋषि, मुनि, योगी आदि सिद्धपुरुषों के वचनों की सत्यता में अनन्य आस्था भारतीय आस्तिकता का सदा से ही एक अंग रही है । नाटककार ने यहां इसी आस्था का नाटकीय विनियोग किया है ।

शकुन : मृच्छकटिक में भावी अशुभ के सूचक के रूप में कतिपय शकुनों का वर्णन मिलता है । नवम अंक में जब चारुदत्त न्यायालय में बुलाया जाता है तब मार्ग में उसे अनेक प्रकार के अपशकुन दिखाई देते हैं; जैसे एक कौवा सूखे वृक्ष पर बैठा हुआ कर्कश ध्वनि में कांव-कांव कर रहा है, चारुदत्त की बायीं आँख फड़क रही है, एक विकराल विषधर मार्ग में पड़ा हुआ है, भूमि गीली नहीं है फिर भी चारुदत्त का पांव फिसल रहा है और उसका वामभुज बार-बार कांप रहा है । चारुदत्त के विचार मे ये अपशकुन उसकी महाघोर मृत्यु की असंदिग्ध सूचना दे रहे हैं ।[1] यहा यह विश्वास व्यक्त हुआ है कि कोई ऐसी अज्ञात शक्ति है जो मनुष्य को शारीरिक विकारों व प्राकृतिक जगत् के विशिष्ट लक्षणों या परिवर्तनों द्वारा भावी शुभ या अशुभ का आभास देकर पहले से ही उसके विषय मे सावधान कर देती है ।

विधि या दैव : मानव-व्यापारों की परिचालक व नियामक शक्ति के रूप में विधि या दैव की धारणा भारतीय जीवन-दृष्टि का चिरन्तन अंग रही है । मृच्छकटिक व मुद्राराक्षस दोनो में ही इस विश्वास का चित्रण मिलता है । प्रथम मे चारुदत्त, वसन्तसेना, आर्यक, पालक, शकार आदि पात्रों के आकस्मिक स्थिति-परिवर्तन का दृश्य उपस्थित कर नाटककार ने मानवजीवन की सम-विषम गतियों में विधि की प्रभविष्णु भूमिका का मार्मिक निर्देश किया है । वह विधि कूपयन्त्रघटिका के समान किसी को ऊपर ले जाता है तो किसी को नीचे, किसी को रीता करता है तो किसी को परिपूर्ण । इस प्रकार वह लोक में परस्पर-विरुद्ध स्थितियो का एक साथ बोध कराता रहता है ।[2]

मुद्राराक्षस में चाणक्य की कुटिल नीतियो के समक्ष बार-बार पराभूत होकर राक्षस अपनी सफलता और स्थितिविपर्यय के लिए दैव को दोषी ठहराता है । उसके विचार में महाशक्तिशाली नन्दों का विनाश मनुष्य के प्रयत्नों को छिन्न-भिन्न करने

---

1. वही, 9, 10–13.
2. काश्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा काश्चिन्नयत्युन्नति
काश्चित्पातविधौ करोति च पुन. काश्चिन्नयत्याकुलान् ।
अन्योन्यप्रतिपक्षसंहतिमिमा लोकस्थिति बोधय
न्नेपक्रीडति कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः ॥ वही, 10.59.

वाले विधि का ही विलास है।[1] नन्दकुल का वास्तविक शत्रु ब्राह्मण चाणक्य नहीं, अपितु दैव है।[2] राक्षस अपने बुद्धिविशिख से नन्दों के शत्रु चद्रगुप्त का मर्मभेदन करना चाहता है, पर उसे शंका है कि कही अदृश्य दैव पुन: उसका वर्म न वन जाये।[3] मलयकेतु ने राक्षस की नीयत में जो अविश्वास किया उसका भी कारण दैव को माना गया है। दैव से आहत व्यक्ति की बुद्धि पूर्णतया विपर्यस्त हो जाया करती है।[4] इससे प्रतीत होता है कि विशाखदेव 'दैववाद' को निराश व असफल व्यक्ति का जीवन-दर्शन मानते है। यह स्वाभाविक ही है कि सफलता की सीढ़ियों पर अप्रतिहत चढ़ने वाला चाणक्य दैववाद को अज्ञों के जीवन दर्शन से अधिक नहीं मानता— "दैवमविद्वांस: प्रमाणयन्ति।" (मुद्रा० ३, पृ० ९२)।

मृच्छकटिक के तृतीय अंक में चारुदत्त के घर में चोरी करने के लिए प्रविष्ट हुआ शर्विलक एक ऐसे अभिमंत्रित बीज का प्रयोग करता है जो भूमि पर डालते ही, यदि उसके भीतर धन छिपा हो, फूल जाता है तथा गुप्त धन की सूचना दे देता है।[5] टीकाकार पृथ्वीधर के अनुसार चौरशास्त्र की प्रसिद्धि के आधार पर नाटककार ने यह बात प्रस्तुत की है।[6]

नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों से विशाखदत्त की दो अन्य कृतियों का पता चलता है जिनकी अप्राप्ति संस्कृत नाटक साहित्य की महती क्षति कही का सकती है। इनमें से एक 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक प्रकरण था जिसमें गुप्त-कालीन इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना का चित्रण किया गया था। गुप्तनरेश रामगुप्त को शकराज के हाथों पराजित होकर एक अपमानपूर्ण सधि के लिए वाध्य होना पडता है। इस संधि के अनुसार रामगुप्त की रानी ध्रुवदेवी शकराज को समर्पित की जानी है। रामगुप्त का छोटा भाई कुमार चन्द्रगुप्त, जो आगे चलकर भारतीय इतिहास में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ, इस गर्हित संधि को सहन नहीं कर पाता। वह ध्रुवदेवी के

---

1. तस्येद विपुल विधे विलसित पुंसा प्रयत्नच्छिदः॥ मुद्राराक्षस, 5.21 (श्री सी0 आर0 देवधर व वी0 एस0 बेंडेकर द्वारा संपादित, प्रथम संस्करण, वम्बई, 1948)
2. दैव हि नन्दकुलशत्रुरसौ न विप्रः॥ वही, 6.7.
3. तस्यैव वुद्धिविशिखेन भिनद्मि मर्म वर्मीभवेद् यदि न दैवमदृश्यमानम्। वही, 2.8.
4. दैवोपहतस्य वुद्धिरथवा सर्वा विपर्यस्यति॥ वही, 6.8.
5. . . . तन्ममापि नाम शर्विलकस्य भूमिष्ठं द्रव्यम्। भवतु वीजं प्रक्षिपामि। (तथा कृत्वा) निक्षिप्तं वीज न क्वचित्स्फारीभवति। अये परमार्थदरिद्रोऽयम्। भवतु, गच्छामि। मृच्छ0 3, पृ0 86.
6. अभिमंत्रितो वीजविशेषोऽन्तर्धनसहितभूतले क्षिप्तो वहुलीभवति इति चौरशास्त्रप्रसिद्धिः। वही, 3, पृ0 86 पर पृथ्वीधर की टीका।

वेप में शकराज के शिविर में जाकर उसका वध कर देता है। यद्यपि आगे की कथा पूरी तरह स्पष्ट नहीं है, पर नाटक का अंत चन्द्रगुप्त द्वारा कायर व क्लीब रामगुप्त के वध तथा ध्रुवदेवी के साथ विवाह के रूप में होता है।[1] नाट्यशास्त्र के विभिन्न ग्रंथों में इस नाटक के जो छुटपुट विवरण मिलते है उनमें केवल एक ही अतिप्राकृत तत्त्व का उल्लेख प्राप्त होता है। रामगुप्त द्वारा की गयी संधि से जब ध्रुवदेवी अपमान, भय और वितृष्णा के भावों से स्वयं को आहत अनुभव करती है, तभी रात हो चुकी होती है और चन्द्रगुप्त इस समस्या के समाधान के लिए वेतालसाधना[2] की बात सोचता है। श्मशान में रहने वाले भूत, प्रेत, पिशाच, वेताल आदि अतिप्राकृत प्राणियों को प्रसन्न कर अपनी उद्देश्य-सिद्धि में उनकी सहायता लेने की बात भारतीय लोककथाओं की एक बहुप्रयुक्त कथानक रूढ़ि रही है जिस पर तत्तकालीन शाक्तधर्म का प्रभाव है। कथासरित्सागर में वेताल, पिशाच, प्रेत आदि की साधना के अनेक प्रसंग आये हैं।[3] भवभूति ने मालतीमाधव के पंचम अंक में लोककथाओं से गृहीत इस कथानक रूढ़ि का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है। यद्यपि 'देवीचन्द्रगुप्त' में कुमार चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवी के सम्मान की रक्षा के लिए अन्ततः वेताल-साधना का मार्ग नही अपनाता, तथापि उसका उल्लेख मात्र तत्कालीन लोकविश्वास का सूचक है। विशाखदत्त ने राजा उदयन की प्रणयकथा के आधार पर 'अभिसारिकावंचितक' नामक एक नाटक और लिखा था पर नाट्यशास्त्र के ग्रंथो मे इससे संबंधित जो विवरण मिले हैं उनमे किसी अतिप्राकृत तत्त्व का उल्लेख नहीं मिलता। इसी प्रकार शूद्रक के 'पद्मप्राभृतक' भाण में भी ऐसा कोई उल्लेखनीय तत्त्व उपलब्ध नहीं होता।

निष्कर्ष :

मृच्छकटिक और मुद्राराक्षस दोनों में अतिप्राकृत तत्त्वों का लगभग अभाव है। इनमे न कथा के अन्तर्गत कोई अलौकिक घटना आई है और न इनका कोई पात्र ही अतिमानुषिक है। हमने ऊपर जिन दो चार तत्त्वों का उल्लेख किया उनका नाटकीय दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नही है। केवल तत्कालीन समाज के प्रचलित विश्वासो के रूप मे ही उनका विन्यास किया गया है। ये विश्वास किसी अतिप्राकृत घटना, तथ्य या पात्र को प्रत्यक्ष उपस्थित नही करते, केवल उनका संकेत मात्र देते है। अतः उनके कारण इन नाटको के दैनन्दिन यथार्थ वातावरण पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पडता। यह कहने की आवश्यकता नही कि अतिप्राकृत तत्त्वो का स्थूल व प्रत्यक्ष समावेश इन नाटकों की सामजिक विपयवस्तु व अंतश्चेतना के अनुकूल नही होता। अत. इस विपय में शूद्रक और विशाखदत्त ने जो संयम प्रदर्शित किया है वह उनकी नाट्य-प्रतिभा का एक ज्वलन्त प्रमाण है।

— — —

1. दे० वी० राघवन—कृत 'दि सोशल प्ले इन संस्कृत' मे इस नाटक की कथावस्तु का विवरण, पृ० 8–11.
2. . . . के वति ना (शकपतिना ?) परं कृच्छम् आपतित रामगुप्तस्कन्धावारम् अनुजिघृक्षुः उपायान्तरागोचरे प्रतीकारे निशि वेतालसाधनमध्यवस्यन् कुमारगुप्तः आत्रेयेण विदूपकेन उक्तः (उक्तः) वी० राघवन : 'भोजाज्शृंगारप्रकाश' पृ० 860 पर उद्धृत।
3. दे० कथासरित्सागर 3.4.154-156; 18.2.3-70.

६ | हर्ष के नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व

हर्षदेव (सम्राट् हर्षवर्धन, शासनकाल ६०६ से ६४८ ई०) के तीन रूपकों[1] में से दो—प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिकाएं है और तृतीय कृति नागानन्द एक नाटक। प्रथम दो में लोककथाओं में विख्यात ललित एवं विलासी वत्सराज उदयन के अन्तःपुर के प्रणय-प्रसंग अंकित हैं। विषयवस्तु, घटनाविन्यास, पात्र-चित्रण, भाव-व्यंजना तथा नाट्यपद्धति की दृष्टि से ये दोनों नाटिकाएं परस्पर प्रतिरूप-सी लगती है। कुछ महत्त्वपूर्ण पात्र—जैसे—वत्सराज, वासवदत्ता, कांचनमाला, यौगन्धरायण और वसन्तक दोनों में समान है। नायिकाओं—आरण्यका और सागरिका—मे भी नाम मात्र का अन्तर है; उनके व्यक्तित्व, स्वभाव व जीवन की परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य है। तथापि कवित्व व नाट्यकला की दृष्टि से रत्नावली प्रियदर्शिका से उत्कृष्टतर कृति है। रत्नावली में नाटककार ने प्रियदर्शिका की विषयवस्तु को ही अधिक परिष्कृत व कलात्मक रूप में पुनर्निबद्ध किया है। नागानन्द—विशेष रूप से उसका उत्तरार्ध—संस्कृत नाटक साहित्य की एक विशिष्ट उपलब्धि है जिसमे हर्ष ने पुराणों व लोककथाओं मे वर्णित गरुड व नागों के वैर की पारम्परिक कथा के आधार पर बौद्धों के सर्वभूतकरुणा व आत्मोत्सर्ग के आदर्श का बड़ा ही प्रभावशाली चित्र अंकित किया है।

---

1. इन तीनों की प्रस्तावनाएं आपस मे काफी मिलती-जुलती हुई हैं तथा वस्तुविधान, चरित्र-चित्रण व नाट्यपद्धति की दृष्टि से इनमें इतना साम्य है कि इनके एक ही व्यक्ति द्वारा प्रणीत होने मे कोई सन्देह नही रह जाता। मम्मट के एक कथन (काव्यप्रकाश, 1.2 की वृत्ति) के आधार पर परवर्ती टीकाकारो ने इन रूपको—विशेषतः रत्नावली के हर्षकृत होने में सन्देह व्यक्त किया है, परन्तु यह साक्ष्य बहुत बाद का तथा भ्रांतिमूलक होने के कारण प्रामाणिक नही माना जा सकता। इत्सिंग (7वी शती ई0) तथा दामोदरगुप्त (9 वीं शती ई0) के साक्ष्यो से सिद्ध है कि इनके समय में इन रूपको के हर्ष-कर्तृत्व मे कोई सन्देह नही था। (दे0 हिस्ट्री ऑव सस्कृत लिट्रेचर : दे व दासगुप्त, पृ0 255–256)।

नागानन्द की तुलना में प्रियदर्शिका और रत्नावली में अतिप्राकृत तत्त्वों का स्वभावतः सीमित प्रयोग हुआ है। नागानन्द में आधारकथा की पौराणिक प्रकृति, पात्रों की दिव्यता तथा नाटककार के धार्मिक व नीतिवादी दृष्टिकोण के कारण इन तत्त्वों के समावेश के लिए अधिक अवकाश रहा है। नाटिकाओं में इन तत्त्वों का विशेषतः निर्वहण संधि के अन्तर्गत प्रयोग हुआ है जिसका उद्देश्य नाट्यशास्त्रीय विधान के अनुसार अद्भुत रस की योजना द्वारा नाटक के अंत को चमत्कारपूर्ण बनाना है। नाटककार ने सिद्धादेश, शकुन, दोहद, दैव आदि से संबंधित कुछ कथानक-रूढ़ियों व लोकविश्वासों का भी इन नाटिकाओं में कहीं-कहीं विनियोग किया है, पर उनका नाटकीय दृष्टि से महत्त्व नगण्य है। ये तत्त्व अधिकतर नाटिकाओं की पृष्ठभूमि में ही रहे है, उन्हें कथावस्तु का सार्थक अंग नहीं बनाया जा सका है।

प्रियदर्शिका

मन्त्रविद्या द्वारा विषचिकित्सा : प्रियदर्शिका संभवतः हर्ष की प्रथम कृति है। इसके चतुर्थ अंक में मंत्र विद्या द्वारा विषचिकित्सा के रूप में एक विशिष्ट अतिप्राकृत तत्त्व की योजना मिलती है। ईर्ष्यालु वासवदत्ता द्वारा बन्दी बनायी गई आरण्यका प्रणय मे निराश होकर आत्महत्या के लिए विषपान कर लेती है। वत्सराज उदयन कभी नागलोक गये थे और वहां से विषनिवारण की विद्या सीख कर आये थे।[1] वासवदत्ता की आज्ञा से आरण्यका मूर्च्छित व मरणासन्न दशा में चिकित्सा के लिए वत्सराज के पास लायी जाती है। वत्सराज अपनी मंत्रविद्या के अलौकिक प्रभाव[2] से उसे पूर्णतया स्वस्थ कर देते है।[3]

मंत्र-तंत्र आदि गुह्य विद्याओ से प्राप्त होने वाली अलौकिक सिद्धियों में भारतीयों का प्राचीनकाल से ही विश्वास रहा है। आज बीसवीं शताब्दी मे भी यह विश्वास सर्वथा निर्मूल नही हुआ है। अतः हम सोच सकते हैं कि श्री हर्ष के समय में मंत्रविद्या की प्रभविष्णुता मे सामान्य जनों की कितनी गहरी आस्था रही होगी ?

---

1. मनोरमे लघ्विहैवानय ताम्। नागलोकाद्गृहीतविषविद्य आर्यपुत्रोऽत्र कुशल.। प्रि० द० 4, पृ० 98 (चौखबा विद्याभवन, वाराणसी 1955)।
2. उदयन मे विषचिकित्सा की मांत्रिक शक्ति की कल्पना संभवत. हर्ष की अपनी उद्भावना है, क्योकि उदयनकथा के किसी भी स्रोत मे इसका उल्लेख नही मिलता। दे० डा० नीति अड़वाल कृत 'दि स्टोरी ऑव् किंग उदयन', पृ० 60.
3. (राजोपसृत्य प्रियदर्शनाया उपरि हस्तं निधाय मन्त्रस्मरणं नाटयति)
(प्रियदर्शिका शनैरुत्तिष्ठत्ति)
वासवदत्ता—आयुपुत्र, दिष्ट्या प्रत्युज्जीविता मे भगिनी।
विजयसेन—अहो देवस्य विद्याप्रभावः। प्रि० द० 4, पृ० 102–103.

प्रस्तुत प्रसंग की योजना का संकेत संभव है श्री हर्ष को कालिदास के मालविकाग्नि-मित्र से मिला हो जिसमे उड्कुंभविधान तथा नागमुद्रांकित अंगूठी के द्वारा सर्पविष के निवारण की बात कही गयी है । यहां इस अद्भुत तत्त्व द्वारा लेखक ने अपने नायक के व्यक्तित्व की असाधारणता का संकेत देते हुए उसे अपनी प्रेमिका के प्राण-रक्षक के रूप मे गौरवान्वित किया है । नाटककार ने इस प्रसंग को आरण्यका की वास्तविकता के रहस्योद्घाटन एव नाटक की सुखद समाप्ति के साथ संश्लिष्ट कर दिया है जिससे उसकी वस्तुयोजना की प्रवीणता प्रकट होती है । हम बता चुके है कि भरत ने नाटक की निर्वहण सधि में अद्भुत रस की योजना पर विशेष बल दिया है । संस्कृत नाटक में यह योजना प्रायः अतिप्राकृत तत्त्वों के रूप में ही होती है । ये तत्त्व तत्कालीन लोकविश्वासों के अविभाज्य अंग थे अतः इनकी योजना में नाटककार के सामने प्रेक्षकों के मन में अविश्वास या संशय जाग्रत करने का खतरा नही था ।

रत्नावली

इस नाटिका में निम्नलिखित अतिप्राकृतिक तत्त्वों का प्रयोग मिलता है—(१) सिद्धादेश (२) मानव-व्यापारों में विधि की भूमिका (३) मंत्रादि द्वारा लताओं मे पुष्पोद्गम तथा (४) ऐन्द्रजालिक चमत्कार। इनमें से कथावस्तु की दृष्टि से प्रथम व चतुर्थ विशेष महत्त्वपूर्ण है ।

सिद्धादेश : इसका शाब्दिक अर्थ है सिद्ध पुरुष का आदेश या कथन । इस शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न किसी सिद्ध पुरुष द्वारा की गई भविष्य-वाणी के अर्थ में होता है । भारतीय परम्परा मे ऋषि, मुनि, योगी, साधु, सन्त आदि सिद्धिसम्पन्न व्यक्तियों मे भूत भविष्य व वर्तमान तीनों कालों के विषयों को जानने की शक्ति मानी जाती रही है । यह विश्वास किया जाता है कि वे किसी के विषय मे जो भी भविष्यवाणी कर देते हैं वह अक्षरशः सिद्ध सत्य होती है । श्री हर्ष ने प्रस्तुत नाटिका में इसी लोकविश्वास के आधार पर, मुख्य प्रणयकथा की आधारभूमि तैयार करने की दृष्टि से, सिद्धादेश के अभिप्राय का समावेश किया है । यह भारतीय लोककथाओं व उससे अनुप्राणित शिष्ट साहित्य का एक बहुप्रयुक्त अभिप्राय रहा है । भास ने स्वप्नवासवदत्त मे, कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में तथा शूद्रक ने मृच्छ-कटिक में इसका उपयोग किया है, यह हम पहले बतला चुके हैं । हर्ष ने संभवतः स्वप्नवासवदत्त व मालविकाग्निमित्र से इसका संकेत ग्रहण किया होगा । यह इसी से स्पष्ट है कि इन दोनों नाटकों के समान रत्नावली मे भी पात्रविशेष के किसी कार्य, आचरण या नाटकीय वस्तुस्थिति के स्पष्टीकरण अथवा औचित्यप्रदर्शन के लिए इसका प्रयोग किया गया है ।

रत्नावली के विषय में किसी सिद्ध पुरुष ने यह भविष्यवाणी की थी कि उसका विवाह जिस व्यक्ति के साथ होगा वह एक सार्वभौम राजा बनेगा।[1] इस सिद्धादेश की बात जानकर तथा उसमे विश्वास करके ही मंत्री यौगन्धरायण ने सिंहलेश्वर से वत्सराज के लिए रत्नावली की याचना की थी। स्वामिभक्त यौगन्धरायण वत्सराज को एक चक्रवर्ती राजा के रूप में देखना चाहता है। इसीलिए उसने वासवदत्ता की मृत्यु का झूठा प्रवाद फैलाकर भी रत्नावली को वत्सराज के लिए प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

श्री हर्ष ने सिद्धादेश के अभिप्राय को एक विशेष प्रयोजन से प्रयुक्त किया है। इसके द्वारा उसने वत्सराज के अन्त.पुर में रत्नावली (सागरिका) की उपस्थिति की तर्कसंगत व्याख्या के साथ-साथ प्रणयकथा की पृष्ठभूमि में स्वामिभक्त व दूरदर्शी मत्री की नीतिपूर्ण भूमिका का भी निर्देश किया है। यौगन्धरायण की इस भूमिका की पूरी शक्ति व व्याप्ति का सामाजिक को नाटक के अन्तिम अंक में बोध होता है।[2] श्री हर्ष को यौगन्धरायण की उक्त भूमिका का संकेत शायद परम्परागत लोककथाओं तथा भास के उदयन-संबंधी नाटकों से मिला होगा।

मानव-व्यापारों में विधि की भूमिका : भारतीय विचारधारा मानव-कार्यकलापों मे विधि या भाग्य की भूमिका को चिरकाल से स्वीकार करती आयी है। विधि, अदृष्ट या भाग्य की अपरिहार्य शक्ति में विश्वास एक औसत भारतीय के जीवन-दर्शन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। रत्नावली में श्री हर्ष ने भी अपने युग के लोगो मे प्रचलित इस सर्वमान्य विश्वास को चित्रित किया है। वे विधि या भाग्य को मानव-व्यापारों का अदृश्य रूप से संचालन व नियमन करने वाली शक्ति के रूप मे स्वीकार करते है। इस दृष्टि से नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार के द्वारा कहे गये ये शब्द द्रष्टव्य है—

"अनुकूल विधि अन्य द्वीप से, समुद्र के मध्य से या दिगन्त से भी अभिमत वस्तु को लाकर उसके साथ तत्क्षण संयोग करा देता है।[3]

---

1. यौगन्धरायणः—(कृतांजलि.) देव श्रूयताम्। इयं सिहलेश्वरदुहिता सिद्धेनादिष्टा यथा योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति। ततस्तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थं बहुशः प्रार्थ्यमानेनापि सिहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेदं परिहरता यदा न दत्त तदा लावाणकेन वह्निना देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहितः।
(रत्नावली, 4, पृ० 203 (चौखंबा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1964)
2. वही, 4 पृ० 203–204.
3. द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः॥ वही, 1.6.

यहां लेखक ने स्पष्टतः नाटिका के मुख्य प्रणय-वृत्त तथा उसकी पृष्ठभूमि में स्थित घटनाक्रम को ध्यान में रखते हुए मानव-व्यापारों में अनुकूल विधि की अदृश्य व सहायतापूर्ण भूमिका की ओर इंगित किया है। सूत्रधार के उक्त कथन के अनन्तर यौगन्धरायण 'एवमेतत्, कः सन्देहः' कहता हुआ रंगमंच पर प्रवेश करता है तथा सूत्रधार के शब्दों को दुहराता हुआ इस संदर्भ में समुद्र में विपद्ग्रस्त हुई रत्नावली के सकुशल कौशाम्वी लाये जाने का उल्लेख करता है। विगत घटनाओं पर विचार करते हुए वह विश्वासपूर्वक कहता है—"मैने स्वामी के अभ्युदय के लिए जो कार्य आरंभ किया था उसमें दैव ने मुझे सहायता दी है। अतः उसकी सफलता में मुझे कोई सन्देह नही है। यदि भय है तो यही कि मैंने राजा की अनुमति लिये बिना स्वेच्छानुसार आचरण किया है।"[1]

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि नाटककार ने नाटिका की मानवीय कथा को, एक विशिष्ट जीवन-दर्शन का भागीदार होने के कारण, विधि या भाग्य की लोकोत्तर व रहस्यमय शक्ति के साथ जोड़ दिया है, यद्यपि इसकी नाटकीय दृष्टि से कोई आवश्यकता नहीं थी।

मंत्र, मणि आदि द्वारा लताओं में आकालिक पुष्पोद्गम : द्वितीय अंक के प्रवेशक में निपुणिका नामक दासी वताती है कि वत्सराज ने श्रीपर्वत से आये खंड-दास नामक किसी धार्मिक पुरुप से वृक्षों व लताओ में अकाल में ही पुष्प उत्पन्न करने की विद्या या क्रिया सीखी है जिसके द्वारा वे अपनी प्रिय नवमालिका लता में पुष्पोद्गम करेंगे।[2] आगे इसी अंक में वताया गया है कि उदयन द्वारा अनुष्ठित दोहद नवमालिका में पुष्पोत्पत्ति कराने मे पूरी तरह सफल रहा। इस प्रसंग मे वत्सराज ने मंत्र, मणि व औपधियों के अचिन्त्य प्रभाव का इस प्रकार वर्णन किया है—"भगवान विष्णु के कंठ में मणि को देख कर ही शत्रुओं ने पलायन किया था; सर्पगण मंत्रवल से ही पाताल में निवास करते हैं तथा मेघनाद द्वारा आहत लक्ष्मण व वीर वानरगण महौषधि की गन्ध से ही पुनर्जीवित हुए थे।"[3] किन्तु इस विवरण से यह स्पष्ट नहीं होता कि इन तीनों में से किस उपाय द्वारा वत्सराज ने नव-मालिका का दोहद संपन्न किया? इस संदर्भ में श्रीपर्वत व वहां से आये धार्मिक के उल्लेख से प्रतीत होता है कि उसने मंत्रविद्या द्वारा ही नवमालिका मे पुष्प उत्पन्न किये होंगे। संभवत हर्ष के युग में श्रीपर्वत तंत्र, मंत्र, योग आदि गुह्य विद्याओं व

---

1. वही, 1 7.
2. वही, 2, पृ० 55.
3. राजा—वयस्य कः सन्देह। अचिन्त्यो हि मणिमंत्रौपधीनां प्रभाव.।
   कंठे श्रीपुरुपोत्तमस्य . . . गन्धं पुनर्जीविता. ॥ वही, 2, पृ० 71-72.

साधनाओं के केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था। भवभूति ने जो हर्ष के कुछ ही परवर्ती हैं, मालतीमाधव में श्रीपर्वत की उक्त ख्याति का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

वृक्षों व लताओं में पुष्पोद्गम वस्तुतः प्राकृतिक प्रक्रिया से होता है, किन्तु उक्त प्रसंग में मंत्र आदि के अचिन्त्य प्रभाव को उसका कारण बताया गया है। इस दृष्टि से यह प्रसंग अतिप्राकृत कहा जायेगा। भारतीय परम्परा में योग, मंत्र, तन्त्र मणि, औषधि आदि से प्राप्त होने वाली सिद्धियों में लोगों का अगाध विश्वास रहा है। योगदर्शन[1] व तंत्र-साहित्य मे वर्णित नानाविध विभूतियों व सिद्धियों के वर्णन से इसका समर्थन होता है।

यह स्मरणीय है कि वृक्षदोहद द्वारा पुष्पविकास की कल्पना कालिदास के मालविकाग्निमित्र में भी आयी है जिसके स्वरूप व मूल आधार का हम विस्तृत विवेचन कर चुके है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में 'दोहद' के अभिप्राय को नाटक के वृत्त के साथ जिस प्रकार संश्लिष्ट कर उसका अभिन्न अंग बना दिया है वैसा प्रस्तुत नाटिका में नहीं दिखाई देता। यहां इस प्रसंग की योजना का उद्देश्य केवल वत्सराज के व्यक्तित्व के एक असाधारण पक्ष को प्रकाश मे लाना है।

ऐन्द्रजालिक चमत्कार : चतुर्थ अंक में उज्जयिनी से आया सर्वसिद्धि नामक ऐन्द्रजालिक वत्सराज व वासवदत्ता के समक्ष इन्द्रजाल के दृश्य प्रस्तुत करता है। उसकी प्रतिज्ञा है कि वह अपने गुरु से सीखे मंत्रों के प्रभाव से सब कुछ दिखा सकता है।[2] वह वत्सराज से पूछता है कि क्या पृथ्वी पर चन्द्रमा, आकाश में पर्वत, जल मे अग्नि तथा मध्याह्न मे संध्या का दृश्य दिखाऊं ?[3] इन्द्रजाल के प्रवर्तक इन्द्र और मायाकुशल शम्बर को[4] सबसे प्रणाम करवा कर वह आकाश में ब्रह्मा, शंकर, विष्णु, इन्द्र तथा देवताओं व अप्सराओं को प्रत्यक्ष दिखाता है।[5] ब्रह्मा कमल पर

---

1. जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाःसिद्धयः। योगसूत्र 4.1.
2. मम प्रतिज्ञैषा यद् यद् हृदयेनेहसे संद्रष्टुम्।
   तत्तद् दर्शयाम्यहं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण ॥ रत्ना0 4.9.
3. ऐन्द्र0—वही, 4.8.
4. प्रणमत चरणाविन्द्रस्येन्द्रजालकपिनद्धनाम्नः।
   तथैव शम्बरस्य माया सुप्रतिष्ठितयशसः ॥ वही, 4.7.
5. ऐन्द्र0—यद् देव आज्ञापयति। (इति बहुविधं नाट्यं कृत्वा पिच्छिका भ्रमयन्)
   हरिहरब्रह्मप्रमुखान्देवान्दर्शयामि देवराजं च
   गगने सिद्धचारणवधूसार्थं च नृत्यन्तम् ॥ वही, 4.10.

बैठे हुए हैं, शिवजी के मस्तक पर चन्द्रमा शोभित है, विष्णु अपनी भुजाओं में धनुष, असि, गदा व शंख लिये हुए है एवं दिव्य नारियां (अप्सराएं) जिनके चंचल चरण नूपुरों से झंकृत हैं, आकाश मे नाच रही हैं। इस दृश्य को देखकर वासवदत्ता चकित रह जाती है।[1] इसी समय उदयन को सिंहलराज के मंत्री वसुभूति व कंचुकी बाभ्रव्य के आगमन की सूचना दी जाती है। ऐसी स्थिति में ऐन्द्रजालिक को कुछ समय के लिए अपना कार्यक्रम स्थगित रखने के लिए कहा जाता है। सर्वसिद्धि जाते समय वत्सराज से कहता है कि आपको अभी मेरा एक इन्द्रजाल और देखना है। जब उदयन वसुभूति व बाभ्रव्य से बात कर रहा था, तभी सहसा राजप्रासाद से आग की लपटें निकलती दिखाई देती है।[2] वासवदत्ता की प्रार्थना पर उदयन उस आग में घुसकर बन्दिनी सागरिका को बन्धनमुक्त करके ले आता है। तभी आग सहसा शान्त हो जाती है तथा सभी वस्तुएं यथापूर्व दिखाई देती है।[3] यह आग वस्तुतः ऐन्द्रजालिक दृश्य है[4] जिसके पीछे यौगन्धरायण की कुछ योजना काम कर रही है। यौगन्धरायण ने रत्नावली की बंधन-मुक्ति तथा वसुभूति व बाभ्रव्य द्वारा उसके प्रत्यभिज्ञान के लिए इन्द्रजाल का प्रयोग कराया है[5] जिसमें वह पूर्णतया सफल रहता है। इससे नाटक के सुखान्त मे ऐन्द्रजालिक दृश्य की सोद्देश्य भूमिका नितान्त स्पष्ट है। इसका एक अन्य प्रयोजन वत्सराज को एक साहसी वीर पुरुष एवं अपनी प्रेमिका के प्राणरक्षक के रूप मे अंकित करना भी है। साथ ही इस दृश्य द्वारा नाटककार ने अद्भुतरस की सृष्टि करते हुए नाटिका के अंतिम भाग को अति विस्मयावह बना दिया है।

नागानन्द

पांच अंकों के इस नाटक मे विद्याधर राजकुमार जीमूतवाहन के प्रेम, परिणय व अनुपम आत्मत्याग की कथा निबद्ध की गई है। नाटक की प्रस्तावना से विदित होता है कि इसकी कथा 'विद्याधर जातक' से ली गई है, किन्तु यह जातक

---

1. वही, 4.11.
2. वही, 14-15.
3. अहो महदाश्चर्यम्। क्वासौ गतो हुतवहस्तदवस्थमेतदन्तःपुरं (वासवदत्तां दृष्ट्वा) कथमवन्ति-नृपात्मजेयम्। वही, 4, पृ० 195.
4. विदूषक—भो मा संदेहं कुरु। इन्द्रजालमेवेदम्। भणितं तेन दास्याः पुत्रेणैन्द्रजालिकेन यथैको मम पुन. खेलोऽवश्य देवेन प्रेक्षितव्य इति। तत्तदेवैतत्। वही, 4, पृ० 196.
5. राजा—ऐन्द्रजालिकवृत्तान्तोऽपि मन्ये त्वत्प्रयोगएव।
   यौगन्धरायण— देव एवम्। अन्यथान्त पुरे बद्धाया अस्याः कुतो देवेन दर्शनम्। अदृष्टायाश्च वसुभूतिना कुतो परिज्ञानम्। वही, 4, पृ० 204.

अब उपलब्ध नहीं होता। जीमूतवाहन के आत्मोत्सर्ग की कथा गुणाढ्यकृत वृहत्कथा मे भी रही होगी, क्योंकि वृहत्कथामंजरी[1] व कथासरित्सागर[2] दोनों में यह कथा आई है तथा उसका स्वरूप नाटक की वस्तु से काफी मिलता-जुलता हुआ है। संभव है हर्ष ने विद्याधर जातक के साथ-साथ वृहत्कथा का भी उपयोग किया हो जो उसके समय में उपलब्ध रही होगी।

नागानन्द के प्रथम तीन अंकों मे जीमूतवाहन व मलयवती के प्रणय व परिणय का वृत्त गुम्फित है और अंतिम दो अंकों में जीमूतवाहन के आत्मवलिदान का। इस प्रकार नाटकीय वस्तु दो खडों में विभक्त हो गई है जिनके वीच का सम्वन्ध-सूत्र पर्याप्त दृढ़ नहीं है। प्रथम तीन अंक वस्तु व अन्तश्चेतना की दृष्टि से रत्नावली व प्रियदर्शिका का ही रूपान्तर प्रतीत होते है। किन्तु चतुर्थ व पंचम अंकों मे नाटक की कहानी ने एक नयी दिशा ग्रहण की है। प्रथम की तुलना में यह दूसरा भाग अधिक गंभीर है तथा धार्मिक व दार्शनिक विचारणाओं से पूर्ण है।[3] इसमें जीमूत-वाहन के चरित्र में 'वोधिसत्त्व' के आदर्श को मूर्त रूप दिया गया है। वेल्स के मत मे नाटककार ने दोनों भागों को अनेक युक्तियों से सफलतापूर्वक सग्रथित किया है। प्रथम अंक मे नायिका मलयवती अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए गौरी की स्तुति करती हुई दिखायी गयी है तथा अन्तिम अंक में उसी की प्रार्थना से गौरी साक्षात् प्रकट होकर तथा जीमूतवाहन को प्रत्युज्जीवित कर नाटक की सुखद परिणति मे सहायक होती है। इस प्रकार गौरी का अनुग्रह नाटक के दोनों खण्डों का एक सम्वन्ध-सूत्र कहा जा सकता है। श्री वेल्स के अनुसार "नाटक का प्रथम भाग दूसरे के बिना वहुत हल्का है और दूसरा प्रथम के विना अतीव भयावह। ये दोनो खण्ड मिलकर शारीरिक व सार्वभौम प्रेम तथा विपयोपभोग व आत्मविसर्जन के सामजस्य के सिद्धान्त एव आस्था की अभिव्यक्ति हैं। उनके विचार में यह सामंजस्य पश्चिम की तार्किक व व्यावहारिक मनीषा के लिए एक अन्तर्विरोध प्रस्तुत कर सकता है, किन्तु प्राच्य समाधि के लिए यह एक सम्पूर्ण सन्तुलन की स्थिति है।"[4]

नागानन्द में वस्तु व पात्र दोनों की सृष्टि में अतिप्राकृतिक तत्त्वो का संयोजन हुआ है। चतुर्थ अंक तक के घटनाक्रम मे कोई विशेप अतिप्राकृतिक तत्त्व नहीं मिलता, किन्तु पंचम अंक में निर्वहण सधि के अन्तर्गत ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का समायोजन किया गया है। ये तत्त्व नाटक की सुखान्तता की प्रक्रिया के अंग के रूप में विन्यस्त है।

---

1. दे0 तृतीयलम्वक, पृ0 107–111.
2. दे0 चतुर्थलम्वक, द्वितीय तरंग, 16–54, 203–256.
3. दे0 हेनरी डब्ल्यू वेल्स : दि क्लासिकल ड्रामा ऑव् इन्डिया, पृ0 60.
4. वही, पृ0 61.

दैवी साहाय्य : मृत जीमूतवाहन का प्रत्युज्जीवन : भारतीय नाट्यशास्त्र के सर्वमान्य विधान के अनुसार नाटक को सुखान्त बनाने के लिए हर्ष ने गौरी को नायक के दिव्य सहाय के रूप में प्रस्तुत किया है। गौरी की इस भूमिका का आधार उसने प्रथम अंक में ही निर्मित कर दिया है। गौरी ने मलयवती को स्वप्न में यह वर दिया था कि विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा उसका पति होगा।[1] इस वरदान के अनुसार मलयवती का विद्याधर राजकुमार जीमूतवाहन के साथ विवाह हुआ। किन्तु जीमूतवाहन अपने राज्य से उदासीन था तथा मातंग नामक एक अन्य विद्याधर ने उसके राज्य को छीन लिया था, इसलिए वह विद्याधर-चक्रवर्ती नहीं बन सका। अतः जब गरुड द्वारा घायल किये जाने पर जीमूतवाहन की मृत्यु हो गई तब मलयवती ने भगवती गौरी को उपालंभ देते हुए कहा—"भगवती गौरि ! त्वया आज्ञप्तं, यथा विद्याधर-चक्रवर्ती भर्ता ते भविष्यति इति, तत् कथं मम मन्दभाग्याया. कृते त्वमलीकवादिनी संवृत्ता।[2]" मलयवती के इतना कहते ही गौरी साक्षात् प्रकट हुई। उसने मलयवती से कहा कि मैं अलीकभाषिणी कैसे हो सकती हूं ? तदनन्तर उसने जीमूतवाहन पर अपने कमण्डलु का जल छिड़कते हुए कहा—

निजेन जीवितेनापि जगतामुपकारिणा ।
परितुष्टास्मि ते वत्स ! जीव जीमूतवाहन ।। ५.३४

गौरी के इन शब्दों के साथ ही मृत जीमूतवाहन जीवित होकर उठ बैठा। इतना ही नहीं गौरी ने उसे विद्याधर-चक्रवर्ती के पद पर भी अभिषिक्त किया।[3] चक्रवर्ती जीमूतवाहन को उसने कांचन चक्र, चतुर्दन्त धवलगज, श्याम अश्व तथा मलयवती—ये चार रत्न प्रदान किये।[4] तदनन्तर गौरी की प्रेरणा से ही मातंगदेव आदि विद्याधर-पतियों ने जीमूतवाहन को प्रणाम किया।[5] इस प्रकार जीमूतवाहन ने नाग शंखचूड की रक्षा के लिए जो आत्माहुति दी, भगवती गौरी के अनुग्रह से उसे अविलम्ब उसका शुभ फल मिल गया।

गरुड द्वारा अमृतवृष्टि व नागों का पुनरुज्जीवन : जब गरुड को विदित हुआ कि मैं जिस व्यक्ति को खा रहा हूं वह नाग नहीं, अपितु विद्याधरकुमार जीमूत-

---

1. नायिका—हञ्जे ! जानामि अद्य स्वप्ने एतामेव वीणां वादयन्ती भगवत्या गौर्या भणिताऽस्मि—मलयवति ! परितुष्टास्मि तवैतेन वीणाविज्ञानातिशयेन, अनया बालजनदुष्करया असाधारणया ममोपरि भक्त्या ! तद् विद्याधर चक्रवर्ती अचिरेणैव ते पाणिग्रहण निर्वर्तयिष्यति। नागानन्द, 1, पृ० 41–42. (चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी, 1956)।
2. वही, 5. पृ० 231.
3. वही, 5. 37.
4. वही, 5. 38.
5. वही, 5. 237.

वाहन है तो उसे हार्दिक पश्चात्ताप हुआ। उसने आग में जलकर अपने पाप का प्रायश्चित करने का निश्चय किया, किन्तु मरणासन्न जीमूतवाहन ने उसे ऐसा करने से रोका। उसके उपदेश से गरुड ने प्राणिवध से विरत होने की प्रतिज्ञा की तथा नागों को अभय प्रदान किया।[1]

आहत जीमूतवाहन की मृत्यु होने पर उसकी शोकाकुल वृद्धा मां ने लोकपालों से प्रार्थना की—"भगवन्तो लोकपालाः कथमप्यमृतेन सिक्त्वा पुत्रकं मे जीवयत।"[2] इस बात को सुनकर पश्चात्ताप-दग्ध गरुड को स्मरण हुआ कि मैं इन्द्र के पास से अमृत लाकर न केवल जीमूतवाहन को ही अपितु पूर्वभक्षित अस्थिशेष नागों को भी पुनर्जीवित कर सकता हूं।[3] यह सब सोचकर वह अमृत लाने के लिए स्वर्ग चला गया। इसी बीच गौरी ने प्रकट होकर मृत जीमूतवाहन को पुनर्जीवित किया। तब तक गरुड भी अमृत लेकर आ पहुंचा। उसके द्वारा बरसाये गये अमृत से भी सभी मृत सर्प पुनरुज्जीवित होकर समुद्र की ओर रेंगने लगे। इस प्रकार गरुड ने पूर्व-भक्षित नागों को नया जीवन देकर अपने पाप का प्रायश्चित किया।[4]

भारतीय परम्परा में अमृत नवजीवन व अमरता देने वाला दिव्य पेय माना गया है। पौराणिक कथाओं के अनुसार अमृत व विष दोनों समुद्र से निकले थे। अमृत का देवों ने पान किया और विष असुरों को दिया गया। देवों की अमरता का रहस्य उनका अमृतपान ही माना गया है। यहां नाटककार ने नागों के पुनर्जीवन के लिए इसी पौराणिक पेय की जीवनदायिनी शक्ति का नाटक की सुखान्तता के लिए उपयोग किया है।

नाटक के इस अन्तिम भाग में गौरी के दिव्य हस्तक्षेप के विषय मे डा० दे ने अपना निम्न अभिमत व्यक्त किया है—"नाटक का पर्यवसान भी दुर्बल है, क्योंकि (जीमूतवाहन का) महान् आत्म-बलिदान एक सच्चे दुःखान्त की ओर इंगित करता है किन्तु उसे सुखांत में बदलने तथा सद्गुणों को पुरस्कृत करने के लिए दिव्य हस्तक्षेप की जो योजना की गई है वह एक अविश्वासोत्पादक कृत्रिम युक्ति है। इस नाटक का नायक एक विद्याधर और नायिका सिद्धकन्या है, अतः इसके वातावरण में अति-प्राकृत तत्त्वों का प्रयोग विसंगत नहीं लगता किन्तु इन तत्त्वों ने अतिम दुःखान्त

1. वही, 5. 26–27.
2. वही, 5. पृ० 227.
3. गरुड—(सहर्षमात्मगतम्) अये! अमृतसंकीर्तनात् साधु स्मृतम्। मन्ये प्रमृष्टमयशः तद् यावत् त्रिदशपतिमभ्यर्थ्य तद्विसृष्टेनामृतवर्षेण न केवलं जीमूतवाहनम् एतानपि पूर्वभक्षितानस्थिशेषानाशीविषान् प्रत्युज्जीवयामि। वही, 5, पृ० 228.
4. वही, 5.36.

जटिलता का एक बहुत आसान समाधान प्रस्तुत किया है जिससे उसके प्रभाव की गरिमा को क्षति पहुंची है" ।[1] डा० दे के इस मत से हम सहमत हैं किन्तु हमें यह भी सोचना होगा कि हर्ष भारतीय परम्परा के नाटककार होने के नाते नाटक को दु:खान्त नहीं बना सकते थे । यही कारण है कि उन्होंने गरुड की अमानवीय निर्घृणता तथा जीमूतवाहन के त्याग व बलिदान का दृश्य अंकित करने के बाद गरुड का हृदय-परिवर्तन दिखाते हुए जीमूतवाहन को अपने उदात्त सद्गुणों के लिए गौरी के हाथों तत्क्षण पुरस्कृत भी करा दिया है । इससे नाटक का अंत कृत्रिम होते हुए भी एक विशेष धार्मिक व नैतिक आस्था का व्यंजक हो गया है । भारतीय परम्परा जीवन में पाप या अशुभ की सत्ता स्वीकार करती है पर उसमे शुभ को अभिभूत करने का सामर्थ्य नहीं मानती । दूसरे शब्दों में, अन्तिम विजय का अधिकार वह उसे नही देती । गरुड़ ने अपने दुष्कर्मों के लिए जो पश्चात्ताप व प्रायश्चित्त किया उससे उसकी क्रूर प्रकृति पूरी तरह प्रक्षालित हो गयी । श्री वेल्स के शब्दो में "अंत में उसकी (गरुड की) उदाराशयता का अभिनन्दन किया गया है उसकी बुराइयो की निन्दा नहीं ।"[2] उनके विचार में—"भारतीय नाटक संकल्पपूर्वक शिव का ही अभिनन्दन करता है; वह अशिव को स्वीकार करता है पर उसका अधिक साहसपूर्ण सामना करने की बात उसे अस्वीकार्य है ।"[3] हर्ष ने नागानन्द के अंत मे दैवी हस्तक्षेप व अमृत-वृष्टि द्वारा जीमूतवाहन व नागों को पुनरुज्जीवित करा कर भारतीय संस्कृत का यही सनातन दृष्टिकोण व्यक्त किया है । इस दृष्टिकोण को हम चाहें तो संस्कृति नाटक की एक शक्ति या उपलब्धि के रूप में देख सकते है या दार्शनिक व नैतिक आग्रहों के लिए कलाकार के निरीह आत्मसमर्पण के रूप मे । इसमें सन्देह नही कि इस विचारसरणि के कारण सस्कृत नाटक जहां शुद्ध नीतिवादी व दार्शनिक दृष्टि से उत्कर्ष को प्राप्त हुआ है वहां यथार्थ की कसौटी पर उसे बहुत कुछ खोना भी पड़ा है । यह बात संस्कृत के बड़े से बडे नाटककार—कालिदास, शूद्रक, भवभूति—के विषय मे भी उतनी ही सत्य है जितनी हर्ष जैसे द्वितीय श्रेणी के नाटककार के विषय में ।

अतिप्राकृतिक पात्र : नागानन्द के प्राय: सभी पात्र देवजाति के हैं । नायक जीमूतवाहन एक विद्याधर है और नायिका मलयवती सिद्ध जाति की । देवयोनि के होने पर भी ये व्यक्तित्व और कार्य की दृष्टि से मानव है । जीमूतवाहन के व्यक्तित्व मे नाटककार ने बोधिसत्त्व के आदर्श को मूर्तिमान् किया है । प्रारम्भ मे वह राज्य-सुख से उदासीन, विषयों से विरक्त तथा माता-पिता की सेवा में तत्पर बताया गया

---

1. हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 259-260.
2. दि क्लासिकल ड्रामा ऑव् इण्डिया, पृ0 17.
3. वही, पृ0 18.

है। बाद में वह एक प्रेमी के रूप में हमारे सामने आता है। किन्तु उसके चरित्र का उज्ज्वलतम पक्ष चतुर्थ व पंचम अंकों में उद्घाटित हुआ है जहाँ वह भूतदया की भावना से प्रेरित होकर नाग शंख-चूड की रक्षा के लिए अपना जीवन न्यौछावर कर देता है। उसकी महासत्त्वता तब पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है जब वह गरुड द्वारा अपने अंग-प्रत्यंगों के खाये जाने पर भी मुसकराता रहता है।[1] यह उचित ही है कि गरुड उसकी महाकरुणा, आत्मबलिदान और महासत्त्वता से प्रभावित होकर अपने पापों के लिए सच्चे मन से प्रायश्चित करता है। जीमूतवाहन का अप्रतिम आत्मत्याग उसके व्यक्तित्व को एक महामानव या अतिमानव की कोटि में स्थापित कर देता है।

नायिका मलयवती पहले एक प्रेमिका और फिर पतिप्राणा पत्नी के रूप में हमारे सामने आती है। दिव्य सिद्धकन्या होने पर भी उसका व्यक्तित्व सर्वांशतः मानवीय है। गरुड एक पुराकथात्मक विशालकाय पक्षी है जिसकी नागों के साथ शत्रुता महाकाव्यों व पुराणों की अनेक कथाओं का विषय रही है। इन कथाओं के अनुसार वह काश्यप और विनता का पुत्र तथा भगवान् विष्णु का वाहन और ध्वज है।[2] आकार की दृष्टि से वह मनुष्य और पक्षी का मिलाजुला रूप प्रस्तुत करता है। नागानन्द मे गरुड के विषय मे कहा गया है कि पहले वह अपने पंखों की वायु से समुद्र के जल को हटा कर वेग से पाताल में चला जाता था और वहाँ नागों को पकड़ कर अपना आहार बनाता था। उसके इस कार्य से समस्त नाग जाति के विनाश की आशंका से त्रस्त होकर वासुकि ने गरुड से प्रार्थना की कि हमारी सन्तति का विच्छेद होने से तुम्हारे ही स्वार्थ की हानि होगी। अतः हम तुम्हारे लिए प्रतिदिन एक नाग भेज दिया करेंगे। इस समझौते के अनुसार वासुकि प्रतिदिन एक नाग दक्षिण समुद्र के तट पर भेज देता है। गरुड भी प्रतिदिन वहाँ आकर उसे अपना आहार बनाता है।[3]

चतुर्थ अंक मे गरुड की एक विराट् आकार वाले पक्षी के रूप में कल्पना की गई है। जब वह आकाश में उड़ता है तो वायु का वेग प्रचण्ड हो जाता है, उसके पंखों से आकाश ढक जाता है, समुद्र का जल वेला लांघ कर पृथ्वी को प्लावित करने लगता है। द्वादश आदित्यों के समान दीप्तिशाली वह अपनी शरीर-कांति से दिशाओं को कपिश बना देता है।[4] वध्य शिला पर रक्त वस्त्र ओढ़ कर बैठे जीमूतवाहन को

---

1. वही, 5.15.
2. महाभारत, आ0 प0 अध्याय 23 से 34.
3. नागानन्द, 4 पृ0 143-145.
4. वही, 4.22.

अपनी चोंच में दबाकर वह आकाश में उड़ जाता है तथा मलय पर्वत के शिखर पर बैठ कर उसके अंगों को काट-काट कर खाता है।

नाटककार ने इस क्रूरकर्मा पौराणिक पक्षी में भी परितापशील मानव-हृदय की प्रतिष्ठापना का स्तुत्य प्रयास किया है। अपने पापों के लिए पश्चात्ताप करता हुआ वह नागों को पुनर्जीवित करने हेतु स्वर्ग से अमृत लेकर आता है तथा आकाश से ही उसकी वृष्टि कर उन्हें नया जीवन प्रदान करता है। गरुड के व्यक्तित्व व चरित्र के उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि हर्ष ने उसके पौराणिक स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए उसे आत्मग्लानि से ग्रस्त मनुष्य की संवेदनाओं से भी विभूषित किया है।

शंखचूड, जिसकी प्राणरक्षा के लिए जीमूतवाहन ने आत्मबलिदान किया, नाग जाति का व्यक्ति है। नाटककार ने उसके चरित्र को मानवीय धरातल पर अंकित करते हुए उसके नाग-व्यक्तित्व को भी दृष्टि मे रखा है। पंचम अंक में शंखचूड़ गरुड को अपने नागत्व का विश्वास दिलाने के लिए निम्नलिखित चिह्न दिखाता है[1]—
(१) वक्षःस्थल पर स्वस्तिक (२) केंचुली (३) दो जिह्वाएं, तथा (४) फन।

गौरी पात्र के रूप में नाटक के केवल अंतिम अंक में उपस्थित होती है। उसके दिव्य हस्तक्षेप व अहेतुक अनुग्रह से ही नाटक की दुःखान्त कारुणिक कथा सुखान्त में परिवर्तित होती है। अभिनवगुप्त ने भरत के नाटक-लक्षणों का विवेचन करते हुए नागानन्द में गौरी को जीमूतवाहन का दिव्य आश्रय बताया है।[2]

अन्य अतिप्राकृतिक तत्त्व : प्रस्तुत नाटक में सिद्धलोक, विद्याधर लोक, नागलोक, देवलोक, आदि विभिन्न लोकों तथा उनके दिव्य निवासियों का उल्लेख मिलता है।[3] मलयपर्वत पर स्थित सिद्धलोक में हरिचन्दन, सन्तानक आदि दिव्य वृक्षों की स्थिति मानी गयी है।[4] प्रथम अंक में जीमूतवाहन द्वारा याचकों को

---

1. वही, 5-18.
2. न च सर्वथादेवचरितं तथा वर्णनीयम्। किन्तु दिव्यानामाश्रयत्वेन प्रकरीपताकानायकादिरूपेण, उपेतमुपगमोऽङ्गीकरणं यत्र। तथा हि नागानन्दे भगवत्याः पूर्णकरुणानिर्भरायाः साक्षात्करणे व्युत्पत्ति जयिते। निरन्तरभक्तिभावितानामेवन्नाम देवताः प्रसीदन्ति, तस्माद्देवाराधनपुरस्सर-मुपायानुष्ठानं कार्यमिति।
   अभिनवभारती, ना०शा० भाग 2, पृ० 412.
3. नागानन्द, 2.13 (सिद्धलोक); 4 पृ० 145 (नागलोक), 5 पृ० 243 (देवलोक); 1.16 (स्वर्गस्त्री, नागी, विद्याधरी, सिद्धान्वयजा).
4. वही, 3 9.

कल्पवृक्ष के दान का उल्लेख मिलता है।[1] नेत्रस्फुरण व बाहुस्फुरण-रूप शकुनों के द्वारा भावी शुभ या अशुभ का सूचन किया गया है।[2] जीमूतवाहन के आत्मबलिदान के अवसर पर पुष्पवृष्टि व दुन्दुभिवादन होता है जो दैवी प्रसन्नता का सूचक है। किन्तु अहंकारी गरुड इसका वास्तविक आशय नहीं समझ पाता।[3]

अतिप्राकृतिक तत्त्व और रस : नागानन्द का प्रधानरस दयावीर है। विपन्न प्राणियों की रक्षा में जीमूतवाहन द्वारा प्रदर्शित उत्साह इसका स्थायिभाव है। अंगरस के रूप में शांत, शृंगार व वीभत्स आदि का यथास्थान चित्रण हुआ है। नाटक के अंत में भगवती गौरी का प्रादुर्भाव, उनके अनुग्रह से मृत जीमूतवाहन का पुनर्जीवन, गरुड द्वारा अमृतवृष्टि तथा अस्थिशेष नागों का प्रत्युज्जीवन आदि व्यापार, जो निर्वहण संधि के अंग हैं, अद्‌भुत रस के व्यंजक हैं।

निष्कर्ष

हर्ष की कृतियों में प्रियदर्शिका और रत्नावली की अपेक्षा नागानन्द में अति-प्राकृत तत्त्वों का आधिक्य है जो उसकी पौराणिक कथावस्तु, नैतिक व धार्मिक भावना एवं दिव्यपात्र-योजना को देखते हुए उचित ही है। नाटिकाओं मे केवल निर्वहण संधि के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण अतिप्राकृत तत्त्वों का समावेश मिलता है जिनका उद्देश्य उन्हें चमत्कारपूर्ण रीति से परिसमाप्ति पर पहुंचाना है। यह उल्लेखनीय है कि हर्ष ने इस उद्देश्य के लिए किसी दैवी शक्ति का स्थूल हस्तक्षेप नहीं कराया, अपितु मंत्रशक्ति व इन्द्रजाल जैसे लोकविश्वासमूलक अतिप्राकृतिक तत्त्वों का उपयोग किया है तथा उन्हें नाटिकाओं की प्रणयकथा के उपसंहार के साथ बड़ी निपुणता से संग्रथित किया है। रत्नावली में सिद्धादेश का एक कथानक-रूढि के रूप में केवल पृष्ठभूमि में विधान किया गया है। दैव की अदृश्य व सर्वनियामक भूमिका का निर्देश तत्कालीन लोकविश्वास की अभिव्यक्ति मात्र है जिसका नाटकीय दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं है। दोहद की अतिप्राकृत कल्पना को भी नाटककार नाट्यवस्तु का सार्थक व अपरिहार्य अंग नहीं बना सका है। संभवत: वह मालविकाग्निमित्र में आए दोहद प्रसंग का ही एक असमर्थ अनुकरण है।

दूसरी ओर नागानंद की कथा और पात्र दोनों पौराणिक व अतिप्राकृत तत्त्वों से समवेत हैं। पंचम अंक में मृत जीमूतवाहन को जिलाने के लिए भगवती गौरी के रूप में एक दिव्य पात्र की अवतारणा की गई है, जिसकी समुचित भूमिका

---

1. वही, 1.8.
2. वही, 4.7; 5.4.
3. वही, 4.28.

प्रथम अंक में ही निर्मित कर दी गई है। गरुड के हृदयपरिवर्तन तथा जीमूतवाहन व नागों के पुनर्जीवन द्वारा हर्ष ने नाटक को जो सुखान्तता प्रदान की है वह कृत्रिम व आरोपित होते हुए भी नाट्यशास्त्रीय निर्देश, संस्कृत नाटक की सर्वमान्य परम्परा एवं भारत के चिरन्तन सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अनुकूल है। नागानन्द के प्रमुख पात्र जन्मना दिव्य होते हुए भी कर्म और स्वभाव की दृष्टि से व्यापक मानवता के ही प्रतिनिधि हैं। जीमूतवाहन के चरित्र में मानवता का इस सीमा तक विकास हुआ है कि वह एक लोकोत्तर पात्र बन गया है। गरुड का व्यक्तित्व पौराणिक अतिमानवता और अनुतापशील मानवता का सामंजस्य प्रस्तुत करता है। प्रियदर्शिका और रत्नावली के समान नागानंद में भी अतिप्राकृत तत्त्व मुख्यत: निर्वहण संधि में आये है और नाट्यशास्त्र के विधान के अनुसार अद्‌भुत रस के व्यंजक है। नाटक का अंतिम भाग उत्कट नैतिक चेतना और धार्मिक भावना से अनुप्राणित है।

७

वेणीसंहार में अतिप्राकृत तत्त्व

भट्ट नारायण[1] का एकमात्र उपलब्ध यह नाटक संस्कृत के वीर रसप्रधान नाटकों में प्रमुख है और आलंकारिकों व नाट्यशास्त्र के लेखकों का विशेष प्रिय रहा है। वामन (८०० ई०) व आनन्दवर्धन (८६०-८६० ई०) ने अपने ग्रन्थों में इसके अनेक स्थल उद्‌धृत किये हैं, अतः इसका रचनाकाल अनुमानतः सप्तम शती ई० का उत्तरार्द्ध या अष्टम का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।[2] इस आधार पर भट्ट नारायण भवभूति के कुछ ही पूर्ववर्ती या समकालीन प्रतीत होते है।

वेणी संहार के आन्तरिक साक्ष्य से विदित होता है कि भट्ट नारायण विष्णु के भक्त थे। उन्होंने कृष्ण को विष्णु से अभिन्न माना है तथा विभिन्न पात्रो के मुंह से उनके प्रति अपना भक्तिभाव व्यक्त किया है। नाटक में वर्णित कृष्ण के व्यक्तित्व की अलौकिकता के मूल में उनकी यही भावना प्रतीत होती है। दार्शनिक दृष्टि से भट्ट नारायण वेदान्त के अनुयायी कहे जा सकते है।[3]

वेणीसंहार की वस्तु महाभारत के युद्धपर्व की कथा पर आधारित है। नाटककार ने भीमसेन की प्रतिज्ञा व उसकी पूर्ति के वृत्त को केन्द्र में रखते हुए उसके चारों ओर नाटकीय वस्तु का संगुंफन किया है। द्रौपदी का वेणीबधन नाटक का मु य कार्य है जिसके आधार पर इसका नामकरण हुआ है।

---

1. बंगाली परम्परा के अनुसार भट्ट नारायण उन पांच ब्राह्मणो मे से एक थे जिन्हे सेन राजवंश के प्रतिष्ठापक आदिसूर ने कान्यकुब्ज से बुलाकर बंगाल में बसाया था। किन्तु डा0 दे ने इस परम्परा की सत्यता में सन्देह प्रकट किया है (देखिए–हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 272)। भट्ट नारायण ने अपने जीवनवृत्त के विषय में हमें कुछ नही बताया है और न किसी अन्य स्रोत से ही इस बारे मे कोई प्रामाणिक जानकारी मिल सकी है। प्रस्तावना में उसने अपनी 'मृगराज' उपाधि का उल्लेख किया है, पर उसका वास्तविक आशय अज्ञात है।
2. दे0 स्टेन कोनो : इण्डियन ड्रामा, पृ0 124, दे व दासगुप्त : हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 271–272.
3. वेणीसंहार, 1.23 (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, नवम संस्करण, 1940)

नाटक का आरम्भ युधिष्ठिर के शान्तिप्रयास की सूचना के साथ होता है। श्रीकृष्ण पांडवों के दूत बनकर दुर्योधन के पास गये है। युधिष्ठिर पांच गांव लेकर ही सन्धि के लिए तैयार हैं, किन्तु दुर्योधन उनके संधि-प्रस्ताव को ठुकरा देता है, जिससे पांडवों के सामने युद्ध के सिवा कोई विकल्प नहीं रह जाता। भट्ट नारायण ने द्वितीय अंक से षष्ठ अंक तक महाभारत के आधार पर इस इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध की विभिन्न घटनाओं को नाटक का रूप देने का प्रयास किया है, पर इसमें वह विशेष सफल नही हो सका है। इसमें घटनाएं तो बहुत हैं, पर उनकी योजना में नाटकीय औचित्य की कमी खटकती है। महाभारत युद्ध के अधिक से अधिक विवरणों का समावेश करने के प्रयत्न में नाटक के अनेक स्थल वर्णन-प्रधान श्रव्यकाव्य में परिवर्तित हो गये हैं। द्वितीय अंक में दुर्योधन व भानुमती का प्रणय-प्रसंग अनावश्यक है तथा तृतीय अंक में कर्ण व अश्वत्थामा का वाक्कलह अपने-आप में प्रभावशाली होने पर भी कथा का अपरिहार्य अंग नहीं बन सका है। अन्तिम अंक मे चार्वाक नामक राक्षस द्वारा युधिष्ठिर के साथ की गई प्रवंचना का प्रसंग अतिरंजित हो गया है तथा युधिष्ठिर के चरित्र की गरिमा के प्रतिकूल है। अतः वस्तुयोजना की दृष्टि से वेणीसंहार एक सफल नाटक नही कहा जा सकता, पर चरित्र-चित्रण में नाटककार को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है। भीष्म, दुर्योधन, अश्वत्थामा, कर्ण आदि पात्र सजीव व आकर्षक हैं, तथापि चरित्रचित्रण मे नाटककार औचित्य का सम्यक् निर्वाह नहीं कर सका है। प्रतिनायक दुर्योधन का चरित्र हमें नायक के चरित्र की अपेक्षा अधिक प्रभावित करता है। पात्रों के चरित्र मे संतुलन और अनुपात की उपेक्षा का ही यह परिणाम है कि इस नाटक के नायक का प्रश्न विवाद का विषय बना हुआ है।

संस्कृत नाटक के इतिहास में वेणीसंहार एक मील के पत्थर के समान है। संस्कृत नाटक की अनेक ह्रासकालीन प्रवृत्तियो का सर्वप्रथम दर्शन इसी में होता है। हर्ष की नाटिकाएं और नाटक यदि इस ह्रासकाल की ओर संक्रांति के सूचक है तो वेणीसंहार इस ह्रास की दिशा का प्रथम निर्देशक। कथावस्तु में प्रत्यक्ष-गोचरता के स्थान पर वर्णनात्मकता, घटनाओं व पात्रों की योजना में संयत व सन्तुलित दृष्टि का अभाव, अनाटकोचित दीर्घसमासयुक्त भाषा, कृत्रिम व अलकृत शैली, गद्य का क्रमिक ह्रास तथा पद्यों की संख्या मे वृद्धि एवं दृश्यकाव्य व श्रव्यकाव्य के भेद का क्रमशः लोप संस्कृत नाटक के ह्रासकाल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ कही जा सकती है। वेणीसंहार व भवभूति के रूपकों में ये प्रवृत्तियां आरम्भिक रूप मे ही मिलती है किन्तु मुरारि व राजशेखर की कृतियों में वे चरम परिणति पर पहुंच गई है। भट्ट नारायण की सबसे बड़ी सफलता वीरयुग के शौर्य, पराक्रम, प्रतिशोध, क्रोध, अहंकार, दंभ, क्रौर्य

आदि भावों की ओजस्वी अभिव्यक्ति द्वारा नाटक में वीरयुग के वातावरण की सृष्टि मे निहित है ।

वेणीसंहार मे अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग सीमित रूप में ही प्राप्त होता है । कुछ तत्त्व लेखक की धार्मिक भावना से प्रसूत है, कुछ पर मूल कथा का प्रभाव है, कुछ नाटककार की अपनी उद्भावनाएं हैं और कुछ सामान्य लोकविश्वासों की अभिव्यक्तिया है । नाटकीय दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण अतिप्राकृत तत्त्व भीमसेन के शरीर में राक्षसों के प्रवेश व उनके द्वारा दुःशासन के रक्तपान की कल्पना है ।

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

कृष्ण का विश्वरूप : प्रथम अंक में बताया गया है कि दुर्योधन ने न केवल युधिष्ठिर के शान्ति-प्रस्ताव को ठुकरा दिया अपितु पांडवों के दूत भगवान् कृष्ण को बंदी बनाने का भी यत्न किया । किन्तु कृष्ण जो साक्षात् पुराणपुरुष विष्णु हैं अपने विश्वरूप के तेजः—संपात से दुर्योधन को मूर्च्छित कर पांडवों के शिविर में सकुशल लौट गये ।[1] इस घटना को नाटककार ने सूच्य रूप में निबद्ध किया है तथा इसके द्वारा कृष्ण के ईश्वरत्व का संकेत देते हुए उनके प्रति अपना भक्तिभाव प्रकट किया है । विश्वरूप की यह कल्पना महाभारत के उद्योगपर्व[2] से ली गयी है जहां कौरवों की राजसभा मे कृष्ण ने अपना यह रूप दिखाया है । पहले कहा जा चुका है कि भास ने भी दूत-वाक्य में इस प्रसंग की योजना की है । और उनका भी उद्देश्य कृष्ण की ईश्वरता का निरूपण कर उनके प्रति अपनी भक्ति प्रकट करना है । किन्तु जहां भट्ट नारायण ने इसे मात्र सूच्य रूप में उपस्थित किया है वहां भास ने दृश्य-सूच्य के मिले-जुले रूप मे अंकित कर इसे अधिक नाटकीय बना दिया है ।

राक्षसों का अनुप्रवेश : तृतीय अंक के प्रवेशक में नाटककार ने राक्षसी वसागधा व राक्षस रुधिरप्रिय के संवाद द्वारा युद्ध में भगदत्त, जयद्रथ, द्रुपद, भूरिश्रवा, सोमदत्त व द्रोण आदि योद्धाओं के वध की सूचना दी है । साथ ही रक्त व वसा आदि के कुंभ भरने की बात से युद्ध के वीभत्स परिणामों का लोमहर्षक चित्र अंकित किया है ।

राक्षस रुधिरप्रिय बातचीत मे वसागंधा को बताता है कि स्वामिनी हिडम्बा-देवी ने उसे युद्ध में भीमसेन के पीछे-पीछे चलने की आज्ञा दी है । इसका प्रयोजन

---

1. कंचुकी—ततः स महात्मा दर्शितविश्वरूपतेजःसंपातमूर्च्छितमवधूय
   कुरुकुलमस्मच्छिविरसंनिवेशमनुप्राप्तः कुमारमविलम्बितं
   दृष्टुमिच्छति । वेणीसंहार, 1 पृ० 27–28.
2. अध्याय, 131, 2-13.

यह है कि भीमसेन ने दुःशासन के रक्तपान की प्रतिज्ञा की है। यह रक्तपान स्वयं भीमसेन नहीं करेंगे, अपितु उनके शरीर में प्रविष्ट होकर राक्षस लोग करेंगे।[1]

नाटककार की उक्त योजना भीमसेन के चरित्र को बचाने के लिए नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। भीमसेन ने दुःशासन के रक्तपान की प्रतिज्ञा की है, पर मनुष्य द्वारा मनुष्य का रक्तपान—और वह भी बंधु का—एक पाशविक, घृणित व नृशंस कर्म है। अतः भीमसेन की प्रतिज्ञा पूर्ण करने और साथ ही उसे नररक्तपान के नैतिक दोष से बचाने के लिए नाटककार ने यह कल्पना की है।

भारतीय पुराण-कथाओं में राक्षस लोग रक्तलोलुप व मनुष्यभक्षी अतिप्राकृत प्राणियों के रूप में कल्पित किये गये हैं। इसी परंपरागत धारणा के अनुसार यहां उन्हें भीमसेन के शरीर मे प्रविष्ट होकर दुःशासन के रक्त का पान करते हुए बताया गया है। आपाततः रक्तपान भीम ही करता है; भीम का यह कार्य स्पष्टतः एक राक्षसी कृत्य है, अतः नाटककार की कल्पना स्थूल व प्रतीकात्मक दोनों अर्थों में खरी है।

अमानुषी वाक् : तृतीय अंक के अंत में भीम द्वारा आक्रांत दुःशासन की रक्षा करने के लिए ज्योंही अश्वत्थामा शस्त्र ग्रहण करने की बात सोचता है, त्यों ही उसे यह आकाशवाणी सुनाई देती है—"महात्मन् भारद्वाजसूनो। न खलु सत्यवचनम् उल्लंघयितुम् अर्हसि।'[2] अश्वत्थामा पहले शस्त्रत्याग की प्रतिज्ञा कर चुका है इसलिए वह शस्त्र ग्रहण कर लेता तो उसका सत्य संकल्प खंडित हो जाता। उक्त दिव्यवाणी उसे सत्यवचन से विचलित होने से बचाती है। अश्वत्थामा कहता है—"यह मुझे युद्ध में उतरने से मना कर रही है, देवता लोग सर्वथा पांडवो के पक्षपाती है।"[3] अश्वत्थामा के कथन से स्पष्ट है कि उसके विचार मे अमानुषी वाक् देवताओं द्वारा उत्पन्न की गई है।

यहां यह संकेत निहित है कि जब मनुष्य अपने किसी सत्य निश्चय को तोड़ने का प्रयत्न करता है तो दैवी प्रेरणा उसे वैसा करने से रोकती है।[4] इस प्रकार अमानुषी वाक् की कल्पना में जहां प्राचीन युग का एक आस्तिक विश्वास प्रकट हुआ है, वहां उसमें एक मनोवैज्ञानिक सत्य की भी झलक मिलती है।

---

1. राक्षस—वसागन्धे, तेन हि स्वामिना वृकोदरेण दुःशासनस्य रुधिरं पातुं प्रतिज्ञातम्। तच्चास्माभी राक्षसैरनुप्रविश्य पातव्यम्। वही, 3 पृ0 67.
2. वही, 3 पृ0 93-94.
3. अश्वत्थामा—कथमियममानुषी वाग्नानुमनुते संग्रामावतरणं मम। सर्वथा पाण्डवपक्षपातिनो देवाः। वही, 3 पृ0 94.
4. कृप—वत्स, अशरीरिणी भारती भवन्तमनृतादभिरक्षति। वही, 3 पृ0 94.

जलस्तम्भनी विद्या : षष्ठ अंक से विदित होता है कि दुर्योधन अपने पक्ष के सभी बडे योद्धाओं के मरने पर अपनी जलस्तम्भनी विद्या द्वारा समंतपंचक के एक सरोवर के भीतर जाकर छिप गया ।[1] नाटककार ने इस प्रसंग को महाभारत से लिया है । विद्याओं द्वारा अतिप्राकृत शक्तियों की प्राप्ति में भारतीयों का चिरकाल से विश्वास रहा है । कालिदास ने अपने नाटकों में तिरस्करिणी और शिखावंधिनी विद्याओं के अलौकिक प्रभाव का उल्लेख किया है, यह हम पहले बता चुके है ।[2]

राक्षसी रूप-परिवर्तन : दुर्योधन का मित्र चार्वाक नामक राक्षस एक मुनि के रूप मे[3] युधिष्ठिर के पास आकर उसे गदायुद्ध में भीमसेन की मृत्यु व अर्जुन तथा दुर्योधन के वीच गदायुद्ध प्रारंभ होने की मिथ्या सूचना देता है । इस प्रसंग द्वारा नाटककार ने नाटक की सुखांतता में संशय, अनिश्चितता और कौतूहल उत्पन्न करते हुए युधिष्ठिर के तीव्र भ्रातृ-प्रेम को उजागर करने का प्रयत्न किया है, पर अतिरंजित हो जाने के कारण यह प्रसंग अभीष्ट उद्देश्य को पूरा नही करता ।

दैवी अभिनन्दन : भीम द्वारा द्रौपदी की वेणी वांध दिये जाने पर नेपथ्य से आकाशचारी सिद्धजनों का अशीर्वाद सुनाई देता है[4] युधिष्ठिर आशीर्वाद सुनकर द्रौपदी से कहते है—"हे देवी ! आकाश में विचरण करने वाले सिद्धजन तुम्हारे वेणीसंहार का अभिनन्दन कर रहे हैं ।"[5] अवलोककार धनिक ने इस स्थल में निर्वहण संधि का उपगूहन नामक अग माना है[6], क्योंकि यहां सिद्धजनों के आशीप के रूप में अद्भुत अर्थ की प्राप्ति हुई है । दैवी प्रसन्नता व अभिनन्दन के साथ नाटक की सुखद परिसमाप्ति नाटककार की धार्मिक भावना की सूचक है ।

अतिप्राकृत पात्र

श्रीकृष्ण : वेणीसंहार में भगवान् श्रीकृष्ण तथा राक्षस व राक्षसी इन तीन अतिप्राकृतिक पात्रों का चित्रण हुआ है । जैसाकि हमने पहले कहा है, भट्ट नारायण ने कृष्ण को भगवान् विष्णु से अभिन्न माना है । प्रथम अंक में कृष्ण के दौत्य की सूचना दी गई है । सूत्रधार के अनुसार कृष्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व संहार में

---

1. पाचालक— . . . 'भो वीर वृकोदर, जानाति किल सुयोधनः सलिलस्तभनीविद्याम् । तन्नूनमेतेन त्वद्भयात्सरसीमेनामधिशयितेन भवितव्यम् । वही, 6 पृ0 161.
2. दे0 प्रस्तुत प्रवन्ध पृ0 176; दे0 विक्रमो. 2 पृ0 24-25.
3. राक्षस : (आत्मगतम्) एषोऽपि चार्वाको नाम राक्षस. सुयोधनस्य मित्रं पाण्डवान्वञ्चयितुं भ्रमामि । वेणीसंहार, 6, पृ0 169.
4. वही, 6.42.
5. देवि, एप मूर्धजानां संहारोऽभिनन्दितो नभस्तलचारिणा सिद्धजनेन । वही, 6 पृ0 202.
6. दे0 दशरूपक 1.53 पर अवलोक

समर्थ साक्षात् विष्णु हैं जिन्होंने कौरवों और पांडवों की युद्धरूपी प्रलयाग्नि को शान्त करने के लिए पांडवों का दौत्य ग्रहण किया है।[1] इसी अंक में आगे कृष्ण द्वारा अपने विश्वरूप के प्रदर्शन का उल्लेख हुआ है।[2] सहदेव खेदपूर्वक कहता है कि दुष्ट दुर्योधन भगवान् वासुदेव का स्वरूप भी नहीं पहचानता।[3] भीम के अनुसार कृष्ण साक्षात् पुराण देव हैं जिनका योगी लोग समाधि लगाकर अपने भीतर साक्षात्कार करते हैं।[4] षष्ठ अंक में युधिष्ठिर ने भी उन्हें 'पुराणपुरुष नारायण' मानते हुए उनके सगुण व निर्गुण दोनों रूपों का वर्णन किया है।[5] कृष्ण के उक्त स्वरूप में नाटककार की भक्ति व दार्शनिक-भावना की अभिव्यक्ति हुई है।

राक्षस-दम्पती : रुधिरप्रिय व वसागंधा भट्टनारायण की अपनी उद्भावनाएं हैं। राक्षस-सम्बन्धी पौराणिक कल्पनाओं का उपयोग करते हुए भी नाटककार ने राक्षस-युगल के स्नेहमय दाम्पत्य जीवन के चित्रण में उनका मानवीकरण कर दिया है। इसी प्रकार राक्षस चार्वाक एक धूर्त, वंचक व क्रूर मनुष्य की भूमिका में अवतीर्ण हुआ है।

अतिप्राकृत लोकविश्वास

प्रस्तुत नाटक मे अतिप्राकृत तत्त्वों के सूचक लोकविश्वासों का भी अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। इन विश्वासो मे शकुन व दैव से सम्बन्धित विश्वास प्रमुख हैं। भानुमती का स्वप्न कौरवो के भावी विनाश का सूचक माना गया है[6] तथा उसका दोष दूर करने के लिए देवपूजा, ब्राह्मणों को दान, यज्ञ, हवन आदि उपाय बताये गये है जो कि तत्कालीन धार्मिक भावना के सूचक है। युद्धभूमि में रथ के ध्वज का पतन भी एक अपशकुन बताया गया है।[7] दक्षिण या वाम नेत्र के

---

1. सूत्रधार—(आकर्ण्य, सानन्दम्।) अहो नु खलु भोः, भगवता सकलजगत्प्रभवस्थितिनिरोधप्रभविष्णुना विष्णुनाद्यानुगृहीतमिद भरतकुल सकल च राजचक्रमनयो. कुरुपाण्डवराजपुत्रयोराहवकल्पान्तानलप्रशमहेतुना स्वयं संधिकारिणा कसारिणा दूतेन। वही, 1 पृ० 9.
2. वही, 1 पृ० 27–28.
3. आर्य, किमसौ दुरात्मा सुयोधनहतको वासुदेवमपि भगवन्त स्वरूपेण न जानाति। वही, 1 पृ० 28.
4. वही, 1.23.
5. वही, 6.43.
6. सखी चेटी च (अन्योन्यमवलोक्य अपवार्य) अत्र नास्ति स्तोकमपि शुभसूचकम्। ...न खलु द्रंष्टिणो नकुलस्य वा दर्शनमहिशतवध च स्वप्ने प्रशसन्ति विचक्षणाः। वही, 2 पृ० 46.
7. कंचुकी—देव, किंचित्। किन्तु शमनार्थमस्यानिमित्तस्य विज्ञापयितव्यो देव इति स्वामिभक्तिर्मां मुखरयति। वही, 2, पृ० 56.

स्फुरण को भावी शुभ या अशुभ का सूचक माना गया है ।[1] नाटक से ज्ञात होता है कि दैव की शक्ति और उसके अनुल्लघनीय विधान में उस समय के लोगों का गहरा विश्वास था । विभिन्न अवसरों पर प्रिय या अप्रिय घटना के पीछे दैव की प्रेरणा मानी गयी है । कर्ण के अनुसार कुल विशेष में जन्म दैव के अधीन है पर पौरुप सर्वथा मनुष्य के आयत्त है ।[2] दुर्योधन के दशा-विपर्यय के लिए पहले दैव को उपालम्भ दिया गया है, किन्तु फिर स्वयं दुर्योधन के कार्यों को ही उसके लिए उत्तरदायी बताया गया है ।[3] इससे स्पष्ट है कि उस समय लोगों का दृष्टिकोण एकान्ततः दैववादी न था, वे मानवीय पौरुप और कर्म मे भी आस्था रखते थे । संभवतः दैववाद निराश व असफल जनों का जीवन-दर्शन था, क्योंकि नाटक में प्रायः ऐसे ही पात्रों के मुंह से दैववादी वचन कहलाये गये है ।[4] मरणोत्तर जीवन,[5] परलोक में पुनर्मिलन,[6] श्राद्ध-तर्पण आदि कर्मों द्वारा मृतकों की प्रसन्नता,[7] देवों द्वारा दुन्दुभिवादन व पुष्पवृष्टि,[8] युद्ध में हत वीरों द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति[9] आदि अतिप्राकृत तत्त्वों का भी जो तत्कालीन धार्मिक व पौराणिक कल्पनाओं पर आधारित है, नाटक में उल्लेख हुआ है ।

रस : वेणीसंहार का प्रधान रस वीर है, पर रौद्र, बीभत्स, अद्भुत, करुण आदि रसों का भी इसमें यथास्थान चित्रण हुआ है । कृष्ण के विश्वरूप के प्रसंग में विस्मय-परिपुष्ट रतिभाव की अभिव्यक्ति हुई है । तृतीय अंक में राक्षस-राक्षसी का दृश्य बीभत्स रस का तथा राक्षसाविष्ट भीम द्वारा दु.शासन का वध व रक्तपान रौद्र

---

1. राजा—(वामाक्षिस्पन्दन सूचयित्वा) आः ममापि नाम दुर्योधनस्यानिमित्तानि हृदयक्षोभमावेदयन्ति । (2, पृ० 47.); युधिष्ठिर :—(दक्षिणाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा) पाचालि, निमित्तानि मे कथयन्ति सभावयिष्यसि वृकोदरमिति । वही, 6 पृ० 191.
2. वही, 3.47.
3. सुन्दरकः—भवतु । दैवमिदानीपमुलप्स्ये । हहो दैव, एकादशानामक्षौहिणीनां नाथो ज्येष्ठो भातृशतस्य· · · महराजदुर्योधनोऽप्यन्विष्यते । अन्विष्यमाणोऽपि न ज्ञायते कस्मिन्नुद्देशे वर्तत इति अथवा किमत्रदैवमुपालभे ? · · · अथवा तस्य खल्विदं पाचालीकेशग्रहकुसुमस्य फलं परिणमति । वही, 4 पृ० 105.
4. दुर्योधन—पराङ्मुख खलु दैवमस्माकम् (5, पृ० 136); साम्यं केवलमेतु दैवमधुना निष्पाण्डवा मेदिनी (5.9)
5. वही, 6 पृ० 188–190.
6. एक क्षणं विरम वत्स ! पिपासितोऽपि पातुं त्वया सह जवादयमागतोऽस्मि ॥ वही, 6 30.
7. वही, 3,18; 6, पृ० 188–190.
8. सिद्धचारणगणविमुक्तकुसुमप्रकरेण प्रच्छादितं समरांगणम् । वही, 4 पृ० 116.
9. वही, 6.32.

रस का स्थल है। अमानुषी वाक् व जलस्तम्भनी विद्या द्वारा दुर्योधन का सरोवर में निवास कौतूहल व विस्मय के अभिव्यंजक है। षष्ठ अंक के अन्तिम भाग में आकाशस्थ सिद्धों के आशीर्वाद तथा व्यास, वाल्मीकि व राम की उपस्थिति अद्भुत रस की व्यंजक हैं। यहां शास्त्रीय निर्देश के अनुसार निर्वहण संधि में अद्भुत रस की योजना की गई है जो आरोपित व कृत्रिम है।

निष्कर्ष

अतिप्राकृतिक तत्त्वों के प्रयोग में भट्ट नारायण ने प्रायः सोद्देश्य दृष्टि का परिचय दिया है। भीम के शरीर में राक्षसों के अनुप्रवेश की कल्पना मानव-मूल्यों के प्रति नाटककार के आदर की सूचक है। तृतीय अंक का प्रवेशक एक अतीव सशक्त दृश्य प्रस्तुत करता है। अमानुषी-वाक् की योजना अश्वत्थामा के आचरण को संगति देने की चेष्टा है, पर नाटकीय दृष्टि से इसकी विशेष उपयोगिता नही है। जल-स्तंभनी विद्या की सहायता से दुर्योधन का जल के भीतर निवास महाभारत से गृहीत कल्पना है। अन्तिम अंक मे राक्षस चार्वाक के रूप-परिवर्तन द्वारा जिस प्रसंग की सृष्टि की गई है वह सोद्देश्य होते हुए भी अतिरंजित हो गया है। श्रीकृष्ण के विश्वरूप-दर्शन में महाभारत के प्रभाव के साथ-साथ नाटककार की धार्मिक भावना भी संमिश्रित है। नाटक की निर्वहण सधि मे दैवी अभिनन्दन तथा व्यास, वाल्मीकि व राम आदि की उपस्थिति का कथावस्तु से कोई सम्बन्ध नही है, अतः यह कल्पना निर्वहण संधि में अद्भुत रस की योजना के विषय में नाट्यशास्त्रीय निर्देश का एक अन्धपालन मात्र है।

८ | भवभूति के नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व

संस्कृत नाटक के क्षेत्र में कालिदास के अनन्तर सबसे लोकप्रिय व प्रख्यात नाम भवभूति का ही है। लौकिक संस्कृत काव्य में वे ही एकमात्र ऐसे कवि हैं जिन्हें कालिदास की श्रेणी में रखा जा सकता है। एक परम्परागत सूक्ति के अनुसार तो उनका उत्तररामचरित शाकुन्तल से भी उत्कृष्ट माना गया है।[1] भवभूति की यह प्रशंसा कुछ अतिरंजित होने पर भी सर्वथा निराधार नहीं है। वस्तुतः भवभूति की प्रतिभा के कुछ ऐसे पक्ष हैं जिनमें कालिदास भी उनकी बराबरी नहीं कर सकते। मानव-हृदय के तीव्र भावोद्वेगों व विक्षुब्ध अन्तरात्मा की गम्भीर वेदनाओं का जैसा मार्मिक चित्रण भवभूति ने किया है वैसा संस्कृत के किसी भी अन्य कवि ने नहीं।

भवभूति के वैयक्तिक जीवन के विषय में हमारे ज्ञान का एकमात्र स्रोत उनके नाटक ही हैं जिनकी प्रस्तावनाओं में लेखक ने अपने जन्मस्थान, वंश, विद्या आदि का विवरण दिया है।[2] इस विवरण के अनुसार भवभूति दक्षिणापथ के पद्मपुर नगर में रहने वाले, उदुंबर नामक उन विद्वान् ब्राह्मणों के कुल में उत्पन्न हुए थे जो

---

1. उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।
   उत्तररामचरित के टीकाकार घनश्याम द्वारा विक्रमार्क से उद्धृत। दे० श्री पी० वी० काणे द्वारा सपादित 'उत्तररामचरित' की घनश्यामकृत टीका, पृ० 4.

2. महावीरचरित में यह विवरण अन्य दो नाटको की अपेक्षा अधिक विस्तृत रूप में दिया गया है। यह इस प्रकार है—"अस्ति दक्षिणापथे पद्मपुरं नाम नगरम्। तत्र केचित्तैत्तिरीयाः काश्यपाश्चरणगुरव. पंक्तिपावनाः पंचाग्नयो धृतव्रताः सोमपीथिन उदुम्बरनामानो ब्रह्मवादिनो प्रतिवसन्ति तदामुष्यायणस्य तत्रभवतो वाजपेययाजिनो महाकवेः पंचमः सुगृहीतनाम्नो भट्टगोपालस्य पौत्रः पवित्रकीर्तेर्नीलकंठास्यात्मसंभवः श्रीकण्ठपदलाछनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूति र्नाम जतुकर्णीपुत्रः कविर्मित्रधेयमिति भवन्तो विज्ञापयन्तु।" महावीरचरित, 1 पृ० 7–8 (निर्णयसागर प्रेस, चतुर्थ संस्करण, बम्बई, 1926)।

यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अध्येता, पंचाग्नि तप करने वाले, सोमपीथी, पंक्ति-पावन एवं काश्यप गोत्र के थे। भवभूति के पितामह का नाम भट्ट गोपाल तथा माता व पिता का क्रमशः जतुकर्णी व नीलकण्ठ था। उन्होंने अपने गुरु का नाम ज्ञाननिधि बताया है तथा अपनी श्रीकंठ उपाधि का उल्लेख किया है। वे अनेक शास्त्रों के उद्भट विद्वान् थे जिनमें से कुछ का विवरण नाटक की प्रस्तावनाओं में दिया गया है। उनकी कृतियां उनके बहुमुखी वैदुष्य की ज्वलन्त प्रमाण हैं। पर यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने शास्त्रीय ज्ञान को नाटक के लिए विशेष उपयोगी नहीं माना है जिससे काव्य के प्रति उनकी सच्ची निष्ठा व्यक्त होती है।[1]

स्वयं भवभूति के कथनानुसार उनके तीनों नाटकों का कालप्रियनाथ के यात्रोत्सवों में अभिनय किया गया था तथा भरतों (अभिनेताओं) के साथ उनका विशेष सौहार्द था।[2]

भवभूति के स्थितिकाल के निर्णय में विशेष कठिनाई नहीं है। कल्हण ने राजतरंगिणी में वाक्पतिराज व भवभूति को कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा (लगभग ७०० से ७५० ई०) का आश्रित बताया है।[3] वाक्पतिराज ने अपने 'गउडवहो' नामक प्राकृत काव्य में भवभूति के काव्य की प्रशंसा की है।[4] गउडवहो मे ७३३ ई० के एक ग्रहण का उल्लेख मिलता है जिसके आधार पर इसका रचनाकाल लगभग ७४० ई० माना गया है।[5] अतः भवभूति का समय इससे कुछ पहले अर्थात् ७००–७२५ ई० माना जा सकता है। इस स्थितिकाल का समर्थन इस बात से भी होता है कि बाणभट्ट (७वीं शती पूर्वार्द्ध) ने भवभूति का उल्लेख नहीं किया और वामन (८०० ई०) ने उत्तररामचरित व महावीरचरित से एक-एक श्लोक उद्धृत किया है।

---

1. यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदा साख्यस्य योगस्य च
   ज्ञानं तत्कथनेन किं न हि तत. कश्चिद्गुणो नाटके।
   यत्प्रौढित्वमुदारता च वचसा यच्चार्थतो गौरवं
   तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाडित्यवैदग्ध्ययोः॥
   मालतीमाधव, 1.10 (नि0 सा0 प्रे0, षष्ठ संस्करण, बम्बई, 1936).
2. दे0 म0 च0, म0 मा0 तथा उ0 रा0 च0 की प्रस्तावनाएं
3. कविवाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवित.।
   जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥ राजतर0, 4.144.
4. भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति।
   यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु॥ (संस्कृत रूपान्तर)
   गउडवहो, गाथा सं0 799.
5. दे0 श्री पी0 बी0 काणे द्वारा संपादित उत्तररामचरित की भूमिका, पृ0 29.

कालिदास के समान भवभूति के भी तीन नाटक उपलब्ध होते हैं। कालिदास जहां खण्डकाव्यों व महाकाव्यों के भी प्रणेता थे वहां भवभूति की सम्पूर्ण कीर्ति का आधार उनके तीन नाटक ही है। इनमें से दो—महावीरचरित व उत्तर-रामचरित रामकथा पर आधारित है तथा तीसरा मालती व माधव की कल्पित प्रणय कथा पर। रचनाक्रम की दृष्टि से महावीरचरित भवभूति की प्रथम कृति मानी जाती है और उत्तररामचरित अन्तिम। मालतीमाधव का स्थान इन दोनों के मध्य मे है तथापि अपने अध्ययन में हम मालतीमाधव को सर्वप्रथम लेगे और उसके बाद क्रमशः महावीरचरित व उत्तररामचरित को जो विषयवस्तु की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध है।

भवभूति की प्रतिभा को उनके समकालीन सहृदयों ने संभवतः बहुत देर से पहचाना। प्रारम्भ में उन्हें अवज्ञा व आलोचना का भी पात्र बनना पड़ा।[1] इससे उनके मन में इतना क्षोभ हुआ कि उन तथाकथित सहृदयों की निष्पक्षता में उनकी आस्था उठ गई। इसीलिए उन्होंने यह सुखद कल्पना की है कि निरवधि काल और विपुला पृथ्वी में कभी न कभी कोई ऐसा समानधर्मा अवश्य उत्पन्न होगा जो उनके काव्य की अन्तरात्मा को पहचान कर उनका सम्मान कर सकेगा।[2]

यद्यपि कल्हण ने भवभूति को राजा यशोवर्मा का आश्रित कवि बताया है, पर यह संदिग्ध ही है कि उन्हें कभी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हुआ हो व जीवन में सुख, शान्ति व समृद्धि के भागी रहे हों। उनके नाटकों मे जिस विक्षुब्ध मानस की अभिव्यक्ति हुई है, कम से कम उससे यही सिद्ध होता है। ऐसा लगता है कि भवभूति को अपने जीवन में विषम परिस्थितियों के इतने आघात झेलने पड़े कि वे अतिशय गम्भीर व भावुक प्रकृति के कवि बन गये। उनके तीनों नाटकों मे उनकी इसी अन्तःप्रकृति की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है।

नाटक के क्षेत्र में भवभूति नूतन दृष्टि लेकर अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने अपनी कृतियों में अनेक नये प्रयोग किये है, जो उनकी मौलिक व स्वतंत्र प्रतिभा के परिचायक है। दाम्पत्य-प्रणय के विषय में एक उदात्त व आदर्शवादी दृष्टिकोण

---

1. ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञा
   जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः। मा० मा० 1.8.
   'यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः' (उ० रा० च० 1.5) में भी संभवतः उनका वैयक्तिक अनुभव बोल रहा है।
2. उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा
   कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥ मा० मा० 1.8.

उनके नाटकों की प्रमुख विशेषता है। उत्तररामचरित में दाम्पत्य-प्रेम की इसी उदात्त भूमिका का दर्शन कराना उनका ध्येय रहा है।

भवभूति ने नाट्यशास्त्र के विधान के प्रतिकूल उत्तररामचरित में करुण रस को अंगी बनाया है तथा उसे सभी रसो का मूल आधार मानते हुए[1] उसकी अभिव्यक्ति को अननुभूतपूर्व पराकाष्ठा पर पहुंचाया है। जीवन के प्रति इस गम्भीर व आदर्शवादी दृष्टिकोण का ही यह परिणाम है कि उन्होंने अपने किसी भी नाटक में परम्परागत हास्यपात्र विदूषक की योजना नहीं की। वस्तुतः हास्यरस भवभूति की गंभीर व विदग्ध प्रकृति के अनुकूल नहीं है। इसकी क्षतिपूर्ति के रूप में उन्होंने वीर, रौद्र, बीभत्स, भयानक आदि रसों के चित्रण में विशेष रुचि दिखाई है। प्रकृति-चित्रण में भी भवभूति की दृष्टि नूतनता लिये हुए है। जहां कालिदास व अन्य कवि प्रकृति के मधुर व कमनीय रूपों के प्रेमी हैं, वहां भवभूति को उसके विकट, भयावह व उग्र रूपों से अधिक अनुराग है। मानव-हृदय के कोमल व कारुणिक भावों की व्यंजना में वे जितने कुशल हैं उतने ही ओजस्वी, उग्र व त्रासद भावों के चित्रण में भी।

भवभूति के नाटकों में कुछ दोषों की ओर भी इंगित किया गया है; उनके वस्तु-विधान में प्रायः संयम व अनुपात की उपेक्षा हुई है। उनके नाटकों की कथा-वस्तु अनेक वर्षो में प्रसृत रहती है तथा कभी-कभी दो अंकों का कालिक अन्तराल बहुत अधिक होता है।[2] उनके चरित्रों में स्थिरता, अन्तर्मुखता, निष्क्रियता तथा कदाचित् वैयक्तिकता की कमी दृष्टिगत होती है। उक्त दोष महावीरचरित व मालतीमाधव में अधिक मुखर हैं। अनेक स्थलों पर बाह्य क्रियाशीलता स्थगित-सी हो गई है तथा वे वर्णनात्मक या प्रगीतात्मक बन गये है। ऐसे स्थलों में कवि भाव-प्रवाह मे बहकर नाटकोचित सन्तुलन व संयम का ध्यान नहीं रख पाता।

शैली की दृष्टि से भी भवभूति के नाटकों में कुछ दोष आ गये है। वेणी-संहार के सदर्भ में हम बता चुके है कि संस्कृत नाटक के ह्रासकाल की एक प्रमुख प्रवृत्ति उसका श्रव्य काव्य के आदर्श की ओर उन्मुख होना है। इस प्रवृत्ति के

---

1. एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरंगमयान्विकारा–
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥
उत्तररामचरित, 3. 47 (नि० सा० प्रे० बम्बई, 1915)

2. महावीरचरित में लगभग चौदह वर्ष की तथा उत्तररामचरित में बारह वर्ष की घटनाएं संगृहीत हैं। उत्तररामचरित के प्रथम व द्वितीय अंक के बीच बारह वर्ष का व्यवधान है।

फलस्वरूप उसमे दृश्यात्मकता की मात्रा निरन्तर घटती गई और वर्णनात्मकता का पलड़ा भारी होता गया। इस प्रवृत्ति का सूत्रपात वेणीसंहार में हुआ तथा भवभूति के नाटकों में उसे आगे विकसित होने का अवसर मिला। श्रव्य काव्य के शैलीगत आदर्शों को अपना लेने से अभिव्यक्ति में कृत्रिमता, क्लिष्टता व अलंकृति की वृद्धि हुई। दीर्घ वाक्यों व समस्त पदों की रचना की प्रवृत्ति क्रमश: अतिरेक पर पहुंच गई। ये दोष भवभूति के नाटकों में भी न्यूनाधिक रूप में देखे जा सकते हैं। इन सीमाओं के बावजूद भवभूति अपनी कृतियों में कवित्व व नाटकत्व का जो ऊंचा प्रतिमान स्थापित कर सके उसका सम्पूर्ण श्रेय उनकी मौलिक व कारयित्री प्रतिभा को है।

भवभूति की तीनों ही कृतियों में अतिप्राकृत तत्त्वों का समावेश मिलता है। मालतीमाधव में उनका प्रयोग अंशत लोककथाओं के प्रभाव की देन है और अंशत: भवभूति के युग में प्रचलित योग, तंत्र-मंत्र आदि की साधनाओं व उनसे अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति में सामान्य जनों की आस्था से प्रेरित है। दूसरी ओर महावीर-चरित व उत्तररामचरित में ये तत्त्व राम-कथा की पौराणिक पृष्ठभूमि तथा उसके परम्परागत अतिमानवीय प्रसंगों, पात्रों व विश्वासों की देन प्रतीत होते है। कालिदास के समान भवभूति का युग भी पौराणिक धर्म व उसके अलौकिक विश्वासों को स्वीकार करता था। उत्तररामचरित में इन विश्वासों का नाटकीय कथानक के विकास में विशिष्ट योगदान दिखाई देता है। वस्तुविन्यास में चमत्कार-सृष्टि के लिए अद्भुत तत्त्वों की योजना का आग्रह भी इन नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्वों के विधान का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है जिसकी हम आगे चर्चा करेंगे।

मालतीमाधव

दस अंकों का यह प्रकरण कथावस्तु, पात्र, रस व वातावरण की दृष्टि से भवभूति के शेष दो नाटकों से नितान्त भिन्न हैं। महावीरचरित व उत्तरामचरित की पौराणिक कथा, पात्र व परिवेश के विरुद्ध मालतीमाधव में हम स्वयं को तत्कालीन सामाजिक जीवन की जीवन्त स्थितियों, चरित्रों व वातावरण के बीच पाते है। प्रकरण होने के कारण इसकी कथावस्तु कल्पित व लोकसंश्रय है तथा पात्र तत्कालीन समाज के उच्च-मध्य वर्ग से लिये गये है।[1] मालती व माधव के विघ्न-बहुल प्रणयजीवन का वृत्तान्त ही नाटक की मुख्य वस्तु है। नाटककार ने आधि-कारिक कथा के समानान्तर मकरन्द व मदयन्तिका से सम्बद्ध एक प्रासंगिक वृत्त की

---

1. अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम्।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम्॥ द०रू० 3.39.

भी योजना की है तथा दोनों को बड़ी कुशलता से समन्वित किया है । अमात्य भूरिवसु व देवरात क्रमशः अपनी पुत्री मालती व पुत्र माधव के विवाह के लिए पहले से ही कृतसंकल्प है पर पद्मावती के राजा की यह इच्छा कि मालती का विवाह उनके नर्मसचिव नन्दन के साथ हो, नाटकीय संघर्ष का मूल बीज बन जाती है । अमात्य भूरिवसु के संकेत पर कामन्दकी व उसकी शिष्याएं मालती व माधव को परस्पर अनुराग-सूत्र में बांधकर उनका गुप्त विवाह सम्पन्न कराने में सफल होती है। नाटकीय संघर्ष का दूसरा स्रोत कापालिक अघोरघंट की क्रूर साधना व उसकी शिष्या कपालकुंडला की प्रतिशोध भावना है । मालती का वध करने के लिए कपाल-कुंडला द्वारा उसका दो वार हरण किया जाता है । पहली वार उसे माधव बचाता है और दूसरी वार कामन्दकी की शिष्या योगिनी सौदामिनी । अष्टम अंक के अन्त मे नाटकीय वृत्त की स्वाभाविक समाप्ति प्रतीत होती है पर नायक के विरह-चित्रण व नाटकीय कथा की आश्चर्यमय परिणति के लिए दो अंक और बढ़ाये गये है । नवम अंक में माधव का विरह-वर्णन कालिदास के मेघदूत व विक्रमोर्वशीय का स्मरण कराता है ।

मालतीमाधव में भवभूति ने अनेक अद्भुत व आकस्मिक घटनाओं की रोचक योजना की है । कामन्दकी के मुख से नाटककार ने सगर्व कहा है—"अस्ति वा कुतश्चिदेवंभूतं महाद्भुतं विचित्ररमणीयोज्ज्वलं महाप्रकरणम् ।" (नवम अंक, पृ० २४३) इसी प्रकार प्रस्तावना में उन्होंने कहा है कि इस नाटक में रसों का प्रचुर व गंभीर प्रयोग, सौहार्द-प्रसूत आनन्ददायी चेष्टाएं, प्रणय-सूत्र का आयोजक औद्धत्य, आश्चर्यप्रद कथा एवं वाग्वैचित्र्य आदि गुणों का समावेश है ।[1]

मालतीमाधव की कथावस्तु उत्पाद्य या कल्पित है, पर वह सर्वथा मौलिक नही कही जा सकती । उसके अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसग व सूत्र संभवतः गुणाढ्य की वृहत्कथा से गृहीत है । मूल बृहत्कथा तो उपलब्ध नही होती पर उसकी अधिकाश कथाएं कथासरित्सागर व बृहत्कथामंजरी में सुरक्षित है । भवभूति ने सभवतः मदिरावती की कथा,[2] वीर विदूपक की कथा,[3] अशोकदत्त व राक्षस कपालस्फोट की

---

1. भूम्ना रसाना गहनाः प्रयोगा :
   सौहार्दहृद्यानि विचेष्टितानि ।
   औद्धत्यमायोजितकामसूत्रं.
   चित्रा.कथा वाचि विचित्रता च ॥ मा0मा0 1.6.
2. कथासरित्सागर, लवक 13, प्रथम तरंग.
3. वही, लवक 3, चतुर्थ तरग.

कथा[1] तथा मदनमंजरी व खण्डकापालिक की कथा[2] से मालतीमाधव के कथानक की प्रमुख व रोचक घटनाओं के सूत्र प्राप्त किये होंगे।[3] तथापि दस अंकों में नाटकीय वस्तु के विस्तार तथा कथा-साहित्य से गृहीत अभिप्रायों व स्थितियों के कलात्मक सयोजन में भवभूति की प्रभूत मौलिकता व्यक्त हुई है।

मालतीमाधव मे अतिप्राकृतिक तत्त्वों का प्रयोग सीमित रूप में ही हुआ है। प्रकरण होने के कारण इसमें घटना व पात्र दोनों को अधिकतर लौकिक व मानवीय स्तर पर प्रस्तुत करने का आग्रह स्पष्ट है। तथापि नाटककार ने संभवत: लोक-कथाओं व लोक-प्रचलित विश्वासों के आधार पर कुछ अतिप्राकृत तत्त्वों का भी इसमें समावेश किया है जिनका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

सत्त्वदर्शन : पंचम अक के श्मशान दृश्य में भवभूति ने भूत, पिशाच आदि अतिप्राकृतिक अशुभ सत्त्वों के वीभत्स व रौद्र स्वरूप व कार्यकलापों का लोमहर्षक वर्णन किया है। नन्दन के साथ मालती का विवाह निश्चित हो जाने पर माधव अत्यन्त निराश होकर आधी रात में श्मशान में जाता है और वहां प्रेतों व पिशाचो को महामांस वेचकर अपनी अभीष्ट-सिद्धि में उनकी सहायता पाने का प्रयत्न करता है।

भूत, प्रेत आदि को प्रसन्न करने के लिए उन्हें नृ-मांस वेचने की वात कापालिक साधना का अंग प्रतीत होती है। कथासरित्सागर की अशोकदत्त व राक्षस कपालस्फोट की कथा तथा मदनमंजरी व खण्डकापालिक की कथा में अभीष्ट-सिद्धि के लिए महामांस विक्रय का उल्लेख आया है।[4]

---

1. वही, लंवक 5, द्वितीय तरंग, 74-294.
2. वही, लंवक 18, द्वितीय तरंग, 3-70.
3. मदिर के गर्भगृह में प्रेमी व प्रेमिका का गुप्त मिलन, प्रेमी के मित्र का प्रेमिका के वेप मे अन्य पुरुप के साथ विवाह, अपनी प्रेमिका से उसकी भेंट व उसके साथ रात्रि मे पलायन आदि अभिप्राय संभवत: मदिरावती की कथा से लिये गये है। श्मशानस्थ मंदिर में वलि देने के लिये उच्चकुलीन कन्या का मंत्रवल से हरण तथा एक साहसी व वीर पुरुप द्वारा उसकी रक्षा आदि अभिप्राय वीर विदूपक की कथा से साम्य रखते है। 'अशोकदत्त' व राक्षस कपालस्फोट की कथा तथा खण्डकापालिक व मदनमंजरी की कथा मे महामास विक्रय की वात आई है।
4. अपश्यन्पूर्वदृष्टां ता स्त्रियं तन्नूपुराप्तये।
   उपायमेक वुवुधे स महामासविक्रयम्॥
   तरुपाशाद्गृहीत्वाद्य शवं वभ्राम तत्र स।
   विक्रीणानो महामांसं गृह्यतामिति घोपयन्॥ क०स०सा० 5.2,182-83.
   स कूपादुद्गतो पश्यंस्तदर्थप्राप्तिमन्यथा।
   पणायितु महामासं श्मशानं प्रविशन्निशि॥ वही, 18, 2.53.

माधव जब कृष्ण चतुर्दशी की आधी रात में श्मशान में पहुंचता है तो उसे चारों ओर भूत-प्रेतों का कोलाहल सुनाई देता है। महामांस हाथ में लिये हुए वह कटपूतना नामक शवभक्षक पिशाचों को इस प्रकार संबोधित करता है—

अशस्त्रपूतमव्याजं पुरुषांगोपकल्पितम् ।
विक्रीयते महामांसं गृह्यतां गृह्यतामिति ।। ५.१२

इस उद्घोषणा के साथ ही श्मशान मे सभी ओर हलचल मच जाती है। सारा श्मशान-वाट भूतों से व्याप्त हो जाता है।[1] वह देखता है कि उल्कामुख नामक पिशाचों के भीषण व दीप्त मुखों से समस्त आकाश भरा है। उनके होठों के कोने कानों के पास तक फटे हुए हैं जिनके खुलने पर आग की लपटें चमकती दीखती है। उनके मुख में से नुकीले दांत बाहर निकल रहे हैं, उनके केश, नेत्र, भौहें और मूंछें विद्युत् के समान दीप्तिशाली है तथा उनके कृश व दीर्घ शरीर कभी दिखायी देते हैं और कभी ओझल हो जाते है।[2]

पिशाचों का एक समूह जल्दी-जल्दी शवमांस खा रहा है; उनके मुख से अधखाये मांसकवल गिर रहे है। उनकी काली त्वचा स्नायुओं से नद्ध है। स्नायु-ग्रंथियों से व्याप्त उनके शरीर कंकालमात्र दिखायी देते है।[3]

कृश व शुष्क शरीर वाले पिशाचों के मुख-विवर मे विशाल व चपल जिह्वा जले हुए पुराने चंदन वृक्ष की कोटर में चलने वाले अजगर के समान प्रतीत होती है।[4]

एक दीन प्रेत अंक में स्थित शव की चमड़ी छील कर उसके विभिन्न पुष्ट अंगों में से तीव्र गन्ध युक्त मांस निकाल कर खा रहा है। शव की स्नायुओं, आंतों व नेत्र आदि का भक्षण कर वह दांत निपोरता हुआ उसकी हड्डियो के नतोन्नत भागों मे फसे मांस को खुरच-खुरच कर खा रहा है।[5]

कुछ शव-भक्षक पिशाच जलती हुई चिताओं से अधजले शवों को खीचकर उनसे निस्सृत मज्जा की धाराओं को पी रहे हैं।[6] पिशाच-अंगनाओं ने अपने हाथों

1. माधवः—कथमाघोषणानन्तरमेव सर्वतः समुच्चलदुत्तालतुमुलव्यक्तकलकलाकुलः प्रचलित इवाविर्भवद्भूतसंकटः श्मशानवाटः । मा०मा० 5, पृ० 119.
2. वही, 5.13.
3. वही, 5.14.
4. वही, 5.15.
5. वही, 5.16.
6. वही, 5.17.

में आंतों के मांगलिक कंगन, कानों में मृतस्त्रियों के हस्तकमल के आभूषण तथा गले में हृत्पुण्डरीकों की मालायें पहन रखी हैं। रक्तपंक के कुंकुम से चर्चित वे अपने प्रियतम पिशाचों के साथ कपालों के प्यालों में भरभर कर अस्थि-रस की सुरा पी रही हैं।[1]

माधव महामांस खरीदने के लिए उनका वारंवार आह्वान करता है, पर वे भयभीत होकर दूर चले जाते हैं। तभी उसे श्मशान में स्थित कराला के मन्दिर से मालती की आर्त पुकार सुनाई देती है।[2] वह तत्क्षण वहां पहुंचकर देखता है कि कापालिक अघोरघंट देवी चामुण्डा को मालती की बलि देने के लिये उद्यत है। वह क्रूर अघोरघंट का वध कर मालती के प्राण बचाता है।

हम अनुमान कर सकते है कि भवभूति ने इस श्मशान-दृश्य में भूत-प्रेतादि के विकृत स्वरूप व बीभत्स चेष्टाओं का वर्णन तत्कालीन लोकविश्वास के आधार पर किया होगा। आज भी भूत-प्रेतों के सम्बन्ध मे इस प्रकार के विश्वास साधारण जनों मे प्रचलित हैं। संभवतः इस दृश्य को कवि ने अपनी कल्पना द्वारा भी काफी सजाया-संवारा है, लेकिन तत्कालीन लोक-विश्वास ही इसका मूल आधार प्रतीत होते हैं।

यह स्पष्ट है कि उक्त दृश्य में प्रेत, पिशाच आदि सामाजिको को साक्षात् दिखाई नहीं देते। रंगमंच पर केवल माधव उपस्थित है जो उन्हें दूर से देखता है। 'नेपथ्ये कलकलः' इस रंगमंचीय निर्देश से विदित होता है कि सामाजिकों को पर्दे के पीछे से उनका कोलाहल मात्र सुनाई देता है। माधव द्वारा पिशाचों की बीभत्स व भयावह क्रीड़ाओं का विस्तृत वर्णन भी यह सूचित करता है कि नाटककार सामाजिकों को उनका केवल शाब्दिक ज्ञान कराना चाहता है, प्रत्यक्ष दर्शन नही। सभवतः रंगमंच की सीमाओं के कारण नाटककार इस विषय में विवश था।

मालतीमाधव की वस्तु-योजना में इस श्मशान-दृश्य का औचित्य चिन्त्य है। इसकी लौकिक प्रणयकथा मे यह दृश्य अनावश्यक व आरोपित-सा प्रतीत होता है। नाटककार मुख्य कथा के साथ इसका कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं बैठा पाया है। भूत-प्रेत जैसे अतिप्राकृतिक प्राणियो से सम्बद्ध होने के कारण इस दृश्य का प्रकरण के सामाजिक वातावरण के साथ भी सामजस्य नही बैठता। नाटककार ने इसकी योजना का एकमात्र हेतु यह बताया है कि माधव अपने प्रणय में असफल व निराश होकर अतिप्राकृत शक्तियों की सहायता प्राप्त करने के लिए श्मशान में जाता है।

---

1. वही, 5.18.
2. वही, 5.20.

किन्तु नाटक की मानवीय प्रणय-कथा में अतिमानवीय शक्तियों की सहायता पाने की बात बिल्कुल असंगत लगती है। सच तो यह है कि माधव को ऐसी कोई सहायता मिलती भी नहीं है। तथापि यह दृश्य सर्वथा अनावश्यक व असंगत भी नहीं कहा जा सकता। लेखक ने निस्सन्देह कुछ विशिष्ट नाटकीय प्रयोजनों की दृष्टि से इसकी योजना की है। एक प्रयोजन तो माधव के असीम साहस व शौर्य का ओजस्वी चित्र अंकित करना है। लोककथाओं व रोमेंटिक प्रणय कथाओं में नायक द्वारा किसी संकट से नायिका की रक्षा की कथानक-रूढ़ि बहुधा प्रयुक्त होती है। तृतीय अक में नाटककार ने मकरन्द द्वारा मदयन्तिका की सिंह से रक्षा कराई है। यहां नाटककार ने उसी के अनुकरण पर माधव द्वारा मालती की रक्षा का साहसपूर्ण प्रसंग निबद्ध किया है। प्रस्तुत श्मशान-दृश्य इसी प्रसंग की पृष्ठभूमि के रूप में अंकित है। मालती की प्राणरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि माधव श्मशान-स्थित कराला के मंदिर के समीप ही विद्यमान हो जिससे वह उसके आर्तनाद को सुन सके। इसी दृष्टि से माधव को पहले से ही श्मशान में उपस्थित बताया गया है तथा इस उपस्थिति के औचित्य के लिये महामांस विक्रय की बात कही गयी है। भूत, प्रेत व पिशाचों के भयानक व बीभत्स कृत्यों की पृष्ठभूमि में कपालकुंडला व अघोरघट के क्रूरतापूर्ण कार्य अतीव भयावह प्रतीत होते हैं। वस्तुतः करालायतन मे निरीह मालती की निर्मम हत्या का प्रयास, मूल चेतना की दृष्टि से, पूर्ववर्ती श्मशान-दृश्य का ही विस्तार व अभिन्न अंग जैसा लगता है।[1] इस दृश्य के द्वारा नाटककार ने एक ऐसे वातावरण की सृष्टि की है जिसमें माधव के साहस, निर्भीकता और शौर्य का बड़ा ही उदात्त चित्र उभरकर सामने आता है।

श्मशान-दृश्य की योजना में नाटककार का दूसरा उद्देश्य बीभत्स, रौद्र व अद्भुत आदि रसों के चित्रण में अपना नैपुण्य प्रदर्शित करना है। भवभूति कोमल भावों व रसों के चित्रण में जितने सिद्धहस्त है उतने ही विकट, उग्र तथा भयावह भावों तथा रसो के आलेखन मे भी। मालती-माधव का यह दृश्य अपनी भयावह बीभत्सता मे समस्त सस्कृत-साहित्य में अपना सानी नही रखता। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इसे शेक्सपीयर के मेकबेथ में चित्रित चुड़ैलो के दृश्य से भी अधिक भयावह माना है।[2]

भवभूति का एक अन्य प्रयोजन नाटक की शृंगारिक एकरसता में रस-वैविध्य का समावेश करना भी है। यह सर्वविदित तथ्य है कि भवभूति में हास्यरस

---

1. करालायतनाच्चायमुच्चरन्करुणध्वनिः।
   विभाव्यते ननु स्यानमनिष्टानां तदीदृशाम् ॥ मा०मा०, 5.21.
2. दे० एम० विंटरनित्स कृत 'हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लिट्रेचर' भाग 3, खण्ड 1, पृ० 266.

की प्रतिभा वहुत कम थी। संभवतः हास्यरस उनकी गुरु-गम्भीर व दुःख-दग्ध प्रकृति के अनुकूल न था। कीथ के मत में भवभूति को इसीलिए हास्यपूर्ण विश्रांति के स्थान पर यहां अतिप्राकृत तत्त्वों से संवलित भयानक व वीभत्स प्रसंगों का सहारा लेना पड़ा।[1] किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह दृश्य वस्तुतः विश्रांति प्रदान करता है ? हास्यरस प्रकृत्या शृंगाररस का पोषक होता है, पर वीभत्स व रौद्र आदि रसों के वारे में यही बात नही कही जा सकती। अतः प्रस्तुत दृश्य न केवल कथानक की दृष्टि से असम्वद्ध है, अपितु भाव व रस की दृष्टि से भी उसके प्रतिकूल है।

संभवतः नाटककार का एक उद्देश्य अपने युग में प्रचलित कापालिक-साधना की विकृतियों का दर्शन कराना भी है। माधव का श्मशान मे महामांस[2] वेचने के लिए विचरण तथा अघोरघंट द्वारा मन्त्र-साधना पूर्ण होने पर, मालती के वध का प्रयास— ये दोनों ही कृत्य तत्कालीन कापालिक-साधना की अतिवादी प्रवृत्तियो के परिचायक है। नाटक में प्रणय-कथा के विकास व परिणति में कापालिकों को जो असाधारण महत्त्व दिया गया है उससे भवभूति के काल में इस संप्रदाय के वहुप्रचलित होने की सूचना मिलती है।[3] किन्तु यह भी स्पष्ट है कि नाटककार कापालिक साधना की बातो को नाटक की मुख्य प्रणय-कथा में भली-भांति अन्तर्ग्रथित नहीं कर सका है।

योगिनियों का आकाशगमन : प्रस्तुत नाटक की वस्तु-योजना में दूसरा अतिप्राकृत तत्त्व कपालकुण्डला व सौदामिनी नामक कापालिकाओं की आकाशगमन की सिद्धि है। पचम अंक के प्रारम्भ में कपालकुण्डला श्रीपर्वत से आकाश में उड़ती हुई पद्मावती नगरी के वाहर श्मशान में स्थित कराला के मन्दिर की ओर आती दिखाई गयी है। कवि ने उसके योगिनीरूप का वड़ा ही प्रभावशाली चित्र अंकित किया है। वह अपनी योगशक्ति से विना परिश्रम आकाश में वादलों को हटाती हुई उड़ रही है।[4]

---

1. सस्कृत ड्रामा, पृ० 192.
2. त्रिपुरारि ने महामास के विषय मे 'कापालिकागम' से यह पक्ति उद्धृत की है–अशस्त्रसंछिन्न-मर्योपिदीय नृमासमार्द्रगलदस्त्रविन्दु यत्।' उन्होने किसी अज्ञात स्रोत से एक यह श्लोक भी उद्धृत किया है—आत्मसिद्धिं पणीकृत्य साहसाद्युपार्जितम्। अशस्त्रपूतमव्याज नृमास परि-कीर्तितम् ॥ दे० मालती माधव, 5.12 पर त्रिपुरारि की टीका
3. भवभूति के कुछ ही पूर्ववर्ती वाणभट्ट ने हर्षचरित मे राजा पुष्पभूति व महाशैव भैरवाचार्य के वृत्तान्त मे कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि में श्मशान मे की जाने वाली वेताल साधना का भयावह व रोमाचकारी चित्रण किया है। इसी प्रकार प्रभाकरवर्धन की रुग्णता के समय उनके स्वास्थ्यलाभ के लिए राजकुमार भी खुले रूप में महामास वेचते हुए वताये गये है। दे० वासुदेशरण अग्रवाल: हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 58–60.
4. मा० मा० 5. 2–4.

नवम व दशम अंकों में नाटककार ने योगिनी सौदामिनी के आकाश-गमन का दृश्य अंकित किया है। सौदामिनी श्रीपर्वत पर कपालकुण्डला के चंगुल से मालती को बचा कर वहां से आकाश में उड़ती हुई पद्मावती नगरी के समीपवर्ती पर्वत पर उतरती है जहां माधव की विरहजन्य शोचनीय दशा से निराश होकर मकरन्द पाटलावती नदी में कूद कर आत्महत्या करने ही वाला है। सौदामिनी मकरन्द को इस प्रयास से विमुख कर माधव को मालती का अभिज्ञान 'बकुलमाला' देती है तथा मालती की कुशलक्षेम सूचित करती है।

आकर्षिणी सिद्धि : अनन्तर वह गुरुभक्ति, तप, तन्त्र व मंत्र के अभ्यास से प्राप्त अपनी आकर्षिणी सिद्धि द्वारा माधव को उठाकर आकाश में उड़ जाती है।[1] मकरन्द को अकस्मात् अंधकार व वैद्युत प्रकाश का भयंकर व्यतिकर-सा दिखायी देता है जो पलभर के लिए उसकी दर्शन-शक्ति को कुण्ठित कर देता है। कुछ क्षणों बाद वह देखता है कि माधव अपने पूर्व स्थान पर नहीं है। इस घटना से उसका मन असीम आश्चर्य और भय से व्याप्त हो जाता है।[2]

मालतीमाधव का यह प्रसंग शाकुन्तल के पंचम अंक में मेनका द्वारा शकुन्तला को आकाश में उड़ाकर ले जाने की घटना से प्रभावित प्रतीत होता है।

दशम अंक में योगिनी सौदामिनी मालती व माधव को लेकर आकाश में उड़ती हुई श्रीपर्वत से पद्मावती नगरी के निकटवर्ती पर्वत पर ठीक उस समय पहुंच जाती है जब कामन्दकी, लवंगिका, मदयन्तिका तथा भूरिवसु मालती के वियोग में प्राण-त्याग के लिए तत्पर है। इस प्रकार उसकी समयोचित सहायता से सबके प्राणों की रक्षा होती है तथा नाटक की दु:खोन्मुख कथा सुखमय परिणति प्राप्त करती है।

कपालकुण्डला व सौदामिनी के आकाशगमन की सिद्धि का नाटक के वस्तु-विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। संभवत: कपालकुंडला अपनी इसी शक्ति से

---

1. सौदामिनी—ज्ञास्यथ खल्वेतत्। (उत्थाय) इयमिदानीमहं
   गुरुचर्यातपस्तन्त्रमन्त्रयोगाभियोगजाम्।
   इमामाकर्षिणीं सिद्धिमातनोमि शिवाय व:। वही, 9.53

2. मकरन्द—आश्चर्यम्।
   व्यतिकर इव भीमस्तामसोवैद्युतश्च।
   क्षणमुपहतचक्षुर्वृत्तिरुद्धूय शान्त:॥
   (विलोक्य सभयम्)
   कथमिव न वयस्यस्तत्किमेतत्किमन्यत्।
   (विचिन्त्य)
   प्रभवति हि महिम्ना स्वेन योगीश्वरीयम्॥ वही, 9. 5.55

मालती को रात में उसके घर से उठाकर कराला के मन्दिर में पहुंचाती है। बाद में वह अपनी इसी सिद्धि से मालती का अपहरण कर उसे श्रीपर्वत पर ले जाती है।

सौदामिनी भी एक सिद्ध योगिनी है जिसकी आकाशोद्गमन की शक्ति का नाटक की सुखान्तता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस शक्ति के कारण ही वह मकरन्द और माधव के प्राणों की रक्षा करती है और बाद में मालती और माधव को यथा-समय पद्मावती में पहुचाकर भूरिवसु, कामन्दकी, लवंगिका आदि को मृत्यु के कगार पर से लौटा कर लाती है। यदि उसमें आकाशगमन की सामर्थ्य न होती तो मालती और माधव का न पुनर्मिलन होता, न नाटक की दुःखान्तता बचायी जा सकती। इसी शक्ति के कारण वह प्रत्येक अवसर पर ठीक समय पर उपस्थित होकर घटनाओं की कारुणिक परिणति का परिहार करती है। इस प्रकार दोनों योगिनियों का नाटकीय वस्तु के विकास व फलागम में विशिष्ट योगदान है। जहां कपालकुण्डला की यौगिक शक्तियां नाटक की प्रणय-कथा में अनेक जटिलताओं के समावेश के लिए उत्तरदायी है वहां सौदामिनी की अलौकिक सिद्धियाँ उसके सुखपूर्ण व मंगलमय पर्यवसान का मुख्य आधार हैं। नाटकीय कथानक के विकास में दोनों योगिनियों की भूमिकाएं परस्पर विपरीत, किन्तु महत्त्वपूर्ण है। कपालकुण्डला क्रूर व हृदयहीन है तो सौदामिनी दया एवं परोपकार की प्रतिमूर्ति। दोनों अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न हैं, पर उन शक्तियों के प्रयोग के उद्देश्य सर्वथा भिन्न है।

भरत ने निर्वहण संधि में अद्भुत रस की योजना का निर्देश दिया है। नवम व दशम अंकों में सौदामिनी का आकाशगमन तथा उसके हस्तक्षेप से दशम अंक के कारुणिक दृश्य का सुखपूर्ण पुनर्मिलन में आकस्मिक परिवर्तन निर्वहण संधि के ही अंग है।

पतञ्जलि ने योगसूत्र के विभूतिपाद में योगियों की आकाशगमन-रूप सिद्धि का वर्णन किया है। इस सम्बन्ध मे उनका निम्न सूत्र उल्लेखनीय है—

कायाकाशयोः संबंधसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगनम्॥ ३.४२

अर्थात् शरीर और आकाश के सम्बन्ध के विषय में संयम (धारणा, ध्यान व समाधि) करने तथा तूलसदृश लघु वस्तुओं मे समापत्ति से योगी का शरीर इतना हल्का हो जाता है कि वह इच्छानुसार आकाश में उड़ सकता है। पतञ्जलि के इस सूत्र की व्याख्या करते हुए म० म० डा० गोपीनाथ कविराज ने कहा है—

"पतञ्जलि का मत है, यदि आकाश-गमन करना हो तो देह और आकाश के बीच जो परस्पर सम्बन्ध है, उसमें संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) करके उसे आयत्त किया जाता है, आसनादि में देह चाहे जहां रहे, वहीं आकाश भी है।

कारण, आकाश सर्वव्यापक और सब वस्तुओं का अवकाशदायक है। आकाश के साथ देह का व्याप्ति-रूप जो सम्बन्ध है, उसे एकाग्र चिन्तन द्वारा अपनी इच्छा के अधीन करना पड़ता है। तब साथ ही देह हल्की हो जाती है। मध्याकर्षण की क्रिया नष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त तूल से परमाणु पर्यन्त हल्के पदार्थ में चित्त लगने पर ही देह में हल्कापन आता है। तब आकाश आदि में सचरण करने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। उसके बाद सूर्यरशि मे विहार किया जा सकता है। वास्तव में ये सब राशियां ही साधारणतः आकाश मे यातायात के मार्ग-रूप हैं।[1]"

कपालकुण्डला ने मालतीमाधव के पंचम अंक में उस रहस्यमय यौगिक प्रक्रिया का संकेत दिया है जिसके द्वारा योगी को आकाशगमन की सिद्धि प्राप्त होती है—

> नित्यं न्यस्तषडंगचक्रनिहितं हृत्पद्ममध्योदितं
> पश्यन्ती शिवरूपिणं लयवशादात्मानमभ्यागता ।।
> नाडीनामुदयक्रमेण जगतः पंचामृताकर्षणा-
> दप्राप्तोत्पतनश्रमा विघटयन्त्यग्रेनभोऽम्भोमुचः ।। ५.२

अर्थात् न्यास मन्त्रों में विन्यस्त हृदय, सिर, शिखा आदि षडगों मे निहित व हृदय-रूप कमल में प्रकाशमान शिवरूप आत्मा का नित्य दर्शन करती हुई मैं चित्त की एकाग्रता द्वारा नाड़ियों में वायु को उत्तरोत्तर प्रेरित कर तथा शरीर-स्थित पंचमहाभूतों के आकर्षण से उत्पतन का श्रम अनुभव न कर आकाश के अग्रभाग में मेघों को विघटित करती हुई यहां आ पहुंची हूं।

कपालकुण्डला व सौदामिनी के आकाशोद्गमन के प्रसंगों पर तत्कालीन लोक-कथाओं का असंदिग्ध प्रभाव देखा जा सकता है। कथासरित्सागर की अनेक कथाओं मे मानव या दिव्य व्यक्तियों की आकाशगमन की सिद्धि का वर्णन मिलता है।[2] जिस प्रकार कथावस्तु के प्रधान अभिप्रायों व प्रसगों के लिए नाटककार लोककथाओ का ऋणी है उसी प्रकार श्मशान में भूत-प्रेतों की क्रीडाओं तथा योगनियों की असाधारण सिद्धियों के चित्रण में भी वह उनसे प्रभावित प्रतीत होता है।

कीथ और डा० दे का विचार है कि राजमार्गो पर सिंहो के विचरण, श्मशान में भूत-प्रेत व पिशाचों के कोलाहल, योगिनियों के आकाशगमन तथा वध के

---

1. भारतीय सस्कृति और साधना, द्वितीय खण्ड मे 'आसन से उत्थान और आकाशगमन' शीर्षक निवन्ध, पृ0 39.
2. पूजावसाने चापश्यमकस्माद् गगनागणे।
   उत्पत्य विहरन्तीस्ताः स्वसखीर्निजसिद्धितः ।। कथासरित्सागर, 3. 6.102.
   और भी दे0, वही, 3. 6. 112, 8. 1. 3; 8. 5. 82; 9.4. 23.

उद्देश्य से पुर-कन्याओं के अपहरण जैसी घटनाओं के कारण मालतीमाधव में परी-कथाओं का-सा एक अवास्तविक वातावरण उत्पन्न हो गया है।[1] वेल्स के मत में मालतीमाधव में "दृश्यों का प्रभाव नितान्त कृत्रिम त्रासों (Terrors) द्वारा तीव्र किया गया है तथा उनमें धैर्यशाली व बुद्धिमान् पाठक को 'परीरानी' (The fairie queen) के छह भागों को पढ़ने का-सा आनन्दप्रद अनुभव प्राप्त होता है।"[2] नाटक की वस्तु अनेक स्थलों पर यथार्थ के स्तर से उठकर एक अलौकिक व अविश्वसनीय जगत् मे पहुंच गई है। इसीलिए मालतीमाधव में उस जीवन्त सामाजिक वास्तविकता का अभाव है जिसका हमें मृच्छकटिक मे दर्शन होता है। तथापि हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि योगिनियों की करामातों के वर्णन में भवभूति ने संभवतः अपने समकालीन लोकविश्वासों को ही वाणी देने का प्रयत्न किया है। उनके युग में सामान्य जनता का ऐसी बातों में विश्वास रहा होगा। तंत्रमंत्र की साधना के केन्द्र के रूप में श्रीशैल[3] का उल्लेख इसी बात का सूचक है।

अतिप्राकृत पात्र

मालतीमाधव के सभी पात्र मानव हैं, वे मानव-मनोवृत्तियो व उद्देश्यों से चालित हैं। केवल दो पात्र कपालकुण्डला और सौदामिनी अन्य पात्रों से कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं। यद्यपि ये भी मानव-पात्र है, पर तंत्र, मंत्र व योग-साधना द्वारा उन्हें कुछ ऐसी सिद्धियां प्राप्त है[4] जो उन्हें इतर जनों से कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान कर देती है।

अतिप्राकृत लोकविश्वास

मालतीमाधव में शकुन, दैव, पुनर्जन्म तथा लोकान्तर-संबंधी अतिप्राकृतिक लोकविश्वास भी अनेक स्थलों पर व्यक्त हुए हैं। जिन शकुनों का उल्लेख हुआ है वे सभी नेत्र-स्फुरण-संबंधी है। पुरुष और स्त्री के नेत्र-स्फुरण में एक मौलिक अन्तर माना गया है। पुरुष के दक्षिण-नेत्र का स्फुरण शुभ तथा वाम नेत्र का अशुभ कहा गया है। स्त्री के नेत्र-स्फुरण में स्थिति बिल्कुल विपरीत है। उसका

---

1. संस्कृत ड्रामा, पृ0 193; ए हिस्ट्री ऑव् क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 282.
2. हेनरी डब्ल्यु वेल्स : दि क्लासिकल ड्रामा ऑव् इण्डिया, पृ0 88.
3. आंध्रप्रदेश मे कृष्णा नदी के दक्षिण तट पर कुरनूल से बयालीस मील पर ईशान कोण में स्थित एक पर्वत जो बाणभट्ट व भवभूति के समय मे मन्त्र, तन्त्र व अनेक चमत्कारों का केन्द्र माना जाता था। विशेष जानकारी के लिए देखिये—डा0 वासुदेवशरण अग्रवाल-कृत 'हर्ष-चरित-एक संस्कृत अध्ययन,' पृ0 8–9.
4. अवलोकिता—भगवति, सेदानी सौदामिनी समासादिताश्चर्यमन्त्रसिद्धिप्रभावा श्रीपर्वते कापालिक-व्रतं धारयति। मा0 मा0 1, पृ0 17.

दक्षिण नेत्र-स्फुरण अशुभ सूचक तथा वामाक्षि-स्पन्दन शुभ-सूचक होता है। इस प्रकार का लोक-विश्वास आज भी पाया जाता है।

प्रथम अंक में कामन्दकी कहती है कि क्या भूरिवसु और देवरात की कल्याणमय सन्तानों—मालती व माधव—का अभीष्ट विवाह-मंगल सम्पन्न हो सकेगा।[1] तभी वाम नेत्र में स्पन्दन होने पर वह कहती है—

विवृण्वतेव कल्याणमान्तरज्ञेन चक्षुषा।
स्फुरता वामकेनापि दाक्षिण्यमवलम्ब्यते ।। मा० मा० १.११.

यहां चक्षु को आन्तरज्ञ माना गया है तथा उसके माध्यम से नाटककार ने मालती व माधव के प्रणय-प्रसंग की सुखान्तता का अलौकिक स्तर पर पूर्वाभास दिया है।

अष्टम अंक में कपालकुण्डला द्वारा अपहरण से पूर्व मालती का दक्षिण नेत्र तथा अपहरण के पश्चात् माधव का वाम-नेत्र स्फुरित होकर भावी अनर्थ की सूचना देते हैं।[2]

मालतीमाधव में आद्यन्त दैव, विधि या विधाता की सर्वशक्तिमत्ता तथा उसके अटल विधान का बार-बार उल्लेख किया गया है।[3] साथ ही विधाता से मानवीय प्रयासों को सफलता प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गई है। इससे यह विश्वास व्यक्त होता है कि दैवी अनुग्रह के बिना मानव अपने प्रयासों में सफल नहीं हो सकता। इसी प्रकार परलोक व पुर्नजन्म सम्बन्धी पारम्परिक विश्वास की भी कहीं-कहीं अभिव्यक्ति हुई है।[4]

अतिप्राकृत तत्त्व और रस

भवभूति ने मालतीमाधव में अतिप्राकृत तत्त्वों के माध्यम से विभिन्न रसों की निष्पत्ति का सफल प्रयास किया है। नाटक का मुख्य रस शृंगार है, तथा उसके अंग

---

1. कामन्दकी—अपि नाम कल्याणिनोर्भूरिवसुदेवरातापत्ययोरनयोर्मालतीमाधवयोरभिमत पाणिग्रहमगलं स्यात्। वही, 1, पृ० 11.
2. वही; 8 पृ0 194 व 8 12.
3. विधातुर्व्यापार: फलतु (1.17); यदि दैवमनुकूलयिष्यसि (वही, 4 पृ0 101); कोऽयं विधेःप्रक्रमः (5. 24); हा अम्ब ! हृदये हतासि दुर्वारदैवदुर्विलसितेन (वही, 5 पृ0 125); विधाता भद्रं वो वितरतु (6.7); विधातुर्वामत्वाद् विपदि परिवर्तामहे इमे (9.8), अहो आश्चर्यं पुनरुक्तदारुणस्य परिणामरमणीयत्व विधेः (वही, 10 पृ0 239)।
4. हा देव माधव, परलोकगतोऽपि युष्माभिः स्मर्तव्योऽयं जनः (वही, 5, पृ0 129): तथा मे भगवत्याशिषः करोतु येन जन्मान्तरेऽपि तावत्प्रियसखी प्रेक्षिष्ये (10, पृ0 232).

के रूप में अद्भुत, बीभत्स, रौद्र, भयानक, वीर आदि रसों का पंचामृत प्रस्तुत किया गया है।

पंचम अंक के श्मशान-दृश्य के अन्तर्गत भूत, प्रेत व पिशाच आदि के चित्रो मे रौद्र, अद्भुत व बीभत्स रसों का प्रभावशाली चित्रण हुआ है। उदाहरण के लिए मा०मा० से जगद्धर आदि टीकाकारों ने 'पर्यन्तप्रतिरोधि०' (५.११) मे रौद्र रस, 'कर्णाभ्यर्णविदीर्ण० (५.१३) में अद्भुत रस, 'एतत्पूतनचक्र० (५.१४), पृथुचलरसनोग्र० (५.१५) में भयानक रस, 'उत्कृत्योत्कृत्य०' (५.१६) व निष्ठाप० (५.१७) में बीभत्स रस तथा 'अन्त्रैः कल्पितमगलप्रतिसराः०' (५.१८) मे बीभत्स का अंगभूत संभोगश्रृंगार माना है।

भरत ने 'सत्त्व-दर्शन' को भयानक रस का आलबन माना है, किन्तु केवल नीच प्रकृति के जनों को ही भय की अनुभूति होती है। माधव उत्तम प्रकृति का नायक है और वह स्वेच्छा से भूत-प्रेतों से भेंट करने के लिए श्मशान में गया है, अतः उसके भयग्रस्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्युत इस दृश्य द्वारा लेखक ने उसके सत्साहस व शौर्य का प्रभावशाली चित्र अंकित किया है।

किन्तु हम मान सकते हैं कि भवभूति के समकालीन प्रेक्षकों के लिए यह दृश्य अद्भुतमिश्रित भयानक या बीभत्स का आलम्बन रहा होगा। आधुनिक प्रेक्षक के लिए भी यही बात कही जा सकती है।

पंचम अंक में कपाल कुण्डला के तथा नवम व दशम अंकों में सौदामिनी के आकाशगमन के दृश्य अद्भुत रस की सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

नवम अंक में जहां सौदामिनी अपनी आकर्षिणी सिद्धि द्वारा माधव को आकाश में उड़ा ले जाती है तथा मकरन्द को क्षण भर के लिए अन्धकार व प्रकाश का संयोग-सा दिखाई देता है वहां भयमिश्रित अद्भुत की बड़ी प्रभावशाली योजना हुई है। नवम व दशम अंकों में निर्वहण सन्धि के अन्तर्गत योगिनी सौदामिनी के चामत्कारिक कार्यों के माध्यम से अद्भुत रस की निष्पत्ति की गई है।

महावीरचरित

रचना-क्रम की दृष्टि से यह भवभूति की प्रथम कृति मानी गई है। इसमें विश्वामित्र के आश्रम मे शिक्षा-प्राप्ति से लेकर रावण-वध तथा राज्याभिषेक तक का राम का विस्तृत चरित अंकित है। विषय-वस्तु की दृष्टि से यह नाटक भवभूति के अन्तिम व सर्वश्रेष्ठ नाटक उत्तररामचरित का पूर्ववृत्त प्रस्तुत करता है। इन दोनों कृतियों में मिलाकर भवभूति ने राम की सम्पूर्ण जीवन-कथा को नाटकीय रूप दे दिया है।

महावीरचरित की वस्तु वाल्मीकि-रामायण पर आधारित है। प्रस्तावना में नाटककार ने आदिकवि द्वारा प्रणीत पावन रामचरित में अपनी भक्ति का उल्लेख करते हुए उसे अपनी काव्य-प्रेरणा स्वीकार किया है।[1] उन्होंने यह भी कहा है कि मैंने वीर व अद्भुत रस के प्रेम के कारण धर्मद्रोहियों का दमन करने वाले रघुनन्दन का चरित निवद्ध किया है।[2]

श्री एस० के० वेल्वलकर ने रामकथा के परवर्ती विकास में निम्नलिखित प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है[3]—(१) अतिरंजन—जैसे राम-रावण युद्ध के प्रसंग में। (२) दैवीकरण—राम को ईश्वर का अवतार माना गया। यह प्रवृत्ति रामायण के वर्तमान रूप में आने से पहले ही आरम्भ हो चुकी थी। (३) आदर्शीकरण—कैकेयी आदि के चरित्र को दोषमुक्त कर आदर्श रूप देने का प्रयत्न किया गया। (४) शाप-अभिप्राय—आचरण और भाग्य की व्याख्या के लिए इस अभिप्राय का उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग किया गया। उदाहरण के लिए दशरथ के पुत्र-वियोग व मृत्यु का कारण अन्धमुनि का शाप बताया गया है। (५) दार्शनिकीकरण—राम कथा को दार्शनिक व आध्यात्मिक अर्थ दिया गया। यह प्रवृत्ति अध्यात्म रामायण में विशेष रूप से देखी जा सकती है। (६) नवीन कल्पनाएं व काव्यात्मक अलंकृति—जैसे राम व सीता के पूर्वराग का वर्णन, जनक की राजसभा में राम व लक्ष्मण का परशुराम के साथ विवाद, अंगद का दौत्य आदि। हम देखेंगे कि भवभूति ने राम कथा को जिस रूप में प्रस्तुत किया है उसमें भी इनमें से कुछ प्रवृत्तियां प्रकट हुई हैं।

भवभूति ने जहां राम कथा के अनेक प्रसंगों को छोड़ दिया है, वहां मूल कथा की कई घटनाओं को सर्वथा बदल देने का भी साहस दिखाया है। उन्होंने ऐसे जो भी परिवर्तन किए है वे नाटकीय दृष्टि से प्रायः औचित्यपूर्ण है। राम-कथा के विभिन्न प्रसंगों को उन्होंने राम-रावण के पारस्परिक संघर्ष की गतिशील घटनावली के रूप में प्रतुस्त किया है। कथा-विकास की विभिन्न अवस्थाओं का माल्यवान् की

---

1 प्राचेतसो मुनिवृषा प्रथमः कवीना
 यत्पावनं रघुपतेः प्रणिनाय वृत्तम्।
भक्तस्य तत्र समरन्त ममापि वाच
 स्तासु प्रसन्नमनसः कृतिनो भजन्ता ॥
महावीर चरित, 1.7. (निर्णयसागर प्रेस संस्करण, 1926)

2. वीराद्भुतप्रियतया रघुनन्दनस्य।
धर्मद्रुहो दमयितुश्चरितं निवद्धम् ॥ म0 च0 1.6.

3. दे0 रामस् लेटर हिस्ट्री ऑर उत्तररामचरित, प्रथम भाग, पृ0 61–63.

कूटनीतिक योजनाओं के क्रमिक उद्घाटन के रूप में विन्यास किया गया है। नाटकीय संघर्ष का मूल बीज रावण की सीता के साथ विवाह करने की इच्छा और कुशध्वज द्वारा रावण के प्रस्ताव का तिरस्कार है। राम द्वारा ताडका, सुबाहु आदि राक्षसों का वध, दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति आदि बातों को रावण अपने लिए चुनौती के रूप में ग्रहण करता है।

रामायण की मूल कथा में भवभूति ने नाटकीय दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए है। नाटक के अनुसार परशुराम माल्यवान् की प्रेरणा से राम का विरोध करते हैं। राम के वनवास के पीछे भी राक्षसों की कूट योजना है। बाली माल्यवान् की प्रेरणा से ही राम से युद्ध करता है।

नाटकीय दृष्टि से मूल कथा में परिवर्तन करने पर भी भवभूति वस्तुविधान में विशेष सफल नहीं कहे जा सकते। उन्होंने इतना विस्तृत कथाफलक ले लिया है कि अधिकांश घटनाओं को उन्हें सूच्य रूप में प्रस्तुत करना पड़ा है जिसके फलस्वरूप नाटक विस्तृत संवादों का समूह मात्र रह गया है। घटना-विन्यास में सन्तुलन व अनुपात की भी कमी है। परशुराम के महत्त्वहीन प्रसंग को दो अंकों से भी अधिक दूर तक घसीटा गया है। नाटक में प्रत्यक्ष क्रियाशीलता का लगभग अभाव है। चरित्रों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। अधिकतर चरित्र पौराणिक रूपरेखाओं से निर्मित हैं, अतः उनका स्वरूप प्रायः अतिप्राकृत है।

महावीरचरित के उपलब्ध पाठों में काफी अन्तर पाया जाता है। इस नाटक मे पांचवे अंक के ४६वें श्लोक तक का भाग ही सम्भवतः भवभूति–प्रणीत है। शेष भाग तीन पाठों के रूप में मिलता है—(१) सर्वत. प्रचलित पाठ (२) सुब्रह्मण्य का पाठ तथा (३) विनायक का पाठ। उत्तर भारत में प्रकाशित संस्करणों में प्रायः प्रथम पाठ दिया गया है। दक्षिण भारत मे उपलब्ध पांडुलिपियों में पंचम अंक के ४६वे श्लोक के आगे का पाठ सुब्रह्मण्य द्वारा रचित बताया गया है। यह पाठ निर्णय-सागर प्रेस से वीर राघव की टीका सहित प्रकाशित हुआ है। विनायक के पाठ में छठा और सातवां ये दो अंक सर्वतः प्रचलित पाठ से अभिन्न है, पर पांचवें अंक के ४६वे श्लोक से इसी अंक तक का भाग विनायक-रचित बताया गया है। इस पाठ का सम्पादन श्री टोडरमल ने किया है। डा० दे के अनुसार उक्त पूरक पाठों में से कोई भी भवभूति का मूलपाठ नही है, जो उनके विचार में अब लुप्त हो चुका है।[1] हमने प्रस्तुत अध्ययन मे अंक ५ श्लोक ४६ से आगे 'सर्वतः प्रचलित पाठ' को ही अपने अध्ययन का आधार बनाया है।

---

1. दे0 हिस्ट्री ऑव् क्लासिकिल संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 286 की पादटिप्पणी।

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

महावीरचरित की वस्तु व पात्र दोनों की योजना में अतिप्राकृतिक तत्त्वों का समावेश हुआ है। एक तो रामकथा स्वयं ही अनेक अतिप्राकृतिक तत्त्वों से पूर्ण है, फिर कथा की पौराणिक पृष्ठभूमि व वातावरण ने भी नाटककार को इन तत्त्वों की योजना का यथेच्छ अवसर दिया है। कथा का स्वरूप, देश, काल व परिवेश जितना प्राचीन व दूरवर्ती होता है, लेखक को असंभव और अयथार्थ की योजना का उतना ही अधिक अवसर सुलभ रहता है। अतिप्राकृत कल्पनाएं या तो धर्म, दर्शन और पौराणिकता का सम्वल ग्रहण करती हैं या लोककथाओं का, जिनकी घटनाएं व पात्र मनुष्य की स्वच्छन्द व अवाधित कल्पनाओं की अभिव्यक्ति होती हैं।

नाटककार ने प्रस्तावना में ही वता दिया है कि इस नाटक में अप्राकृत (अलौकिक व असाधारण) पात्रों में स्थित वीर रस आधार की भिन्नता के अनुसार सूक्ष्म व प्रस्फुट भेदों में विभाजित किया गया है।[1] इस नाटक के अनेक पात्र किसी न किसी दृष्टि से अप्राकृत हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उनके कार्यकलापों मे अलौकिकता का पुट हो। भवभूति ने मुख्यतः वीर व अद्भुत रस में विशेष अभिरुचि के कारण रघुनन्दन के चरित्र को नाटक की विपयवस्तु के रूप में ग्रहण किया है। संस्कृत नाटकों में अद्भुत रस प्रायः अतिप्राकृत तत्त्वों पर आश्रित होता है, अतः नाटककार प्रारम्भ से ही इस नाटक में इन तत्त्वों के समावेश का विचार लेकर चला है, यह अनायास माना जा सकता है।

भवभूति ने कथावस्तु में जिन अतिप्राकृत तत्त्वों का विन्यास किया है वे अधिकतर रामायण पर आधारित है। तथापि उनके नाटकीय विनियोग में उन्होने अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है। मूल रामायण के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसंग नाटक मे स्वरूप, क्रम, स्थान व उद्देश्य की दृष्टि से काफी परिवर्तित हो गये है। कथा व पात्रों की प्रकृति के अनुसार नाटककार ने कुछ नवीन अतिप्राकृत तत्त्वों की भी उद्भावना की है।

प्रथम अंक की घटनायें महर्षि विश्वामित्र के सिद्धाश्रम से सम्बन्ध रखती हैं। महर्षि द्वारा आयोजित यज्ञ मे भाग लेने हेतु राजा जनक के अनुज कुशध्वज सीता और ऊर्मिला के साथ आये हैं। राम और लक्ष्मण यज्ञ की रक्षा में नियुक्त है। इसी समय रावण का दूत राक्षस सर्वमाय रावण का एक सन्देश लेकर आता है जिसमें उसने सीता के साथ विवाह का प्रस्ताव रखा है। इसी पृष्ठभूमि में प्रथम अंक में नाटककार ने कुछ अतिप्राकृत प्रसंगों की योजना की है।

---

1. अप्राकृतेषु पात्रेषु यत्र वीरः स्थितो रसः।
भेदैः सूक्ष्मैरभिव्यक्तैः प्रत्याधारं विभज्यते॥ 1.3.

अहल्योद्धार : गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या जो व्यभिचार रूप महापाप के कारण अन्धतामिस्र से ग्रस्त थी, राम के तेज से पाप-मुक्त होकर दिव्य रूप में प्रकट होती है।[1]

ताटकावध : ताटका नाम की भयंकर आकारवाली राक्षसी विश्वामित्र के आश्रम में प्रकट होकर लोगों पर आक्रमण करती है।[2] राम गुरु की आज्ञा से उसे मार गिराते है।

दिव्यास्त्रदान : विश्वामित्र ने कृशाश्व ऋषि से जृम्भक आदि जिन दिव्य अस्त्रों के प्रयोग व संहार की मंत्रविद्या सीखी थी वे उसे राम के प्रति अर्थतः व शब्दतः प्रकाशित होने की आज्ञा देते हैं।[3]

विश्वामित्र की आज्ञा के साथ ही आकाश में सभी ओर दिव्यास्त्रों का अलौकिक तेज छा जाता है।[4] राम गुरु से प्रार्थना करते है कि दिव्यास्त्र लक्ष्मण को भी प्राप्त हों। दिव्य अस्त्रविद्या के प्रादुर्भाव से लक्ष्मण का हृदय प्रज्ञायुक्त, अप्रतर्क्य व ज्योतिर्मय हो जाता है।[5]

दिव्यास्त्र राम की प्रार्थना करते हैं।[6] राम उन्हे ध्यान करते ही उपस्थित होने की आज्ञा देकर विदा कर देते हैं।[7]

ध्यान द्वारा शिवधनुष की उपस्थिति : राम के तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कुशध्वज उन्हें जामाता के रूप में चाहने लगते है। किन्तु अग्रज सीरध्वज जनक की प्रतिज्ञा उन्हे विघ्नरूप प्रतीत होती है। जनक ने प्रतिज्ञा की है कि जो वीर शिव का धनुष तोड़ेगा उसी के साथ सीता का विवाह होगा। विश्वामित्र के सुझाव पर कुशध्वज ध्यान द्वारा शिवधनुष का आह्वान करते है।[8] धनुप ध्यान करते ही सिद्धाश्रम में उपस्थित हो जाता है। राम उसे अनायास तोड़ देते हैं।[9]

---

1. (क) तस्याः पाप्मना शरीरमन्धतामिस्रमभ्ययात्। सेयमद्य रामभद्रतेजसा तस्मादेनसो निरमुच्यत। म० च० 1, पृ० 20.
   (ख) राजा—भगवन् का पुनरियं देवता। वही
2. वही 1.35.
3. वही, 1 पृ० 31.
4. वही, 1.43–44.
5. वही, 1.48.
6. वही, 1.49.
7. वही, 1.50.
8. वही, 1 52.
9. वही, 1.53.

सुबाहु और मारीच का सिद्धाश्रम पर आक्रमण होता है ।[1] राम सुबाहु का वध कर मारीच को अति दूर फेंक देते हैं ।[2]

यह उल्लेखनीय है कि ये सभी अतिप्राकृतिक प्रसंग नेपथ्य में घटित होते हैं । अहल्या, ताटका, दिव्यास्त्र व शिवधनुष इनमें से कोई भी रंगमंच पर साक्षात् उपस्थित नहीं होता ।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नाटककार ने इन प्रसंगों को राम के अप्राकृत वीर व्यक्तित्व की सिद्धि के अंग के रूप में विन्यस्त किया है । साथ ही राम के ये सभी अलौकिक कार्य रावण के मंत्री माल्यवान् को एक चुनौती के रूप में प्रतीत होते हैं ।[3] रामायण में इन घटनाओं की योजना के पीछे ऐसा कोई उद्देश्य नही है । नाटककार ने इन्हें राम-रावण-विरोध की भूमिका के रूप में निबद्ध कर नाटकीय उद्देश्य से संयोजित किया है ।

शूर्पणखा का मथरा के शरीर में आवेश : यह घटना चतुर्थ अंक की है। नाटक के वस्तुविधान में इसका अत्यन्त महत्त्व है । इसके द्वारा भवभूति ने परम्परागत राम-कथा मे क्रांतिकारी परिवर्तन किया है ।

रावण का मंत्री माल्यवान् अपनी कूटनीतिक योजना[4] के अन्तर्गत राम, लक्ष्मण और सीता को राक्षसों के क्षेत्र विन्ध्यारण्य में लाना चाहता है । इस उद्देश्य से वह शूर्पणखा को दासी मन्थरा के शरीर में प्रविष्ट होकर राम व दशरथ के पास कैकेयी के नाम से एक मिथ्या सन्देश ले जाने के लिये प्रेरित करता है । मन्थरा उस समय मिथिला के समीप होती है । वह कैकेयी का कोई सन्देश लेकर मिथिला जा रही है जहां दशरथ अपने पुत्रों के विवाह के लिये गये हुए है ।[5] शूर्पणखा अपनी राक्षसी माया से मन्थरा के शरीर मे प्रविष्ट होकर[6] राम को कैकेयी के नाम से एक कपट सन्देश देती है । इस सन्देश में दशरथ से कैकेयी ने दो वर मांगे हैं—भरत को राजसिहासन दिया जाये और राम लक्ष्मण व सीता सहित १४ वर्ष के लिये वन

---

1. वही, 1.60.
2. वही, 2.1.
3. वही, 1.59, 2.1–4.
4. वही, 4 पृ० 119–120.
5. या सा राज्ञा दशरथेन प्राक्प्रतिश्रुतवरद्वया राज्ञी भरतमाता कैकेयी, तया मन्थरा नाम परिचारिका दशरथस्य वार्ताहारिणी मिथिलामयोध्यातः प्रेषिता मिथिलोपकण्ठे वर्तते इति संप्रत्येव मम निवेदित चारैः । तस्यास्त्वया शरीरमाविश्यैवमेव च कर्तव्यम् (इति कर्णे कथयति)
   वही, 4 पृ० 118.
6. वही, 4 पृ० 150.

जायें।[1] राम, जो स्वयं ही राक्षसों के वध के लिए वन जाने को उत्सुक हैं, इस सन्देश से प्रसन्न होकर उसका अविलम्ब पालन करते हैं।

उक्त प्रसग भवभूनि की अपनी उद्भावना है। रामायण के अनुसार राम विवाह के बाद अयोध्या लौटकर आये और फिर मन्थरा की प्रेरणा से कैकेयी द्वारा दशरथ से वर मांगने पर वन गये। रामायण में राम के वनगमन का नैतिक दायित्व कैकेयी पर डाला गया है, किन्तु भवभूति ने कैकेयी को उससे मुक्त कर राम के वनवास को राक्षसों को कूटयोजना का परिणाम बताया है। इस प्रकार राम के वनगमन की घटना राम-रावण के संघर्ष की नाटकीय कथा का अंग बन गई है। राम को सीधे मिथिला से ही वन भेज कर कुशल नाटककार ने मूल कथा में नाटकोचित संक्षेप भी किया है। इस कल्पना में एक मात्र दोप यही है कि जहां रामायण में राम-वनवास की पृष्ठभूमि कैकेयी की मानवोचित दुर्बलता की सूचक है वहां नाटक मे उक्त अतिप्राकृत कल्पना के कारण उसके इस मानवीय पक्ष की क्षति हुई है। अतः इस कल्पना को नाटकीय दृष्टि से समीचीन मानते हुए भी मानव-चरित्र की व्याख्या की दृष्टि से संगत नही कह सकते। इस कल्पना का एक आनुपंगिक फल कैकेयी के परम्परागत चरित्र को कलक-मुक्त करना भी है। हम पहले बता चुके है कि भास ने भी 'प्रतिमा' में कैकेयी के चरित्र को निर्दोष सिद्ध करने के लिए एक अतिप्राकृत कल्पना की है, पर इस कार्य में न भास सफल हुए है और न भवभूति।

दिव्य पुरुष का आविर्भाव : यह प्रसंग पंचम अंक का है। लक्ष्मण दनुकबंध नामक राक्षस का वध कर उसकी चिता प्रज्वलित करते हैं। चिता में से एक दिव्य पुरुष प्रकट होकर अपना परिचय देता है। इस परिचय के अनुसार वह श्री का पुत्र दनु है जो शाप के कारण राक्षस हो गया था। बाद मे इन्द्र के द्वारा सिर काटे जाने पर वह कबन्ध बन गया। अब राम का आश्रय पाकर वह पवित्र हो गया है।[2]

दनु राम को बताता है कि वह उन पर आक्रमण करने के लिए माल्यवान् द्वारा दण्डकारण्य मे भेजा गया था। वह अपने दिव्य ज्ञान से उन्हे यह भी सूचित करता है कि माल्यवान् ने वाली को उनके वध के लिए नियुक्त किया है। वाली ने भी रावण की मैत्री के अनुरोध से उसकी प्रार्थना स्वीकार की है।

---

1. वही, 4.41.
2. दिव्य पुरुष.—जयतु देवः।

दनुर्नाम श्रियः पुत्रः शापाद् राक्षसतां गतः।
इन्द्रास्त्रकृतकाबन्ध्यः पूतोऽस्मि भवदाश्रयात् ॥ वही, 5.34.

तदनन्तर वह दिव्य पुरुष राम की अनुमति लेकर अपने दिव्य लोक में चला जाता है।[1]

यहां नाटककार ने कवन्ध व वाली दोनों को माल्यवान् द्वारा प्रेरित बताकर मूलकथा को अपने नाटकीय उद्देश्य के अनुसार ढाल लिया है। चिता से दिव्य पुरुष के प्रकट होने की बात रामायण में भी आई है।[2]

पर्वताकार अस्थि-संचय का क्षेपण :—राम पम्पासरोवर के समीप मार्ग में एक पर्वताकार अस्थि-संचय देखते हैं। यह अस्थि-संचय वाली द्वारा मारे गये दुन्दुभि राक्षस का है।[3] राम अपने पांव के अंगूठे से उसे दूर फेंक देते है।[4] नाटक में यह घटना राम की अलौकिक शक्ति की सूचक है। रामायण मे भी यह प्रसंग आया है, पर एक भिन्न सन्दर्भ में। वहां सुग्रीव राम से मित्रता करने से पहले उनकी शक्ति-परीक्षा के लिए उनसे यह कार्य कराता है।[5]

पाषाण-सेतु :—छठे अंक में नाटककार ने रावण और मन्दोदरी के संवाद में कुछ घटनाओं का सूच्य रूप में उल्लेख किया है। इनमें से एक अतिप्राकृत घटना समुद्र पर पाषाण-सेतु का निर्माण है। राम पहले समुद्र का आह्वान करते हैं किन्तु उसके उपस्थित न होने पर उस पर अस्त्र चलाते है।[6] राम के बाणों से विद्ध समुद्र-देवता प्रकट होकर क्षमायाचना करता है और सेतु बनाने का उपाय बताता है।[7] राम नल व नील नामक वानरों की सहायता से समुद्र पर पाषाण-सेतु बनवा कर सेना सहित उसे पार कर लेते है। यह सारा प्रसग रामायण के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

राम-रावण-युद्ध . भवभूति ने वासव और चित्ररथ के संवाद द्वारा इस घटना का वर्णन किया है। नाट्यशास्त्र ने रंगमंच पर युद्ध-दृश्य के प्रस्तुतीकरण का प्रतिषेध किया है।[8] अतः भवभूति ने यहां वासव और चित्ररथ के वार्तालाप के रूप

---

1. रामः—भद्र, इतं सौजन्यम्। अधुना नन्दतु महाभागः स्वेषु लोकेषु (दनुर्निष्क्रान्तः)
   वही, 5 पृ० 186.
2. अरण्यकाण्ड, सर्ग 72.
3. म० च० 5.38.
4. राम —नन्वेहि (पादांगुष्ठेन क्षिपति) वही, 5.39, पृ० 188.
5. किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग 11.72, 84.
6. म० च० 6.12.
7. महाराज, ततश्च पुंखमात्रप्रेक्ष्यमाणतीक्ष्णशरनिकरपक्ष्मलितशरीरेण निष्क्रम्य सलिलात्पादपतनमभ्यर्थ्य मार्ग उपदिष्टः। साहसिकेन तेन साध्यवृत्तिः श्रूयते।
   वही, 6, पृ० 204–205.
8. नाट्यशास्त्र, 18.38.

में युद्ध का अप्रत्यक्ष वर्णन किया है। इससे यह संकेत भी मिलता है कि राम-रावण का युद्ध केवल व्यक्तिगत घटना नही है, अपितु उसका तीनों लोकों के प्राणियों के लिए महत्त्व है। त्रैलोक्य के सभी प्राणी रावण के दुश्चरित्र से कदर्थित हुए हैं, अत वे राम की विजय की प्रतीक्षा कर रहे है।[1] गन्धर्वराज चित्ररथ कुबेर द्वारा युद्ध का परिणाम जानने के लिए भेजा गया है। वासव देवताओं के प्रतिनिधि के रूप में युद्ध के दर्शनार्थ स्वयं आया है। राम को पैदल युद्ध करते देखकर वह अपना दिव्य रथ उनके पास भेज देता है।[2] युद्ध-वर्णन मे राम, रावण, लक्ष्मण, मेघनाद आदि दोनों पक्षों के वीरों की अलौकिक वीरता का चित्रण किया गया है। मेघनाद मन्त्र प्रभाव से अलक्ष्य गति वाले दुर्भेद्य नागपाश का प्रयोग करता है।[3] लक्ष्मण गारुडास्त्र के प्रयोग से उसे दूर हटाए, इससे पहले ही रावण शतघ्नी के प्रहार से उन्हें आहत कर देता है। हनूमान् सजीवनौषधि लाने के लिए भेजे जाते हैं; किन्तु औषधि की पहचान न होने से वे पूरे द्रोणपर्वत को ही उठा लाते हैं।[4] पर्वत की वायु का स्पर्श पाकर लक्ष्मण स्वस्थ हो जाते है।[5]

राम व लक्ष्मण अपने बाणों से रावण के मस्तक काट डालते है, पर प्रत्येक मस्तक जैसे अनन्त हो जाता है।[6] आकाश में स्थित दिव्य ऋषिगण रावण व मेघनाद के वध के लिए जल्दी मचा रहे है।[7] अन्त में राम व लक्ष्मण क्रमशः ब्रह्मास्त्र तथा अच्युतास्त्र का स्मरण कर बाण चलाते है जिससे रावण व मेघनाद के मस्तक कट जाते है। देवगण प्रसन्न होकर आकाश से पुष्पवृष्टि करते है।[8]

शरीरधारिणी नगरियां : सप्तम अंक के विष्कंभक में लका व अलका नगरियों के संवाद द्वारा सीता की अग्नि-परीक्षा, देवों द्वारा उसके अभिनन्दन तथा विभीषण के राज्याभिषेक की सूचना दी गई है। लंका और अलका का संवाद लेखक की उद्भावना है। भारतीय परम्परा में प्रत्येक स्थान और वस्तु का एक अधिदेवता माना गया है। लका और अलका ऐसी ही अधिदेवता हैं। यह स्मरणीय है कि भास ने भी अभिषेक नाटक में लंका की स्त्रीरूप में कल्पना की है।

---

1. म०च० 6.29.
2. वासवः .. .... (सावेगम्) सूत सूत, साग्रामिक मे रथमुपहर रामभद्राय।
   वही, 6, पृ० 210.
3. वही, 6.48.
4. क्वापि प्राज्ञः क्षणार्धात्कमपि गिरिमसावाहरन्नाजगाम। वही, 6.51.
5. वही, 6.52.
6. वही, 6.61.
7. वही, 6 पृ० 217.
8. वही, 6.63.

विमान-यात्रा : विभीषण के राज्याभिषेक के बाद राम पत्नी, भाई, और इष्टमित्रों के साथ पुष्पक विमान से अयोध्या लौटते है। विभीषण ने पुष्पक विमान का इस प्रकार परिचय दिया है—

अयं च पुष्पकनामा स विमानराजः
असंरुद्धगतेरिष्टप्रवृतेर्वशवर्तिनः।
मनोरथस्यानुगुणं सर्वदा यस्य चेष्टितम् ॥ म० च० ७.७

अर्थात् यही वह पुष्पक विमानराज है जिसकी गति कहीं भी अवरुद्ध नहीं होती, जो सदैव इष्ट दिशा मे चलता है एवं वशवर्ती रहता है। इसकी चेष्टा सदैव मनोरथ के अनुकूल होती है।

राम सीता को मार्ग के विभिन्न स्थान दिखलाते हैं। अगस्त्य ऋषि का आश्रम आने पर राम व अन्य लोग विमान में से ही उन्हें प्रणाम करते है जिसके उत्तर में उन्हें एक अशरीरिणी वाणी के रूप में ऋषि का आशीर्वाद सुनाई देता है।[1] सह्य पर्वत के आने पर विमान स्वतः ऊपर उठ जाता है जिससे मध्यलोक कुछ नीचे छूट जाता है[2] तथा सूर्य निकट आ जाता है।[3] वहां से आकाश में दिन में भी तारे चमकते दिखाई देते है।[4] गंधमादन पर्वत के समीप एक अश्वमुख किन्नर-युगल आकाश में उड़ता हुआ राम की स्तुति करता है।[5] विश्वामित्र के आश्रम के ऊपर से जाते समय राम को ऋषि का एक संदेश प्राप्त होता है। राम विमान को रोककर सन्देश सुनते है।[6] कुछ आगे चलने पर राम को हनूमान् आकर सूचना देते है कि भरत प्रजा—सहित उनकी अगवानी के लिए आ रहे हैं। राम पुष्पक विमान को उतरने की आज्ञा देकर भरत आदि से भेंट करते है।

दिव्य ऋषियों द्वारा अभिषेक : राम के अभिषेक के समय उपस्थित दिव्य ऋषि विश्वामित्र की आज्ञा से अभिषेक सम्पन्न करते है। इस अवसर पर आकाश से

---

1. राम· (आकर्ण्य) कथमशरीरिण्या गिरा परमनुगृहीतो महामुनिवन्दारुः। वही, 7, पृ० 224.
2. (निरूप्य) किमन्यादृशीव गतिरस्य विमानराजस्य।
विभीषणः—देव, अत्युच्चैः किलायं सह्यः सानुमान्। एनमतिक्रम्य गम्यते किलार्यावर्तः। तदतिक्रमणायेदमपि मध्यमलोकसानिध्यं किंचिदुज्झति। वही, 7 पृ० 225.
3. ·····विवस्वान् प्रत्यासन्नः पुष्पकारोहणेन। वही, 7.21.
4. वही, 7 पृ० 225.
5. वही, 7 पृ० 226–227.
6. वही, 7 पृ० 228.

पुष्पों की वृष्टि होती है जिसे वसिष्ठ ऋषि इन्द्र द्वारा राज्याभिषेक के अनुमोदन के रूप में ग्रहण करते है।[1]

पुष्पक विमान द्वारा लंका से अयोध्या तक की यात्रा की मूल कल्पना रामायण पर आधारित है, पर इसके अधिकांश ब्यौरे नाटककार द्वारा उद्भावित है। इस यात्रा-दृश्य पर रघुवंश के १३वें सर्ग का भी प्रभाव प्रतीत होता है। लेखक ने संभवत: विमानयात्रा-वर्णन के मोह में पड़कर ही इस वर्णनात्मक प्रसंग की योजना की है जिसका कोई नाटकीय औचित्य नही है। सप्तम अक लगभग पूरा ही श्रव्य-काव्य में परिवर्तित हो गया है।

अतिप्राकृत पात्र

महावीरचरित के पात्रों के स्वरूप-निर्माण में अधिकतर रामायण का ही अनुसरण किया गया है। ये पात्र मानवीय व अतिमानवीय दोनों विशेषताओ से युक्त है। तथापि नाटक की दृश्य कथा मे उनका मानव रूप ही अधिक उभरा है। उनके अतिप्राकृतिक पक्षों का चित्रण या तो अतीत घटनाओ के रूप में हुआ है या उनका विधान नेपथ्य में किया गया है। अनेक अतिप्राकृतिक प्रसंगों की विष्कभकों में सूचना मात्र दी गई है; अत. पात्रों का अतिमानवीय पक्ष सामाजिक की दृष्टि से प्राय: दूर ही रहता है। नाटककार ने राक्षस, देवता, किन्नर, दिव्य ऋषि आदि मानवेतर पात्रों की भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष योजना की है, पर गुणधर्मो की दृष्टि से वे अधिकतर मानव रूप मे ही उपस्थित होते है।

नाटक की प्रस्तावना में लेखक ने कहा है कि इस नाटक में अप्राकृत पात्रों में वीर रस की स्थिति दिखायी गई है तथा आधार-भेद से उसे अनेक सूक्ष्म व प्रकट भेदों में विभक्त किया गया है।[2] राम, परशुराम, वाली और रावण ये सभी वीर पुरुष अप्राकृत पात्र हैं जिनकी वीरता अपनी-अपनी विशेषताएं लिये हुए है।

नाटक के नायक राम एक महान् वीर व अलौकिक पुरुष है। माल्यवान् के शब्दों में "राम जन्म से ही जगत् मे एक अद्भुत व्यक्ति हैं। उसके मर्त्य होने से क्या जिसके चरित को देव व असुर गाते है।"[3]

---

1. विश्वामित्र:—(दिव्यर्षिगणमुद्दिश्य) निर्वर्त्यता रामभद्रस्याभिषेक: । (मुनयो यथोचितमाचरन्ति।) (नेपथ्ये दुन्दुभिध्वनि) (सर्वे सविस्मयं पुष्पवृष्टि रूपयन्ति)
वसिष्ठ.—कथ सलोकपालो भगवान्पाकशासनो रामभद्रस्याभिषेकमनुमोदते।
वही, 7 पृ0 233.

2. वही, 1.3.

3. उत्पत्त्यैव हि राघव: किमपि तद्भूतं जगत्यद्भुतं
मर्त्यत्वेन किमस्य यस्य चरितं देवासुरैर्गीयते। वही, 2.6.

इस नाटक में भवभूति का लक्ष्य राम की महावीरता के विभिन्न पक्षों का उद्‌घाटन करना है। वे वीर होने के साथ विनयी है, तेजस्वी होने पर भी क्षमाशील हैं। ताटका, सुबाहु, वाली, रावण आदि दुर्दान्त राक्षसों का वध उनकी अतिमानवीय शक्ति का सूचक है। उनके सभी कार्य उनकी लोकोत्तरता के परिचायक है। परशुराम जैसे अप्रतिम वीर को वे अनायास ही पराजित कर देते हैं।

महावीरचरित में राम का मानव रूप ही प्रधान है। उनकी अलौकिकता उनके मानवत्व का ही चरम विकास है। राम के ईश्वरीय रूप का केवल सप्तम अंक में दो स्थलों पर उल्लेख मिलता है।[1] हम पहले बता चुके है कि पचम अंक के ४६वें श्लोक से आगे का भाग भवभूति-प्रणीत नहीं माना जाता। अतः संभव है उक्त स्थलों में राम की ईश्वरता का संकेत क्षेपककार की देन हो।

महावीरचरित के दूसरे महत्त्वपूर्ण पात्र परशुराम रामायण से कुछ भिन्न रूप में अंकित हैं। नाटककार के अनुसार वे माल्यवान् की प्रेरणा से राम को दंड देने के लिए मिथिला जाते हैं। उनके व्यक्तित्व-निर्माण में लेखक ने पौराणिक कथाओं का सहारा लिया है। उनके शिव का शिष्य होने, इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार करने, सहस्त्रार्जुन-जैसे अप्रतिम वीर का वध करने, कार्तिकेय को जीतने, क्रौंच पर्वत का भेदन करने तथा अश्वमेघ यज्ञ में समस्त पृथ्वी दान करने का अनेक बार उल्लेख किया गया है।[2]

रावण का व्यक्तित्व भी पौराणिक कल्पनाओं से निर्मित है। वह देवताओं का शत्रु और विश्वविजयी बताया गया है।[3] इन्द्र भी भयभीत होकर उसका शासन स्वीकार करता है।[4] वह परम शिव-भक्त है। यह उल्लेख मिलता है कि एक बार उसने अपने मस्तक काट कर शिव को भेंट कर दिये थे तथा कैलाश पर्वत उठा लिया था।[5] रामरावण-युद्ध के वर्णन में बताया गया है कि राम ज्योंही उसके मस्तक काटते थे त्योंही उनके स्थान पर नये निकल आते थे।[6]

---

1. (क) अलका—अयि, किमत्राश्चर्यम्

 इद हि तत्त्व परमार्थभाजामय हि साक्षात्पुरुष पुराणः।

 त्रिधा विभिन्ना प्रकृति· किलैषा तातु भुवि स्वेन सतोऽवतीर्णा॥ वही, 7.2

 (ख) (नेपथ्ये) . . . यत्पुराणस्यैव पुंसोऽभिव्यक्तिपर्यायनिष्ठ मह· साक्षात्क्रियते।

 वही, पृ० 226.

2. वही, 2.13, 16, 17, 18, 19, 34, 36; 3. 37, 45.
3. वही, 1.31, 33.
4. वही, 1.29.
5. वही, 6.14, 15.
6. वही, 6.61.

रावण-सम्बन्धी उक्त सभी अतिप्राकृत तथ्य सूच्य रूप मे आये हैं तथा उनमें से अधिकतर का नाटकीय कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। नाटक में तो वह एक अहंकारी, कामुक, उद्धत और अदूरदर्शी व्यक्ति के रूप में हमारे समक्ष आता है। उसका अतिमानवीय पक्ष केवल उसकी अहंकारोक्तियों में व्यक्त हुआ है।

विश्वामित्र और वसिष्ठ दोनों तत्त्वज्ञानी ऋषि हैं।[1] इनसे सम्बन्धित पौराणिक कथाओं का अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है।[2] राम को दिव्यास्त्रों का दान तथा आकाश में पुष्पक विमान से जाते हुए उनके पास पृथ्वीतल से ही संदेश-प्रेषण आदि प्रसंग विश्वामित्र की अलौकिकता के द्योतक है। उनके व्यक्तित्व के अलौकिक प्रभाव का भी उल्लेख किया गया है।[3] वसिष्ठ के कथनानुसार उनमें क्षात्र तेज है जिसमें ब्राह्म तेज और आ मिला है। लोकोत्तर चमत्कार के निधान उनकी कौनसी बात अद्भुत नहीं है।[4] वसिष्ठ अपने आन्तर चक्षु से जान लेते है कि राम को वन भेजने में कैकेयी का नही शूर्पणखा का हाथ था।[5] वे ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले योगी है।[6] नाटक मे इन दोनों का चरित्र अधिकतर मानवीय रूप में अंकित है।

दशरथ इन्द्र के प्रिय मित्र और असुरों के विरुद्ध युद्ध में देवसेना का नेतृत्व करने वाले बताए गए हैं।[7] किन्तु नाटक में वे एक वीर व निर्भीक राजा तथा पुत्र-वत्सल पिता के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। राजा जनक ब्रह्मज्ञानी एव धार्मिक व्यक्ति हैं जो परशुराम का औद्धत्य सहन नहीं कर पाते और अतिवृद्ध होने पर भी उनके विरुद्ध शस्त्र उठाने को तत्पर हो जाते हैं। सम्पाति और जटायु दोनों भाई 'मन्वन्तरपुराण' गृद्ध हैं।[8] नाटककार ने चौथे और पांचवे अंकों के कथासूत्रों को जोड़ने के लिए पंचम अंक के विष्कंभक मे इनका संवाद प्रस्तुत किया है।

---

1. राजा— प्रकृष्टकल्याणोदर्कसगमा ह्येते भवन्ति भगवन्त; सत्यसन्धाः साक्षात्कृतब्रह्माणो महर्षयः। वही, 1. पृ0 12.
2. न खलु विश्वामित्रादृषेर्महत्त्वेन कश्चिदपर· प्रकृष्यते। यस्य भगवतस्त्रैशकवं शौन शैप रंभास्तम्भन चेत्यपरिमेयमाश्चर्यजातमाख्यानविद आचक्षते। वही, 1, पृ0 11.
   और भी देखिए—वही, 3.7, 4.16.
3. वही, 1.12.
4. वही. 7.39.
5. अरुन्धती—वत्से, अल शकया। आर्यमिश्रैरयमर्यस्तदैवान्तरेण चक्षुपा साक्षात्कृत.। वही, 7 पृ0 230.
6. वही, 3 पृ0 86–88.
7. वही, 4.18.
8. तदयमार्यो मन्वन्तरपुराणो संपाति.। अहो मातृस्नेहः। वही, 5 पृ0 168.

वाली रावण का मित्र है जो माल्यवान् की प्रेरणा से राम के वध के लिए मातंग-आश्रम में आकर उन पर आक्रमण करता है। नाटक में उसका चरित्र एक महान् वीर, उदार-हृदय भ्राता तथा महामना मित्र का आदर्श प्रस्तुत करता है। वह इन्द्र का पुत्र कहा गया है। उसके सम्बन्ध मे यह पौराणिक कथा भी दी गई है कि उसने एक बार युद्ध के लिए आये रावण सो कांख में दबाकर सातो समुद्रों में संध्याकार्य पूरा किया और बाद में मैत्री की याचना करने पर उसे छोड़ा।[1]

नाटक में हनूमान् की भूमिका अतीव संक्षिप्त है। रामायण के अनुसार उनकी दैवी उत्पत्ति तथा अलौकिक कार्यों का उल्लेख किया गया है।[2] अशोक वाटिका में वे 'मर्कटपरमाणु' का रूप धारण कर सीता मे भेंट करते है।[3] लक्ष्मण के मूर्च्छित होने पर वे सम्पूर्ण द्रोण पर्वत को उठा लाते हैं। उनमे आकाश-गमन की शक्ति है। उनके व्यक्तित्व-निर्माण में नाटककार ने स्पष्टतः रामायण की अतिमानवीय कल्पनाओं का उपयोग किया है।

इनके अतिरिक्त वासव, चित्ररथ, मातलि और किन्नर-मिथुन आदि कुछ दिव्य पात्र भी नाटक में आये हैं, पर उनकी भूमिका नगण्य है। रावण का मन्त्री माल्यवान् एक महत्त्वपूर्ण पात्र है, पर उसके व्यक्तित्व में कोई अलौकिक बात नहीं है। उसका चरित्र मुख्यतः एक स्वामिभक्त व कूटनीतिज्ञ अमात्य के रूप में अंकित है।

स्त्री पात्रों में सीता, शूर्पणखा, मन्दोदरी व त्रिजटा आदि गणनीय हैं। शूर्पणखा के अलावा अन्य स्त्री पात्रों की भूमिका नाटक में विशेष प्रभावकारी नही है। शूर्पणखा में परकाय-प्रवेश की अलौकिक शक्ति बताई गयी है। सप्तम अंक में लंका और अलका नगरियों का मानवीकरण किया गया है, पर नाटक मे इनकी भूमिका कुछ सूचनाएं मात्र देने तक सीमित है।

अतिप्राकृत लोक-विश्वास

शकुन : अशुभ निमित्त के रूप में केवल एक स्थान पर वाम नेत्र के स्फुरण का उल्लेख मिलता है।[4]

---

1. वही, 5.37.
2. लक्ष्मण—हनूमान्हनूमानिति महानयं वीरवादः। अत्रभवतो जातमात्रस्य सततपरिभ्रान्तदेवासुराण्याश्चर्याणि श्रूयन्ते। अपि च किल।
   यद्वज्रलक्षणे वीर्यं यद् वायौ वा समुन्नतम्।
   यद् वालिनि महाबाहौ तच्च वीरे हनूमति ॥ वही, 5.31.
3. वही, 6 पृ० 200.
4. माल्वान्—(वामाक्षिस्पन्दनं सूचयन्)
   किं नो विधिरिह वचनेऽप्यक्षमो दुर्विपाकः। वही, 6.7.

कर्म-विपाक : रावण की मृत्यु व उसके कुल का नाश उसके दुष्कर्मों का विपाक बताया गया है ।[1]

भवितव्य की प्रबलता : भवितव्य होकर ही रहता है, वह किसी भी तरह टाला नहीं जा सकता, इस भाग्यवादी विश्वास के आधार पर रावण के पतन और विनाश की व्याख्या की गई है । रावण एक उदात्त ऋषिकुल में उत्पन्न हुआ, फिर भी उसकी बुद्धि पाप में ही प्रवृत्त रही, जिससे उसका विनाश हुआ ।[2]

अतिप्राकृत तत्त्व और रस

महावीरचरित का प्रधान रस 'वीर' है । प्रस्तावना में ही नाटककार ने बता दिया है कि इस नाटक में "अप्राकृत पात्रों मे स्थित वीर रस अपने सूक्ष्म व स्फुट भेदों द्वारा प्रत्येक आधार में भिन्न रूप से प्रस्तुत किया गया है ।" उसने यह भी कहा है कि "मैंने वीर व अद्भुत रसों के विशेष प्रेम के कारण धर्मद्रोही रावण का दमन करने वाले रघुनन्दन का अद्भुत चरित इसमें निबद्ध किया है ।" इससे स्पष्ट है कि इस नाटक में भतभूति ने रामचरित को वीर व अद्भुत रसो की निष्पत्ति की दृष्टि से ही उपन्यस्त किया है । वस्तु-योजना व पात्र-चित्रण में नाटककार की यह दृष्टि सर्वत्र देखी जा सकती है ।

'महावीरचरितम्' की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की गई है—'महावीरस्य चरित वर्ण्यते यत्र तत् नाटकम्' अथवा 'महावीराणां चरितानि वर्ण्यन्ते यत्र तत् । सम्भवतः नाटककार को दोनों ही व्युत्पत्तियां अभिप्रेत है । नाटक मे मुख्यतः राम की महावीरता के विभिन्न उपादानों व पक्षों का चित्रण किया गया है । उनका ही वीर व्यक्तित्व नाटक मे सर्वप्रधान रूप से उभरा है । इस दृष्टि से यह नाटक महावीर राम का जीवनचरित है । पर नाटककार का उद्देश्य विभिन्न अप्राकृत वीर पात्रों में वीर रस के विभिन्न रूपों का सौन्दर्य दिखाना भी है । इसी दृष्टि से नाटककार ने परशुराम, जटायु, वाली, हनूमान्, रावण आदि वीर पुरुषों की अवतारणा की है तथा उनमें वीरता की विभिन्न भंगिमाओं के दर्शन कराये है । इन वीरों में से कुछ (परशुराम, वाली, रावण) राम के हाथों पराजित होते हैं और कुछ (जटायु, हनूमान, लक्ष्मण, सुग्रीव) उन्हीं के पक्ष में अपनी वीरता प्रदर्शित करते है, अतएव इन वीरो का पराक्रम अन्ततः राम के ही महावीरत्व को उत्कर्ष प्रदान करता है ।

वीर व अद्भुत मित्ररस माने गये है। भरत ने वीर रस से अद्भुत की उत्पत्ति मानी है, यह हम पहले बता चुके है । महावीरचरित भरत की उक्त

---

1. अलका—यदुचितममुना ते राक्षसानां विनेत्रा ।
   निहितमयमशेषः कर्मणस्तस्य पाकः ॥ वही, 7.1.
   और भी दे0 6.6.
2. वही, 6.8.

मान्यता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। राक्षसी ताटका का वध, शिवधनुप का भंग, सुवाहु और मारीच का दमन, परशुराम जैसे त्रिभुवन-प्रसिद्ध वीर पर विजय तथा वाली व रावण जैसे अलौकिक वीरों का वध आदि राम के कार्य जहां उनकी महावीरता के व्यंजक हैं, वहां वे प्रेक्षकों के लिए अद्भुत रस के आलंवन भी हैं। इन सभी प्रसंगों में अद्भुत रस वीर रस के अंग के रूप में उसकी सौन्दर्य-वृद्धि का हेतु है। नाटक के कुछ अन्य प्रसंग जैसे राम के प्रभाव मे अहल्या का उद्धार तथा उसे दिव्य रूप की प्राप्ति, दिव्यास्त्रों का प्रादुर्भाव व उनके द्वारा राम की स्तुति, ध्यान मात्र से शिवधनुप की उपस्थिति, शूर्पणखा का मन्थरा के शरीर में आवेश, दनुकवन्ध की चिता में से दिव्य पुरुप का आविर्भाव, राम द्वारा दुन्दुभि के अस्थि-संचय का पादांगुष्ठ से क्षेपण, हनूमान् का द्रोणपर्वत उठाकर उपस्थित होना, पुष्पक विमान द्वारा राम की लंका से अयोध्या तक की यात्रा, मार्ग मे विमानस्थ राम को अगस्त्य व विश्वामित्र के सदेशों की प्राप्ति, विभिन्न अवसरों पर आकाश से पुष्पवृष्टि व दुन्दुभि-वादन आदि अद्भुत रस के व्यंजक हैं। पर यह ध्यातव्य है कि अद्भुत रस के ये प्रसंग सर्वत्र वीर रस के अंग के रूप में ही निवद्ध हैं, स्वतन्त्र रूप में नहीं। नाटककार का अन्तिम लक्ष्य तो राम व अन्य पात्रों की महावीरता को ही उजागर करना है। इससे स्पष्ट है कि नाटक में आये अतिप्राकृत तत्त्व अद्भुत रस की निष्पत्ति कराते हुए अन्त मे अंगी 'वीर रस' के प्रति अंग वन गए हैं।

उत्तररामचरित

'उत्तररामचरित' भवभूति के कवित्व व नाट्यकला के चरम परिपाक का प्रतिनिधि है। स्वयं नाटककार ने इसे "शब्दब्रह्मविद् प्राज्ञ कवि की परिणत वाणी कहा है।[1] यह अपने नाटकीय गुणों के लिए तो प्रशंसनीय है ही, उससे भी अधिक यह अपने काव्यात्मक व प्रगीतात्मक तत्त्वों के लिए प्रसिद्ध रहा है। करुण रस का जैसा मार्मिक परिपाक इसमे हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

उत्तररामचरित में भवभूति ने दाम्पत्य-प्रेम को महिमान्वित किया है। उनका दाम्पत्य-सम्वन्धी दृष्टिकोण अतीव उदात्त है। मालती-माधव में उन्होंने नवविवाहित माधव व मालती के प्रति कामन्दकी के मुंह से कहलाया गया है—"स्त्रियों के लिए पति और पुरुषों के लिए धर्मपत्नी ही प्रिय मित्र, समग्र वंधुसमूह, समस्त अभिलाष,

---

1. शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतां प्राज्ञस्य वाणीमिमाम्। उत्तररामचरित, 7.21. (निर्णयसागर संस्करण, 1955)

धन-सम्पत्ति अथवा जीवन है, यह तुम दोनों वत्सों को अन्योन्य विदित हो।"[1]

उत्तररामचरित में भवभूति का दाम्पत्यविषयक दृष्टिकोण और अधिक परिष्कृत रूप में प्रकट हुआ है—"सुख और दुःख में द्वैतरहित, जीवन की सभी दशाओं में अनुगत, हृदय के लिए विश्राम-स्थान, वृद्धावस्था में भी रसपूर्ण तथा कालधर्मानुसार बाह्य आवरणों के उतर जाने पर स्नेह-सार में परिणत प्रेम को यदि कोई पा सके तो वह सुपुरुष बड़ा भाग्यशाली है।"[2] यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भवभूति ने उत्तररामचरित में सीतानिर्वासन की कारुणिक कथा के माध्यम से दाम्पत्य-प्रणय की इसी गम्भीर व उदात्त भाव-भूमि का हृदयस्पर्शी दर्शन कराया है।

उत्तररामचरित मानवीय प्रेम व पारिवारिक जीवन के मूल्यों तथा उसके करुण भावोद्वेगों का नाटक है, अतः उसमें नाटककार ने अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग उसी सीमा तक किया है जहां तक वे कृति के मानवीय मूल्य व अर्थ को समृद्ध बनाने में योग देते हैं।

उत्तररामचरित की प्रधान घटना सीता-परित्याग और राम व सीता का पुनर्मिलन है। कथा के मूल सूत्र रामायण से लिये गये है, पर उनकी योजना मे नाटककार ने अपने विशिष्ट जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति तथा कलात्मक उद्देश्यों की सिद्धि के लिये विविध परिवर्तन व परिवर्धन किये है। सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन रामायण की दुःखान्त कथा का सुखान्तीकरण है। प्रथम अंक में चित्र-दर्शन, तृतीय अक में अदृश्य सीता की कल्पना, चतुर्थ अंक में कौसल्या, जनक, अरुन्धती आदि का वाल्मीकि-आश्रम में प्रवास, पंचम व षष्ठ अंकों में लव और चन्द्रकेतु का युद्ध तथा सप्तम अंक में गर्भांक की योजना भवभूति की अपनी उद्भावनाएं हैं। इनमें से कुछ पर पद्मपुराण, शाकुन्तल आदि का प्रभाव प्रतीत होता है।[3]

---

1. प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा
   सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा।
   स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसा-
   मित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु॥ मा० मा० 6.18.

2. अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्
   विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्न हार्यो रसः।
   कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं
   भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥ उ० रा० च०, 1.39.

3. पद्मपुराण के पातालखण्ड में वर्णित रामकथा (अध्याय 1 से 68) मे लव और कुश का भरत के पुत्र पुष्कल के साथ युद्ध तथा निर्वासित सीता के साथ राम का पुनर्मिलन बताया गया है। श्री वेल्वलकर के विचार में रामायण की दुःखान्त कथा को सुखान्त रूप देने की प्रेरणा भवभूति को पद्मपुराण से या रामकथा के उससे मिलते-जुलते किसी अन्य रूप से मिली होगी। (दे० रामस् लेटर हिस्ट्री ऑर उत्तररामचरित, भूमिका पृ० 57) इसी प्रकार पृथ्वी-माता के सरक्षण मे सीता के पाताल जाने की घटना पर शाकुन्तल में 'स्त्रीसंस्थान ज्योति' (मेनका) द्वारा शकुन्तला को आश्रय देने के प्रसंग का प्रभाव माना गया है। (देखिए—द्विजेन्द्रलाल राय कृत 'कालिदास और भवभूति' पृ० 155)।

प्रथम अंक में सीता-परित्याग की वाह्य परिस्थिति व आन्तरिक मनोभूमि प्रस्तुत की गई हैं। दूसरे से सातवे अंक तक नाटककार का साध्य राम व सीता का पुर्नमिलन है। तृतीय अंक में उनके हृदयों का मिलन कराया गया है जिसकी पीठिका पर सप्तम् अंक में उनका वाह्य पुर्नमिलन सभव होता है। द्वितीय अंक तृतीय अंक की भावभूमि पर पहुंचाने वाला सोपान है और चतुर्थ, पंचम व षष्ठ अंक अंतिम मिलन मे गुरुजनों व अपत्यों की भूमिका प्रस्तुत करते हैं।

राम व सीता की जीवन-धाराएं जो पहले परस्पर मिलकर व एकाकार होकर एक ही दिशा में समगति से बह रही थीं, परित्याग की घटना से एक-दूसरे से विलग हो जाती हैं। नाटककार का प्रमुख ध्येय इन दोनों वियुक्त धाराओं को एकीकृत कर पुनः पूर्व अवस्था में स्थापित करना है। राम और सीता के एकरस व एकराग जीवन में लोकनिन्दा के कारण जो समस्या उत्पन्न हुई उसका समाधान भवभूति ने अपने स्वतंत्र दृष्टिकोण से किया है। सीता-परित्याग के नैतिक औचित्य-अनौचित्य का विचार उन्हें अभीष्ट नही है, यद्यपि समस्या के इस पक्ष से वे पूर्णतया तटस्थ नहीं रह सके हैं। उन्होंने इसे राम व सीता के जीवन की एक मनोवैज्ञानिक या भावात्मक समस्या के रूप मे ग्रहण किया है और इसी स्तर पर इसके समाधान की चेष्टा की है। उनके विचार में यदि सीता को राम के प्रेममय हृदय का दर्शन करा दिया जाये तो उसके मन का परित्याग-शल्य निकल जायेगा जिससे दोनों के जीवन-प्रवाहों में आया विलगाव समाप्त हो सकेगा। तीसरे अंक में अदृश्य सीता की कल्पना द्वारा भवभूति ने इसी लक्ष्य को पाने का प्रयास किया है।

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

उत्तररामचरित की कथा में आए अतिप्राकृत प्रसंगों में से कुछ का स्रोत रामायण है तथा कुछ कवि-कल्पित हैं जिन पर रघुवंश व शाकुन्तल आदि का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव प्रतीत होता है। वस्तु-विधान में नाटककार ने पौराणिक कल्पनाओं का प्रभूत उपयोग किया है जिससे नाटक के अनेक स्थल पौराणिकता के अतिमानवीय लोक में संक्रान्त हो गये हैं तथापि उसकी अन्तश्चेतना में आद्यन्त मानवीय स्वर ही प्रधान है। अतिप्राकृत कल्पनाएं उस अन्तश्चेतना का बहिरंग या उस तक पहुंचने का माध्यम मात्र है।

सीता का पाताल-प्रवास : राम द्वारा परित्यक्ता सीता को जब लक्ष्मण हिंस्र जन्तुओ से पूर्ण निर्जन वन में छोड़ आते हैं, तब वह जीवन से निराश होकर गंगा में कूद पड़ती है। वहीं उसके दो पुत्रो का जन्म होता है। भागीरथी और पृथ्वी उनकी रक्षा करती है और तीनों को पाताल लोक में ले जाती हैं। जब दोनों बालक स्तन्य-पान छोड़ देते हैं तब भागीरथी उन्हें शिक्षा-दीक्षा के लिये महर्षि वाल्मीकि को सौंप

देती है[1] सीता बारह वर्ष तक पाताल में निवास करती है। इस बीच केवल एक बार जब राम शंबूक-वध के प्रसंग से दण्डकारण्य में आते हैं, वह भगवती भागीरथी की प्रेरणा व प्रभाव से अदृश्य रूप में पृथ्वी लोक में आती है।

रामायण में भी सीता के पाताल-गमन से मिलता-जुलता उसके पृथ्वी में समाने का प्रसंग आया है,[2] पर वहां अवसर दूसरा है। नाटक में सीता-परित्याग के समय उसका पाताल जाना बताया गया है, जबकि रामायण में परित्याग के अनेक वर्षों के बाद अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर सीता के पृथ्वी में समाने की बात आई है। दोनों प्रसंगों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि जहां नाटक की सीता कुछ काल के लिए ही पाताल मे प्रवास करती है, वहां रामायण में वह सदा के लिए पृथ्वी में समा जाती है। दूसरे, भवभूति ने इस प्रसंग में पृथ्वी के साथ-साथ भागीरथी को भी सीता की संरक्षिका के रूप में दिखाया है जबकि रामायण में उसका इस प्रसंग में उल्लेख नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि भवभूति ने सीता के पाताल-प्रवेश की मूल कल्पना ली तो रामायण से ही है, पर नाटकीय प्रयोजन की दृष्टि से उसका सर्वथा नये रूप में संयोजन किया है। भवभूति को नाटक के अंत में राम व सीता का पुनर्मिलन कराना है, अतः वे उसे अस्थायी रूप से ही पाताल भेजते हैं। भारतीय परम्परा में दु.खान्त नाटक की स्वीकृति न होने से भवभूति को उक्त परिवर्तन करना पड़ा है।

सीता का सुदीर्घ पातालवास लोगों के मन में इस भ्रम को जन्म देता है कि सीता मर चुकी है, उसे वन में हिंस्र पशुओं ने खा डाला है। तृतीय अंक में वासन्ती

---

1. तमसा—तत्सर्वं श्रूयताम्। अस्ति खलु वाल्मीकितपोवनोपकण्ठात्परित्यज्य निवृत्ते सति लक्ष्मणे सीतादेवी प्राप्तप्रसववेदनमतिदुःखसंवेगादात्मानं गगाप्रवाहे निक्षिप्तवती। तदैव तत्र दारकद्वयं च प्रसूता भगवतीभ्यां पृथ्वीभागीरथीभ्यामुभाभ्यामभ्युपपन्ना रसातलं च नीता। स्तन्यत्यागात्परेण दारकद्वयं च तस्य प्राचेतसस्य महर्षेर्गंगादेव्या समर्पितं स्वयम्।
उ० रा० च० 3, पृ० 68.

2. तथा शपन्त्यां वैदेह्यां प्रादुरासीत् तदद्भुतम्।
भूतलादुत्थितं दिव्यं सिंहासनमनुत्तमम्॥
ध्रियमाणं शिरोभिस्तु नागैरमितविक्रमैः।
दिव्यं दिव्येन वपुषा दिव्यरत्नविभूषितैः॥
तस्मिंस्तु धरणी देवी बाहुभ्यां गृह्य मैथिलीम्।
स्वागतेनाभिनन्द्यैनामासने चोपवेशयत्॥
तामासनगतां दृष्ट्वा प्रविशन्ती रसातलम्।
पुष्पवृष्टिरविच्छिन्ना दिव्या सीतामिवाकिरत्॥ उत्तरकांड, अ० 97.17–20.

के प्रश्न के उत्तर में राम ने अपनी यही धारणा व्यक्त की है।[1] नाटक में राम, जनक, कौशल्या आदि के शोकोद्गार सीता की मृत्यु की भ्रांति पर ही आधारित हैं।[2] सीता के अज्ञात पातालवास की कल्पना द्वारा भवभूति इस भ्रम को सप्तम अंक के गर्भांक तक बनाये रखते हैं। गर्भांक से ही राम, लक्ष्मण तथा चराचर भूतग्राम को सीता की निर्वासनोत्तर नियति का पहली बार पता चलता है। उत्तररामचरित में करुण रस का प्राधान्य सीता की मृत्युविषयक भ्रांति का ही सीधा परिणाम है, और इस भ्रांति को जीवित रखने में सीता का पाताल-प्रवास प्रमुख आधार है।

पौराणिक कथाओं में सीता पृथ्वी की पुत्री बताई गई है, अतः उसका पातालवास अपनी मां के घर में आश्रय लेना है जो कि विपत्ति के समय प्रत्येक पुत्री के लिए स्वाभाविक है। शाकुन्तल में भी पति-परित्यक्ता शकुन्तला को माता मेनका के अंक में आश्रय मिला है। श्री द्विजेन्द्रलाल राय ने सीता के पातालवास की कल्पना को शाकुन्तल के उक्त प्रसंग का अनुकरण माना है,[3] पर हमारे मत में इस पर रामायण का अधिक प्रभाव है।

घटनाक्रम की दृष्टि से सीता के पातालगमन का प्रसंग प्रथम व द्वितीय अंक के मध्य में आना चाहिए। पर नाटककार ने इसका प्रथम उल्लेख तृतीय अंक के विष्कंभक में सूच्य रूप में किया है और फिर सप्तम अंक में इस घटना को गर्भांक के रूप में अभिनीत कराया है। तृतीय अंक का उल्लेख केवल प्रेक्षकों के लिए है और सप्तम अंक का गर्भांक राम आदि के लिए। इस प्रकार की कौशलपूर्ण योजना से सामाजिक तो सीता के जीवित होने की बात जान लेते हैं, पर राम आदि गर्भांक-पर्यन्त इससे अपरिचित रहते है।

अदृश्य सीता : तृतीय अंक में भवभूति ने राम और सीता के हृदय-मिलन के लिए सीता को पचवटी में राम के समीप अदृश्य रूप में उपस्थित किया है। लोपामुद्रा और भागीरथी आशंकित है कि पंचवटी में आने पर राम विगत वनवास में सीता के साहचर्य के साक्षी वृक्षों, लताओं व पशुपक्षियों आदि को देखकर अपने शोक को नियन्त्रण में नहीं रख सकेंगे।[4] इस आशंका से भागीरथी सीता को पुष्प-चयन

---

1. राम.—सखि, किमत्र मन्तव्यम् ।

   त्रस्तैकहायनकुरंगविलोलदृष्टे-
   स्तस्याः परिस्फुरितगर्भभरालसायाः ।
   ज्योत्स्नामयीव मृदुबालमृणालकल्पा
   क्रव्यादिभिरंगलतिका नियतं विलुप्ता ॥ उ० रा० च०, 3.28.

2. वही, 3.44; 4.5; 4.17; 4 पृ० 112.
3. कालिदास और भवभूति, पृ० 155.
4. उ० रा० च०, 3 पृ 67–68.

के बहाने अपने दैवी प्रभाव द्वारा अदृश्य बनाकर पंचवटी में भेजती है, जहां कुछ ही समय पश्चात् राम आने वाले हैं। भागीरथी ने सीता से कहा है कि मेरे प्रभाव से तुम्हें पृथ्वीतल पर मर्त्य तो क्या वनदेवता भी नहीं देख सकेंगे।[1] उन्होंने तमसा से भी कहा कि वह पुष्प-चयन के समय सीता के साथ रहे। इस प्रकार अदृश्य सीता को तमसा के अतिरिक्त कोई भी नही देख सकता।

राम अपने विमान से पंचवटी के वन मे उतरते है और सीता की स्मृति जगाने वाले दृश्यों व वस्तुओं को देखकर शोक के आवेग से दो बार मूर्च्छित हो जाते हैं और अदृश्य सीता अपने पाणि-स्पर्श से उन्हें चैतन्य प्रदान करती है।[2] राम सीता के स्पर्श को पहचान कर उसकी निकट उपस्थिति का अनुभव करते है, पर उन्हें सीता कहीं भी नहीं दिखाई देती।[3] दूसरी बार की मूर्च्छा के वाद राम सीता के अदृश्य हाथ को पकड़ लेते हैं।[4] पर सीता उसे छुड़ा कर दूर हट जाती है। वे पुनः सीता को आई हुई जानकर चारों ओर देखते है, किन्तु कुछ नहीं दिखाई देने पर वे उस स्पर्शानुभूति को मानसिक परिकल्पनाओं से निर्मित भ्रम-मात्र समझते हैं।[5] इस प्रकार राम की मन:स्थिति यथार्थ व भ्रम के बीच झूलती रहती है और उनकी शोकानुभूति तीव्र से तीव्रतर होती जाती है। सीता राम के हृदय में अपने लिए अगाध प्रेम का साक्षात् परिचय पाकर अपने परित्याग के अपमान और रोष

---

1. तमसा—भगवत्या भागीरथ्या "वत्से देवयजनसंभवे सीते, अद्य खल्वायुष्मतो: कुशलवयोर्द्वादशस्य जन्मवत्सरस्य संख्यामंगलग्रन्थिरभिवर्तते। तदात्मनः पुराणश्वसुरमेतावतो मानवस्य राजर्षिवंशस्य सवितारं सवितारमपहतपाप्मानं देव स्वहस्तोपचितैः पुष्पैरुपतिष्ठस्व। न त्वामवनिपृष्ठवर्तिनीमस्मत्प्रभावाद् वनदेवता अपि द्रक्ष्यन्ति किमुत मर्त्याः इति।
वही, 3 पृ० 69.

2. वही, 3.11, 39.

3. रामः—सखि, किमन्यत्। पुनरपि प्राप्ता जानकी।
वासन्ती—अयि देव रामभद्र, क्व सा।
रामः—(स्पर्शसुखमभिनीय) पश्य नन्वियं पुरत एव। वही, पृ० 91.
रामः—(सर्वतोऽवलोक्य) हा कथ नास्त्येव। नन्वकरुणे वैदेहि। वही, पृ० 93.

4. रामः—स एवाय तस्यास्तदितरकरौपम्यसुभगो।
मया लब्धः पाणिर्ललितलवलीकन्दलनिभः॥ वही, 3.40.

5. रामः—अथवा कुतः प्रियतमा। नून सकल्पाभ्यासपाटवोपादान एष भ्रमो रामभद्रस्य।
वही, 3 पृ० 77.

रामः—व्यक्तं नास्त्येव। कथमन्यथा वासन्त्यपि न पश्येत्।
अपि खलु स्वप्न एष स्यात्। न चास्मि सुप्तः।
कुतो रामस्य निद्रा। सर्वथापि स एवैष भगवाननेक-
वारपरिकल्पितो विप्रलम्भः पुनः पुनरनुबध्नाति माम्। वही, 3 पृ 93–94.

को भूल जाती है।[1] उसका हृदय राम के प्रति इस सीमा तक समवेदनाशील हो जाता है कि वासन्ती द्वारा राम को कहे गये उपालम्भ-वचन उसे निष्ठुर प्रतीत होते हैं।[2] उसका हृदय जो पहले राम के प्रति तटस्थ व कठोर था, उनकी विरह-वेदना को देख कर द्रवीभूत हो जाता है[3] और वह स्वयं को पुनः संसारिणी अनुभव करने लगती है।[4] सीता के हृदय की आस्था का यह पुनः संस्थापन उसकी अदृश्यता का ही सीधा परिणाम है। यदि वह दृश्य रूप में आई होती तो उसे राम के प्रेममय हृदय को जानने का ऐसा अवसर नहीं मिलता और राम उसे अपने प्रेम का विश्वास दिलाते तो भी वह शायद ही उनका भरोसा करती। सीता को मृत समझते हुए भी राम अपने हृदय में उसके लिए जिस अमृत प्रेम को धारण किए हुए हैं, सीता के साक्षात् उपस्थित होने पर उस प्रेम की न वैसी अभिव्यक्ति होती और न सीता को ही उसकी प्रतीति होती।

अदृश्य सीता कवि-कल्पना ही नहीं है वह एक मनोवैज्ञानिक सत्य भी है। राम उसी पंचवटी में आये हैं जहां कुछ वर्ष पहले सीता के सहवास में उन्होंने नवयौवन के मधुर दिन विताये थे।[5] कुछ साधारण परिवर्तनों के बावजूद पंचवटी के वन-पथ, शिला-तल और कुंज-वन वही हैं। सीता द्वारा पालित-पोषित गज-शिशु अब युवा होकर प्रियतमा के साथ क्रीड़ा कर रहा है। सीता जिस मयूर-शावक को नचाती थी, वह भी अब वय-प्राप्त है, पर वह है अपने पूर्व स्थान पर ही। "सब वही है, केवल सीता ही नहीं है। किन्तु सीता की स्मृति है। राम उसे पकड़ना चाहते हैं,

---

1. सीता—(सोच्छ्वासम्) आर्यपुत्र इदानीमसि त्वम्। अहो उत्खाततिमिदानी मे परित्याग-शल्यमार्यपुत्रेण। वही, 3 पृ० 97.

2. सीता—सखि वासन्ति, त्वमेव दारुणा कठोरा च। यैवं प्रलपन्तं प्रलापयसि। वही, 3 पृ० 85.

3. तमसा—जानामि वत्से, जानामि।

   तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशाद्
   वियोगे दीर्घेऽस्मिन्झटिति घटनात्स्तम्भितमिव।
   प्रसन्नं सौजन्याद् दयितकरुणै र्गाढकरुणं
   द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन्क्षण इव॥ वही, 3.13.

4. सीता—भगवति तमसे, एतेनापत्यसंस्मरणेनोच्छ्वसितप्रस्नुतस्तनी इदानी वत्सयो. पितु: संनिधानेन क्षणमात्रं संसारिणी संवृत्तास्मि। वही, 3 पृ० 79.

5. यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बान्धवो मे
   यानि प्रियासहचरश्चिरमध्यवात्सम्।
   एतानि तानि बहुकन्दरनिर्झराणि
   गोदावरीपरिसरस्य गिरेस्तटानि॥ वही, 3.8.

लेकिन पकड़ नहीं पाते। उसी घड़ी वह मूर्ति शून्य में विलीन हो जाती है। सीता का कण्ठ-स्वर और स्पर्श अनुभव करते-करते ही मानों खो जाता है। यह स्वप्न, यह मृगतृष्णा, यह असह्य यंत्रणा, यह मर्मभेदी व्यथा, इस जगत् में शायद ही और कोई कवि कल्पना द्वारा दिखा सका हो।"[1] किन्तु सीता केवल स्मृति ही नहीं है वह एक वास्तविकता भी है। इसीलिए पचवटी में राम के आने से पूर्व ही भवभूति ने उसे वहां उपस्थित कर दिया है। यदि वह स्मृति-मात्र होती तो राम के आगमन के बाद ही अस्तित्व में आती। अतः वह एक वास्तविकता भी है, एक स्मृति और भ्रम भी।

अदृश्य सीता की कल्पना के लिए भवभूति कालिदास के ऋणी प्रतीत होते है। शाकुन्तल के षष्ठ अंक मे अप्सरा सानुमती अदृश्य रूप मे दुष्यन्त के पास उपस्थित होकर उसकी विरह-दशा तथा शकुन्तला के प्रति उसके प्रेम का पता लगाती है। हम अनुमान कर सकते है कि सानुमती ने शकुन्तला को दुष्यन्त की अवस्था से अवगत कराया होगा और उससे विरहिणी शकुन्तला को महती सान्त्वना मिली होगी। इस सान्त्वना के सहारे ही उसने दीर्घ विरह के कठिन दिन विताये होगे। इस प्रकार कालिदास ने सानुमती के माध्यम से शकुन्तला व दुष्यन्त का हृदय-संवाद पुनः स्थापित कर उसी के आधार पर सप्तम अंक में उनका पुर्नमिलन कराया है। उत्तररामचरित में भी सीता राम के निकट अदृश्य रूप में उपस्थित होकर उनकी विरहवेदना का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करती है जिससे उसके हृदय का परित्याग-शल्य निकल जाता है तथा दोनो प्रेमियों का आन्तरिक ऐक्य पुनः स्थापित होता है। इसी ऐक्य के आधार पर सप्तम अंक में दोनों का बाह्य पुनर्मिलन सम्भव हो पाता है। इस प्रकार दोनों नाटकों में अदृश्यता की मूल कल्पना व उसका उद्देश्य पर्याप्त समानता लिए हुए है।

प्रेमी के पास अदृश्य रूप में उपस्थित होकर प्रेमिका द्वारा उसका मनोभाव जानने की वात कालिदास के विक्रमोर्वशीय में भी आयी है। द्वितीय व तृतीय अंकों में उर्वशी तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्य रूप में पुरूरवा के पास खड़ी होकर अपने प्रति उसके प्रेमभाव का पता लगाती है। चतुर्थ अंक मे लता के रूप में वदल जाने पर उसका नारी-रूप कुछ काल के लिए अदृश्य रहता है तथापि वह अपने अन्तःकरण से पुरूरवा की विरह-दशा का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करती है।[2] हमारा विचार है कि उत्तररामचरित की अदृश्य सीता की कल्पना के मूल में शाकुन्तल व विक्रमोर्वशीय के उक्त प्रसंगों की ज्ञात या अज्ञात प्रेरणा अवश्य रही होगी।

---

1. श्री द्विजेन्द्रलाल राय कृत 'कालिदास और भवभूति' से उद्धृत, पृ० 156.
2. एवम्। अन्त.करणप्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तो महाराजः। विक्रमोर्वशीय, 4, पृ० 89.

दिङ्नाग के 'कुन्दमाला' नाटक में भी अदृश्य सीता की कल्पना प्रयुक्त हुई है तथा उत्तररामचरित की सीता के साथ उसका पर्याप्त साम्य भी है। जहां उत्तर-रामचरित में भगवती भागीरथी के प्रभाव से सीता को अदृश्यता प्राप्त हुई है, वहां कुन्दमाला में महर्षि वाल्मीकि ने अपने तप.प्रभाव से यह व्यवस्था की है कि उनके आश्रम की स्त्रियों को तलैया (दीर्विका) पर कोई भी पुरुष नहीं देख सकेगा।[1] सीता राम की दृष्टि से बचने के लिये अपना अधिकांश समय दीर्घिका के तट पर अदृश्य रूप में बिताती है।[2] राम घूमते-घामते हुए वहां पहुंच जाते हैं। वे स्वयं सीता को तो नहीं देख पाते पर उन्हें जल मे उसका प्रतिबिम्ब दिखाई दे जाता है। उन्हें विश्वास हो जाता है कि प्रतिकृति (प्रतिबिम्ब) की मूल प्रकृति वास्तविक सीता भी निकट ही होगी।[3] पर सीता उन्हें कहीं भी दिखाई नहीं देती। वे सीता के विरह में व्याकुल होकर मूर्च्छित हो जाते है। अदृश्य सीता राम की इस दशा को देखकर अपने पर नियंत्रण नहीं रख पाती। वह मूर्च्छित राम को आलिंगन प्रदान कर होश मे लाती है। राम को सीता की उपस्थिति का भान होता है, पर वह दृष्टिगोचर नही होती। वे पुनः मूर्च्छित हो जाते है। सीता अपने उत्तरीय से हवा करके उन्हें होश मे लाती है।[4] राम उत्तरीय के छोर को पकड़ लेते है। सीता अपना उत्तरीय छोड़कर दूर हट जाती है।[5] बाद मे राम अपना उत्तरीय उतार कर ऊपर की ओर फेंकते है जिसे अदृश्य सीता ले लेती है। इससे राम सीता की निकट उपस्थिति के विषय में आश्वस्त हो जाते है।[6] सन्ध्या होने पर सीता आश्रम मे लौट जाती है। तभी विदूषक कौशिक वहां आकर राम को बताता है कि तिलोत्तमा नाम की अप्सरा सीता का रूप धारण कर उसके विषय मे आपका मनोभाव जानना चाहती है, ऐसी बात मैंने सुबह मुनि कन्याओं व अप्सराओ के मुंह से सुनी है।

---

1. तदा भगवता वाल्मीकिना निध्याननिश्चलनयनेन मुहूर्तं निध्याय भणितम्—एतस्या दीर्विकाया वर्तमानः स्त्रीजन. पुरुषनयनानामगोचरो भविष्यतीति। कुन्दमाला, 4 पृ० 49. (कुन्दमाला ऑव् दिङ्नाग, डा० कालीकुमारदत्त द्वारा संपादित, कलकत्ता, 1964)
2. ततः प्रभृति सीता रामस्य दर्शनपथ परिहरन्ती दीर्घिकातीरे सकलं दिवसं अतिवाहयति।
   वही, 4 पृ० 49.
3. वैदेह्या. क्वापि गच्छन्त्या दीर्घिकातीरवर्त्मना।
   अन्तर्गतजलच्छाया मया सैवेति वीक्षिता॥
   तदस्याः प्रतिकृतेर्मूलप्रकृतिमन्वेषयामि। वही, 4.14.
4. वही, 4 पृ० 59.
5. वही, 4 पृ० 61–62.
6. वही, 4 पृ 63.

विदूषक की इस सूचना से राम को विश्वास हो जाता है कि उन्होंने जल में जिसकी छाया देखी थी तथा जिसकी निकट उपस्थिति की कल्पना की थी, वह तिलोत्तमा ही रही होगी ।[1]

कुन्दमाला के उक्त प्रसग की उत्तररामचरित के तृतीय अंक की घटनावली के साथ काफी समानता है । दोनो में सीता अदृश्य रूप में उपस्थित होकर मूर्च्छित राम को अपने स्पर्श द्वारा संज्ञा प्रदान करती है । दोनों में राम को सीता के सान्निध्य का भान होता है, पर अन्त मे वे इस निश्चय पर पहुंचते है कि वह भान एक भ्रममात्र था । दोनों में ही अदृश्य सीता राम की विरह-व्यथा को साक्षात् देखकर अपने परित्याग की कटु वेदना को भूल जाती है और राम को अपना स्पर्श प्रदान कर होश मे लाती है । इस प्रकार सीता की अदृश्य उपस्थिति राम के साथ उसका हृदय-संवाद पुन: स्थापित कर देती है जिसके आधार पर दोनों ही नाटकों के अंतिम अंको में उनका पुनर्मिलन संभव होता है । यह स्पष्ट है कि उत्तररामचरित और कुन्दमाला मे परस्पर इतना साम्य है कि उनमे से एक पर दूसरे का प्रभाव मानना आवश्यक है । पर प्रश्न यह है कि दोनों में से कौन किससे प्रभावित हुआ ? कुन्दमाला उत्तर-रामचरित से पहले का नाटक है या वाद का इस विषय में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है । उत्तररामचरित कवित्व व नाटकत्व की दृष्टि से नि:सन्देह कुन्दमाला से श्रेष्ठतर कृति है । अतः यही मानना अधिक संगत है कि दिङ्नाग ने ही उत्तर-रामचरित से प्रभावित होकर अपने नाटक की रचना की होगी ।

उत्तररामचरित के तृतीय अंक की पुष्पिका मे इसे 'छाया अक' नाम दिया गया है । पर हम देखते है कि इस अंक में सीता अदृश्य रूप में उपस्थित हुई है, न कि छाया के रूप में । हां, कुन्दमाला में अवश्य राम को दीर्घिका के जल में सीता की छाया दिखाई देती है, अत: उसके चतुर्थ अंक को 'छाया अंक' कहा जा मकता है । किन्तु उत्तररामचरित के तृतीय अक का यह नामकरण बहुत उपयुक्त नहीं है । डा० कालीकुमारदत्त का विचार है[2] कि भवभूति ने कुन्दमाला की छाया सीता की कल्पना से प्रभावित होकर ही उपयुक्त न होने पर भी इस अक का 'छाया अक' नाम रखा होगा । पर यह मत तर्कसंगत नही है । कुन्दमाला में छाया सीता की कल्पना अवश्य आई है, पर उसमें चतुर्थ अंक को 'छाया अक' नाम नही दिया गया । अत. इस नामकरण पर कुन्दमाला का प्रभाव कैसे माना जा सकता है ? फिर यह भी तो

---

1. राम·—(आत्मगतम्) · · · सर्वथा वचितोऽस्मि कामरूपिण्या तिलोत्तमया ।
   तृषितेन मया मोहात् प्रसन्नसलिलाशया ।
   अंजलिर्विहितः पातुं कान्तारमृगतृष्णिकाम् ॥ वही, 4.22.
2. कुन्दमाला ऑव् दिङ्नाग, खण्ड 1, पृ0 200.

निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि तृतीय अंक का उक्त नामकरण भवभूति ने ही किया। अधिक संभव यही है कि उत्तररामचरित के विभिन्न अंकों के नाम बाद में किसी के द्वारा रखे गये होंगे। यदि यह भी मानलें कि ये नाम भवभूति ने ही रखे तो भी 'छाया अंक' इस नाम मात्र से कुन्दमाला का प्रभाव सिद्ध नहीं होता। तब तो यही कहना उचित होगा कि नाटककार ने सीता की 'अदृश्य उपस्थिति' को ही 'छाया' मानकर इस अंक को यह नाम दिया है।

सीता का प्रत्यागमन : एक पवित्र आश्चर्य. सप्तम अंक में राम व सीता के पुनर्मिलन की भूमिका के रूप मे पहले गर्भांक प्रस्तुत किया गया है और उसके बाद भागीरथी व पृथ्वी सीता को लेकर गंगाजल से प्रादुर्भूत होती है। गर्भांक की कल्पना भवभूति के उत्कृष्ट नाट्य-नैपुण्य की परिचायिका है। गर्भांक में सीता-निर्वासन के बाद की घटनावली अभिनीत की गई है जिसका विवरण हम 'सीता के पाताल-प्रवास' के अन्तर्गत कर चुके है। इसमें भवभूति ने अतीतदर्शन (Flash Back) की पद्धति द्वारा बारह वर्ष पहले की घटना नाटक के रूप में साक्षात् प्रदर्शित की है। इस घटना को भूतार्थवादी वाल्मीकि ने अपनी आर्ष-दृष्टि से प्रत्यक्षवत् देखकर एक करुण व अद्भुत नाटक के रूप में निबद्ध किया है।[1] स्वर्ग की अप्सराएं भरत-मुनि के निर्देशन में इस नाटक का अभिनय करती हैं[2] और समस्त मर्त्य-अमर्त्य व चर-अचर भूतग्राम जिसमे अयोध्या के पौरजानपद व राम भी सम्मिलित हैं इसे देखने को बुलाये जाते हैं।[3] जहां तृतीय अंक मे सीता की अदृश्य उपस्थिति में राम के व्यथित हृदय की मार्मिक झांकी दिखायी गई है, वहा इस गर्भांक मे राम की उपस्थिति मे सीता-निर्वासन के बाद की करुण परिस्थिति प्रदर्शित की गई है। इस प्रकार सीता व राम दोनो उस मर्मन्तुद पीड़ा का साक्षात् अवलोकन करते हैं जिसे वे एक-दूसरे के अभाव मे भोगते रहे है। इसी परस्पर साक्षात्कार द्वारा उन्हे एक-दूसरे के हृदय की सच्चाई को जानने का अवसर मिलता है जिससे वे स्थायी पुनर्मिलन के योग्य होते हैं।

---

1. सूत्रधार—(प्रविश्य) भगवान्भूतार्थवादी प्राचेतस स्थावरजगम जगदाज्ञापयति—यदिदमस्माभिरार्षेण चक्षुषा समुद्वीक्ष्य पावन वचनामृत करुणाद्भुत च किंचिदुपनिबद्धम्। उ०रा०च०, 7 पृ० 163.
2. इस कल्पना पर कालिदास के विक्रमोर्वशीय का प्रभाव स्पष्ट है। विक्रमो० में भरतमुनि के निर्देशकत्व में अप्सराओ द्वारा 'लक्ष्मी स्वयंवर' नामक नाटक अभिनीत किया गया है।
3. लक्ष्मण—भोः, कि नु खलु भगवता वाल्मीकिना सब्रह्मक्षत्रपौरजानपदाः प्रजाः सहास्माभिराहूय कृत्स्न एव सदेवासुरतिर्यङ्निकाय सचराचरो भूतग्रामः स्वप्रभावेन संनिधापितः। आदिष्टश्चाहमार्येण—वत्स लक्ष्मण, भगवता वाल्मीकिना स्वकृतिमप्सरोभिः प्रयुज्यमानां द्रष्टुमुपनिमंत्रिताः स्मः। उ०रा०च०, 7 पृ० 162.

गर्भांक के अन्त मे राम के मूर्च्छित हो जाने पर वाल्मीकि की सहमति से एक पवित्र आश्चर्य घटित होता है। भागीरथी व पृथ्वी सीता को लेकर गंगा के विक्षुब्ध जल में से प्रकट होती हैं।[1] वे सीता को अरुन्धती के सुपुर्द कर देती हैं। सीता अरुन्धती के निर्देश से मूर्च्छित राम को पाणिस्पर्श द्वारा संजीवन प्रदान करती है। राम के संज्ञा प्राप्त करने पर भागीरथी उनसे कहती है कि चित्र-दर्शन के समय आपने जो प्रार्थना की थी उसे पूर्ण कर मैं अनृण हो गई हूं।[2] इसी प्रकार पृथ्वी भी उनसे कहती है कि सीता के परित्याग के समय आपने मुझ से एक विनती की थी, उसे मैंने पूरा कर दिया है।[3] राम दोनों देवियों से अपने अपराध के लिये क्षमा मांगते हैं। अनन्तर अरुन्धती अयोध्या के पौरजनों को सम्बोधित कर सीता के चारित्र्य पर सन्देह करने के लिए उनकी भर्त्सना करती है। पौरजानपद सीता को प्रणाम कर उसकी पवित्रता मे आस्था प्रकट करते हैं। लोकपाल और सप्तर्षिगण पुष्पवृष्टि द्वारा अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते है।[4] अरुन्धती के कहने पर राम सीता को स्वीकार करते हैं और वाल्मीकि द्वारा लाये गये लव एवं कुश से मिलकर पूर्णकाम होते हैं।

हमने देखा कि सारा ही सप्तम अक अतिप्राकृत घटनावली से युक्त है। इसमे भागीरथी व पृथ्वी तो दिव्य पात्र हैं ही, सीता भी अपने दैवी रूप में उपस्थित हुई है। इसमें नाटककार ने अतीत और वर्तमान तथा कल्पना व यथार्थ का आश्चर्यप्रद समन्वय किया है। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार यहां निर्वहण संधि के अन्तर्गत अतिप्राकृत वस्तुयोजना के माध्यम से अद्भुत रस की निष्पत्ति करायी गई है।

भरतमुनि ने नाटक के नायक के लिए दिव्य आश्रय का विधान किया है, यह हम द्वितीय अध्याय मे बता चुके हैं। भागीरथी और पृथ्वी ये दोनो राम के दिव्याश्रय हैं। इन्हीं के अनुग्रह व साहाय्य मे राम व सीता का पुनर्मिलन होता है।

---

1. मन्यादिव क्षुभ्यति गागमम्भो
   व्याप्त च देवर्षिभिरन्तरिक्षम्।
   आश्चर्यमार्या सह देवताभ्या
   गंगामहीभ्या सलिलादुपैति ॥ वही, 7.17.
2. (नेपथ्ये) जगत्पते रामभद्र, स्मर्यतामालेख्यदर्शने मा प्रत्यात्मवचनम्। सा त्वमम्ब स्नुषायामरु-न्धतीव सीताया शिवानुध्यानपरा भवेति। तदनृणास्मि। वही, 7 पृ० 174.
3. (नेपथ्ये) उक्तमासीदायुष्मता वत्सायाः परित्यागे "भगवति वसुन्धरे श्लाघ्यां दुहितरमवेक्षस्व जानकीम्" इति। तदधुना कृतवचनास्मि। वही, 7 पृ० 174.
4. लक्ष्मण—आर्य, एवमम्बयारुन्धत्या निर्भर्त्सिताः पौरजानपदाः कृत्स्नश्च भूतग्राम आर्यां नमस्कुर्वन्ति। लोकपालाः सप्तर्षयश्च पुष्पवृष्टिभिरुपतिष्ठन्ति। वही, 7 पृ० 174.

भवभूति ने रामायण की दुःखान्त कथा को यहां जो सुखान्त में परिवर्तित किया है उसका प्रमुख कारण भारतीय नाट्य-परम्परा मे दुःखान्त नाटक का सम्पूर्ण निषेध है। विद्वानों का अनुमान है कि भवभूति को इस सुखान्त परिणति की प्रेरणा पद्मपुराण के पाताल खड में वर्णित रामकथा से मिली होगी जिसमें रामायण के परम्परागत दुःखान्त वृत्त को सुखान्त रूप दिया गया है।[1] पर यह स्पष्ट है कि भवभूति ने कथा को इस सुखान्त पर पहुंचाने के लिए सप्तम अंक में घटनाओं की सर्वथा अभिनव योजना की है जो उनकी मौलिक प्रतिभा की परिचायक है।

ऊपर हमने उत्तररामचरित की प्रधान कथा में आए मुख्य अतिप्राकृत प्रसंगों का परिचय दिया। इसके अतिरिक्त कुछ और तत्त्वों का भी गौण प्रयोग हुआ है जिनका उल्लेख-मात्र पर्याप्त होगा। दूसरे अक के विष्कंभक में आत्रेयी द्वारा सूचना दी गई है कि ब्रह्मा ने प्रकट होकर वाल्मीकि ऋषि को रामचरित के निर्माण के लिए प्रेरित किया व अन्तर्हित हो गये। तत्पश्चात् वाल्मीकि ने शब्दब्रह्म के प्रथम विवर्त रामायण नामक इतिहास की रचना की।[2] इस प्रसंग को षष्ठ अंक में लव-कुश द्वारा रामायण-गान की पृष्ठभूमि के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार ब्राह्मण-पुत्र की अकाल मृत्यु, अशरीरिणी वाणी[3] तथा राम द्वारा हत शम्बूक का दिव्य पुरुष में रूपान्तरण आदि प्रसग राम के दण्डकारण्य में जाने की पृष्ठभूमि के रूप मे मात्र सूचित किये गये है। श्री वेलस के विचार में ब्राह्मण-पुत्र की मृत्यु व पुनर्जीवन की घटना सीता की परित्याग-रूप मृत्यु और पुर्नमिलन-रूप प्रत्युज्जीवन की प्रतीक है।[4] रामायण मे भी यह घटना आई है, पर वहां इसका ऐसा प्रतीकात्मक अर्थ नही है।

---

1. दे० श्री एस० के० बेल्वलकर कृत 'रामस् लेटर हिस्ट्री ऑर उत्तररामचरित', भूमिका, पृ० 57.
2. तेन हि पुन. समयेन त भगवन्तमाविर्भूतशब्दप्रकाशमृषिमुपसगम्य भगवान्भूतभावन. पद्मयोनिरवोचत्—ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि। तद्ब्रूहि रामचरितम्। अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभातु आद्य कविरसि इत्युक्त्वाऽन्तर्हित.। अथ स भगवान्प्राचेतस. प्रथम मनुष्येषु शब्दब्रह्मणस्तादृश विवर्तमितिहास रामायण प्रणिनाय। वही, 2 पृ० 54–55.
3. अत्रान्तरे ब्राह्मणेन मृत पुत्रमुत्क्षिप्य राजद्वारे सोरस्ताडमब्रह्मण्यमुद्घोपितम्। ततो न राजापचारमन्तरेण प्रजानामकालमृत्युः सचरतीत्यात्मदोप निरूपयति करुणामये रामभद्रे सहसैवाशरीरिणी वागुदचरत्—

   शम्बूको नाम वृपल. पृथिव्या तप्यते तप.।
   शीर्षच्छेद्यः स ते राम त हत्वा जीवय द्विजम्॥ वही, 2.8.
4. दे० दि क्लासिकल ड्रामा ऑव् इण्डिया : हेनरी डब्ल्यू वेल्स, पृ० 176.

पंचम व षष्ठ अंकों मे लव-चन्द्रकेतु के युद्ध का प्रसंग दिव्य-शस्त्रों के प्रयोग के कारण एक अतिप्राकृत घटना में परिवर्तित हो गया है । लव जृम्भक अस्त्र द्वारा चन्द्रकेतु की सेना को स्तंभित कर देता है।[1] बाद में इन दोनों वीरों के बीच आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र व वायव्यास्त्र आदि अद्भुत अस्त्रों का प्रयोग-प्रतिप्रयोग होता है, जिससे यह युद्ध एक जादू की सी घटना बन गया है ।[2] इस युद्ध-दृश्य को आकाशचारी विद्याधर व विद्याधरी के संवाद द्वारा प्रस्तुत कर भवभूति ने नाट्यशास्त्र के उस परम्परागत निर्देश के प्रति अपना आदर व्यक्त किया है, जिसके अनुसार युद्धदृश्य का मंचीय प्रदर्शन वर्जित ठहराया गया है ।

अतिप्राकृत पात्र

उत्तररामचरित में भवभूति का प्रधान लक्ष्य मानवीय प्रणय एवं दाम्पत्य जीवन की गम्भीर व उदात्त संवेदनाओं का चित्रण करना है । इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए नाटककार ने प्रमुख पात्रों को मानव रूप में ही उपस्थित किया है । भवभूति के राम पूर्णतया मानव है, भावना की ही दृष्टि से नहीं, बाह्य व्यक्तित्व व गुणों की दृष्टि से भी । वाल्मीकि के राम अनेक अवसरों पर अतिमानव रूप में प्रकट हुए हैं, पर भवभूति ने इस नाटक में राम को मानव-चरित्र की सीमाओं में रखने का विशेष प्रयत्न किया है । एक दो अपवादों को छोड़कर जहां उनके ईश्वरीय रूप का अस्पष्ट-सा संकेत दिया गया है,[3] अन्यत्र सभी स्थलों पर उनका व्यक्तित्व सर्वथा मानवीय है । भवभूति ने उन्हें एक प्राकृत मनुष्य के समान पत्नी-वियोग में शोकाकुल चित्रित किया है । नाटक में करुण रस का जो हृदय-स्पर्शी परिपाक हुआ है, वह राम के सम्वेदनशील मानव-व्यक्तित्व पर ही आधारित है । भवभूति ने उनके इस व्यक्तित्व के तीन पहलुओं को विशेष रूप से प्रकाशित किया है—राम राजा के रूप मे, पति के रूप में व पिता के रूप में ।

---

1. व्यतिकर इव भीमस्तामसो वैद्युतश्च
   प्रणिहितमपि चक्षुर्ग्रस्तमुक्तं हिनस्ति ।
   अथ लिखितमिवैतत्सैन्यमस्पन्दमास्ते
   नियतमजितवीर्यं जृम्भते जृम्भकास्त्रम् ॥ वही, 5 13.
2. वही, 6 पृ० 142–144
3. (क) अन्वेष्टव्यो यदसि भवने लोकनाथ. शरण्यो
   मामन्विष्यन्निह वृषलक योजनानां शतानि । वही, 2 13.
   (ख) यदत्र देवो रघुनन्दनः स्थित । स रामायणकथानायको ब्रह्मकोशस्य गोप्ता ।
   वही, 6 पृ० 151.

सीता का व्यक्तित्व मानवीय व अतिमानवीय दोनों प्रकार के तत्त्वों से निर्मित हुआ है। वह पृथ्वी की पुत्री है[1] तथा देवताओं की यज्ञ-भूमि से उत्पन्न हुई है।[2] उसका पाताल-वास व पंचवटी में अदृश्य उपस्थिति उसके व्यक्तित्व का अतिमानवीय पक्ष है, पर यह पक्ष दिव्य अनुग्रह का परिणाम है, उसका अपना सहज अंग नहीं। उसका मूल व्यक्तित्व चिरन्तन पत्नीत्व व मातृत्व के योग से बना है तथा इस रूप में उसका चरित्र पूरी तरह मानवीय है।

इस नाटक में कुछ दिव्य पात्रों की भी योजना मिलती है। ये सभी पात्र गौण हैं तथा नाटक की मूल मानवीय संवेदना को तीव्र करने में सहायक हैं। इनमें से अधिकतर दिव्य पात्र प्राकृतिक पदार्थों के अधिदेवता हैं। भागीरथी, तमसा व मुरला नदीदेवता हैं, पृथ्वी भूमिदेवता और वासन्ती वनदेवता। भागीरथी और पृथ्वी सीता को विपत्ति के समय संरक्षण देती हैं। वे ममता और करुणा की साक्षात् मूर्ति हैं। राम ने चित्रदर्शन के समय भागीरथी से और सीता-निर्वासन के समय पृथ्वी से प्रार्थना की थी कि वे सीता के कल्याण व सुरक्षा का ध्यान रखें। ये दोनों देवियां राम की प्रार्थना को ध्यान में रखकर उसे दुःख की घड़ी में आश्रय देती है तथा वियुक्त दम्पती के पुनर्मिलन के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करती है। भागीरथी के प्रभाव से सीता को अदृश्य रूप प्राप्त होता है जिसके कारण मर्त्य प्राणी तो क्या, वनदेवता भी उसे नहीं देख सकते। तमसा के शब्दों में 'मन्दाकिनी का ऐश्वर्य सभी देवताओं में प्रकृष्टतम है।'[3] भागीरथी व पृथ्वी दोनों देवता होने के कारण प्राणियों के अन्तःकरण का ज्ञान पाने में समर्थ है।[4] सप्तम अंक के गर्भांक में पृथ्वी के वात्सल्यमय रूप का चित्रण किया गया है। इन दोनो पात्रों की कल्पना में नाटककार की धार्मिक व पौराणिक भावना अभिव्यक्त हुई है।

वासन्ती वन-देवता है और तमसा व मुरला नदीदेवियां; वे अन्तश्चेतना की दृष्टि से मानव ही हैं। उनके मनोभाव, अन्तः-प्रेरणाएं व कार्य प्रकृति के मानवीकरण पर आधारित है। कालिदास के समान भवभूति भी प्रकृति को मानववत् सचेतन व सवेदनशील मानते हैं। उनकी दृष्टि मे प्रकृति के हृदय में मानव के प्रति असीम स्नेह और सहानुभूति है। वह सदैव मानव-कल्याण में निरत रहती है।

---

1. विश्वम्भरा भगवती भवतीमसूत 1.9
2. देवि देवयजनसम्भवे, प्रसीद। एष ते जीवितावधि. प्रवाद। 1, पृ० 21.
   या देवयजने पुण्ये पुण्यशीलामजीजनः। 1.51.
3. तमसा—अयि वत्से सर्वदेवताभ्यः प्रकृष्टतममैश्वर्यं मन्दाकिन्याः। तत्किमिति विशङ्कसे।
   वही, 3 पृ० 78.
4. गंगा—भगवति वसुन्धरे, शरीरमसि संसारस्य। तत्किमसंविदानेव जामात्रे कुप्यसि।......
   लक्ष्मण—अव्याहतान्तःप्रकाशा देवता सत्त्वेषु। वही, 7 पृ० 168.

तृतीय अंक के विष्कंभक में राम के शोकाकुल हृदय की सान्त्वना के लिए नदीदेवियों की आकुलता मानव और प्रकृति के अन्तर्वर्ती स्नेह-सूत्र की व्यंजक है। भवभूति के विचार में विपत्ति और दुःख में मनुष्य को प्रकृति की स्नेहमय गोद में ही संरक्षण व सान्त्वना मिलती है और उसी के साक्ष्य में वह अपने हृदय के विच्छिन्न सम्बन्ध-सूत्रों को पुनः जोड़ने में समर्थ होता है। संभवतः इसी दृष्टि से कवि ने राम को पंचवटी के प्राकृतिक अंचल में लाकर वासन्ती व तमसा की उपस्थिति में राम और सीता का भाव-मिलन कराया है।

वाल्मीकि : आर्षदृष्टि-सम्पन्न ऋषि हैं।[1] नाटक में वे अंतिम दृश्य में ही सामाजिकों के समक्ष आते हैं, पर उनके आर्षव्यक्तित्व का प्रभाव अन्य अंकों में भी अनुभव किया जा सकता है। राम के पुत्रों—लव व कुश की शिक्षा-दीक्षा का दायित्व भागीरथी ने उन्हीं को सौंपा है। ब्रह्मा के उपदेश से वे आद्य काव्य रामायण की रचना करते हैं। वे अपनी आर्ष दृष्टि से सीता-निर्वासन के बाद की परोक्ष घटनाओं को देखने में समर्थ हैं।[2] उनके द्वारा प्रणीत नाटक का भरतमुनि के निर्देशन में अप्सराओं द्वारा अभिनय किया जाता है। उनके प्रभाव से समस्त त्रैलोक्य के मर्त्य-अमर्त्य व स्थावर-जंगम प्राणी इस नाटक को देखने के लिए गंगा-तट पर एकत्र होते है।[3] गर्भांक के समाप्त होने पर वाल्मीकि की अभ्यनुज्ञा से एक पवित्र आश्चर्य घटित होता है[4] जिसका विवरण हम पहले दे चुके हैं। वनदेवता के शब्दों में वाल्मीकि 'पुराणब्रह्मवादी' ऋषि हैं जिनके पास मुनिजन ब्रह्मविद्या के अध्ययनार्थ आते हैं।[5]

शम्बूक एक शूद्र तपस्वी हैं जो राम द्वारा वध किये जाने पर दिव्य पुरुष में रूपान्तरित हो जाता है। तत्कालीन विचारधारा के अनुसार वह तपस्या का

---

1. ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि। तद्ब्रूहि रामचरितम्। अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभातु। आद्यः कविरसि इत्युक्त्वान्तर्हितः। वही. 2 पृ० 55.
2. सूत्रधारः—(प्रविश्य) भगवान्भूतार्थवादी स्थावरजगमं जगदाज्ञापयति-यदिदमस्माभिरार्षेण चक्षुषा समुद्वीक्ष्य पावनं वचनामृतं करुणाद्भुतं च किंचिदुपनिबद्धम् ... वही, 7 पृ० 163.
3. लक्ष्मणः—भोः, किं न खलु भगवता वाल्मीकिना सब्रह्मक्षत्रपौरजानपदाः प्रजाः सहास्माभिराहूय कृत्स्न इव सदेवासुरतिर्यङ्निकायः सचराचरो भूतग्रामः स्वप्रभावेन संनिधापितः वही, 7 पृ० 162.
4. भो जंगमस्थावराः प्राणभृतो मर्त्यामर्त्याः पश्यन्त्विदानीं वाल्मीकिनाभ्यनुज्ञातं पवित्रमाश्चर्यम्। उ० रा० च०, 7 पृ० 172.
5. वनदेवता—यदा तावदन्येऽपि मुनयस्तमेव हि पुराणब्रह्मवादिनं प्राचेतसमृषिं ब्रह्मपारायणायोपासते। तत्कोऽयमार्यायाः प्रवासः। वही, 2 पृ० 52.

अधिकारी नहीं है। यही कारण है कि उसकी तपस्या से ब्राह्मण के पुत्र की मृत्यु हो जाती है। ज्योंही राम शंबूक का वध करते हैं, ब्राह्मण-पुत्र पुनर्जीवित हो जाता है। शंबूक का भी तप व्यर्थ नहीं जाता, राम उसे उग्र तप के परिपाक के रूप में वैराज नामक लोकों में निवास प्रदान करते हैं।[1]

विद्याधर व विद्याधरी को भवभूति ने लव और चन्द्रकेतु के युद्ध-वर्णन के लिए पारम्परिक पात्रों के रूप में निबद्ध किया है। मंच पर युद्धदृश्य के वर्जित होने से भवभूति ने इनकी कल्पना की है। ये आकाश में विमान में बैठे हुए अपने संवादों द्वारा युद्ध का वर्णन करते है। भास ने अभिषेक नाटक में विद्याधर-विद्याधरी द्वारा ही रामरावण-युद्ध का वर्णन कराया है। महावीरचरित में भवभूति ने इस उद्देश्य के लिये वासव और चित्ररथ की योजना की है और प्रस्तुत नाटक में विद्याधर व विद्याधरी की।

लव और कुश की अलौकिक वीरता व तेजस्वी व्यक्तित्व का भवभूति ने अतीव ओजस्वी चित्र अंकित किया है।[2] इन दोनो को जृम्भक आदि शस्त्र अपने रहस्यों-समेत जन्म से ही सिद्ध है।[3] लव और चन्द्रकेतु का युद्ध जिसमे अनेक जादुई अस्त्रों का प्रयोग किया गया है, इन दोनो वीरों के लोकोत्तर व्यक्तित्व का सूचक है।

सप्तम अक के गर्भाक में लव और कुश के जन्म के समय दिव्यास्त्रों की उपस्थिति से आकाश कलकल शब्द सहित सहसा प्रज्वलित हो उठता है।[4] ये दिव्यास्त्र नेपथ्य से सीता की स्तुति करते हुए बताते हैं कि चित्र-दर्शन के समय राम ने हमे आपके पुत्रो को सौप दिया था, इसलिए हम उपस्थित हुए है।[5] फिर गगा और पृथ्वी उन्हे ध्यान करते ही उपस्थित होने की आज्ञा देकर विदा कर देती हैं।[6] दिव्यास्त्रों की सशरीर उपस्थिति की यह कल्पना रामायण पर आधारित है।[7]

---

1. रामः—द्वयमपि प्रियं नः। तदनुभूयतामुग्रस्य तपसः परिपाकः।
   यत्रानन्दश्च मोदाश्च यत्र पुण्याश्च संपदः।
   वैराजा नाम ते लोकास्तैजसा सन्तु ते शिवाः॥ वही, 2.12.
2. उ० रा० च०, 5.33, 6.9, 19.
3. आत्रेयी—तयो. किल सरहस्यानि जृम्भकास्त्राणि जन्मसिद्धानि। वही, 2 पृ० 53.
4. सीता—किमत्यावद्धकलकल प्रज्वलितमन्तरिक्षम्। वही, 7 पृ० 170.
5. (नेपथ्ये) देवि सीते नमस्तेऽस्तु गतिः नः पुत्रकौ हि ते।
   आलेख्यदर्शनादेव ययोर्दाता रघूद्वहः॥ वही, 7.10.
6. देव्यौ—नमो वः परमास्त्रेभ्यो धन्याः स्मो वः परिग्रहात्।
   काले ध्यातैरुपस्थेयं वत्सयोर्भद्रमस्तु वः॥ वही, 7.11.
7. गम्यतामिति तानाह यथेष्टं रघुनन्दनः।
   मानसाः कार्यकालेषु साहाय्यं मे करिष्यथ॥
   अथ ते राममामन्त्र्य कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
   एवमस्त्विति काकुत्स्थमुक्त्वा जग्मुर्यथागतम्॥ बालकाण्ड, 28.14–15.

इस कल्पना को भवभूति ने महावीरचरित व उत्तररामचरित दोनों में प्रस्तुत किया है। पर यह उल्लेखनीय है कि दोनों ही नाटकों में ये दिव्यास्त्र रंगमंच पर साक्षात् उपस्थित नहीं होते, अपितु नेपथ्य से उनकी वाणीमात्र सुनाई देती है।

अतिप्राकृत लोकविश्वास

दैव : उत्तररामचरित में अनेक स्थलों पर दैव-सम्बन्धी विश्वास की अभिव्यक्ति हुई है। सीता की लोकनिन्दा व निर्वासन में दैव को ही प्रधान कारण माना गया है। राम कहते हैं—"सीता के परगृहनिवास का दूषण अग्निपरीक्षारूप अद्भुत उपाय द्वारा शांत कर दिया गया था, पर दैव-दुर्विपाक से आलर्क-विष के समान वह पुनः सभी ओर फैल गया है।[1] उनके अनुसार इक्ष्वाकु-वंश प्रजाओं को अभिमत है, किन्तु दैव के कारण निन्दा का बीज उत्पन्न हो गया है। सीता की विशुद्धि के समय जो अद्भुत कार्य हुआ वह अयोध्या से इतनी दूर सम्पन्न हुआ कि उसमें लोगों का विश्वास कैसे हो ?[2] सीता की लोकनिन्दा ही नहीं, उसके परित्याग को भी भवितव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। महारानी कौसल्या को आश्वासन देती हुई अरुन्धती कहती है कि ऋष्यश्रृंग के आश्रम में आपके कुलगुरु ने जो बात कही थी क्या वह आपको स्मरण नहीं है ? उन्होंने कहा था—"भवितव्यं तथा इति उपजातमेव। किन्तु कल्याणोदकं भविष्यतीति।"[3] अर्थात् यह होनहार था इसलिए ऐसा ही हुआ। पर अब इस का कल्याणमय परिणाम होगा। वसिष्ठ के कथन से स्पष्ट है कि न केवल सीता का निर्वासन ही दैव द्वारा पूर्वनियत है, अपितु राम और सीता के पुनर्मिलन के रूप में उस निर्वासन का मंगलमय अंत भी अवश्यंभावी है। सप्तम अंक में पुत्री के दुःख से व्याकुल पृथ्वी को गंगा ने दैववादी व कर्मवादी विचारधारा के आधार पर ही सान्त्वना देने का प्रयास किया है—

> को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तु—
> द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे ॥ उ०रा०च०, ७.४.

---

1. हा हा धिक्परगृहवासदूषणं यद्
   वैदेह्याः प्रशमितमद्भुतैरुपायैः
   एतत्तत्पुनरपि दैवदुर्विपाका—
   दालर्कं विषमिव सर्वतः प्रसक्तम् ॥ उ० रा० च०, 1.40.
2. इक्ष्वाकुवंशोऽभिमतः प्रजानां
   जातं च दैवाद्वचनीयबीजम्।
   यच्चाद्भुतं कर्म विशुद्धिकाले
   प्रत्येतु कस्तद्यदि दूरवृत्तम् ॥ वही, 1.44.
3. वही, 4 पृ० 114.

इसी प्रकार जब तृतीय अंक में सीता कहती है कि "मैं ऐसी मन्दभागिनी हूं कि न केवल आर्यपुत्र का ही अपितु पुत्रों का भी वियोग भोग रही हूं"[1] तब तमसा उसे समझाती है—'भवितव्यतेयमीदृशी'। इससे स्पष्ट है कि भवभूति कर्म, दैव या भवितव्यता के सिद्धान्त में गहरी निष्ठा रखते है तथा उसी को मानव-नियति का प्रधान सूत्रधार मानते हैं। मनुष्य पूर्वजन्म में जो कर्म करता है वही उसका दैव या भवितव्य बन कर उसके अगले जीवन में उसकी सुख व दुःख की दशाओं को निर्धारित करता है। सीता ने लंका में अग्नि-परीक्षा देकर अपनी पवित्रता का प्रमाण दिया, फिर भी अयोध्या के पुरवासियों ने उसकी सच्चरित्रता में सन्देह किया। राम को सीता का सब कुछ प्रिय है, अगर कुछ अप्रिय है तो उसका विरह ही।[2] उन्हें सीता के चरित्र में भी कोई सन्देह नही है,[3] फिर भी उन्होंने नृशंसतापूर्वक उसे त्याग दिया। नाटककार के मत में सीता की लोकनिन्दा के लिए न अयोध्या के पौरजानपद दोषी है और न उसके परित्याग के लिए राम को ही कोई दोष दिया जा सकता है। जो हुआ वह सब एक अपरिहार्य भवितव्यता थी। जब दैव परिपाक की ओर उन्मुख हो जाता है तो उसके द्वारों को कौन बंद कर सकता है ?[4] अतः सीता की करुण परिस्थितियों के लिए अगर कोई उत्तरदायी है तो दैव या भवितव्य जो संभवतः सीता के ही प्राक्तन कर्मो का परिणाम है। इस प्रकार सीता की लोकनिन्दा व परित्याग का सारा दोष दैव या भाग्य पर डालकर नाटककार ने पौरजानपदों व राम को इन कार्यो के नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त कर दिया है। संभवतः यही कारण है कि नाटक में राम द्वारा सीता के परित्याग के नैतिक औचित्य या अनौचित्य के प्रश्न की लगभग उपेक्षा की गई है। केवल वासन्ती ने ही राम को इस कार्य के लिये आड़े हाथों लिया है।[5] अन्य सभी पात्र दैवकृत अपरिहार्य विधान के रूप मे इस घटना को स्वीकार कर लेते है।

---

1. सीता—ईदृश्यास्मि मन्दमन्दभागिनी यस्या. न केवलमार्यपुत्रविरह. पुत्रविरहोऽपि। वही, 3 पृ० 79.
2. किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः। वही, 1.38.
3. रामः—शान्तं पापम् (ससान्त्ववचनम्)
   उत्पत्तिपरिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः।
   तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः॥ वही, 1.13.
4. वही, 7.4.
5. अयि कठोर यशः किल ते प्रियं
   किमयशो ननु घोरमतःपरम्।
   किमभवद्विपिने हरिणीदृशः
   कथय नाथ कथं बत मन्यसे॥ वही, 3.27.

राजा के अपचार से प्रजाओं की अकाल मृत्यु : दूसरे अंक के विष्कंभक मे ब्राह्मण-पुत्र की अकाल मृत्यु के प्रसंग में यह विश्वास व्यक्त हुआ है कि राजा के दुष्कर्म (अपचार) के बिना प्रजाओं की अकाल मृत्यु नहीं होती।[1] इस विश्वास को नाटककार ने रामायण[2] व रघुवंश[3] के आधार पर प्रस्तुत किया है। इसमें यह लोकविश्वास व्यक्त हुआ है कि राजा एक व्यक्ति ही नहीं है, समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधि है। उसके जीवन व कर्म को राष्ट्र के जीवन व कर्म से पृथक् नही किया जा सकता। यदि वह स्वयं कोई दुष्कर्म करता है या उसके राज्य में कोई पापकर्म होता है तो उसका फल प्रजा को भी भोगना पड़ता है। इस प्रकार यहां राजा के आचरण व प्रजा के कल्याण के बीच एक रहस्यमय अतिप्राकृत सम्बन्ध स्वीकार किया गया है।

अविलुप्तार्थ वाक् : उत्तररामचरित मे एक अतिप्राकृत विश्वास यह भी प्रकट हुआ है कि ऋषियों के वचन कभी मिथ्या नहीं होते। अरुन्धती के शब्दो में "जिन ब्राह्मणों में आत्मज्ञानरूप ज्योति का आविर्भाव हो चुका है उनके वचनों में संशय नहीं करना चाहिए। उनकी वाणी सदैव मंगलमयी श्री से युक्त होती है। वे विप्लुतार्थ वाक् का प्रयोग कदापि नही करते।"[4] राम के अनुसार "लौकिक साधुओं की वाणी अर्थ का अनुगमन करती है, किन्तु जहां तक आद्य ऋषियों का सम्बन्ध है, अर्थ उनकी वाणी का अनुगमन करता है।"[5] आशय यह है कि वे जो कह देते हैं वह उसी रूप में होकर रहता है। राघव भट्ट ने अपनी टीका में लिखा है कि "तपस्वियों की उक्ति तप के प्रभाव से अनासन्न अर्थ को भी उत्पन्न कर देती है।" अथवा 'ऋष् गतौ' धातु बुद्ध्यर्थक है इसलिए तीनों कालों मे विद्यमान वस्तुओं के

---

1. आत्रेयी—अत्रान्तरेण ब्राह्मणेन मृतं पुत्रमुत्क्षिप्य राजद्वारे सोरस्ताडमब्रह्मण्यमुद्घोषितम्। ततो न राजापचारमन्तरेण प्रजानामकालमृत्युः ..... वही, 2 पृ० 57.
2. राजदोषैर्विपद्यन्ते प्रजा ह्यविधिपालिताः।
असद्वृत्ते हि नृपतावकाले म्रियते जनः॥
यद् वा पुरेष्वयुक्तानि जना जनपदेषु च।
कुर्वते न च रक्षास्ति तदा कालकृतं भयम्॥ उत्तरकाड, 73 वा सर्ग, 16–17.
3. राजन्प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते।
तमन्विष्य प्रशमये र्भवितासि ततः कृती॥ रघुवंश, 15.47.
4. आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां
ये व्याहारास्तेषु मा संशयोऽभूत्।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता
नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति॥ उ० रा० च०, 4.18.
5. लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥ वही, 1.10.

साक्षात्कार की शक्ति ऋषिपद का प्रवृत्तिनिमित्त है। अतः ऋषिगण भावी अर्थ का दर्शन करके ही बोलते हैं। यही कारण है कि अपना उचित समय आने पर अर्थ उनकी वाणी का अनुसरण करता है।"[1] राम के कथनानुसार "ऋषि लोग धर्म का साक्षात्कार किये हुए होते हैं, उनके अमृतपूर्ण विशुद्ध प्रज्ञान कही भी व्याहत नही होते।"[2]

अतिप्राकृत तत्त्व और रस

उत्तररामचरित करुणरस-प्रधान नाटक है। नाट्यशास्त्र की परंपरा के अनुसार शृंगार या वीररस ही नाटक का अंगीरस हो सकता है, पर भवभूति ने इस सर्वमान्य परंपरा को तोड़ कर उत्तररामचरित में करुण रस को अंगी के रूप मे प्रतिष्ठित किया है। भवभूति के मत में "एक मात्र करुण रस ही मूल रस है; अन्य सभी रस निमित्त भेद से उसके विवर्त मात्र है। जैसे आवर्त, बुद्बुद व तरंग आदि भिन्न-भिन्न प्रतीत होते है पर तत्त्वत. वे सब है जल ही।"[3] भवभूति की यह मान्यता विवाद का विषय हो सकती है पर इसमें सन्देह नही कि उन्होंने उत्तररामचरित में मानव-हृदय की शोकानुभूति का जैसा हृदयस्पर्शी व मर्मवेधी चित्रण किया है वैसा संस्कृत साहित्य ही क्या, विश्व-साहित्य में भी दुर्लभ है।

यहां यह शका उठती है कि उत्तररामचरित का मुख्य रस विप्रलभ या करुण विप्रलंभ माना जाय अथवा करुण रस? शास्त्रीय दृष्टि से करुण का स्थायी भाव शोक है और विप्रलंभ का रति। दोनो में एक मूल अन्तर यह भी है कि जहां विप्रलभ में पुनर्मिलन की आशा रहती है वहां करुण मे प्रियजन का नाश हो जाने से ऐसी आशा के लिए कोई अवकाश नही होता।[4] विश्वनाथ के अनुसार जहां प्रेमी-युगल मे से एक के लोकान्तर मे चले जाने पर भी पुनर्मिलन की आशा रहती है तथा दूसरा उसके लिए व्याकुलता का अनुभव करता है वहां करुण विप्रलभ रस होता

---

1. तपस्विनामुक्तिर्हि तपःप्रभावेनानासन्नमप्यर्थमुत्पादयतीति भावः। यद्वा 'ऋष गतौ' इत्यस्य बुद्ध्यर्थत्वात् कालत्रयवर्तिवस्तुसाक्षात्कर्तृत्वं ऋषिपदप्रवृत्तिनिमित्तम्। तथा च भाविनमर्थं दृष्ट्वा ते वदन्ति। ततः स्वकाले प्राप्ते सोऽर्थस्तामनुसरतीति भावः।
वही, 1.10. पर राघव भट्ट की टीका
2. रामः—एतदुक्तं भवति। साक्षात्कृतधर्माणो महर्षयः। तेषामृतंभराणि भगवता परोरजांसि प्रज्ञानानि न क्वचिद् व्याहन्यन्ते इति न हि शंकनीयानि। वही, 7 पृ0 164.
3. वही, 3.47.
4. करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाशवधबन्धसमुत्थो निरपेक्षभावः। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलंभकृतः। ना0 शा0, 6 पृ0 309.

है ।[1] अतः लोकान्तरगमन या मृत्यु होने पर भी संगम की प्रत्याशा करुणविप्रलंभ का मूल आधार है । यह प्रत्याशा प्रायः किसी देवता द्वारा आकाशवाणी आदि के रूप में जगायी जाती है । उत्तररामचरित में सीता के परित्याग के बाद यद्यपि उसका नाश नहीं होता, पर राम व अन्य लोग यही समझते हैं कि सीता अब इस संसार में जीवित नहीं है । राम ने अपनी इस धारणा को अनेक स्थानों पर प्रकट किया है—विशेष रूप से वासन्ती के प्रश्न के उत्तर में ।[2] अतः उन्होंने सीता के वियोग में जो भावोद्‌गार प्रकट किये है उनमें शोक ही प्रधान है । राम सीता को मृत मानते हैं व उन्हें पुनः समागम की कोई आशा नहीं है, इसी दृष्टि से उन्होंने सीता के 'प्रविलय' को 'निरवधि कहा है ।[3] अतः उत्तररामचरित में करुण रस ही मानना उचित है, करुण-विप्रलंभ नहीं । हमारी दृष्टि में इस नाटक में सीता परित्याग से लेकर अंतिम अंक में पुर्नमिलन के पहले तक करुण रस ही मुख्य है । भवभूति ने करुण रस के सम्यक् परिपाक के लिए उसे समुचित आधार देने हेतु सीता के पातालप्रवास की कल्पना की है । इस कल्पना के कारण सीता एक दीर्घ अवधि (१२ वर्ष) के लिए लोकान्तर में चली जाती है जिससे राम आदि के मन में उसकी मृत्यु की धारणा दृढ़ हो जाती है । राम के शब्दों मे 'इस जगत् को सीता से शून्य हुए बारह वर्ष बीत गये, उका नाम भी नष्ट हो गया, फिर भी राम जीवित हैं ।'[4] हम बता चुके हैं कि सीता के पाताल-गमन की कल्पना रामायण से प्रेरित होने पर भी भवभूति की एक स्वतंत्र उद्‌भावना है जिसका प्रयोजन करुण रस की निष्पत्ति के लिए इष्टनाश-रूप आधार प्रदान करना है ।

तृतीय अंक में अदृश्य सीता की कल्पना से भी करुण रस को तीव्रता मिली है । सीता का अदृश्य स्पर्श पाकर राम को सीता की उपस्थिति का आभास होता है पर उसे साक्षात् न पाकर वे उस आभास को अपने मन का भ्रम ही समझते हैं जिससे उनका शोक और तीव्र हो जाता है ।

सप्तम अंक में सीता के पातालगमन की घटना एक गर्भांक के रूप में प्रस्तुत की गई है । यह गर्भांक जहां एक ओर अनेक अद्‌भुत तत्त्वों से पूर्ण है वहां दूसरी ओर करुण रस का भी व्यजक है । इसमें सीता के

---

1. यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये ।
   विमानायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलंभाख्यः ॥ सा० द०, 2 पृ० 209.
2. उ० रा० च० 3.28.
3. कटुस्तूष्णी सह्यो निरवधिरयं तु प्रविलयः । वही, 3.44.
4. देव्या शून्यस्य जगतो द्वादशः परिवत्सरः ।
   प्रणष्टमिव नामापि न च रामो न जीवति ॥ वही, 3.33.

परित्याग के बाद की करुण अवस्था का हृदय-द्रावक दृश्य प्रस्तुत किया गया है। राम स्वयं इस गर्भांक के दर्शकों में एक सहृदय सामाजिक के रूप में सम्मिलित हैं। निर्जनवन में श्वापदों से त्रस्त सीता की करुण पुकार, उसका गंगा-प्रवाह में आत्म-विसर्जन, लव और कुश का जन्म, गंगा व पृथ्वी द्वारा सीता की रक्षा, पुत्री के परित्याग पर पृथ्वीमाता का शोक तथा उनके द्वारा राम की भर्त्सना तथा अंत में सीता का लोकान्तरगमन आदि प्रसंग राम के हृदय को इतना शोकाकुल कर देते हैं कि वे मूर्च्छित हो जाते है। इस प्रकार यह सारा दृश्य अद्भुत-परिपुष्ट करुण रस का उदाहरण है।[1]

सप्तम अंक में सीता के भागीरथी व पृथ्वी के साथ गंगा के जल से प्रकट होने का दृश्य अद्भुत रस का व्यंजक है। इस दृश्य को स्वयं नाटककार ने एक पवित्र आश्चर्य कहा है। यहां निर्वहण संधि के अन्तर्गत नाटक के अंत को चमत्कारशाली बनाने के लिए अद्भुत रस की योजना की गई है।

द्वितीय अंक के विष्कभक में आत्रेयी द्वारा वर्णित विभिन्न अतिप्राकृत प्रसंग भी अद्भुत रस की सामग्री प्रस्तुत करते है। पंचम अंक में लव का पहले चन्द्रकेतु की सेना के साथ और बाद मे स्वय चन्द्रकेतु के साथ युद्ध अद्भुत-परिपुष्ट वीर रस का उत्तम उदाहरण है। दोनों पक्षों द्वारा प्रयुक्त दिव्यास्त्र तथा उनका लोकोत्तर प्रभाव अद्भुत रस के अभिव्यजंक है।

निष्कर्ष

विगत पृष्ठों में हमने भवभूति की नाटकत्रयी में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों का परिचय देते हुए उनके प्रयोगगत वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाला। इस अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि भवभूति अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग की दृष्टि से उत्तररामचरित में जितने सफल हुए उतने शेष दो कृतियों मे नही। मालतीमाधव में इन तत्त्वों के समावेश से एक अयथार्थ वातावरण की सृष्टि हुई है जो प्रकरण की सामाजिक विषय-वस्तु के अनुकूल नही है। पौराणिक या प्रख्यात कथा मे इन तत्त्वों की उपस्थिति जितनी संगत हो सकती है, उतनी सम-सामयिक या कल्पित कथानक मे नही। इसीलिए शूद्रक ने मृच्छकटिक में इन तत्त्वों को—कम से कम घटना व पात्रों के रूप में—बिल्कुल ग्रहण नही किया है। किन्तु भवभूति ने मालतीमाधव के वस्तुविकास की महत्त्वपूर्ण स्थितियों को अतिप्राकृत तत्त्वों से सम्बद्ध कर अपने पात्रों को उनका पूर्ण मुखापेक्षी बना दिया है। नायक-नायिका के प्रणय की सफल परिणति ही नही, उनका जीना-मरना तक उन्ही पर निर्भर हो गया है। इन तत्त्वो का नाटकीय कथा

---

1. रामः—क्षुभिताः कामपि दशां कुर्वन्ति मम संप्रति।
 विस्मयानन्दसदर्भजर्जराः करुणोर्मयः॥ वही, 7.12.

के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दिखाई देता, वे अधिकतर आकस्मिक संयोगों के रूप में प्रकट हुए है तथा कथा की गतिविधि व पात्रों की नियति के सूत्रधार बन गये है।

महावीरचरित में आये अधिकांश अतिप्राकृत प्रसंग व पात्र रामायण से गृहीत है; केवल उनके विनियोग की पद्धति में अन्तर है। भवभूति ने उन्हें राम-रावण-विरोध की संघर्षात्मक कथा का अंग बनाकर नाटकीय औचित्य प्रदान करने का प्रयत्न किया है। इस नाटक में परकायप्रवेश के रूप में एक विशिष्ट अतिप्राकृत तत्त्व का प्रयोग किया गया है, पर उसमें नाटककार को विशेष सफलता नहीं मिली है।

उत्तररामचरित में सीता की अदृश्यता के रूप में भवभूति ने एक विलक्षण अतिप्राकृत तत्त्व का विनियोग किया है, जिसका नाटक की मूल भावधारा व उद्देश्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। राम और सीता की पारस्परिक आस्था के पुनः स्थापन में इस तत्त्व की महत्त्वपूर्ण भूमिका नितान्त स्पष्ट है। अदृश्य सीता कवि की भावना सृष्टि तो है ही, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी एक खरी कल्पना है। साथ ही उसकी वास्तव सत्ता में भी संदेह नही किया जा सकता। इस प्रकार वह कल्पना व सत्य या स्वप्न व यथार्थ का एक अद्भुत समन्वय है। उत्तररामचरित यदि भवभूति की सर्वश्रेष्ठ काव्य-कृति है तो अदृश्य सीता की कल्पना उनके भावप्रवण कवित्व की सर्वोत्तम सृष्टि।

सीता के पाताल-प्रवास की कल्पना मूलत रामायण से गृहीत है, पर उसके प्रयोग में नाटककार की मौलिक दृष्टि व्यक्त हुई है। नाटक में करुण रस को समुचित परिपाक देने मे उसका विशेष योगदान है। अंतिम अंक में गर्भांक का दृश्य तथा उसके बाद का पुनर्मिलन आद्यन्त अतिप्राकृत तत्त्वों से युक्त है। नाटककार ने यहां कथा को सुखान्त बनाने के लिए उसे यथार्थ के धरातल से उठाकर पौराणिक कल्पनाओं के अद्भुत लोक में पहुंचा दिया है।

उत्तररामचरित में भवभूति ने वस्तु-विकास में वनदेवता वासन्ती, नदीदेवता भागीरथी, तमसा, मुरला तथा पृथ्वी आदि दैवीकृत प्राकृतिक पात्रों की योजना करते हुए मनुष्य, प्रकृति और देवताओं के भाव-तादात्म्य का हृदयग्राही चित्रण किया है। पौराणिक कल्पनाओं के प्रयोग से इस नाटक का वहिरंग अनेक स्थलों पर अवास्तविक हो गया है पर उसका अन्तरंग वास्तविक और मानवीय ही है। अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व कवि की कला के माध्यम या साधन मात्र हैं जिनके द्वारा उसने मानव-हृदय के भावसत्यों में गहराई से पैठने का यत्न किया है। इस दृष्टि से उत्तररामचरित में अतिप्राकृत तत्त्वों का विन्यास नाटककार की परिपक्व कला-दृष्टि का परिचायक

है । कालिदास के समान भवभूति भी अन्ततः मानवता के ही कवि है। अतिप्राकृत तत्त्व उनकी कृतियों के बाह्य आवरणमात्र हैं जिनके अन्तस्तल में उन्होंने मानव-चरित्र और उसके भाव-सत्यों का ही विधान किया है। इस दृष्टि से कालिदास व भवभूति एक ही धरातल पर स्थित दिखाई देते हैं।

---

९ मुरारि व राजशेखर के नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व

मुरारि व राजशेखर संस्कृत नाटक के ह्रासकाल के प्रतिनिधि नाटककार हैं। उनकी कृतियों में ह्रासकाल की प्रवृत्तियां पूर्ण विकसित रूप में प्रकट हुई हैं। स्थिति-काल की दृष्टि से भी इन दोनों में वहुत अन्तर नहीं है; मुरारि राजशेखर के कुछ ही पूर्ववर्ती माने जाते है। मुरारि की एकमात्र कृति 'अनर्घराघव' रामकथा पर आधारित है और राजशेखर के सबसे महत्त्वपूर्ण नाटक 'बालरामायण' की विषयवस्तु भी वही है। दोनों नाटककारों पर भवभूति का गहरा प्रभाव पड़ा है, विशेष रूप से उनके महावीरचरित का, जिसके आदर्श पर उक्त दोनों नाटक लिखे गये हैं। इन्ही कारणों से हम मुरारि और राजशेखर के नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों का एक ही अध्याय के अन्तर्गत अध्ययन करेंगे।

भट्ट नारायण व भवभूति के नाटकों में जिन ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ था मुरारि व राजशेखर की कृतियों में वे पराकाष्ठा पर पहुच गईं। श्रव्य व दृश्य काव्यों का अन्तर यहां लगभग लुप्त हो गया है। कथावस्तु में मौलिकता तथा घटनाओं के चयन व सयोजन में नाटकीय सोद्देश्यता का लगभग अभाव है। दोनो ही नाटककारों ने रामायण की विस्तृत कथा को प्रायः समग्र रूप में ले लिया है। उसे नाटक के रूप-शिल्प में ढालने का कोई प्रयत्न नही किया गया। अधिकतर दृश्य वर्णनात्मक व सूचनात्मक हैं। कथावस्तु में प्रवाह व गतिशीलता का प्रायः अभाव है। रंगमंच पर वहुत कम कार्य होता है। अंकों का आकार बहुत बढ़ गया है तथा उनके कथासूत्रों को जोड़ने के लिए विस्तृत विष्कंभकों की योजना की गई है। अधिकतर घटनाएं रंगमंच से दूर या नेपथ्य मे होती हैं; पात्रों का कार्य अपने संवादों द्वारा सामाजिक को उनकी सूचना मात्र देना रह गया है। संवाद भी अधिकतर पद्यात्मक हैं; गद्य का प्रयोग सीमित कर दिया गया है। उसका सूचनामात्र देने के लिए कहीं-कही उपयोग किया गया है। रूढ़ व शिथिल चरित्र-चित्रण, अनाटकीय भावोद्गारों

का अनावश्यक विस्तार तथा श्लोकों की अति विस्तृत संख्या—ये दोष मुरारि व राजशेखर दोनों के नाटकों में समान रूप से विद्यमान हैं। अनर्घराघव में ५६४ तथा बाल रामायण में ७४१ पद्य मिलते हैं। यह संख्या कालिदास या भवभूति के किसी भी एक नाटक में प्राप्त होने वाले पद्यों की संख्या से दुगुनी से भी अधिक है। ये पद्य नाटककार के शास्त्रीय पांडित्य, पौराणिक-कथाओं के ज्ञान तथा अलंकृत अभिव्यक्ति व भाषा पर असाधारण अधिकार के परिचायक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन पद्यों की रचना में इन नाटककारों ने अपनी सारी प्रतिभा व्यय कर दी है। इनमें संस्कृत व्याकरण व कोष पर उनका विलक्षण अधिकार तथा लयपूर्ण छंदों व अनुप्रासात्मक पदों के प्रयोग की निपुणता पूर्ण मात्रा मे प्रकट हुई है। तथापि मुरारि व राजशेखर न नाटककार के रूप में सफल कहे जा सकते है, और न कवि के रूप में ही। उनकी कृतियों में नाटकीय गुणों का तो अभाव है ही, काव्य के रूप में भी वे बहुत उच्च कोटि के व प्रशंसनीय नही ह।

मुरारि का अनर्घराघव

अनरर्घराघव मुरारि की एकमात्र उपलब्ध कृति है। सुभाषित-संग्रहों में उनके नाम से उद्धृत श्लोकों से प्रतीत होता है कि उनकी और भी रचनाएं रही होंगी, पर वे अब प्राप्त नहीं होतीं।

प्रस्तावना के अनुसार मुरारि मौद्गल्य गोत्र के भट्ट श्रीवर्धमान व तन्तुमती के पुत्र थे। उन पर भवभूति (७००–७२५ ई०) का प्रभाव असंदिग्ध है तथा रत्नाकर (९वीं शती ई० का उत्तरार्द्ध) ने हरविजय (३८.६८) में उनका उल्लेख किया है, अतः मुरारि का स्थितिकाल भवभूति व रत्नाकर के मध्य (अष्टम शती ई० के अन्त या नवम के पूर्वार्द्ध) में माना जा सकता है।[1]

अनर्घराघव में यज्ञरक्षार्थ राम व लक्ष्मण को प्राप्त करने के लिए दशरथ के पास विश्वामित्र के आगमन से लेकर रावणवध व राम के राज्याभिषेक तक की रामायण की विस्तृत कथा सात अंकों में प्रस्तुत की गयी है। कथा का मुख्य आधार

---

1. डा0 एस0 के0 दे ने हरविजय में मुरारि के उल्लेख को संदिग्ध माना है। दशरूपक (2.1 पर अवलोक) में उद्धृत अनर्घराघव के एक श्लोक (3.21) के आधार पर उन्होंने मुरारि का स्थितिकाल नवम शती ई0 का अन्तिम या दशम का प्रारम्भिक भाग माना है। दे0 हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 449.

व प्रेरणा-स्रोत रामायण है[1] किन्तु कुछ प्रसंगों व कल्पनाओं के लिए मुरारि भवभूति के ऋणी प्रतीत होते है। चतुर्थ अंक में मंथरा के शरीर में सिद्ध श्रवणा के प्रवेश, राम व जामदग्न्य के संवाद, पंचम अंक में वालिवध तथा सप्तम अंक में राम की लंका से अयोध्या तक की विमान-यात्रा आदि प्रसंगों पर महावीरचरित का प्रभाव प्रतीत होता है। डा० भोलाशंकर व्यास का यह कथन ठीक है कि "विषय-निर्वाचन, कथावस्तु-सविधान तथा शैली सभी में मुरारि भवभूति से प्रभावित है। मुरारि का आदर्श भवभूति का महावीरचरित रहा है, ठीक वैसे ही जैसे माघ का आदर्श किरातार्जुनीय।"[2] संभवत. मुरारि का उद्देश्य भवभूति के ही मार्ग पर चलकर उनसे बाजी मार ले जाना था; पर उन्होंने अधिकतर भवभूति के दोषों को ही अपनाकर उन्हे अतिरंजित किया। डा० दे के विचार में मुरारि ने भवभूति का अनुकरण किया पर उन्होंने भवभूति की शक्ति व नाट्य-बोध (dramatic sense) का लाभ उठाने की अपेक्षा उनकी अतिप्रवृद्ध भावुकता को ही अधिक ग्रहण किया। उसमें अपने इस महान् पूर्ववर्ती की उच्चतर काव्य-प्रतिभा का भी अभाव था।[3]

अतिप्राकृत तत्त्व

रामायण की प्रख्यात कथा पर आधारित होने से इसमें वे अनेक अतिप्राकृत तत्त्व अनायास आ गये है जो परम्परा से रामकथा से सम्बद्ध रहे है। पात्रों के चित्रण में भी कवि ने पौराणिक कल्पनाओं का उपयोग किया है। चतुर्थ अंक में परकाय-प्रवेश के अभिप्राय के लिए मुरारि भवभूति के ऋणी हैं। अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग में नाटककार किसी नवीन दृष्टि का परिचय नही दे सका है, अधिकतर परम्परागत कथा के रूढ अंग के रूप मे ही उनका विन्यास हुआ है। अतः कृति में नाटकीय प्रभाव की सृष्टि करने में इन तत्त्वों का योगदान नगण्य है।

मुरारि ने अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व रामायण से लिए है, जैसे राम के अलौकिक प्रभाव से पाषाणभूत अहल्या का मानुषीरूप में परिवर्तन, विश्वामित्र द्वारा

---

1 वीरोदात्तगुणोत्तरो रघुपति: काव्यार्थबीजं मुनि-
वर्ल्मीकि: फलति स्म यस्य चरितस्तोत्राय दिव्या गिर: ॥
अनर्घराघव, 1.8 (निर्णयसागर प्रेस, पचम सस्करण, बम्बई, 1937)

रामचरित को लेकर नाटक लिखने का कारण स्पष्ट करते हुए मुरारि ने कहा है—
यदि क्षुण्ण पूर्वैरिति जहति रामस्य चरित
गुणैरेतावद्भिर्जगति पुनरन्यो जयति क: ॥
स्वमात्मान तत्तद्गुणगरिमगभीरमधुर-
स्फुरद्वाग्ब्रह्माण: कथमुपकरिष्यन्ति कवय: ॥ वही, 1.9

2. सस्कृत-कवि-दर्शन, पृ0 418-419.

3. हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 453.

राम को दिव्यास्त्र-मंत्रों की शिक्षा, विश्वामित्र के आश्रम पर ताड़का, सुबाहु व मारीच आदि राक्षसों का आक्रमण तथा राम द्वारा ताड़का व सुबाहु का वध (द्वितीय अंक), राम द्वारा शिव के धनुष का भंग (तृतीय अंक), सीता के हरण के लिए पंचवटी में राम के आश्रम में रावण का परिव्राजक के रूप में आगमन तथा बाद में उसके द्वारा अपने वास्तविक राक्षसी-रूप का प्रकटीकरण, राक्षस दनुकबन्ध के वध व शापमुक्ति के अनन्तर उसका दिव्य लोक में गमन, दुन्दुभिनामक राक्षस के पर्वताकार अस्थिसमूह का क्षेपण, वाली के वध के अनन्तर राम के बाण का उनके तूणीर में प्रत्यावर्तन (पंचम अंक), समुद्र पर पाषाण-सेतु का निर्माण, सारण नामक रावण के गुप्तचर का वानर-रूप धारण कर राम की सेना में प्रवेश, इन्द्र द्वारा प्रेषित दिव्य रथ में बैठकर राम का रावण के साथ युद्ध, युद्ध में दोनों वीरों द्वारा दिव्यास्त्रों का प्रयोग तथा अंत में राम के ब्रह्मास्त्र से रावण का वध, सीता की अग्नि-परीक्षा तथा पुष्पक विमान में बैठकर राम सीता आदि का अयोध्या में आगमन आदि। यह उल्लेखनीय है कि इनमें से अधिकतर तत्त्वों की सूचना मात्र दी गई है तथा नाटकीय दृष्टि से उनकी कोई सार्थकता नहीं है।

अनर्घराघव में कुछ अतिप्राकृतिक तत्त्व रामायण से भिन्न भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ, चतुर्थ अंक के विष्कंभक में बताया गया है कि शूर्पणखा माल्यवान् की आज्ञा से मायामानुषी का रूप धारण कर मिथिला का वृत्तान्त जानने के लिए वहां गई थी।[1] इस उल्लेख में नाटककार ने राक्षसों की मायाशक्ति का संकेत दिया है जिसके द्वारा वे मनोवांछित रूप ग्रहण कर सकते हैं। इस अतिप्राकृत तत्त्व के प्रयोग की कोई नाटकीय सोद्देश्यता नहीं है। चतुर्थ अंक के विष्कंभक में माल्यवान् यह सूचना देता है कि जाम्बवान् ने राम को वन में लाने के लिए एक कूट योजना क्रियान्वित की है। उसने योगिनी श्रवणा को कहा है कि वह अपना शरीर हनूमान् की सुरक्षा में छोड़कर परकायप्रवेश विद्या द्वारा मन्थरा के शरीर में प्रविष्ट हो जाए।[2] मन्थरा को कैकेयी ने भरत का कुशल समाचार लाने के लिए मिथिला भेजा है। वह मार्ग में थक जाने के कारण मिथिला के बाहर विश्राम कर रही है।[3] जाम्बवान् के निर्देश से सिद्धश्रवणा उसके शरीर में प्रविष्ट होकर मिथिला में दशरथ

---

1. शूर्पणखा (सहर्षम्) अम्महे, सौम्यसुन्दरविवाहनेपथ्यलक्ष्मीविच्छर्दितकान्तिप्राग्भाराणि रघुकुल-कुमाराणां मुखपुण्डरीकाणि प्रेक्षमाणा जुगुप्सितेनापि मायामानुषीभावेन कृतार्थीकृतास्मि।
अनर्घराघव, 4 पृ० 183–184.
2. अतस्त्वमप्यस्मदनुरोधेन हनूमत्प्रत्यवेक्षितस्वशरीरा परपुरप्रवेशविद्यया मन्थराशरीरमधितिष्ठन्ती मिथिलामुपेत्य संविधानकमिदं दशरथगोचरीकरिष्यसि।.... वही, 4 पृ० 191
3. वही, 4 पृ० 190–191.

के पास एक कपट-संदेश पहुंचाती है। इस सन्देश में कैकेयी ने दो वर मांगे हैं—राम-लक्ष्मण व सीता को चौदह वर्ष का वनवास तथा भरत को अयोध्या का राज्य।[1] राम इस सन्देश के अनुसार मिथिला से ही सीधे वन मे चले जाते है।[2] तदनन्तर श्रवणा मन्थरा के शरीर को छोड़ हनूमान् की देख-रेख में रखे अपने शरीर में पुनः प्रविष्ट हो जाती है।[3]

प्रथम अध्याय में हम बता चुके है कि योगी को योगसाधना से जो विभूतिय प्राप्त होती है उनमें से एक परकायप्रवेश की शक्ति भी है।[4] श्रवणा एक सिद्ध योगिनी है, इसलिए उसमे इस प्रकार की शक्ति की कल्पना की गई है। रामायण में इस प्रसंग का कोई आधार प्राप्त नही होता। निश्चय ही कवि ने इसे महावीरचरित से लिया है जहां माल्यवान् की आज्ञा से शूर्पणखा वही कार्य करती है जो अनर्घराघव में श्रवणा द्वारा जाम्बवान् ने कराया है। भवभूति के समान मुरारि ने भी राम को विवाह के बाद सीधे मिथिला से ही वन में भेज दिया है तथा कैकेयी के चरित्र को दोष-मुक्त करने का प्रयत्न किया है। किन्तु नाटक मे यह सारा प्रसंग जिस रूप में आया है उससे नाटककार की वस्तुविधान की अकुशलता ही व्यक्त होती ह।

षष्ठ अंक में राम व रावण के महायुद्ध का वर्णन रत्नचूड और हेमांगद नामक दो विद्याधरों द्वारा कराया गया है जो कि संस्कृत नाटक की एतद्विषयक परम्परा के अनुसार है।

सप्तम अंक में विमान-यात्रा का प्रसंग रघुवंश के १३वें सर्ग तथा महावीरचरित के सप्तम अंक से प्रभावित है। यह सारा अंक श्रव्यकाव्य की वर्णनात्मक शैली में लिखा गया है तथा नाटकोचित गुणों से रहित है। इसमें कवि ने पृथ्वी के ही स्थानों का वर्णन नहीं किया है अपितु पुष्पक विमान को चन्द्रलोक के सान्निध्य में पहुचा दिया है।[5] मार्ग के अधिकतर स्थानों के वर्णन में कवि ने तत्सम्बन्धी पौराणिक कथाओं या संदर्भों का उल्लेख कर अपने पांडित्य का प्रदर्शन किया है।

अनर्घराघव के अधिकांश पात्र रामायण की पौराणिक कल्पनाओ से निर्मित है। राम शास्त्रीय दृष्टि से धीरोदात्त नायक हैं। उन्हें अनेक स्थलों पर ईश्वर का

---

1. वही, 4.66.
2. वही, 4 पृ० 225.
3. श्रवणा—ततो मिथिलाया निष्क्रम्य मन्थराकलेवरमवकीर्य मारुतिप्रत्यवेक्षितं स्वशरीरमधिष्ठाय गगायां शृंगवेरपुरं नाम निषादपक्कणमागत्य शबरीभूतास्मि। वही, 5 पृ 228.
4. दे० प्रस्तुत प्रबन्ध, पृ० 31.
5. विभीषणः—(सीतां प्रति) देवि ! चन्द्रलोकोपकंठमधिरूढो विमानगजः। दृश्यतां च भगवानयम्। वही, 7 पृ० 347.

अवतार कहा गया है ।[1] नाटककार ने विभिन्न प्रसंगों मे उनके लोकोत्तर व्यक्तित्व का संकेत दिया है । नाटक की दृश्यकथा मे नायक होते हुए भी राम बहुत कम प्रसंगो में सामने आते है । उनकी वीरता व पराक्रमों की सामाजिकों को अधिकतर मौखिक सूचना दी गई है । अहल्योद्धार, ताड़कावध, शिवधनुर्भंग, खरदूषण, वाली व रावण आदि के वध के प्रसंग जो राम की अलौकिकता के द्योतक हैं, रंगमंच पर प्रत्यक्ष घटित नहीं होते । सीता रामायण के आधार पर पृथ्वी की पुत्री तथा अयोनिजा कही गई है ।[2] नाटक में वह केवल दो दृश्यों में साक्षात् सामने आती है । रावण रामकथा का एक महत्त्वपूर्ण पात्र होते हुए भी सामाजिक के समक्ष एक बार भी नहीं आता । उसके व्यक्तित्व-वर्णन में रामायण मे आई पौराणिक कथाओं का यथेष्ट उपयोग किया गया है । इसी प्रकार परशुराम, विश्वामित्र, वसिष्ठ, जनक, दशरथ आदि के व्यक्तित्व पौराणिक परिकल्पनाओं से उपरक्त है । नाटक में वर्णित उनके कार्य अलौकिक नही है, तथापि उनसे सम्बन्धित अलौकिक पौराणिक कथाओ का बार-बार उल्लेख किया गया है । अत. ये पात्र मानव होते हुए भी अतिमानव बन गये हैं । शूर्पणखा व श्रवणा मे क्रमश. रूप-परिवर्तन व परकाय-प्रवेश की सामर्थ्य बतायी गयी है । अधिकतर पात्रों के व्यक्तित्व पारम्परिक हैं । ये पौराणिक कल्पनाओं की निष्प्राण प्रतिमूर्तियां अधिक हैं, मानव कम ।

निष्कर्ष

मुरारि ने अधिकतर उन्ही अतिप्राकृतिक तत्त्वों का अपनी कृति मे समावेश किया है जो परम्परा से रामकथा के अग बन गये थे । इन तत्त्वो के प्रयोग मे वे किसी प्रकार के नाटकीय बोध या कलात्मक दृष्टि का परिचय देने में असमर्थ रहे हैं । मन्थरा के शरीर में योगिनी श्रवणा के प्रवेश की कल्पना के लिए मुरारि भवभूति के ऋणी हैं, अतः इसके लिए उन्हे कोई श्रेय नही दिया जा सकता । यह कल्पना सोद्देश्य होते हुए भी नाटकीय विनियोग की दृष्टि से सफल नहीं कही जा सकती । कैकेयी के चरित्र को कलंकमुक्त करने के प्रयास में कथा को अस्वाभाविक बना दिया गया है ।

राजशेखर के नाटक

राजशेखर के नाटकों की प्रस्तावनाओं से विदित होता है कि वे कान्यकुब्ज के राजा महेन्द्रपाल (८९०–९१० ई०) तथा उसके पुत्र महीपाल (९१०–९४० ई०) के आश्रित थे । अतः उनका स्थितिकाल लगभग ८८० से ९२० ई० के बीच माना जा

---

1. वही; 1.7; 1.50; 3.20; 4 पृ० 181; 4.7; 5.1; 6.67.
2. रामः—यत्र पवित्रमाश्चर्यद्वयं जनाः कथयन्ति । सकलराजदुराकर्षमैन्दुशेखरं धनुः, लांगल-मुखोल्लिखितविश्वंभराप्रसूतिरगर्भसंभवा मानुषी । वही, 2 पृ० 131.

सकता है ।[1] अपनी कृतियों में उन्होंने अपने वंश, परिवार व विद्वत्ता आदि के बारे में महत्त्वपूर्ण सूचनाएं दी है । बालरामायण में उन्होंने अपने षट् प्रबन्धों[2] का उल्लेख किया है परन्तु अब उनकी पांच कृतियां ही उपलब्ध होती हैं । इनमे से चार नाटक है और एक काव्यशास्त्र का ग्रन्थ । नाटकों में से कर्पूरमंजरी व विद्धशालभंजिका क्रमशः सट्टक और नाटिका है तथा बालरामायण व बालभारत ये दो नाटक । कोनो ने कर्पूरमजरी को राजशेखर का प्रथम नाटक माना है और उसके बाद क्रमश. विद्धशालभजिका, बालरामायण व बालभारत का रचनाक्रम स्वीकार किया है ।[3] बालभारत, जिसका दूसरा नाम प्रचण्डपांडव भी है, संभवतः राजशेखर की अन्तिम कृति है । इसमें दो ही अंक प्राप्त होते हैं; नाटककार संभवतः मृत्यु के कारण इसे पूरा नहीं कर सका ।

राजशेखर बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार थे । वे अपने युग के एक प्रतिष्ठित कवि और नाटककार तो थे ही, काव्यशास्त्र के आचार्य के रूप में भी उनका गौरवपूर्ण स्थान है । उनकी काव्यमीमांसा अनेक दृष्टियों से काव्यशास्त्र का एक विशिष्ट ग्रंथ है । एक कवि के रूप में राजशेखर उस युग की देन है जब संस्कृत-साहित्य के प्रायः सभी क्षेत्रों में ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियां प्रबल हो रही थीं । राजशेखर के नाटक इन प्रवृत्तियों के ज्वलन्त उदाहरण हैं । उनके विशालकाय नाटक बालरामायण मे ह्रासकालीन प्रवृत्तियां पराकाष्ठा पर पहुंच गयी है । राजशेखर कवि के रूप में भी हमारी बुद्धि को ही अधिक चमत्कृत करते हैं । उनमें चतुरस्र पांडित्य, विविध भाषाओं का नैपुण्य तथा सुन्दर श्लोको की रचना का कौशल आदि गुण तो पर्याप्त मात्रा मे है, पर हृदय का स्पर्श करने वाली कविता और मानव-व्यापारों व चरित्रों का प्रभावशाली व गतिशील चित्र अंकित करने वाली नाट्यकला का उनकी कृतियों में प्रायः अभाव ही है ।

राजशेखर के नाटकों मे अतिप्राकृत तत्त्वों का सर्वाधिक प्रयोग बालरामायण मे मिलता है । बालभारत के केवल दो ही अंक उपलब्ध हुए है जिनमें किसी उल्लेख्य अतिप्राकृतिक तत्त्व का समावेश नहीं मिलता । कर्पूरमंजरी व विद्धशालभंजिका दोनों ही अन्तःपुर के प्रणय-प्रसगो पर आधारित है । इनमें से प्रथम में कतिपय अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग मिलता है ।

---

1. राजशेखर के स्थितिकाल के विषय में देखिए—दे व दासगुप्तः हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ० 455; कीथः संस्कृत ड्रामा, पृ० 232; कोनो व लानमैन द्वारा संपादित कर्पूरमंजरी, पृ० 179 (हार्वर्ड ओरियन्टल सिरीज, सं० 4, द्वितीय संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1963); इण्डियन ड्रामा, पृ० 134-135.
2. 1.12.
3. राजशेखरज् कर्पूरमंजरी, पृ० 184-188.

कर्पूरमजरी शास्त्रीय दृष्टि से यह सट्टक कही गयी है। प्रस्तावना के अनुसार सट्टक नाटिका से मिलता-जुलता हुआ नाट्यभेद है।[1] दोनों में मुख्य अन्तर भाषा का है। सट्टक की रचना एकमात्र प्राकृत भाषा में की जाती है। नाटिका से इसका एक अन्तर यह भी है कि इसमें प्रवेशक व विष्कंभक की योजना नहीं की जाती तथा इसके अंक 'जवनिका' कहे जाते हैं। विश्वनाथ ने सट्टक में अद्भुत रस की प्रचुरता मानी है तथा उसे उपरूपकों में गिना है। उनके अनुसार सट्टक मे और सब बातें नाटिका के समान होती हैं।[2]

कर्पूरमंजरी मे राजा चण्डपाल व कर्पूरमंजरी के प्रेम, राजा की ज्येष्ठ रानी विभ्रमलेखा द्वारा इस प्रेम-प्रसंग में विघ्नों की सृष्टि, तथा अंत मे रानी के दीक्षागुरु तांत्रिक भैरवानन्द की योजना से दोनों के विवाह की कथा नाटिका के परम्परागत संविधानक में प्रस्तुत की गयी है। इसमें नाटककार ने कुछ नयी कल्पनाओं[3] का भी समावेश किया है जिनके कारण कथावस्तु काफी रोचक हो गयी है।

कर्पूरमजरी में अतिप्राकृत तत्त्व सीमित रूप में ही आये है। प्रथम अंक में भैरवानन्द नाम का एक तान्त्रिक राजा चण्डपाल के समक्ष लाया जाता है। उसे अद्भुत सिद्धियां प्राप्त हैं। वह कौल धर्म का अनुयायी व प्रशंसक है।[४] राजा उसे किसी भी प्रकार का कोई आश्चर्य दिखाने के लिए कहता है। भैरवानन्द सगर्व कहता है कि मैं पृथ्वी पर चन्द्रमा को उतार कर दिखा सकता हूं, सूर्य के रथ को आकाश में रोक सकता हूं, यक्ष, सुर व सिद्धगणों की स्त्रियो को ला सकता हूं। भूमंडल में कोई भी ऐसा कार्य नहीं जो मेरे लिए असाध्य हो।[5] राजा चण्डपाल किसी स्त्रीरत्न को देखने की इच्छा प्रकट करता है। तब विदूषक के सुझाव पर भैरवानन्द वैदर्भ नगर में स्थित कुन्तल देश की परमसुन्दरी राजकुमारी कर्पूरमंजरी

---

1. तत्साटकमिति भण्यते दूरं यो नाटिकामनुहरति।
   किं पुनरत्र प्रवेशकविष्कभकौ न केवलं भवतः॥ कर्पूर० 1.6.
2. सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्य स्यादप्रवेशकम्।
   न च विष्कभकोऽप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः॥
   अंका जवनिकाख्याः स्यु स्यादन्यन्नाटिकासमम्॥ सा० द० 6, 267-277.
3. नायिका कर्पूरमजरी जो कि कुन्तलदेश की राजकुमारी है नायक के महल मे योगबल से लायी जाती है। ईर्ष्यालु रानी के द्वारा बन्दी बनायी गयी कर्पूरमंजरी के साथ नायक का मिलन एक गुप्त सुरंग-मार्ग द्वारा होता है। इसी प्रकार नाटक के अन्त मे नायिका एक अन्य सुरंग द्वारा विवाहार्थ प्रमदवन मे चंडिका के मन्दिर मे पहुचाई जाती है। रानी विभ्रमलेखा व कर्पूरमंजरी के बीच जो आखमिचौनी होती है वह भी राजशेखर की ही उद्भावना है।
4. कर्पूर० 1 23-24.
5. 1.25.

को ध्यान लगाकर योग शक्ति से राजा चण्डपाल के समक्ष उपस्थित कर देता है।[1] इस अद्‌भुत घटना से सभी चकित रह जाते हैं।

उक्त प्रसंग से राजशेखर के युग में तांत्रिक साधना के व्यापक प्रचार-प्रसार व उससे प्राप्त होने वाली अद्‌भुत सिद्धियों में तत्कालीन लोक-विश्वास का पता चलता है। वस्तुविकास की दृष्टि से भी यह प्रसंग महत्त्वपूर्ण है। इसे हम नाटक की प्रणयकथा का आरम्भ-विन्दु कह सकते हैं। इसके द्वारा नाटककार ने प्रारम्भ में ही अद्‌भुत रस की सृष्टि करके भावी प्रणयकथा के प्रति प्रेक्षक व पाठक के कौतूहल को जाग्रत कर दिया है। प्रणयकथा के सूत्रपात व विकास के लिए नायक व नायिका के परस्पर दर्शन व सान्निध्य की आवश्यकता को नाटककार ने यहां एक नवीन व चामत्कारिक रीति से पूरा किया है।

द्वितीय अंक में कर्पूरमंजरी रानी विभ्रमलेखा के आदेश से कुरवक, तिलक व अशोक वृक्षों का दोहद सम्पन्न करती है। वह कुरवक का आलिंगन करती है, तिलक को वक्र दृष्टि से देखती है और अशोक पर पाद-प्रहार करती है। दोहद-पूर्ति के साथ ही तीनों वृक्षों में तत्काल राशि-राशि पुष्प खिल उठते हैं।[2] राजा चंडपाल मरकतकुंज की ओट से इस दृश्य का अवलोकन करता है। जब वह उक्त दोहद का मर्म जानना चाहता है तो विदूषक उसे बताता है कि यौवनावस्था में सौन्दर्य अधिष्ठात्री देवता के रूप में स्त्रियों में निवास करता है।[3] उसी के प्रभाव से वृक्षों मे फूल खिल उठते हैं।

उक्त प्रसंग में आलिंगन, दृष्टिपात व पादप्रहार द्वारा वृक्षों में पुष्पोद्‌गम एक रमणीय किन्तु अप्राकृतिक व्यापार है। इस प्रसंग के लिए राजशेखर कालिदास के मालविकाग्निमित्र के ऋणी हैं। किन्तु मालविकाग्निमित्र में इस कल्पना द्वारा जिस मनोवैज्ञानिक भावभूमि का निर्माण किया गया है उसका यहां अभाव है। वहां दोहद-प्रसंग नाटक की प्रणयकथा से जिस प्रकार अन्तर्गथित है वैसा यहां नही है।

चतुर्थ अंक में नाटककार ने भविष्यवाणी के परम्परागत अभिप्राय का प्रयोग किया है। भैरवानन्द रानी विभ्रमलेखा को बताता है कि लाटदेश के राजा चण्डसेन की पुत्री घनसारमंजरी का विवाह जिस व्यक्ति के साथ होगा वह चक्रवर्तित्व प्राप्त करेगा, ऐसा दैवज्ञों ने कहा है।[4] रानी भैरवानन्द की बात में विश्वास कर अपने

---

1. 1.26.
2. वही, 2.44–47.
3. वही, 2.48.
4. ... अस्त्यत्र लाटदेशे चण्डसेनो नाम राजा। तस्य दुहिता घनसारमंजरी नाम। सा देवज्ञैरादिष्टा एषा चक्रवर्तिगृहिणी भविष्यतीति। ततो महाराजस्य परिणेतव्या। तेन गुरुदक्षिणा दत्ता भवति। भर्तापि चक्रवर्ती कृतो भवति।...... वही, 4 पृ० 99–100.

पति के चक्रवर्तित्व के लिए उक्त प्रस्ताव को अपनी स्वीकृति दे देती है। धूर्त भैरवानन्द घनसारमजरी के नाम से कर्पूरमंजरी का राजा से विवाह करा देता है।

नायिका के विषय में यह भविष्यवाणी कि उसका विवाह जिस पुरुष के साथ होगा वह एक चक्रवर्ती शासक बनेगा, संस्कृत नाटिकाओं की एक मान्य कथानक रूढ़ि रही है। सर्वप्रथम हर्ष ने 'रत्नावली' में इस कथानक-रूढि का प्रयोग किया था। बाद में प्रायः सभी नाटककारों ने अपनी नाटिकाओं में इस कथानक रूढ़ि का उपयोग किया। यद्यपि कर्पूरमंजरी शास्त्रीय दृष्टि से सट्टक कही गयी है, पर सट्टक और नाटिका में केवल भाषा का ही अन्तर है, रूप और चेतना की दृष्टि से उनमें कोई उल्लेखनीय भेद नही है। यही कारण है कि राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी व विद्धशालभञ्जिका दोनों में इस कथानक-रूढ़ि का समान रूप से समावेश किया है। ऋषि, योगी, सिद्ध पुरुष, दैवज्ञ आदि की भविष्यवाणियों में भारतीयों का सदा से विश्वास रहा है। ऐसा माना जाता है कि ये लोग अपनी आध्यात्मिक शक्ति या विशिष्ट सिद्धियों द्वारा किसी भी व्यक्ति के भूत, भविष्य आदि का ज्ञान प्राप्त कर सकते है तथा उसके विषय मे निश्चित रूप से बता सकते है। यहां राजशेखर ने इसी भारतीय लोक विश्वास की पृष्ठभूमि मे घनसारमंजरी-विषयक भविष्यवाणी की योजना की है जिसका उद्देश्य नाटक की प्रणयकथा को सुखान्त बनाना है। इस भविष्यवाणी की सत्यता में विश्वास के कारण ही रानी विभ्रमलेखा घनसारमंजरी (वस्तुतः कर्पूरमंजरी) के साथ राजा चण्डपाल के विवाह की बात स्वीकार करती है, जिससे नाटक की कथा दोनो प्रेमियों के स्थायी मिलन में परिणत होती है।

विद्धशालभजिका : चार अंकों की इस नाटिका मे उज्जयिनी के राजा विद्याधरमल्ल व लाटदेश की राजकुमारी मृगांकावली के प्रेम व विवाह की कथा निबद्ध की गयी है। कर्पूरमजरी के समान मृगांकावली के विषय मे भी दैवज्ञों ने भविष्यवाणी की है कि वह किसी चक्रवर्ती राजा की पत्नी होगी।[1] इसी भविष्यवाणी के आधार पर मन्त्री भागुरायण विद्याधरमल्ल के साथ उसका विवाह कराने की कूट योजना कार्यान्वित करता है।[2] यहां भी नाटककार ने हर्ष की रत्नावली के आधार पर दैवज्ञों के भविष्यज्ञान व उनकी भविष्यवाणियो में तत्कालीन जनों के विश्वास को नाटक की प्रणयकथा का आधार बनाया है।

बालरामायण : दस अंकों का यह महानाटक आकार की दृष्टि से संस्कृत का सबसे बड़ा नाटक कहा जा सकता है। इसकी प्रस्तावना अंक के समान विस्तृत

1. विद्धशालभजिका, 4.16 (श्री भास्कर रामचन्द्र आर्ते द्वारा संपादित संस्करण, पूना, 1886)
2. भागुरायण। (स्वगतम्) फलितं नो नीतिपादपलतया धिया। वही, 4 पृ0 126.

है और प्रत्येक अंक का आकार लगभग नाटिका के बराबर। इसमें सीता स्वयंवर से लेकर रावण-वध तथा राम के राज्याभिषेक तक की रामायण की विस्तृत कथा गुम्फित की गयी है। प्रत्येक अंक का विषय-वस्तु के आधार पर नामकरण किया गया है।[1] वस्तु योजना मे नाटककार नितान्त असफल रहा है। नाटक का कथा-फलक इतना विस्तृत है कि नाटककार को अधिकतर घटनायें सूच्य रूप में निबद्ध करनी पड़ी हैं। वर्णनात्मक प्रसंगों का बाहुल्य है; युद्धवर्णन को लेखक ने लगभग ढाई अंकों तक खीचा है। अन्तिम अंक में लंका से अयोध्या तक की राम की विमानयात्रा का वर्णन श्रव्य काव्य की शैली में किया गया है।

नाटककार ने वस्तु-योजना मे कुछ नयी कल्पनायें भी की है, पर वे पर्याप्त प्रभावशाली नही हो सकी हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण व नवीन कल्पना यह है कि इसमें रावण को प्रारम्भ से ही सीता के कामुक प्रेमी के रूप में उपस्थित किया गया है। द्वितीय अंक में परशुराम व रावण के बीच युद्ध, तृतीय में सीता स्वयंवर नामक गर्भांक का अभिनय, पंचम में सीता की सवाक् पुत्तलिका (यन्त्र जानकी) तथा रावण के विरहोन्माद का वर्णन, छठे में राक्षस मायामय व शूर्पणखा द्वारा दशरथ व कैकेयी का रूप धारण कर राम-लक्ष्मण व सीता का अयोध्या से निर्वासन आदि कतिपय प्रसंग नाटककार की उद्भावनाये हैं। किन्तु वे नितान्त मौलिक नहीं कही जा सकती; उनमें से अनेक पर कालिदास व भवभूति के नाटकों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है।

अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से बालरामायण में बहुत कम नवीनता है। इसमें प्रयुक्त अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व वही हैं जो परम्परा से रामकथा के अंग रहे है। रामायण के सामान प्रस्तुत नाटक की कथा भी मानवीय व अतिमानवीय उभय तत्त्वों से ओतप्रोत है। वस्तुत रामकथा मे इन दोनों तत्त्वों के बीच भेद की रेखा खींचना अतीव दुष्कर है। उसमे अतिमानवीय तत्त्व बाहर से नहीं आते, वे उसी के आन्तरिक व स्वाभाविक अग है। इन तत्त्वो के बिना रामकथा की कल्पना करना ही दुष्कर है, कम से कम राजशेखर के युग में ऐसी कल्पना सम्भव नहीं थी। अतः उसने रामकथा को उसके पारम्परिक पौराणिक रूप में ही ग्रहण किया है, उसे लौकिक व मानवीय बनाने का यत्न नहीं किया। यह भी उल्लेखनीय है कि अति-प्राकृतिक तत्त्वों के प्रयोग मे लेखक अपनी कोई स्वतन्त्र कलात्मक दृष्टि प्रकट नहीं

---

1. ये नाम इस प्रकार हैं—प्रथम अंक का 'प्रतिज्ञापौलस्त्य', द्वितीय का 'परशुरामरावणीय', तृतीय का 'विलक्षलंकेश्वर', चतुर्थ का 'भार्गवभग', पचम का 'उन्मत्तदशानन', षष्ठ का 'निर्दोषदशरथ', सप्तम का 'असमपराक्रम', अष्टम का 'वीरविलास', नवम का 'रावणवध' तथा दशम का 'राघवानन्द'।

कर सका है। उनका प्रयोग अधिकतर परम्परा-निर्वाह के लिए किया गया है। एक-दो स्थलों पर जहां नाटककार ने अपनी मौलिकता दिखाने का यत्न किया है वहां उसे असफलता ही हाथ लगी है।

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्व

बालरामायण की कथावस्तु में प्रयुक्त कतिपय अतिप्राकृत तत्त्व ये हैं—

प्रथम अंक में राक्षसराज रावण अपने मन्त्री प्रहस्त के साथ पुष्पक विमान पर आरूढ़ होकर मिथिला आता है। उसका उद्देश्य शिवजी का धनुष तोड़कर सीता के साथ विवाह करना है। मार्ग में देवता लोग अपने-अपने विमानो पर चढ़कर उसके दर्शनों के लिए आकाश में एकत्र हो जाते हैं।[1]

द्वितीय अंक में रावण व परशुराम का तीव्र व कटु विवाद युद्ध की स्थिति मे पहुंच जाता है। रावण युद्ध के लिए पुष्पक विमान को बुलाकर उस पर आरूढ़ हो जाता है[2]; पर परशुराम पदाति ही युद्ध करते हैं। दोनों ओर से आग्नेयास्त्र, वारणास्त्र, पंचाननास्त्र आदि दिव्य अस्त्र चलाये जाते हैं।[3] आग्नेयास्त्र से सभी ओर आग लग जाती है; वारणास्त्र से सर्वत्र हाथी दिखाई देने लगते हैं और पंचाननास्त्र से सभी ओर सिंह प्रकट होकर हाथियों पर झपट पड़ते है। सुरांगनाएं अपने विमानों पर चढ़कर इस भयंकर युद्ध को देखती हैं।[4] किन्तु यह युद्ध अधिक समय तक नही चलता। भगवान् शिव के द्वारा प्रेषित पौलस्त्य, ऋषीक व भृंगारिटि के हस्तक्षेप से युद्ध बीच में ही रोक दिया जाता है।[5]

तृतीय अंक मे बताया गया है कि भरतमुनि ने 'सीता-स्वयंवर' नामक एक नाटक की रचना की है। पहले यह नाटक इन्द्र की आज्ञा से स्वर्ग में खेला जाता है; अनन्तर भरतमुनि रावण के निमन्त्रण पर लका आकर अप्सराओं से उसका अभिनय कराते है।[6]

राजशेखर ने गर्भांक की यह कल्पना स्पष्टत: विक्रमोर्वशीय से ली है जिसमे भरतमुनि द्वारा अप्सराओ की सहायता से इन्द्र आदि के समक्ष 'लक्ष्मी-स्वयंवर' नामक नाटक प्रस्तुत किया गया है।

---

1. प्रहस्तक :—(सर्वतोऽवलोक्य) कथं दशाननदेवदर्शनाकाङ्क्षिवृन्दारकवृन्दमिदमग्रतः समभ्रमपि गगनाभोगं विभर्ति। बालरामायण, 1 पृ० 28.
(श्री जीवानन्द विद्यासागर द्वारा संपादित, कलकत्ता, 1884)
2. वही, 2 पृ० 94.
3. वही, 2.56, 58, 59.
4. वही, 2.56.
5. वही, 2.60.
6. वही, 3 पृ० 116.

चतुर्थ अंक में इन्द्र के रथ पर आरूढ़ राजा दशरथ आकाश-पथ से मिथिला की ओर आते दिखाये गए हैं। दशरथ जो इन्द्र के मित्र है असुरो से युद्ध के लिए स्वर्ग गए थे, किन्तु इन्द्र को जब अपने गुप्तचरों से विदित हुआ कि परशुराम राम से युद्ध करने के लिए मिथिला जा रहे हैं तो इसका प्रतिकार करने के लिए उन्होंने दशरथ को तत्काल मिथिला की ओर रवाना कर दिया।[1]

असुरों से युद्ध के लिए दशरथ के स्वर्गगमन और इन्द्र के रथ में बैठकर पृथ्वी की ओर लौटने की कल्पना के लिए राजशेखर कालिदास के अभिज्ञानशकुन्तल के ऋणी प्रतीत होते है।

परशुराम राम की शक्ति परखने के लिए उन्हें 'वैष्णव धनुष' देते है। लक्ष्मण राम से कहते हैं कि आप शिव का धनुष तोड़ चुके हैं, अतः यह धनुष मुझे चढ़ाने दीजिए। अनन्तर लक्ष्मण खेल ही खेल में वैष्णव धनुष को तोड़ देते हैं।[2] रामायण के अनुसार वैष्णव धनुष भी राम ने ही चढ़ाया था, लक्ष्मण ने नहीं।[3]

पंचम अंक में एक महत्त्वपूर्ण अतिप्राकृत तत्त्व आया है। शूर्पणखा के अपमान का बदला चुकाने तथा राम को वनवास दिलाने के लिए राक्षस लोग एक चाल चलते हैं। मायामय नामक राक्षस व शूर्पणखा क्रमशः दशरथ व कैकेयी का रूप धारण कर अयोध्या जाते है।[4] शूर्पणखा की एक पारिचारिका पहले से ही कैकेयी की सखी मन्थरा का रूप धारण किए हुए है।[5] वास्तविक दशरथ और कैकेयी उस समय इन्द्र के निमन्त्रण पर असुरों से युद्ध करने के लिए स्वर्ग गये हुए थे। उनकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर ये लोग अयोध्या मे वास्तविक दशरथ व कैकेयी की तरह ही रहने लगते हैं। मन्थरा कैकेयी की ओर से दो वर मांगती है। माया दशरथ पहले तो रोने-धोने का अभिनय करता है, पर फिर दोनों वर स्वीकार कर लेता है। राम पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर सीता व लक्ष्मण के

---

1. वही, 3 पृ० 182–183.
2. वही, 3 पृ० 228–229.
3. वालकांड, 76.21.
4. मायामयः—अथैकदा दयितस्नेहमय्या तया सममसुरानीकविजयाय पूरितसुहृन्मनोरथे दशरथे त्रिविष्टपतिलकभूत पुरुहूत प्रभावति समुपस्थितवति तद्रूपधारिणौ कुवलयदलाभिरामं राम सपदि छलयितुमयोध्यां शूर्पणखाऽहं च प्राप्तवन्तौ . ... ।
   बा. रा. 6 पृ० 340.
5. मायामय :—ततश्च यावत् मायाकैकेयी शूर्पणखा मायादशरथो मायामयश्च यथास्थानमुपविष्टौतावत्कैकेय्याः प्रियसखी मन्थरा नाम तद्रूपधारिणी शूर्पणखापरिचारिकेव तदा मामुपेत्योक्तवती । वही, 6 पृ० 341–342.

साथ वन चले जाते हैं। अपना काम बना देख कर राक्षस लोग वास्तविक दशरथ व कैकेयी के स्वर्ग से लौटने मे पहले ही वहां से खिसक जाते हैं।

रूप-परिवर्तन की उक्त कल्पना के लिए राजशेखर भवभूति के ऋणी कहे जा सकते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है महावीरचरित में शूर्पणखा मन्थरा के शरीर में प्रविष्ट होकर राम, लक्ष्मण व सीता को वनवास दिलाती है।[1] यहां राजशेखर ने परकाय-प्रवेश के अभिप्राय को रूप-परिवर्तन में बदलकर उसे एक नया रूप देने का प्रयास किया है। भवभूति के समान उनका भी उद्देश्य कैकेयी व दशरथ को राम को वनवास देने के कलंक से मुक्त करना तथा राम के चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करना है। यह स्पष्ट है कि भवभूति के समान राजशेखर भी इस कल्पना को असंगत व अविश्वसनीय होने से नही बचा सके है। आश्चर्य की बात यह है कि राम राक्षसों के छल को जानकर भी वन जाने का निश्चय नही त्यागते।

सप्तम अक में राम के शरों से विद्ध समुद्रदेवता का आविर्भाव, नल के हाथ से छुए पाषाणों से सेतु का निर्माण आदि अतिप्राकृत तत्त्व रामायण पर आधारित हैं। इसी अक मे रावण एक दिव्य विमान मे बैठकर राम के युद्ध-शिविर के पास दिखाई देता है[2]; उसके साथ विमान मे सीता भी बैठी हुई है। रावण अपने खड्ग से सीता का सिर काट डालता है। वह कटा हुआ सिर नीचे भूमि पर आकर गिरता है।[3] पहले तो राम, लक्ष्मण आदि उसे वास्तविक सीता का ही मस्तक समझते है, पर बाद मे विदित होता है कि वह यत्र सीता का सिर था।

उक्त प्रसग के लिए राजशेखर किसी सीमा तक रामायण के ऋणी है। युद्धकाड मे इन्द्रजित (मेघनाद, के द्वारा मायासीता के वध का प्रसग आया है। सीता के वध की बात जानकर राम मूच्छित हो जाते है; अन्त मे विभीषण यह रहस्य खोलता है कि इन्द्रजित ने मायामय सीता का ही शिरश्छेद किया था।[4]

मेघनाद व लक्ष्मण के युद्ध मे मेघनाद अपने रथ को लेकर आकाश में उड़ जाता है।[5] लक्ष्मण के साथ हनूमान् भी आकाश मे उड़कर उसका पीछा करते है।[6] इस युद्ध मे दोनों ओर से अनेक दिव्य अस्त्रों का प्रयोग किया जाता है जिनके नाम इस प्रकार है—आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, तामिस्रास्त्र, चान्द्रमसास्त्र, राहवीयास्त्र, वैष्णवास्त्र, पौष्पकेतनास्त्र तथा खाण्डपारशवास्त्र।

---

1. देखिए प्रस्तुत प्रबन्ध, पृ० 302-303.
2. बा० रा०, 7, पृ० 460.
3. वही, 7.72.
4. रामायण, युद्धकांड, 81. 29.32: 83-10; 84.13.
5. बा० रा०, 8.38.
6. वही, 8.39.

उक्त अस्त्रों के आश्चर्यपूर्ण प्रभावों का कवि ने विस्तृत व चित्रमय वर्णन किया है।[1]

नवम अंक मे पुरन्दर दशरथ को आकाश से राम-रावण का युद्ध दिखाते हैं। इस युद्ध में दोनों पक्षों की ओर से दिव्य आयुधों का प्रयोग किया जाता है। राम विश्वामित्र द्वारा प्रदत्त मन्त्रात्मक दिव्य अस्त्रों का उपयोग करते हैं।[2] सर्वप्रथम वे आग्नेयास्त्र चलाते है,[3] जिसके उत्तर में रावण सामीरणास्त्र (वायव्यास्त्र) का प्रयोग करता है। समीरण के संयोग से आग्नेयास्त्र से लगी आग और अधिक भड़क उठती है।[4] राम इसे शांत करने के लिए जलधरास्त्र का प्रयोग करते है।[5] रावण बदले में 'औदन्वत' नामक अस्त्र चलाता है जिससे सभी ओर समुद्र उमड़ पड़ते है व तीनों लोकों को डुबाने लगते है।[6] तब राम आगस्त्यास्त्र का प्रयोग करते है जिससे लाखों अगस्त्य ऋषि प्रकट होकर उन समुद्रों को पी जाते हैं।[7] तब राम अपने भाले से रावण का एक सिर काट डालते है, पर उसकी माया से उसकी जगह नया सिर निकल आता है।[8] इससे क्रुद्ध होकर राम भयकर शरवर्षा करते हुए बार-बार रावण के मस्तकों को काट डालते है[9] पर रावण की माया से उसके स्थान पर नये-नये मस्तक निकल आते है।[10] राम निराश होकर अपने को धिक्कारने लगते हैं। रावण अपनी माया से सहस्रों शरीर धारण कर लेता है।[11] भूमि, आकाश, दिशा, दिक्कोण सर्वत्र रावण दिखाई देने लगते है। उधर राम भी देवों की आशीष से प्रत्येक रावण के मुख को बाणो से बांधकर उतने ही रूपो मे आभासित होते है।[12] अनन्तर वे विश्वामित्र से उपलब्ध 'मायाहर' नामक अस्त्र का प्रयोग करते है जिससे रावण के समस्त मायारूप निरोहित हो जाते है तथा एक

---

1. वही, 8 पृ० 525-558.
2. वही, 9 पृ० 590.
3. वही, 9 पृ० 593-594.
4. वही, 9 पृ० 595.
5. वही, 9 पृ० 597-598.
6. वही, 9 पृ० 600.
7. वही, 9 पृ० 601-602.
8. रामबाणकृत. पातो न यावदवधार्यते।
   क्रियते तावदुद्भेदो मूर्ध्नां रावणमायया ॥ वही, 9.42.
9. वही, 9 पृ० 607.
10. वही, 9.42.
11. वही, 9 पृ० 614.
12. वही, 9.4.

ही रथ पर एक ही रावण शेष रह जाता है।[1] तब रावण भी क्रुद्ध होकर राम के रथ को धुराभाग से पकड़ कर भ्रमरी की तरह घुमा देता है।[2] इस पर राम क्षुरप्र नामक एक दीप्तिशाली अस्त्र द्वारा रावण के दसों मस्तकों को उसके धड़ से अलग कर देते है। रावण की मृत्यु होते ही देवगण पुष्पवृष्टि व दुन्दुभि-वादन द्वारा राम का अभिनन्दन करते हुए अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हैं।[3]

उक्त युद्ध-वर्णन में राजशेखर ने रामायण का आधार ग्रहण करते हुए भी अपनी कवि-कल्पना से उसे अतिरंजित कर दिया है। इस प्रसंग में उसने जिन अद्भुत अस्त्रों का वर्णन किया है उनमें से कुछ का रामायण में भी उल्लेख नही मिलता। रावण के कटे हुए मस्तकों के स्थान पर नए मस्तकों के प्रकट होने की बात रामायण में आयी है[4] किन्तु रावण द्वारा सहस्रो शरीर धारण किए जाने की बात वहां नही मिलती। वह सम्भवतः राजशेखर की उद्भावना है। रामायण के अनुसार राम ने रावण का वध ब्रह्मास्त्र द्वारा किया था,[5] पर नाटक में क्षुरप्र नामक अस्त्र को इसका श्रेय दिया गया है। दिव्यास्त्रों के प्रयोग व उनके आश्चर्यमय प्रभावों के वर्णन द्वारा नाटककार ने युद्ध-प्रसंग को लोमहर्षक व कौतूहल-जनक बनाने का प्रयत्न किया है।

दशम अंक के प्रारम्भ में रावण की मृत्यु पर शोक मनाती हुई लंका को अलका सान्त्वना देती है। नगरियों के मानवीकरण की इस कल्पना के लिए भी राजशेखर भवभूति के ऋणी है। अलका अपनी दिव्य दृष्टि[6] से सीता की अग्नि परीक्षा का अवलोकन व वर्णन करती है। अनन्तर राम व उनका दल पुष्पकविमान से अयोध्या के लिए प्रस्थान करता है। नाटककार ने मार्ग में आये विभिन्न स्थानों— जैसे पर्वतों, नदियों, देशों, नगरों आदि का विस्तृत वर्णन किया है। इस वर्णन पर भवभूति के महावीरचरित और मुरारि के अनर्घराघव का प्रभाव नितान्त स्पष्ट है। अनर्घराघव के समान इसमें भी पुष्पकविमान लंका से अयोध्या की यात्रा मे चन्द्रलोक के समीप तक पहुच जाता है।[7]

---

1. मायाहरशरन्यासादेष नक्तञ्चरेश्वरः।
   एक शेषशिराः सम्प्रत्येकशेषो रथे स्थितः॥ वही, 9.50.
2. वही, 9 पृ० 617.
3. ......कुसुमवर्षपूर्वमनवच्छिन्नमास्फालितो देवताभिर्विजयदुन्दुभिः। वही, 9 पृ० 621.
4. युद्धकांड, 107. 54–57.
5. वही, 108. 2–4.
6. अलका—कुवेरप्रसादादिहस्थैव दिव्येन चक्षुषा पश्यामि। बा० रा० 10, पृ० 631.
7. रामः—मन्ये चन्द्रलोकसमीपे वर्तामहे। वही, 10, पृ० 659.

अतिप्राकृत पात्र

बालरामायण के अधिकांश पात्र रामायण से गृहीत हैं। जिस प्रकार इस इस नाटक के वस्तुविधान में प्रत्यक्षगोचरता की कमी है उसी प्रकार पात्रों के चित्रण में भी। अधिकांश पात्रों की दूसरों द्वारा चर्चा की गई है, उनके चरित्र को प्रत्यक्ष व सजीव रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया। अतः उनका व्यक्तित्व हमारे समक्ष स्पष्टतया नहीं उभर पाता और वे हमें प्रभावित नहीं करते।

रामायण के समान इस नाटक के पात्र भी लौकिक व अलौकिक तत्त्वों का सम्मिश्रण प्रस्तुत करते है। उनके व्यक्तित्व–निर्माण में पौराणिक कल्पनाओं का उपयोग किया गया है, जिससे वे अयथार्थ हो गये हैं। राजशेखर का मानव-चरित्र का ज्ञान अतीव परिमित है अतः उनके पात्र पौराणिक कल्पनाओं की निर्जीव छाया मूर्तियां प्रतीत होते हैं, सजीव व्यक्तित्व वाले प्राणी नहीं। चरित्र चित्रण में सन्तुलित दृष्टि का भी अभाव है। नायक राम की अपेक्षा प्रतिनायक रावण को, चाहे या अनचाहे, अधिक महत्त्व दिया गया है। सीता का एक दो स्थानों पर उल्लेख मात्र किया गया है।

नायक राम को नाटककार ने मानव व दिव्य दोनों रूपों में चित्रित किया है। शास्त्रीय दृष्टि से वे दिव्यादिव्य धीरोदात्त नायक है। एक ओर वे पूर्ण मानव है तो दूसरी ओर ईश्वर के अवतार।[1] उनके लोकोत्तर चरित में उनके ईश्वरत्व की झलक दिखाई देती है। ताड़का, सुबाहु, कुम्भकर्ण, रावण आदि दुर्दान्त राक्षसों का वध, शिवधनुष का भंजन, समुद्र का निग्रह आदि उनके लोकोत्तर कार्य उनके व्यक्तित्व को अतिमानवीय पीठिका पर स्थापित करने वाले हैं। राम के समान रावण के व्यक्तित्व को भी नाटककार ने दो रूपों में अंकित किया है। एक ओर वह पौराणिक कल्पनाओं से परिवेष्टित है, जैसे उसके दस सिर और बीस भुजाएं हैं[2]; वह तीनों लोकों का अधिपति व विश्वविजयी है[3] सब देवता उसके अधीन हैं[4] व उसकी सेवा में उपस्थित रहते हैं।[5] एक बार उसने शिव को प्रसन्न करने के लिए अपने बीसों मस्तक काटकर उन्हें अर्पित कर दिए थे[6] तथा खेल ही खेल में कैलास पर्वत को उठा लिया था।[7] रावण माया-कुशल भी है, राम के साथ युद्ध में वह

---

1. समुद्र—यथाह सप्तमो वैकुण्ठावतारः, वही 7 पृ० 430.
2. वही, 1 पृ0 38.
3. वही, 1 पृ0 41.
4. वही, 1.45.
5. वही, 1.32.
6. वही, 2.14, 8.1, 29, 75.
7. वही, 1.44.

माया का आश्रय लेकर सहस्रों रूप धारण कर लेता है। उसके कटे हुए मस्तकों के स्थान पर नये मस्तक निकल आते हैं; दिव्य अस्त्रों के प्रयोग में वह पूर्णतया निष्णात है। दूसरी ओर नाटककार ने रावण को एक दुर्बल-हृदय मानव का व्यक्तित्व भी प्रदान किया है। सीता के प्रति उसकी उत्कट आसक्ति नैतिक दृष्टि से अनुचित होते हुए भी उसके अन्तर्निहित मानवत्व को रेखांकित करती है। रावण के राक्षसी व्यक्तित्व के मानवीकरण का नाटककार का यह प्रयास सराहनीय होते हुए भी अतिरंजित हो गया है। दूसरे, रावण के व्यक्तित्व के उक्त दोनों रूपों में नाटककार उचित सामंजस्य स्थापित करने में भी असमर्थ रहा है। नाटक के अन्य राक्षस पात्रो मे मायामय व शूर्पणखा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जो रूप-परिवर्तन या राक्षसी माया द्वारा राम के साथ प्रवंचना करते है। परशुराम, विश्वामित्र, जनक, नारद, भृंगारिटि, दशरथ आदि पात्रों को नाटककार ने उनसे सम्बन्धित पौराणिक कथाओं की पृष्ठभूमि के साथ प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए दशरथ इन्द्र के मित्र बताये गये है जो शाकुन्तल के दुष्यन्त के समान असुरों से युद्ध करने के लिए इन्द्र के निमन्त्रण पर स्वर्ग जाते है। चतुर्थ अंक में उन्हें मातलि द्वारा संचालित इन्द्र के रथ पर आरूढ होकर स्वर्ग से पृथ्वी की ओर आते हुए दिखाया गया है। नवम अंक मे राजशेखर ने पुरन्दर, दशरथ व एक चारण के मुख से रामरावण-युद्ध का वर्णन कराया है। तृतीय अंक के विष्कभक में चित्रशिखण्डक व सुवेगा तथा षष्ठ अक में रत्नशिखण्डक नामक गृद्ध पात्रों का तथा दशम अंक में अलका व लंका नगरियों का मानवीकरण किया गया है। कुभकर्ण, मेघनाद, शूर्पणखा, ताड़का, जटायु आदि पात्र नाटक की दृश्य कथा मे अवतीर्ण नही होते, केवल उनके कार्यकलापों की सूचना दी गयी है। नाटक मे अधिकाश पात्रों का चरित्र-चित्रण रूढिग्रस्त, स्थूल एवं अप्रत्यक्ष रूप में हुआ है।

अतिप्राकृत तत्त्व और रस

बाल रामायण मे प्रयुक्त अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व अद्भुत रस के व्यंजक हैं। इस दृष्टि से द्वितीय अंक में रावण व परशुराम का दिव्यास्त्रों से युद्ध, षष्ठ अंक में राक्षसों द्वारा रूप-परिवर्तन तथा अष्टम व नवम अंकों में युद्ध-वर्णन के अन्तर्गत दिव्यास्त्रों के प्रयोग के स्थल विशेष रूप से उल्लेखनीय है। महावीरचरित के समान इस नाटक का भी प्रधान रस वीर है तथा अद्भुत रस का उसके अंग के रूप मे विधान किया गया है।

बालभारत : इसका अन्य नाम 'प्रचण्डपाण्डव' है। इसके केवल दो ही अंक उपलब्ध हुए हैं। प्रथम अंक में द्रौपदी के स्वयंवर मे उपस्थित विभिन्न राजाओं का वर्णन तथा अर्जुन द्वारा राधावेध का तथा द्वितीय अंक में द्यूतक्रीड़ा में युधिष्ठिर की पराजय

व कौरवों के हाथों द्रौपदी के अपमान का चित्रण किया गया है । राजशेखर का उद्देश्य संभवतः महाभारत की सम्पूर्ण कथा को इसमें उपस्थित करना रहा होगा, जैसे कि रामायण की कथा को उन्होने बालरामायण में निबद्ध किया है । यदि इस नाटक को राजशेखर पूरा कर पाते तो आकार की दृष्टि से यह बालरामायण के समान ही होता । इस नाटक के उपलब्ध दो अंकों में कोई उल्लेखनीय अतिप्राकृतिक तत्त्व नहीं मिलता ।

निष्कर्ष

राजशेखर ने अपने नाटकों में जिन अतिप्राकृतिक तत्त्वों की योजना की है उनमें तांत्रिक सिद्धि, दोहद द्वारा वृक्षों में पुष्पों का विकास, भविष्यज्ञान व भविष्य-वाणी, विमानयात्रा, राक्षसों द्वारा रूप-परिवर्तन तथा लोकोत्तर दिव्य अस्त्रों का प्रयोग आदि प्रमुख हैं । इन तत्त्वो के विनियोग में नाटककार किसी नवीन दृष्टि का परिचय देने में असमर्थ रहा है । इनमें से कुछ तत्कालीन लोकविश्वासों की अभि-व्यक्तियां हैं और कुछ में पौराणिक कल्पनाओं को अतिरंजित किया गया है । बाल-रामायण में प्रयुक्त सबसे महत्त्वपूर्ण अतिप्राकृतिक तत्त्व मायामय व शूर्पणखा द्वारा दशरथ व कैकेयी का रूप ग्रहण करना है । यद्यपि रामायण में राक्षसों के सन्दर्भ में रूप-परिवर्तन के अनेक प्रसंग आये है, पर नाटक में राम-वनवास के प्रसंग में रूप-परिवर्तन की यह कल्पना नितान्त अनर्गल प्रतीत होती है । रामायण की मूल कथा में यह प्रसंग मानवचरित्र का प्रभावशाली दृश्य अंकित करता है, किन्तु नाटककार ने उसे जो नया रूप दिया है उससे उक्त मानवीय पृष्ठभूमि विलुप्त हो गयी है । राक्षसों के छल के प्रति राम के सज्ञान आत्म-समर्पण का कोई औचित्य नहीं बताया गया है । परिणामतः सारा ही प्रसंग एक अनगढ़ व असंगत कल्पना बन कर रह गया है । द्वितीय, अष्टम व नवम अंकों में वर्णित दिव्यास्त्रों के प्रयोग में भी नाटककार का उद्देश्य युद्धवर्णन को चमत्कारपूर्ण व कौतूहल-वर्धक बनाना है । संक्षेप मे हम कह सकते है कि राजशेखर अपने नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग मे किसी वैशिष्ट्य का आधान नहीं कर सके है । अधिकांश स्थलों पर उनका नाटकीय वृत्त व चरित्रों के साथ कोई सीधा व निकट का सम्बन्ध नही है ।

---

१० कतिपय अन्य नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व

पिछले अध्यायों में हमने अश्वघोष से लेकर राजशेखर तक प्रमुख नाटककारों की कृतियों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों का अध्ययन किया। संस्कृत में मौलिक व उत्कृष्ट नाटकों की परम्परा वस्तुतः भवभूति तक आकर समाप्तप्राय हो गई थी। वैसे तो भवभूति की कृतियों मे भी ह्रासकाल की कुछ प्रवृत्तियां प्रकट होने लगी थीं पर उनकी महती काव्यप्रतिभा के समक्ष वे अभिभूत ही रहीं। किन्तु उनके पश्चात् मुरारि व राजशेखर की कृतियों में संस्कृत नाटक की पूर्वोक्त महती परम्परा पूर्णतया ह्रासग्रस्त व विकृत हो गई। उनके नाटकों को सही अर्थ में नाटक कहना उचित नहीं है। वस्तुतः वे दृश्यकाव्य की अपेक्षा श्रव्यकाव्य के अधिक निकट हैं। उन्हें नाटक कहा जाता है तो केवल इसीलिए कि उन्हें नाटक के बाह्य रूप–आकार में प्रस्तुत किया गया है।

मुरारि व राजशेखर के पश्चात् भी संस्कृत में नाटक लिखने की परम्परा जारी रही। लेकिन उसमें मौलिकता का प्रायः अभाव है। नाटक की विषयवस्तु या उसके प्रस्तुतीकरण की पद्धति में कुछ नवीनता हो सकती है, पर उन पर नाटक की पूर्व परम्परा की इतनी गहरी छाप है कि उन्हें मौलिकता का श्रेय नहीं दिया जा सकता। उनमें परम्परा का निर्वाह, अनुकरण, आवृत्ति या पिष्टपेषण ही अधिक है। इन कृतियों में अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग में भी यही बात देखने मे आती है। इनमे ये तत्त्व अधिकतर रूढिबद्ध रूप में प्रयुक्त हुए है। कुछ नाटककारों ने नई कल्पनाएं की हैं, पर उनसे उनकी कृतियों का वास्तविक सौन्दर्य बढ़ा हो, यह सन्दिग्ध ही है। प्रस्तुत अध्याय में हम प्रमुख माने जाने वाले ऐसे कुछ नाटकों में आये अतिप्राकृत तत्त्वों का संक्षेप में विवेचन करेंगे।

आश्चर्यचूडामणि

रामायण की कथा पर आधारित सात अंकों का यह नाटक दक्षिणभारत में

प्रणीत संस्कृत का सबसे प्राचीन नाटक कहा गया है,[1] किन्तु डा० पुसालकर के विचार में यह मान्यता ठीक नहीं है ।[2] इसके रचयिता शक्तिभद्र के विषय में इतना ही विदित है कि वे दाक्षिणात्य थे । प्रस्तावना मे यह नाटक दक्षिणापथ में रचित तथा अनेक बार अभिनीत बताया गया है जिससे इसकी लोकप्रियता सूचित होती है ।[3] प्रस्तावना में ही शक्तिभद्र को 'उन्मादवासवदत्त' आदि अन्यान्य काव्यों का भी प्रणेता कहा गया है[4] पर आश्चर्यचूडामणि के अतिरिक्त उनकी कोई अन्य रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हुई । श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री ने भास के नाम से प्रसिद्ध 'अभिषेक' व 'प्रतिमा' नाटकों के शक्तिभद्र-रचित होने की कल्पना की है । उनका यह भी अनुमान है कि 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' संभवतः शक्तिभद्र के 'उन्मादवासवदत्त' का ही अपर नाम है ।[5] किन्तु श्री शास्त्री के ये अनुमान कल्पनायें मात्र है, वे किन्ही दृढ़ प्रमाणों पर आधारित नहीं है । भास के नाटकों व आश्चर्यचूडामणि में कुछ समानताएं अवश्य है, पर इनमें से कुछ तो दक्षिण भारत मे रचित संस्कृत नाटकों की सामान्य विशेषताएं है और कुछ संभवतः भास के प्रभाव की देन है । शक्तिभद्र भास, कालिदास व भवभूति की नाट्यकृतियों से सुपरिचित प्रतीत होते है जिनकी प्रतिध्वनियां उनके नाटक में अनेक स्थलों पर सुनी जा सकती है । शक्तिभद्र का स्थितिकाल भवभूति (७०० ई०) तथा कुलशेखर वर्मा (१०वीं शती ई०) के मध्यवर्ती काल अर्थात् लगभग नवम शताब्दी मे माना गया है । केरल में प्रचलित एक परम्परा के अनुसार शक्तिभद्र शंकराचार्य के शिष्य थे ।[6] इस परम्परा से भी उनके पूर्वोक्त स्थितिकाल का समर्थन होता है ।

आश्चर्यचूडामणि में रामायण के अरण्य-काण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक की कुछ चुनी हुई घटनाओं को नाटकीय रूप दिया गया है । प्रथम दो अंकों में राम व लक्ष्मण के प्रति शूर्पणखा की प्रणय-याचना व लक्ष्मण द्वारा उसका विरूपीकरण, तृतीय व चतुर्थ अंकों में रावण द्वारा राम का माया-रूप धारण कर सीता का हरण, पंचम अंक मे अशोकवनिका में स्थित सीता के प्रति रावण का प्रणय निवेदन तथा सीता द्वारा उसका तिरस्कार, षष्ठ अंक में लका में हनूमान् का दौत्य तथा सप्तम अंक में सीता की अग्निपरीक्षा आदि प्रसंग निबद्ध है । शूर्पणखा सम्बन्धी प्रारम्भिक

---

1. दे0 आश्चर्यचूडामणि की श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री द्वारा लिखित भूमिका, पृ0 9.
2. दे0 'भास ए स्टडी', पृ0 52-53.
3. आर्य दक्षिणपथादागतमाश्चर्यचूडामणिं नाम नाटकमभिनयाम्रेडितसौभाग्यम् .....
   आ0 चू0, 1 पृ0 4 (चौखम्बा विद्याभवन, 1966)
4. वही, पृ0 6.
5. दे0 पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ0 20.
6. वही, पृ0 8.

वृत्त रामरावण-विद्वेष की पृष्ठभूमि के रूप में उपन्यस्त है; सीताहरण तथा परवर्ती घटनाक्रम उसी का क्रमिक विकास है। वस्तुयोजना मे नाटककार का पर्याप्त प्रावीण्य प्रकट हुआ है। शूर्पणखा के अपमान की पृष्ठभूमि मे सीताहरण की घटना को केन्द्र मे रखते हुए नाटक के अंत में राम व सीता का पुर्नमिलन कराया गया है। रामायण की पारम्परिक कथा का अनुगमन करते हुए भी लेखक ने अपनी ओर से कुछ नयी कल्पनाओं का समावेश किया है। इन नयी कल्पनाओं में प्रत्यभिज्ञान के साधन के रूप में आश्चर्यभूत चूडामणि व अंगुलीयक की योजना सबसे रोचक है। इसी विशिष्ट कल्पना के आधार पर लेखक ने नाटक का नामकरण किया है।

आश्चर्यचूडामणि अनर्घराघव व बालरामायण से भिन्न परंपरा का नाटक प्रतीत होता है। इसमें मुरारि व राजशेखर की नाट्यशैली की कृत्रिमताओं व क्लिष्ट कल्पनाओं का प्रायः अभाव है। इसके कथानक में गतिशीलता है; अधिकतर घटनाएं दृश्य रूप में उपस्थित की गयी है। नाटककार ने जो नयी कल्पनाएं की हैं उनसे कथानक में पर्याप्त रोचकता आई है। सीमित आकार व सरल शैली में प्रणीत होने के कारण यह अभिनय की दृष्टि से भी सफल कहा जा सकता है। इस तथ्य का प्रस्तावना से भी समर्थन होता है जिसमें कहा गया है कि इस नाटक का दक्षिणापथ में अनेक बार अभिनय किया गया था। नाटकीय कथा में अद्भुत अंगुलीयक व चूडामणि को जो महत्त्वपूर्ण भूमिका दी गयी है उससे प्रतीत होता है कि नाटककार इसमे प्रधानतया अद्भुत रस की व्यंजना करना चाहता है। उसने रामायण की मूल कथा मे जो परिवर्तन किये है वे इसी लक्ष्य को दृष्टि मे रख कर किये गये है।

आश्चर्यचूडामणि मे घटना और पात्र दोनों रूपो मे अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग हुआ है। इन तत्त्वों की दृष्टि से तृतीय व चतुर्थ अंक अधिक महत्त्वपूर्ण है। अंतिम अंक में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व प्रायः रामायण पर आधारित है।

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

राक्षसी माया : प्रथम चार अंको में नाटककार ने राक्षसी माया का अतिकौतूहलमय चित्रण किया है—विशेष रूप से तृतीय अंक में। नाटक के राक्षस पात्र रूप-परिवर्तन या माया मे निष्णात है।

प्रथम अंक में राक्षसी शूर्पणखा व राम लक्ष्मण को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए ललित व सुकुमार ललना का रूप धारण कर उनके समक्ष उपस्थित होती है,[1] पर जब वे उसकी प्रणय–याचना को ठुकरा देते है तब वह क्षण भर में अपना

1. आश्चर्यचूडामणि, 1.6.

क्रूर व भयावह राक्षसी रूप ग्रहण कर लेती है ।[1] वह लक्ष्मण को मारने के लिए उसे बांहों में लेकर आकाश में उड़ जाती है[2] तथा क्षणभर में राम व सीता की दृष्टि से ओझल हो जाती है ।[3] लक्ष्मण आकाश में ही अपने खड्ग से उसके नाक-कान काट लेते हैं और वह चीत्कार करती हुई भूमि पर आकर गिरती है ।

उक्त प्रसंग में शूर्पणखा के रूपपरिवर्तन की कल्पना तो रामायण[4] से ली गई है, पर लक्ष्मण को लेकर उसके आकाश में उड़ने तथा अदृश्य होने की बात शक्तिभद्र की स्वतंत्र उद्भावना है ।

तृतीय अंक में नाटककार ने राक्षसी माया की कल्पना को पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया है । इसमें अनेक राक्षस पात्र रूपपरिवर्तन द्वारा सीता, राम व लक्ष्मण को प्रवंचित करने में सफल होते हैं । सारा अंक लेखक के वस्तु-रचना के चातुर्य का परिचायक है । इसमें कुछ समय के लिए वास्तव और भ्रम का भेद लुप्त–सा हो जाता है । वास्तविकता भ्रम बन कर प्रकट होती है और भ्रम वास्तविकता में बदल जाता है ।

प्रस्तुत अंक में मारीच का माया-मृग में परिवर्तन तो रामायण पर आधारित है, पर रावण का राम के रूप में, शूर्पणखा का सीता के रूप में, सूत का लक्ष्मण के रूप में तथा राम के शर से विद्ध मारीच का राम के ही रूप में परिवर्तन नाटककार की अपनी सूझ प्रतीत होती है । रामायण में भी रावण के रूप-परिवर्तन की बात आई है, पर भिन्न प्रकार से । वहां रावण परिव्राजक का रूप धारण कर सीता के पास आता है और कुछ बातचीत के बाद अपना वास्तविक रूप दिखा कर उसका बलपूर्वक अपहरण करता है । किन्तु नाटक में बलप्रयोग की आवश्यकता ही नहीं होती; रावण राम का तथा उसका सूत लक्ष्मण का रूप धारण कर भोली सीता को अनायास रथ में बैठा कर ले जाते हैं ।

यद्यपि राक्षसो की मायाविनी प्रवृति व रूपपरिवर्तन का अभिप्राय लेखक ने रामायण[5] से लिया है, पर प्रस्तुत प्रसंग में इसे विकसित व अतिरंजित करने का श्रेय उसी को है । इस विषय में संभव है उसे भवभूति के महावीरचरित से

---

1. भीमदंष्ट्रमरुणोर्ध्वमूर्धजं शैलवर्ष्म जलदोदरच्छवि ।
   ताटकां हतवतस्ततोऽपि मे रूपमेतदवशं भयावहम् ॥ वही, 2.5.
2. तूर्णमुत्पतति वर्त्म वामुचां राक्षसीभुजगृहीतलक्ष्मणा ॥ वही, 2.10.
3. राक्षसी लक्ष्मणं हृत्वा तिरोऽभूत् पश्यतो मम ॥ वही, 2.11
4. अरण्यकांड, 17. 9–11; 18. 23–24.
5. रामायण में माया द्वारा रूपपरिवर्तन के कई प्रसंग आये हैं, जैसे मारीच द्वारा मृग का तथा शुक-सारण द्वारा वानरों का रूप धारण किया गया है।

प्रेरणा मिली हो जिसमें शूर्पणखा मन्थरा का रूप धारण कर दशरथ व राम के साथ प्रवंचना करती है ।[1] इसमें सन्देह नहीं कि रूप-परिवर्तन की बहुविध चामत्कारिक कल्पनाओं से यह अंक अतीव रोचक बन गया है। प्रेक्षक जैसे एक मायालोक मे पहुंच जाता है जहां उसे एक साथ दो राम और दो सीताओं का दर्शन होता है। सारे अंक में प्रत्यभिज्ञान का गंभीर संकट छाया हुआ है। पात्रों को इस सर्वव्यापी प्रवंचना से यदि कोई बचा सकता है तो आश्चर्यमय दो रत्न-अंगूठी और चूडामणि जिन्हें ऋषियों ने ऐसे ही संकटकाल के लिए उन्हें प्रदान किया है।

अद्भुत अगुलीयक व चूडामणि: राक्षसी माया का निरावरण—तृतीय अंक के प्रारंभ में लक्ष्मण राम को ऋषियों द्वारा प्रदत्त तीन अद्भुत रत्न लाकर देते है। ये रत्न हैं—कवच, अंगूठी और चूडामणि। ऋषियों के उपहार होने के कारण ये वस्तुएं अद्भुत प्रभाव से युक्त हैं। इनमें से कवच लक्ष्मण के लिए है और अंगुलीयक व चूडामणि क्रमशः राम व सीता के लिए। अंगुलीयक व चूडामणि की यह विशेषता है कि उन्हें धारण करने वाले के शरीर को छूते ही राक्षसों की माया तत्काल निवृत्त हो जाती है जिससे वे अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो जाते हैं।[2] राम चूडामणि को सीता के शिखापाश में बांधकर अंगूठी को अपनी अंगुलि में पहन लेते हैं।

उक्त दोनों वस्तुओं का क्रियात्मक प्रभाव लेखक ने तृतीय व चतुर्थ अंक मे दर्शाया है। राम सीतारूपधारिणी शूर्पणखा के आंसू पोंछने के लिए ज्योंही उसे छूते हैं, उसका माया-रूप तिरोहित हो जाता है और वह अपने मूल राक्षसी रूप में प्रकट हो जाती है।[3] इसी प्रकार चतुर्थ अंक में कामुक रावण ज्योंही सीता के केशों को छूता है उसका मायात्मक राम-रूप लुप्त हो जाता है और वह भी अपने वास्तविक रूप में दिखाई देने लगता है।[4] यदि ये अंगुलीयक व चूडामणि न होते तो जो अनर्थ होता उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

---

1. दे0 चतुर्थ अंक, पृ0 118 व 149-152.
2. लक्ष्मण:— . .. अपि च तैर्दत्तमार्याभ्यामलंकरणीयम्—

   वहामि मायापिशुन रिपूणा
   शरीरयोगे सति धार्यमाणम्।
   आश्चर्यभूत मणिमंशुमाला-
   गूढं सरत्न च करांगुलीयम्।। आ0 चू0 3.8.

   — — —

   मणिमंशुकेसरितमंगुलीयकं
   कलधौतसिद्धमपि धारयन्ति ये।
   समवाप्य तामवशमाशु मायिनः
   प्रकृतिं व्रजन्ति सहसा क्षपाचराः ।। वहीं, 3.10.
3. वही, 3.39.
4. वही, 4.5.

षष्ठ अंक में हनूमान् का दौत्य तथा राम व सीता के बीच अभिज्ञान के रूप में अंगूठी व चूडामणि का आदान-प्रदान रामायण[1] पर आधारित है। सप्तम अंक के अन्त में राम सीता को पुष्पक विमान में बैठाते समय इस प्रकार आश्वस्त करते हैं—"हे चन्द्रमुखि ! मैं वास्तविक राम ही हूं, मायारूपधारी रावण नहीं। मेरे रथ (विमान) में तुम्हें मेरा भ्राता (लक्ष्मण) ही बैठा रहा है, रावण का सूत नहीं। अधिक क्या कहूं। कमलपत्र की कांति का हरण करने वाली उंगली मे तुमने इस भास्वर अलंकार (अंगूठी) को धारण कर ही रखा है।"[2] इसी प्रसग मे सीता व राम के निम्न कथन प्रस्तुत नाटक मे अद्भुत चूडामणि व अंगुलीयक की महत्त्वपूर्ण भूमिका का पुनः स्मरण कराते हैं—

(क) सीता—एषोऽञ्जलिः आश्चर्यरत्नयोः। अन्यथा कथमिदानीमार्यपुत्र राक्षस च परमार्थतो जानामि (पृ० २६०)

(ख) सीता—इदानीमार्यपुत्रहस्तस्पर्शमुपलभ्य प्रमाणं भवत्यद्भुतांगुलीयकम्। राक्षसमायातो मोचितमात्मानमवगच्छामि। (पृ० २६४)

(ग) राम—पूर्वं राक्षसीमायाविप्रलब्धस्य मे देव्याः प्रत्ययकारणमासीदाश्चर्यचूडामणिः। (पृ० २६४)

अभिज्ञान के रूप में अंगूठी व चूडामणि का उल्लेख रामायण में भी आया है, यह हम ऊपर बता चुके है। कालिदास ने शाकुन्तल व विक्रमोर्वशीय में क्रमशः अंगूठी व मणि (संगमनीय मणि) को स्मरण, प्रत्यभिज्ञान व मूलरूपग्रहण के साधन के रूप मे प्रयुक्त किया है। शक्तिभद्र ने संभवतः वाल्मीकि और कालिदास दोनों से प्रेरणा लेकर उक्त आश्चर्यरत्नों की योजना की है। यह स्पष्ट है कि वह इन्हें कथा-वस्तु का आन्तरिक अंग नही बना सका है। इनकी प्राप्ति आकस्मिक रूप से हुई है तथा नाटक की मुख्य कथा के विकास मे भी इनकी भूमिका विशेष महत्त्व नहीं रखती। इसकी एकमात्र उपयोगिता प्रत्यभिज्ञान के साधन के रूप में है। इनके कारण केवल कौतूहल की सृष्टि होती है, नाटक को कोई कलात्मक उत्कर्ष प्राप्त नही होता।

अनसूया का वरदान :—एक विशेष अवसर पर राम को चारित्रिक दोष से बचाने के लिए नाटककार ने अत्रि ऋषि की पत्नी अनसूया के एक विशेष वर की कल्पना की है। अनसूया ने सीता को अपने आश्रम से विदा करते समय यह वर

---

1. सुन्दरकांड, 36. 2–3; 38.66.
2. अहं सत्यं रामः शशिमुखि ! न मायी दशमुखो
रथं भ्राता मे त्वां नयति न सूतो नृपसुते।
कृतं वाचा भूयस्सरसिजपलाशच्छविमुषा
करांगुल्या धत्से ननु मकिरण मण्ड[illegible]यम्॥ आ० चू०, 7.32.

दिया था कि तुम्हारे शरीर मे संलग्न प्रत्येक वस्तु स्वामी की दृष्टि मे अलंकार हो जायगी।[1] इस वरदान के कारण सीता वन में भी वैसी ही अलंकृत दीखती थी जैसी अयोध्या में।[2] राम को अनसूया के वरदान का पता नहीं था, इसलिए सीता का वन में भी अलंकारयुक्त रूप राम के लिए आश्चर्य का विषय था।

रामायण के अनुसार[3] अनसूया ने सीता को दिव्य आभूषण, वस्त्र व माल्य आदि उपहार दिये थे, न कि वरदान। नाटककार ने एक विशेष उद्देश्य से अनसूया के वरदान तथा उसके कारण सीता की अलंकारयुक्त प्रतीति का उल्लेख किया है। यह उद्देश्य सप्तम अंक मे तव स्पष्ट होता है जब रावण-वध के अनन्तर सीता राम के समक्ष लायी जाती है। रामायण के राम इस अवसर पर स्वभावतः सीता के चरित्र में सन्देह कर उसे ग्रहण करने से मना कर देते है।[4] राम के सन्देह का कारण है सीता का परगृहवास। वाल्मीकि ने यहां राम का मानवोचित चरित्र अंकित किया है। किन्तु नाटककार संभवतः यह उचित नहीं समझता कि राम केवल परगृहवास के कारण सीता के चरित्र पर सन्देह करें। अतः उसने राम के मन मे सीता के प्रति सन्देह जाग्रत करने के लिए एक कारणान्तर की कल्पना की है। विरहिणी सीता को लंका में हरिचन्दन, कुसुम व अरुणवस्त्र से विभूपित[5] देखकर राम को भ्रम हो जाता है कि वह पातिव्रत से च्युत हो चुकी है।[6] लक्ष्मण, हनूमान् व विभीषण जो भी सीता को उस रूप में देखता है उसे यही सन्देह होता है।[7] अत सीता अपने पवित्र चरित्र को प्रमाणित करने के लिए स्वयं ही अग्निपरीक्षा का प्रस्ताव रखती है[8] जिसे राम विना आपत्ति के स्वीकार कर लेते हैं।

यहां लेखक ने सीता की अग्निपरीक्षा के बीज के रूप में जो नूतन कल्पना की है वह बहुत संगत नहीं है। इस कल्पना के बावजूद राम तथाकथित दोप से मुक्त नहीं होते। वस्तुत. इस अवसर पर राम का आचरण किसी चारित्रिक दोष का द्योतक नहीं है, अपितु परिस्थितिविशेष में एक पुरुष की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। अतः नाटककार की इस कल्पना की हम प्रशंसा नहीं कर सकते।

---

1. सीता—(आत्मगतम्) किन्तु खलु न जानात्यार्यपुत्रः ननु महर्षिपत्न्या अनसूयया आश्रमे मा विसर्जयन्त्या मे दत्त वर तव भर्तुर्दर्शनपथे सर्वं मण्डनं भविष्यतीति। वही, 2 पृ० 45.
2. वही, 2.4.
3. अरण्यकांड, 118. 18-19.
4. युद्धकांड, 115. 18–20,24.
5. आ० चू० 7.16.
6. वही, 7.17.
7. वही, 7.18.
8. वही, 7 पृ० 241.

सप्तम अंक में निर्वहण संधि के अन्तर्गत नाटककार ने अनेक अद्भुत तत्त्वों का विनियोग किया है। सत्यक्रिया के लिए सीता का अग्निप्रवेश,[1] दीप्त चिता मे से सीता-सहित अग्निदेव का आविर्भाव,[2] दिव्य गन्धर्वों द्वारा राम की विष्णु रूप में स्तुति,[3] देवताओं का सन्देश लेकर नारद मुनि का आकाश से अवतरण,[4] तथा देवों व पितरों का आगमन[5] आदि अनेक अतिप्राकृत तत्त्वों से यह अंक परिपूर्ण है। उक्त प्रसग में देवों की अवतारणा सीता की चारित्रिक विशुद्धता के दैवी अनुमोदन की सूचक है। इस अंक में नारद की उपस्थिति नाटककार की अपनी सूझ है जिसकी प्रेरणा उसे विक्रमोर्वशीय, बालचरित व अविमारक जैसे नाटकों से मिली होगी जिनके अन्तिम दृश्यों में नारद की अवतारणा हुई है। प्रस्तुत नाटक में नारद की भूमिका उपसंहर्ता मात्र की है; वह नाटक की कथा का सार्थक पात्र नहीं है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि रामायण से गृहीत अतिप्राकृत तत्त्वों के रूढ व अनाटकीय प्रयोग के कारण नाटक का यह अन्तिम भाग अपेक्षित प्रभाव नहीं डाल पाता।

अतिप्राकृत पात्र

आश्चर्यचूडामणि में मानव व अतिमानव दोनों प्रकार के पात्र आये हैं। अतिमानव पात्रों में अधिकतर राक्षस जाति के है। राम व सीता को लेखक ने मानवीय धरातल पर चित्रित करने का प्रयास किया है। कुछ स्थलों पर कतिपय पात्रों ने उनके ईश्वरत्व का स्पष्ट शब्दों में कथन किया है[6] तथापि राम स्वयं अपने किसी व्यवहार या कार्य से लोकोत्तर प्रतीत नहीं होते। शास्त्रीय दृष्टि से हम चाहे तो उन्हें दिव्यादिव्य कोटि मे रख सकते है। अन्तिम अंक में सीता की अग्निपरीक्षा उसके दैवी रूप की ओर इंगित करती है, पर नाटककार का ध्येय उसे मानवचरित्र मे ही ढालना है। राम और सीता का राक्षसी माया से अभिभव उनके मानवत्व का स्पष्ट प्रमाण है।

रावण, शूर्पणखा, मारीच, सूत आदि पात्र मुख्यत: मायादक्ष राक्षसो के रूप में हमारे सामने आते हैं। माया का आवरण हटते ही इनकी राक्षसी प्रकृति अनावृत

---

1. वही, 7 पृ0 243.
2. वही, 7.19
3. वही, 7.22.
4. वही, 7.23
5. वही, 7.24–26.
6. रामाभिधस्य परस्य पुंस: । 3.7.
   जयतु कारणमानुषो रावणान्तक: । वही, 7 पृ0 248.

हो जाती है। उनका यह राक्षसी रूप इतना विकृत व भयावह है कि एक बार तो राम भी उससे भय का अनुभव करते है।[1] दंभ, अहंकार, कामुकता, छल-छद्म आदि राक्षसी दुर्गुण इनके चरित्र के अभिन्न अंग है। रावण के देवविरोधी पौराणिक व्यक्तित्व की ओर भी संकेत किया गया है।[2]

सप्तम अंक के विष्कंभक मे नाटककार ने विद्याधर व विद्याधरी के वार्तालाप द्वारा रावणवध की सूचना दी है। विद्याधरयुगल अपने दिव्य स्वभाव के अनुसार आकाश में उड़ता हुआ इन्द्र की सेवा में उपस्थित होने के लिए जा रहा है। विष्कंभक में विद्याधर पात्रो की योजना का संकेत शक्तिभद्र ने संभवतः भास[3] व भवभूति[4] से प्राप्त किया होगा।

अग्नि, इन्द्र, रुद्र, वसु, अश्विनों तथा राम के मृत पूर्वज आदि दिव्य पात्रों के आगमन व निर्गमन की सूचना मात्र दी गयी है। नाटकीय कथा में वाचिक या क्रियात्मक रूप में उनका कोई योगदान नहीं है। उनकी मूक उपस्थिति दैवी अनुमोदन व अनुग्रह की निःशब्द प्रतीक मात्र है। देवर्षि नारद देवों क संदेशवाहक की परम्परागत भूमिका में अवतीर्ण हुए है।[5] नाटक में उनकी योजना का एक उद्देश्य राम को अनसूया के वरदान के विषय मे बताना है[6] जिसके कारण सीता उन्हें सदैव अलंकारयुक्त दिखाई देती है। राम ने उन्हें 'सत्यवादी' और 'समाधिचक्षुः' कहा है।[7]

नाटककार ने ऋषियों व ऋषिपत्नियों की तपोलब्ध सिद्धियों का भी उल्लेख किया है। अनसूया का वर तथा ऋषियों द्वारा आश्चर्यमय रत्न उनकी अलौकिक सिद्धियों के द्योतक है।

अतिमानवीय पात्रों के संदर्भ मे नाटककार ने आकाशोड्डयन[8] तथा विमान व रथ आदि के आकाशगमन[9] का उल्लेख किया है। आकाश से पुष्पवृष्टि, दिव्य

---

1. ताटकां हतवतस्ततोऽपि मे रूपमेतदधश भयावहम्। वही, 2 5
2. वही, 3 17.
3. अभिषेक नाटक, षष्ठ अंक
4. उत्तररामचरित, षष्ठ अंक
5. राम :—भगवन् ! किमाज्ञापयन्ति देवाः महर्षयश्च।
   नारद :—सहरावणजीवितैस्समाप्तस्ते वनवासकालः। तस्मात् सार्धं देव्या नगर्ययोध्या प्रवेष्टव्येति। आ० चू० 7 पृ० 254.
6. वही, 7 पृ० 252 तथा 7.28.
7. राम :—कृत देवशासनेन ! ननु भवान् सत्यवादी समधिचक्षुरेव प्रमाणम् वही, 7 पृ० 253.
8. वही, 2.10.
9. तृतीय अंक में रावण सीता को अपने रथ में बैठाकर आकाश मार्ग से ही लंका ले जाता है।

शंखों व पटहों का निनाद[1] आदि तत्त्व दैवी प्रसन्नता की सूचक परम्परागत काव्य-रूढ़ियां हैं। कुछ स्थलों पर विधि व शकुन से सम्बन्धित प्रचलित लोकविश्वास की भी प्रासंगिक चर्चा हुई है।[2]

अतिप्राकृतिक तत्त्व और रस

आश्चर्यचूडामणि में प्रयुक्त अधिकांश अतिप्राकृतिक तत्त्व अद्भुत रस के अभिव्यंजक हैं। राक्षसों का रूप-परिवर्तन, अंगुलीयक व चूडामणि के प्रभाव से उसकी निवृत्ति तथा सप्तम अंक में देवों व देवर्षि नारद का प्रादुर्भाव आदि वस्तु-व्यापार विस्मय के उद्बोधक है। राक्षसों की भयंकर आकृतियों का दर्शन भयानक रस की सामग्री प्रस्तुत करता है।

निष्कर्ष

शक्तिभद्र ने मुख्यत: अद्भुत रस की सृष्टि के लिए इस नाटक की रचना की है। इसी दृष्टि से उन्होने इसमें राक्षसों के रूप-परिवर्तन या माया के अभिप्राय को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया है। साथ ही माया के निराकरण के लिए मुनियों द्वारा प्रदत्त अद्भुत अंगुलीयक और चूडामणि की भी विशिष्ट योजना की है। यद्यपि इनमें से कोई भी अभिप्राय शक्तिभद्र की अपनी उद्भावना नहीं है, तथापि उनका जिस नये रूप में विन्यास किया गया है उसका श्रेय शक्तिभद्र को ही जाता है। नाटककार का उद्देश्य कौतूहल, सम्भ्रम और विस्मय की सृष्टि करना है और उसमें उसे पर्याप्त सफलता मिली है। तथापि यह कहना उचित होगा कि अद्भुत अंगूठी व चूडामणि के अभिप्राय को नाटककार मुख्य कथा में भलीभांति अन्तर्ग्रंथित नहीं कर सका है। ये दोनों वस्तुएं नाटकीय वृत्त में बाह्य ही प्रतीत होती है; उनका उपयोग केवल प्रत्यभिज्ञान के साधन के रूप में किया गया है तथापि विक्रमोर्वशीय की संगमनीय मणि की तुलना में ये वस्तुएं नाटकीय कथा में अधिक आन्तरिक हैं, इसमें संदेह नहीं।

सप्तम अंक में सीता की अग्निपरीक्षा का जो कारण बताया गया है वह राम के चरित्र को अधिक उज्ज्वल रूप देने के लिए की गई एक असंगत कल्पना ही कही जा सकती है। अग्निपरीक्षा के अनन्तर नारद, देवताओं व राम के पूर्वजों की उपस्थिति नाटकीय दृष्टि से अनावश्यक है। नाटककार ने संभवत: दैवी अनुमोदन व प्रसन्नता के सूचन के लिए ही इस प्रकार की कल्पना की है। संक्षेप में शक्तिभद्र को अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग में आंशिक रूप में ही सफल कह सकते हैं।

---

1. वही, 7 पृ0 243, 263.
2. वही, 1 पृ0 21, 31; 3.5; 3 पृ0 95.

कुन्दमाला

दिङ्नाग[1] के कुन्दमाला नाटक मे रामायण के उत्तरकाण्ड में वर्णित सीता-निर्वासन की कथा छह अंकों में निबद्ध है। इस पर भवभूति के उत्तररामचरित का प्रभाव नितान्त स्पष्ट है। दोनों का आधार रामायण के उत्तरकाण्ड की सीता-निर्वासन की कथा है। दोनो में ही रामायण की दुःखान्त कथा को सुखान्त रूप दिया गया है। अदृश्य सीता की कल्पना दोनों नाटकों में पर्याप्त समानता लिये हुए है। दोनों कृतियों मे अनेक स्थलो पर प्रसंगों, भावों, विचारों व शब्दों तक का साम्य देखा जा सकता है। अतः कुन्दमाला का रचनाकाल भवभूति (लगभग ७०० ई०) के पश्चात् अर्थात् अष्टम शती के उत्तरार्ध या नवम शती ई० में माना जा सकता है।[2] अलंकारशास्त्र के लेखकों मे सर्वप्रथम भोज (११वीं शती ई०) ने कुन्दमाला का एक पद्य उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि कुन्दमाला का रचनाकाल १०वीं शती ई० के बाद का नही माना जा सकता।

---

1. इस नाटक मे मैसूर वाली पांडुलिपियो की प्रस्तावना में रचयिता का नाम दिङ्नाग मिलता है, किन्तु तंजौर की पाडुलिपियो की पुष्पिकाओं में उसका नाम 'धीरनाग' दिया गया है। रामचन्द्र व गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण (1.33.35 की वृत्ति) में 'वीरनाग' को इस नाटक का प्रणेता बताया है। इन तीनो नामो मे से कुन्दमाला के रचयिता का वास्तविक नाम क्या था, इस विषय में विद्वानों में मतैक्य का अभाव है। कुछ विद्वानो ने पूर्वमेघ, 14 पर दक्षिणावर्तनाथ व मल्लिनाथ की टीकाओ के आधार पर कुन्दमाला के लेखक दिङ्नाग को इसी नाम वाले बौद्ध आचार्य से अभिन्न मानते हुए उसे कालिदास का समकालीन व प्रतिस्पर्धी बताया है। किन्तु अनेक कारणो से यह मत समीचीन प्रतीत नही होता। कुन्दमाला मे बौद्ध-धर्म व दर्शन का कोई चिह्न नही मिलता। दूसरे, दक्षिणावर्तनाथ व मल्लिनाथ ने दिङ्नाग व कालिदास की प्रतिस्पर्धा की जो बात कही है वह भी किसी पुरानी परम्परा पर आधारित प्रतीत नही होती। मेघदूत के सबसे पुराने टीकाकार वल्लभदेव (10वी शती ई0) ने उक्त प्रतिस्पर्धा का कोई उल्लेख नही किया है।
2. इस विषय में विद्वानो मे अत्यधिक मतभेद है। डा0 कालीकुमारदत्त आदि कुछ विद्वान् कुन्दमाला का रचनाकाल लगभग 500 ई0 मानते हैं। (दे0 श्री दत्त का ग्रन्थ 'कुन्दमाला ऑव् दिङ्नाग' तृतीय व चतुर्थ अध्याय) उनके विचार में भवभूति कुन्दमालाकार के ऋणी हैं, न कि कुन्दमालाकार भवभूति के। किन्तु श्री ए0 सी0 वूलनर, डा0 के0 ए0 सुब्रह्मण्य ऐयर, श्री आद्यरंगाचार्य, फादर कामिल वुल्के आदि विद्वानों के विचार मे कुन्दमाला भवभूति के बाद की रचना है तथा उस पर उत्तररामचरित की असन्दिग्ध छाप है। दे0 ए0 सी0 वूलनर: 'दि डेट ऑव् कुन्दमाला' एनाल्स ऑव् भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च-इन्स्टीट्यूट, भाग 15 (1933–34), पृ0 236–239; डा0 के0 ए0 सुब्रह्मण्य ऐयर. 'कुन्दमाला एण्ड दि उत्तर-रामचरित', सप्तम ओरिएन्टल कान्फ्रेन्स, वड़ोदा, 1933, संस्कृत अनुभाग, पृ0 91: श्री आद्यरंगाचार्य: ड्रामा इन संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 193, फादर कामिल वुल्के: रामकथा, पृ0 207.

कुन्दमाला में राम द्वारा सीता के परित्याग, वाल्मीकि आश्रम में लव-कुश के जन्म तथा अनेक वर्षों के बाद नैमिषारण्य में राम द्वारा आयोजित अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर पुत्रसमेता सीता से उनके पुनर्मिलन की कथा प्रस्तुत की गई है।

अतिप्राकृत तत्त्व

कुन्दमाला में अतिप्राकृतिक तत्त्व प्रथम, चतुर्थ, पंचम व षष्ठ अंकों में आये हैं। ये तत्त्व योगसाधना व तपस्या से प्राप्त होने वाली अलौकिक शक्तियों तथा धार्मिक व पौराणिक कल्पनाओं में नाटककार व उसके समकालीन समाज की आस्थाओं के द्योतक हैं।

प्रथम अंक में जब सीता संकोचवश अपने निर्वासन का कारण नहीं बताती तब महर्षि वाल्मीकि अपने योगचक्षु से जान लेते हैं कि राम ने लोकापवाद के भय से सीता का त्याग किया है। अतः वे उसे निर्दोष समझकर अपने आश्रम मे आश्रय देते है।[1] चतुर्थ अंक में पुनः महर्षि वाल्मीकि की एक अलौकिक सिद्धि का उल्लेख मिलता है। वे अपने आश्रम की स्त्रियो को यह शक्ति प्रदान करते है कि जब वे आश्रम की दीर्घिका पर जायेंगी तब कोई भी पुरुष उन्हें नही देख सकेगा। ऋषि द्वारा प्रदत्त इस शक्ति से सीता अपना सारा समय अदृश्य रूप में दीर्घिका के तट पर ही व्यतीत करती है जिससे यज्ञ के लिए नैमिषारण्य में आए राम उसे न देख सके।[2] इस अंक के घटनाक्रम का विवरण हम भवभूति के उत्तररामचरित के विवेचन में दे चुके है,[3] इसलिए यहां केवल उसके नाटकीय महत्त्व का विचार किया जा रहा है।

चतुर्थ अंक के मुख्य दृश्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य सीता की अदृश्यता की कल्पना पर आधारित है। यहां नाटककार ने सीता को राम के अत्यन्त निकट उपस्थित करने और उनकी विरह-व्यथा का साक्षात् ज्ञान कराने के लिए उसके अदृश्य रूप

---

1. वाल्मीकि :—कथं लज्जते ? भवतु, योगचक्षुषाहमवलोकयामि । (ध्यानमभिनीय) वत्से ! जनापवादभीरुणा रामेण केवलं परित्यक्ता, न तु हृदयेन ! निरपराधा त्वम् । अस्माभिरपरित्याज्यैव । एह्याश्रमदं गच्छावः । कुन्दमाला, 1, पृ0 20–21. (डा0 कालीकुमारदत्त द्वारा संपादित 'कुन्दमाला ऑव् दिङ्नाग, संस्कृत कालेज, कलकत्ता, 1964)
2. वेदवती—..... तदा भगवता वाल्मीकिना निध्याननिश्चलनयनेन मुहूर्त्तं निध्याय भणितम्—एतस्यां दीर्घिकायां वर्तमानः स्त्रीजनः पुरुषनयनानामगोचरो भविष्यतीति । ततः प्रभृति सीता रामस्य दर्शनपथं परिहरन्ती दीर्घकातीरे सकलं दिवसमतिवाहयति । वही, 4 पृ0 49–50.
3. दे0 प्रस्तुत प्रबंध, पृ0 320–321.

की कल्पना की है। इसके माध्यम से सीता अपनी आंखों से राम की विरह-व्याकुल दशा को देखने और उनके प्रेमोद्गारों को सुनकर अपने सन्तप्त हृदय को सान्त्वना देने का अवसर प्राप्त करती है। साथ ही राम को भी सीता की जलगत छाया देखने, मूर्च्छित अवस्था मे उसका स्पर्श प्राप्त करने तथा उत्तरीयों के आदान-प्रदान से सीता की निकट उपस्थिति व अपनी भावी मनोरथ-सिद्धि का संकेत मिलता है। अन्तिम अंक में नाटककार को राम व सीता का पुनर्मिलन कराना है। इस पुनर्मिलन के लिए यह आवश्यक है कि वे एक-दूसरे के हार्दिक भावों से परिचित हों तथा बाह्य मिलन से पूर्व उनके हृदयों का पुनर्मिलन हो। अदृश्य सीता की कल्पना द्वारा नाटककार ने नाटकीय वस्तु-विकास की इसी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्ति का प्रयास किया है।

सीता की अदृश्यता की कल्पना के लिए नाटककार भवभूति के उत्तररामचरित का ऋणी प्रतीत होता है। किन्तु उत्तररामचरित में इस कल्पना की जैसी संगति और सार्थकता है वैसी कुन्दमाला मे नहीं। कुन्दमाला की सीता को लक्ष्मण द्वारा दिये गये सन्देश से राम के मनोभाव व परित्याग के कारणों का पहले ही पता लग चुका है।[1] राम के हृदयस्थ प्रेम के विषय में सीता के मन में कोई सन्देह नहीं है, जैसा कि द्वितीय अंक में वेदवती के साथ उसके वार्तालाप से स्पष्ट है।[2] इसके विपरीत उत्तररामचरित की सीता अपने परित्याग के कारण के विषय में सर्वथा अन्धकार मे है तथा अपने प्रति राम के वास्तविक मनोभाव के बारे में भी उसे कुछ भी पता नहीं है। राम के निष्ठुर व्यवहार को लेकर उसके मन में खेद, रोष और मान भी है, अत. वहां राम व सीता के पुनर्मिलन के लिए सीता को राम की करुण दशा व प्रीतिपूर्ण हृदय का दर्शन कराना नाटकीय दृष्टि से नितान्त अपेक्षित है। किन्तु कुन्दमाला मे इस अपेक्षा की पूर्ति राम के सन्देश से ही हो चुकी है, अतः अदृश्य सीता की कल्पना इसके वस्तुविधान का अपरिहार्य अंग न होती तो भी चिरवियुक्त दम्पती का पुनर्मिलन असगत न लगता। किन्तु उत्तररामचरित में तृतीय अंक के बिना राम व सीता का मिलन न संभव लगता है और न संगत ही। इससे प्रतीत होता है कि कुन्दमालाकार ने केवल उत्तररामचरित के अनुकरण पर अपने नाटक मे सीता को अदृश्य रूप मे उपस्थित किया है।

छठे अंक में सीता वाल्मीकि की आज्ञा से अपने चरित्र की विशुद्धता प्रमाणित

---

1. दे० 1.12.
2. सीता—कथं स मम उपरि परित्यक्तानुराग: येनातिप्रसिद्ध एव मामधन्यामुद्दिश्यार्यपुत्रेणानुभूत: सेतुबन्धादिपरिश्रम:। वही, पृ० 29.

करने के लिए पृथ्वी देवी का आह्वान करती है।[1] भगवती पृथ्वी पाताल से प्रादुर्भूत होकर सीता के पवित्र पातिव्रत का सत्यापन करती है।[2] इस पर दिशाओं मे देव-दुन्दुभियां वज उठती हैं और आकाश से पुष्प-वृष्टि होती है।[3] सीता के लोकापवाद से मुक्त हो जाने पर राम वाल्मीकि की आज्ञा से उसे पुत्रों-सहित ग्रहण करते है। तदनन्तर पृथ्वी देवी आशीर्वाद देती हुई अन्तर्हित हो जाती है। वाल्मीकि राम को वताते हैं कि देवता लोग मनुष्यों के सान्निध्य में अधिक समय नहीं ठहरते।[4]

पाताल से पृथ्वी के प्रादुर्भाव की कल्पना के लिए कुन्दमालाकार रामायण के ऋणी प्रतीत होते हैं। अन्तर इतना ही है कि रामायण की दु खान्त कथा को नाटककार ने सुखान्त वना दिया है। इस परिवर्तन की प्रेरणा उसे उत्तररामचरित या पद्मपुराण से मिली होगी जिसमें इस कथा को पहले ही सुखान्त रूप दे दिया गया था। यहां नाटककार ने नाट्यशास्त्र की मान्य परम्परा के अनुसार नाटक को सुखान्त वनाते हुए निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस की प्रभावशाली योजना की है। इस योजना में उसने पृथ्वी-सम्वन्धी पौराणिक कल्पनाओं का नाटकीय उपयोग किया है।

पंचम अंक में अतिप्राकृतिक तत्त्व पर आधारित एक विशिष्ट लोक-विश्वास का उल्लेख मिलता है। विदूषक कौशिक वताता है कि उसने अयोध्या के वृद्ध जनों से यह सुना है कि यदि रघुकुल से असम्वद्ध कोई व्यक्ति इस वंश के सिंहासन पर बैठ जाता है तो उसका मस्तक शतधा विदीर्ण हो जाता है।[5] राम के आग्रह पर लव व कुश के सिंहासन पर वैठ जाने पर भी उनका कोई अनिष्ट नहीं होता।[6] प्रारम्भ में राम के मन में कुछ सन्देह रहता है,[7] पर वाद में अन्य प्रमाणों के मिलने पर उन्हें विश्वास हो जाता है कि लव व कुश सीता के ही पुत्र है।[8] यहा नाटककार ने संभवतः शाकुन्तल में आये रहस्यमय रक्षाकरंडक के प्रसंग के सादृश्य पर प्रत्यभिज्ञान के साधन के रूप में उक्त विश्वास का नाटकीय विनियोग किया है।

कुन्दमाला के सभी प्रमुख पात्र मानव हैं। यद्यपि कुछ स्थलों पर राम के विष्णुरूप की ओर भी इंगित किया गया है,[9] पर नाटक में उनका व्यक्तित्व व चरित्र

---

1. वही, 6 पृ० 101.
2. वही, 6. 34, 35.
3. वही, 6.36.
4. वही, 6 पृ० 107.
5 वही, 5 पृ० 82
6. वही,
7. वही, 5 पृ० 83.
8. वही, 5 पृ० 88.
9. रामाह्वयस्य गृहिणी मधुसूदनस्य (1.21), व्यक्तं मोऽयमुपागतो वर्नामिदं रामाभिधानो हरिः (3.14), वाल्मीकिना मुनिवरेण महारथस्य, याऽसौ पुराणपुरुषस्य कथा निवद्धा (5.16)।

कहीं भी मानवीय धरातल का अतिक्रम नही करता। सीता पौराणिक कथाओं के आधार पर पृथ्वी की पुत्री[1] कही गयी है, पर उसका व्यक्तित्व भी अतिमानवीय तत्त्वों से प्रायः मुक्त है, केवल अंतिम अंक में उसके पातिव्रत व सत्यवचन का लोकोत्तर प्रभाव चित्रित किया गया है। वाल्मीकि यौगिक सिद्धियों से सम्पन्न महर्षि हैं। उनके विषय में कहा गया है कि उन्होंने योग के प्रभाव से समस्त लोकों के रहस्य का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर लिया है।[2] अंतिम अंक मे नाटककार ने पृथ्वी को एक देवी के रूप में उपस्थित कर नाटक की सुखद परिणति में उसे एक अनुग्रहशील दिव्य आश्रय की भूमिका प्रदान की है। चतुर्थ अंक में नाटककार ने रामायण-गान के लिए अप्सरा तिलोत्तमा के वाल्मीकि के आश्रम में आने तथा सीता का रूप ग्रहण कर राम के प्रेम की परीक्षा लेने की उसकी योजना का उल्लेख किया है।[3] यद्यपि एक विशेष कारण से यह योजना क्रियान्वित नहीं की जाती, पर अंक के अंत मे राम सोचते है कि तिलोत्तमा ने ही सीता का रूप धारण कर मुझे प्रवंचित किया है।[4] प्रस्तुत प्रसंग में नाटककार ने अप्सरा-संबधी कतिपय पारम्परिक विश्वासों—मुख्यतः उनके स्वर्ग से पृथ्वीलोक में आने तथा उनकी रूप-परिवर्तन की शक्ति का उल्लेख किया है। नाटक में अप्सराओं के अतिरिक्त वनदेवता, नदीदेवता, भागीरथी, लोकपाल, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर आदि प्रकृति-देवों व दिव्य प्राणियों का भी उल्लेख मिलता है,[5] पर नाटकीय कथा में उन्हें कोई भूमिका नही दी गयी है। तथापि इसमे हमें मानवेत्तर दिव्य शक्तियों के प्रति नाटककार की धार्मिक भावना का पता चलता है।

निष्कर्ष

अतिप्राकृतिक तत्त्वों के प्रयोग के कारण कुन्दमाला की मानवीय कथा कुछ स्थलों पर—विशेषतः चतुर्थ व षष्ठ अंकों में—वास्तविकता की भूमि से हटकर विशुद्ध कल्पना व पौराणिकता के लोक में पहुंच गई है। किन्तु वस्तु की प्रकृति को देखते हुए यह बात बहुत अखरती नही है। चतुर्थ अक में अदृश्य सीता की कल्पना उत्तर-रामचरित से प्रभावित होते हुए भी उसके समान सार्थक व मर्मस्पर्शी नहीं है। इस अंक की तुलना में छठा अक अधिक अवास्तविक और कृत्रिम लगता है, परन्तु रामायण की परम्परागत दुःखान्त कथा को सुखान्त बनाने के लिए नाटककार के पास संभवत

---

1. वही, 6 पृ0 98.
2. योगप्रभावप्रत्यक्षीकृतसर्वलोकरहस्या वाल्मीकिविश्वामित्रवसिष्ठप्रमुखाः महर्षयः।
   वही, 6 पृ0 100.
3. वही, 4 पृ0 48-49.
4. वही, 4 पृ0 67.
5. वही, पृ0 16, 100.

अलौकिक तत्त्वों का सहारा लेने के सिवा कोई चारा नही था। पुराणों की अलौकिक कथाओं मे जनसामान्य की श्रद्धा ने नाटककार के लिए यह कार्य बहुत सरल कर दिया होगा। अपने उत्तररामचरित मे भवभूति पहले ही ऐसा कर चुके थे।

चण्डकौशिक

प्रस्तावना के अनुसार चण्डकौशिक के रचयिता आर्य क्षेमीश्वर महीपालदेव के आश्रित थे। विद्वानों ने इस महीपालदेव को राजशेखर के आश्रयदाता गुर्जरप्रतिहारवंशीय कान्यकुब्जनरेश महीपाल (६१०–६४० ई०) से अभिन्न माना है[1] अतः क्षेमीश्वर को हम राजशेखर का कनिष्ठ समकालीन कह सकते है।

क्षेमीश्वर के दो नाटक उपलब्ध होते है—चण्डकौशिक और नैषधानन्द। प्रथम पांच अंकों का नाटक है जिसमें सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा निबद्ध है। नैषधानन्द में नल व दमयन्ती का आख्यान सात अंकों में प्रस्तुत किया गया है। यह नाटक अभी तक अप्रकाशित है।

राजा हरिश्चन्द्र की कथा वैदिक साहित्य[2] में भी आयी है, पर नाटक के अध्ययन से विदित होता है कि लेखक ने इसमें कथा के पौराणिक रूप को ही अपनाया है। नाटकीय वस्तु का मुख्य स्रोत मार्कण्डेय पुराण है जिसमें धर्मपक्षियों से जैमिनि के चतुर्थ प्रश्न के उत्तर रूप मे हरिश्चन्द्र का आख्यान विस्तार से वर्णित है।[3] देवी भागवत[4] में भी यह कथा आई है, पर उसके अनेक ब्योरे नाटकीय कथानक से मेल नही खाते।

राजा हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा सत्य के पालनार्थ सर्वस्व-त्याग व दारुण कष्ट-सहन का एक अतिरंजित दृष्टान्त है। इसमें सत्यवादिता की परीक्षा को निष्ठुरता की पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया गया है। हरिश्चन्द्र को जो दण्ड भोगना पड़ा है वह उसके अनजान मे हुए अपराध के अनुपात में इतना अधिक है कि उससे हमारी न्याय-बुद्धि को ठेस लगे बिना नही रहती। शैव्या के शब्दो मे हम भी एक बार कह उठते है—"……… ……आर्यपुत्रो यदि नाम इदमवस्थान्तरमनुभवति सर्वथा अकारणो धर्मः, अरण्यरुदित सर्वम्, अन्धकारनर्तित सर्व विज्ञानम्।"[5]

---

1. दे0 स्टेन कोनो : दि इण्डियन ड्रामा, पृ0 139; कीथ. संस्कृत ड्रामा, पृ0 239, दासगुप्त व दे : ए हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 470
2. ऐतरेय ब्राह्मण 7.14. 2; शांखायन-श्रौत-सूत्र, 15.17.
3. अध्याय 7–8.
4. स्कन्ध 7, अध्याय 18-27.
5. चण्डकौशिक, 5 पृ0 174 (चण्डकौशिकम्, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1965)

सारी यातनाओं के बाद हरिश्चन्द्र को बताया जाता है कि जो कुछ हुआ वह उसकी सत्यनिष्ठा की परीक्षामात्र थी तथा इस परीक्षा में दैवी शक्तियों का भी हाथ था। अन्त में ये दैवी शक्तियां प्रसन्न होकर हरिश्चन्द्र को उसके सत्यपालन व धर्म-निष्ठा के लिए समुचित रूप से पुरस्कृत करती हैं।

वस्तुविधान में नाटककार ने अधिकतर पौराणिक कथा का ही अनुगमन किया है। प्रथम अंक में हरिश्चन्द्र के सुखी दाम्पत्य-जीवन का तथा चतुर्थ अंक मे श्मशान में कापालिक के आश्चर्यमय कार्यकलापों का चित्रण नाटककार की अपनी उद्भावना है। कथा के विकास में दैवी शक्तियो का प्रच्छन्न हाथ बताया गया है। नाटक के अन्त में पात्रों की कारुणिक नियति का आकस्मिक परिवर्तन दैवी हस्तक्षेप का सीधा परिणाम है।

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

माया रूप : प्रथम अक के अन्त मे राजा हरिश्चन्द्र को एक वनेचर से सूचना मिलती है कि आखेट वन में एक असाधारण आकार-प्रकार वाला शूकर विचरण कर रहा है। यह शूकर वस्तुतः विघ्नराट् था[1] जिसने विश्वामित्र की साधना में विघ्न डालने के लिए यह माया रूप[2] धारण किया था। नाटककार ने यहां विघ्नराट् को दो रूपों में प्रस्तुत किया है—(१) रौद्र व उज्ज्वल आकृति वाले अतिमानवीय पात्र के रूप में (२) माया शूकर के रूप में। दोनों ही रूपों में वह एक प्रतीकात्मक पात्र है। उसका उद्देश्य हरिश्चन्द्र को आकृष्ट कर उस तपोवन में पहुंचाना है जहां विश्वामित्र सृष्टि-शक्ति, पालन-शक्ति व संहार-शक्तिरूप त्रिविध विद्याओं को वश मे करने के लिए यज्ञ कर रहे थे।

यहां नाटककार ने मार्कण्डेय पुराण के सम्बन्धित प्रसंग को किंचित् परिवर्तित किया है। पुराण के अनुसार राजा मृग का पीछा करता हुआ उस स्थान पर पहुंचता है जहां विश्वामित्र विद्याओं की प्राप्ति के लिए तप कर रहे थे। वहां पहुंचने पर विघ्नराट् राजा के शरीर मे प्रविष्ट हो जाता है[3] जिससे मुनि के प्रति उसका व्यवहार संयत नहीं रह पाता। किन्तु नाटक के अनुसार विघ्नराट् ही वराह का रूप धारण कर राजा को आकृष्ट करता हुआ उस आश्रम में ले जाता है तथा वहां पहुंचकर सहसा अदृश्य हो जाता है।

---

1. वही, 2 3.4.
2. विघ्न—(श्रुत्वा सहर्षम्) अये कथमासन्न एवायं, तत् यावदितो निर्गत्य तामेव मायामास्थाय दर्शयाम्यात्मनम्। वही, 2 पृ0 47
3. मार्कण्डेय पुराण, 7.11.

शाप : तृतीय अंक में विश्वामित्र द्वारा विश्वदेवों को दिये गये शाप की संक्षिप्त घटना आई है। इस शाप का नाटक की मुख्य कथा से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। इसकी योजना का उद्देश्य हरिश्चन्द्र को यह जताना है कि विश्वामित्र को रुष्ट करने का परिणाम कितना भयंकर हो सकता है। यह घटना हरिश्चन्द्र को जल्दी से जल्दी किसी के भी हाथों-चाहे वह चाडाल ही हो—आत्म-विक्रय के लिए विवश कर देती है ।

श्मशानवासी सत्त्व : चतुर्थ अंक में बताया गया है कि राजा हरिश्चन्द्र अपने स्वामी की आज्ञा से अंधेरी रात में जब दक्षिण श्मशान में पहरा दे रहे थे तब वहां उन्हे शवमांस-भक्षक पिशाचों के झुण्ड दिखाई दिये ।[1] नाटककार ने उनकी बीभत्स आकृति, रुधिरपान, शवमांस-भक्षण तथा घृणित प्रणय-केलियों का विशद वर्णन किया है ।[2] इस वर्णन के लिए उसे भवभूति के मालतीमाधव से प्रेरणा मिली होगी जिसके पंचम अंक मे श्मशानवासी सत्त्वों की ऐसी ही बीभत्स चेष्टाओं व क्रीडाओं का चित्रण किया गया है। इस असाधारण दृश्य द्वारा नाटककार ने रात्रि-कालीन उस भयावह परिस्थिति का चित्र अंकित किया है जिसमें हरिश्चन्द्र अविचल भाव से अपने कर्तव्य का पालन कर रहे थे ।

कापालिकों की सिद्धियां : इसी अंक में धर्म हरिश्चन्द्र की स्वामिभक्ति व सत्य की परीक्षा के लिए एक कापालिक का रूप धारण कर श्मशान में उपस्थित होता है ।[3] वह राजा से कहता है कि मैंने योग-दृष्टि से तुम्हारा वृत्तान्त जान लिया है। मुझे आशा है तुम इस स्थिति में भी मेरी सहायता करने में समर्थ हो? मैं वेताल-सिद्धि, वज्रसिद्धि, गुटिकासिद्धि, सिद्धाञ्जन-सिद्धि, पादलेप-सिद्ध दैत्यांगना-सिद्धि, रसायन-सिद्धि तथा धातुसिद्धि के लिए साधना कर रहा हूं। ये सिद्धियां मुझे मिलने ही वाली हैं; यदि तुम इन्हें तिरोहित करने वाले विघ्नों का निवारण कर दो ।[4] कापालिक बताता है कि पास मे ही सिद्धरसों का एक महानिधान है, हमारा यत्न उसी के लिए है। कापालिक का अनुरोध स्वीकार कर राजा विघ्नों को दूर रहने के लिए कहता है। विघ्न उसकी आज्ञा मान कर उसे समस्त विद्याओं व सिद्धियो का पात्र बनाना चाहते है ।[5] कुछ देर बाद कापालिक अपनी साधना मे सफल होकर दो वेतालों के

---

1. राजा—(सावष्टम्भं परिक्रम्य दृष्ट्वा) अहो। बीभत्सदर्शना. कौणपनिकायाः .....
   च० कौ०, 4 पृ० 133.
2. वही, 4. 18–21.
3. वही, 4.28.
4. वही, 4.31.
5. वही, 4.32.

कधों पर सिद्धरस का महानिधान रख कर पुनः राजा के पास आता है। उसके कथनानुसार इस सिद्धरस का सेवन करने वाले सिद्ध लोग मृत्यु का भी तिरस्कार कर सुमेरु पर्वत पर विहार करते हैं।[1] कापालिक राजा से महानिधान को लेने की प्रार्थना करता है पर राजा अपने दास-धर्म पर दृढ़ रहते हुए उसे लेने से मना कर देता है।

विमानस्थ विद्याओं का आगमन : विश्वामित्र ने पहले जिन विद्याओं को वश मे करने के लिए तप किया था और वे असफल रहे थे, वे विमान पर आरूढ़ होकर हरिश्चन्द्र के समक्ष उपस्थित होती है, और स्वयं को उसे अर्पित करती है।[2] पर राजा उन्हें विश्वामित्र के पास जाने का आदेश देता है। यहां नाटककार ने विद्याओं का दैवीकरण करते हुए राजा की निःस्पृह वृत्ति का संकेत दिया है।

दैवी हस्तक्षेप व अनुग्रह : पचम अक में राजा ज्योंही अपने मृत पुत्र का कम्बल लेने के लिए हाथ बढाता है, त्योंही आकाश से पुष्पों की वृष्टि होने लगती है[3] तथा उसके दान, शील, धैर्य, क्षमा, सत्य व ज्ञान की प्रशंसा के शब्द गूंज उठते है।[4] उसी समय धर्म सदेह प्रकट होकर हरिश्चन्द्र को ब्रह्मसायुज्य से परिपूत दुर्लभ लोकों का अधिवास प्रदान करता है।[5] धर्म के हस्तक्षेप से सारी परिस्थिति क्षणभर में बदल जाती है। मृत रोहिताश्व जीवित होकर स्वस्थ भाव से उठ बैठता है। धर्म राजा को दिव्य-दृष्टि प्रदान करता है जिससे कि वह विगत घटनाओं के वास्तविक रहस्य को स्वयं जान सके।[6] धर्म द्वारा मंगाये गये एक विमान पर चढ़कर राजा ध्यान लगाकर अपनी दिव्य दृष्टि से देखते हैं कि विश्वामित्र ने विद्याओं की प्राप्ति से परितुष्ट होकर उसका राज्य उसके सचिवों को सौप दिया है। वह यह भी देखता है कि शैव्या का क्रेता ब्राह्मण व उसकी पत्नी वस्तुतः शिव और पार्वती थे तथा स्वयं उसे खरीदने वाला चांडाल वास्तव में धर्म था। इस गुह्यज्ञान से राजा के मन से यह सन्ताप निकल गया कि उसे चाण्डाल की सेवा करनी पड़ी।[7] इसके बाद धर्म ने

---

1. वही, 4.34.
2. वही, 4.33.
3. राजा—कथमाकाशात् पुष्पवृष्टिः ? वही, 5 पृ० 173.
4. वही, 5.20.
5. वही, 5.21.
6. क्रेता योऽस्या ब्राह्मणस्ते सदारो
   यश्चाण्डालो यत्र राज्यञ्च तत् ते।
   राजन् गुह्यं तत्त्वतो ज्ञातुमेतद्
   दिव्यं चक्षुः सांप्रतं ते ददामि॥ वही, 5,23.
7. वही, 5.24.

वहीं अपने हाथों से रोहिताश्व का राज्याभिषेक सम्पन्न किया। विमान-चारिणी देवताओं द्वारा इस महोत्सव का अभिनन्दन किया गया। नदियां तीर्थ जल के कलश लेकर सशरीर उपस्थित हुईं। दिशाओं में दिव्य दुन्दुभियो का स्निग्ध स्वर गूंज उठा। अप्सरायें नृत्य करने लगीं। लोकपाल अपना-अपना अंश लेकर नवाभिषिक्त राजा की सेवा में उपस्थित हुए।[1] हरिश्चन्द्र ने ब्रह्मलोक में अकेले जाने में अनिच्छा प्रकट की।[2] उन्होंने अपनी प्रजा को भी साथ ले जाने का आग्रह किया।[3] अन्त में धर्म ने उनकी इस इच्छा को भी पूर्ण किया।

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि नाटक का यह अन्त नितान्त कृत्रिम, आरोपित और निष्प्राण आदर्शवादी बन कर रह गया है। उसमें हमें प्रेरित व आह्लादित करने की शक्ति नही है। दुःखान्त व कारुणिक घटनाचक्र का यह आकस्मिक परिवर्तन हमारा विश्वास अर्जित नहीं कर पाता। अन्त में किये गये रहस्योद्घाटन कहानी की मानवीय गरिमा को प्रभावहीन बना देते हैं। दैवी हस्तक्षेप से नाटक का आदर्शवादी उपसंहार एक पूर्व-निर्धारित आयोजन-सा प्रतीत होता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत नाटककार अपने धार्मिक व नीतिवादी आग्रहों के कारण कृति की कलात्मक अपेक्षाओं से किस सीमा तक उदासीन हो सकता है? पौराणिक कथाओं में अलौकिक शक्तियों की भूमिका तो ठीक है, पर मानव-नियति की सारी बागडोर उनके हाथ मे सौप कर मनुष्य को मात्र कठपुतली बना देना कहां तक उचित है? भारतीय परम्परा नाटक के दुःखान्त का निषेध करती है, पर उसे सुखान्त बनाने के लिए उस पर अस्वाभाविकताओं को लादा जाय तो आवश्यक नहीं है।

अतिप्राकृत पात्र

चण्डकौशिक मे कुछ अतिप्राकृतिक पात्र भी आये है जिनमें विश्वामित्र, धर्म, विघ्नराट्, विद्याए, भृंगी आदि उल्लेख्य है। विश्वामित्र के अतिमानवीय पौराणिक व्यक्तित्व की ओर सकेत किया गया है[4]; पर नाटक में वे एक क्रोधी, अहंकारी व अत्याचारी व्यक्ति के रूप मे ही हमारे सामने आते है। उनका व्यक्तित्व और व्यवहार हमारी अश्रद्धा ही अर्जित करता है। यह उल्लेखनीय है कि नाटककार ने इस अत्याचारी ऋषि के हृदय में अपने क्रूर व्यवहार के लिए खेद या ग्लानि की एक रेखा भी

---

1. वही, 5.26.
2. वही, 5.27.
3. वही, 5.28.
4. वही, 2.24.

चित्रित नही की है। अन्तिम अंक में केवल यह बताया गया है कि विद्याओं के प्राप्त होने पर विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र का राज्य उसके सचिवों को लौटा दिया।[1] यह भी कहा गया है कि मुनि का उद्देश्य हरिश्चन्द्र का राज्य हथियाना न था, अपितु उसके सत्य की परीक्षा करना था।[2] विश्वामित्र की शाप-शक्ति उसके व्यक्तित्व की सर्वांगीण क्रूरता का ही भयावह अंग है।

विघ्नराट्, विद्याएं, वाराणसी का पाप-पुरुष व धर्म प्रतीकात्मक पात्र हैं। इनमें से धर्म को छोड़कर अन्य सब की भूमिकाएं महत्त्वहीन है। धर्म चाण्डाल का रूप[3] धारण कर राजा का क्रय करता है, कापालिक के रूप में उसकी स्वामिभक्ति की परीक्षा लेता है[4] तथा अत में दैवी रूप में साक्षात् प्रकट होकर कारुणिक घटना-चक्र को सुखान्त में परिवर्तित कर देता है। प्रस्तुत नाटक में धर्म की भूमिका एक सर्वनियामक किन्तु अनुग्रहशील व मागलिक दैवी शक्ति की है। शास्त्रीय दृष्टि से उसे हम नायक का दिव्य आश्रय कह सकते हैं।

नायक हरिश्चन्द्र मानव होते हुए भी अपनी लोकोत्तर सहिष्णुता, तितिक्षा व महासत्त्वता के कारण नाटक के अन्त तक पहुंचते-पहुंचते एक दैवी गरिमा से मडित हो गया है। उसकी ब्रह्मसायुज्य-प्राप्ति को हम उसके इस दैवीभाव का प्रतीक मान सकते है।

तृतीय अंक में शिव के पार्श्वचर भृंगी का संक्षिप्त प्रवेश केवल यह सूचना देने के लिए है कि शिव व पार्वती हरिश्चन्द्र के दशाविपर्यय से चिन्तित हैं तथा उसके त्यागमय आचरण को प्रशंसा की दृष्टि से देखते है।[5] पंचम अंक में हरिश्चन्द्र दिव्य-दृष्टि से देखते हैं कि शैव्या को खरीदने वाले ब्राह्मण-दम्पती वास्तव में शिव व पार्वती थे।[6] किन्तु नाटक में यह देवयुगल अपने दैवी रूप में साक्षात् उपस्थित नहीं होता।

चतुर्थ अंक में श्मशान में दृष्टिगत पिशाच, प्रेत, वेताल आदि तत्कालीन लोक-विश्वासों की साकार प्रतिमाएं हैं। मुख्य कथा से बाह्य होते हुए भी वे वातावरण-सृष्टि के महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं।

---

1. राजा— .....विद्योपस्थानपरितोषितेन भगवता कौशिकेन सचिवेषु नो राज्यं प्रतिमुक्तम्। वही, 5 पृ0 177.
2. धर्म—राजन्! भवत्सत्यजिज्ञासयैवासौ मुनिस्तथा कृतवान् न तु राज्यार्थितया ..... वही, 5 पृ0 178.
3. वही, 3.32.
4. वही, 4.28.
5. वही, 3.3.
6. वही, 5.24.

अतिप्राकृत लोकविश्वास

चण्डकौशिक में कुछ ऐसे लोकविश्वासों का भी चित्रण हुआ है जो मानव-नियति को अदृश्य रूप में संचालित करने वाली शक्तियों के संकेत कहे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रथम अंक में कतिपय प्राकृतिक उत्पातों—जैसे पूर्णिमा के बिना ही चन्द्रग्रहण, दिशाओं मे दाह, भूकम्प, उल्कापात आदि—को हरिश्चन्द्र की आसन्न विपत्ति का सूचक माना गया है तथा उनके अनिष्ट फल के निवारण के लिए स्वस्त्ययन आदि धार्मिक विधियो का विधान किया गया है।[1] इस संदर्भ में मंत्रपूत शान्त्युदक का भी उल्लेख मिलता है जिनमें अनिष्टों को दूर करने की निगूढ शक्ति मानी गई है।[2] भावी शुभ या अशुभ के सूचक के रूप में नेत्रस्फुरण तथा वाहुस्फुरण जैसे पारम्परिक शकुनों का भी उल्लेख हुआ है।[3] इसी प्रकार नायक व नायिका दोनों के मुख से विपत्ति के विभिन्न अवसरों पर दैव, भाग्य या कर्मविपाक सम्बन्धी परम्परागत विचार भी प्रकट हुए हैं।[4] ये विचार भारतीय कर्मवाद व भाग्यवाद से जुड़े हुए हैं तथा औसत भारतीय का, विशेषतः विपत्ति की दशा में, सनातन जीवन-दर्शन रहे हैं।

अतिप्राकृत तत्त्व और रस

नाटक में प्रयुक्त कुछ अतिप्राकृतिक तत्त्व जैसे विघ्नराज का शूकर में तथा धर्म का चाण्डाल व कापालिक के रूप में परिवर्तन केवल कौतूहलजनक है। अंतिम अक मे मृतरोहित का पुनर्जीवन, दिव्य दृष्टि की सहायता से हरिश्चन्द्र को अनेक रहस्यों का ज्ञान, तथा उसे प्रजासहित ब्रह्मसायुज्य की स्वीकृति आदि बातें शास्त्रीय दृष्टि से अद्भुत रस की सामग्री प्रस्तुत करती हैं। किन्तु विश्वामित्र का शाप भयानक रस का तथा श्मशान-दृश्य में भूत, प्रेत, वेताल, पिशाच आदि के जुगुप्सित व्यापार वीभत्स रस के व्यजक हैं।

निष्कर्ष

क्षेमीश्वर मे न वस्तु व पात्रों की मौलिक योजना की सामर्थ्य है

---

1. वही, 1 23–24.
2. वही, 1.25.
3. स्पन्दते वामनयन वाहुः स्फुरति दक्षिणः।
   व्यसनाभ्युदयौ प्राप्ताविदं कथयतीव मे॥ वही, 5.6.
4. नर वामारंभः कमिव न विधाता प्रहरति (3.22); यद् यद् दैवं शास्ति तत्तद् विधेयम् (3.26); न कस्यचिन्नाम दुरतिक्रमा दैवपरिपाटिः (4 पृ० 128); तत्रापि व्यसनप्रियेण विधिना वृत्तं तथा दारुणम् (5.2); यत् सत्यं दुर्विलंध्या भवति परिणतिः कर्मणां प्राकृतानाम् (3.2); कर्मणां विपाकः तदलं परिदेवितेन (5 पृ० 172); सर्वथा सर्वत्र निष्करुणता हतविधेः (5 पृ० 156); अकरुणस्यापि तस्य विधेरमी सुदुःश्रवा व्यवहारा. (5, पृ० 157)

और न अतिप्राकृतिक तत्त्वों के प्रभावशाली विनियोग की। अतिप्राकृतिक तत्त्वों के प्रयोग के विषय में उन्होंने प्रायः पौराणिक कथा का अनुगमन किया है। वस्तु के विकास व उपसंहार मे दैवी शक्तियों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है जिससे कथा के मानवीय पक्ष को क्षति पहुंची है। आदर्शवाद के प्रति अतिआग्रह के कारण नाटक का अन्त प्रभावहीन होकर रह गया है। हरिश्चन्द्र की परीक्षा के लिए धर्म का कभी चाण्डाल के रूप में और कभी कापालिक के रूप में प्रकटीकरण हास्यास्पद है। इतना ही हास्यास्पद यह संकेत है कि शैव्या को खरीदने वाले ब्राह्मणदम्पती वस्तुतः शिव व पार्वती थे। पौराणिक नीतिवाद के प्रतिपादन की दृष्टि से चाहे यह नाटक सफल माना जाय, पर कला की कसौटी पर इसकी उपलब्धियां नगण्य ही कही जा सकती है।

तपतीसंवरण व सुभद्राधनंजय

ये दोनों केरल-नरेश कुलशेखर वर्मा के नाटक है। श्री गणपति शास्त्री ने कुलशेखर का स्थितिकाल ई० १०वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से १२वीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग के बीच माना है।[1]

तपतीसंवरण : यह छह अंकों का नाटक है जिसमें महाभारत आदिपर्व (अध्याय १७१–१७३) के आधार पर सूर्यपुत्री तपती व मर्त्य राजा संवरण के प्रणय व परिणय की कथा प्रस्तुत की गयी है। वस्तु योजना में नाटककार ने अधिकतर महाभारत का ही अनुसरण किया है पर अनेक प्रसंगों व कल्पनाओं के लिए वह कालिदास के विक्रमोर्वशीय व शाकुन्तल का भी ऋणी प्रतीत होता है। नाटक की नायिका तपती तो दिव्य स्त्री है ही, राजा संवरण के व्यक्तित्व का भी एक पक्ष लोकोत्तरता लिये हुए है। कालिदास के पुरूरवा व दुष्यन्त के समान वह भी असुरों से युद्ध करने के लिए समय-समय पर स्वर्ग बुलाया जाता है।[2] ऐसे पौराणिक पात्रो से सम्बद्ध कथा में अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रचुरता से प्रयोग हो यह स्वाभाविक ही है। ये तत्त्व नाटकीय कथा में बाहर से आरोपित किये हुए नही लगते अपितु पात्रों के दिव्य उद्भव व व्यक्तित्व एवं कथा के पौराणिक पर्यावरण के ही सहज अंग प्रतीत होते हैं।

नाटक की नायिका तपती सूर्य देवता की पुत्री है जो यह सकल्प कर चुके हैं कि तपती का विवाह राजा संवरण के साथ होगा।[3] पिता के इस संकल्प के अनुसार

---

1. दे0 श्री शास्त्री द्वारा सम्पादित 'तपतीसंवरण' का आमुख, पृ0 5, (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज, त्रिवेन्द्रम, 1911)
2. तद् देवासुरविमर्दपरिचिताम्बरगमनस्य वयस्यस्य सकाशात् सकल शिक्षिप्य इति। तप0 सं0 1, पृ0 14.
3. वही, 2 पृ0 42–43.

तपती संवरण के प्रति अनुरक्त होती है, पर संवरण का अपनी रानी पर इतना प्रेम है कि वह किसी अन्य स्त्री से विवाह की बात सोच ही नही सकता। उसे केवल एक ही दुःख है कि उसके कोई सन्तान नहीं है। एक दिन सूर्य देवता स्वप्न मे सवरण के समक्ष प्रकट होकर उसे बताते है कि तुम्हारी रानी के संतान उत्पन्न नहीं होगी।[1] इस दैवी संकेत को पाकर संवरण पुत्र-प्राप्ति के लिए अन्य स्त्री से विवाह की बात सोचने लग जाता है। इसी विन्दु से नाटक की कथा का आरम्भ होता है।

तपतीसंवरण मे अनेक प्रकार के अतिप्राकृत तत्त्वो का प्रयोग हुआ है। नायिका तपती व उसकी अप्सरा सखियो–मेनका व रंभा को अनेक अवसरो पर आकाश में उड़ते हुए या आकाश से पृथ्वी पर उतरते हुए बताया गया है। इसी प्रकार इन तीनों मे तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्य होने की शक्ति भी है। प्रथम अंक में संवरण ज्योंही अपने उद्यान मे प्रविष्ट होता है। तपती व मेनका सहसा अदृश्य होकर आकाश में उड़ जाती है,[2] लेकिन मरकतशिला पर तपती के पदचिह्न अंकित रह जाते है। तभी मेनका आकाश से तपती का कर्णपूर नीचे गिराती है।[3] इस कर्णपूर पर उसने तपती की ओर से राजा के नाम प्रणय-सन्देश भी लिख दिया है। तृतीय अंक में तपती व उसकी अप्सरा सखियां आकाश में उड़ती हुई तपनवन में उतरती है[4] जहां राजा संवरण पहले से ही विद्यमान है। वे तिरस्करिणी द्वारा अदृश्य होकर सवरण के मनोभावों का पता लगाती हैं।[5] जब उन्हें निश्चय हो जाता है कि राजा तपती के ही प्रेम मे विह्वल है तो तपती तिरस्करिणी हटाकर मूर्च्छित राजा को अपने स्पर्श से संज्ञा प्रदान करती है।[6] षष्ठ अंक में पुनः तपती (मेनका के रूप में , मेनका, रंभा एवं राक्षसी मोहनिका (रंभा के रूप में), आकाश से भूमि पर उतरती है। पंचम अंक में राजा संवरण सूर्य के द्वारा प्रेषित दिव्य रथ में बैठकर तपनवन से अपनी राजधानी मे लाया जाता है।

नाटककार ने रूप-परिवर्तन के अभिप्राय का भी प्रयोगकिया है। राक्षसी मोहनिका एक सुन्दरी स्त्री का रूप धारण कर[7] संवरण के साथ वंचना का प्रयत्न करती है, पर भृगुऋषि के प्रभाव से उसे सफलता नहीं मिलती।[8] अंतिम अंक मे

---

1. वही, 1.8.
2. वही, 2 पृ० 45.
3. वही, 2 पृ० 46.
4. वही, 3 पृ० 106.
5. तत् तिरस्करिणीविद्यया प्रतिच्छन्ना द्रक्ष्याम एतयोर्व्यापारम्। वही, 3 पृ० 100.
6. वही, 3 पृ० 126.
7. वही, 4 पृ० 144.
8. वही, 5 पृ० 155.

वह रंभा का रूप धारण कर संवरण, तपती आदि के प्राणों को संकट में डाल देती है। इसी अंक में तपती मेनका का रूप धारण कर संवरण से मिलने के लिए आती है, किन्तु मर्यादा का अतिक्रमण करने पर उसके द्वारा अपमानित की जाती है।

नाटक की प्रणयकथा के विकास में दैवी हस्तक्षेप की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। राजा सवरण जब विवाह के बाद तपती के प्रेम मे अत्यन्त लिप्त होकर राजकार्य व प्रजा को भूल जाता है, तब सूर्य के आदेश से तपती सवरण से पृथक् कर दी जाती है। सूर्य का सारथि तपती को सुषुप्त अवस्था मे रथ मे बैठाकर सूर्यलोक मे ले जाता है।[1]

'विक्रमोर्वशीय' के आयु के समान तपती का पुत्र भी जन्म ही से अपने मां-बाप से दूर रहता है। यहां तक कि स्वयं तपती को उसके जन्म का पता नही चलता। सूर्य की आज्ञा से उसका लालन-पालन तपती की बहिन सावित्री के यहां होता है।[2] बड़ा होने पर वह इन्द्र के आदेश (कुरु सुरकार्यम्) से असुरों को पराजित करता है तथा कुरु नाम से प्रसिद्ध होता है। नाटक के अंतिम अंक में महर्षि वसिष्ठ उसे साथ लेकर सूर्यलोक से पृथ्वी पर आते है। तपती व संवरण पुत्र संबधी वृत्तान्त को जानकर अतीव प्रसन्न होते हैं। इस प्रसंग पर विक्रमोर्वशीय के पंचम अंक का प्रभाव दिखाई देता है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि 'तपतीसंवरण' आद्यन्त अतिप्राकृतिक तत्त्वों से युक्त है। इन तत्त्वों में से कुछ पात्रों के पौराणिक अतिमानवीय व्यक्तित्व के अंग है और कुछ पौराणिक व लोकप्रचलित कथाओं से गृहीत अभिप्राय है। कुछ तत्त्वों पर कालिदास के नाटकों का प्रभाव परिलक्षित होता है। लेखक ने इन तत्त्वों के प्रयोग द्वारा नाटक मे शृंगार के अंग के रूप में अद्भुत रस की सृष्टि का प्रयत्न किया है जिसमें किसी सीमा तक वह सफल रहा है तथापि उच्च कोटि की नाट्य-प्रतिभा के अभाव एवं अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण इन तत्त्वों के प्रयोग में वह किसी वैशिष्ट्य का परिचय नही दे सका है।

सुभद्राधनजय : कुलशेखर के दूसरे नाटक सुभद्राधनंजय में अर्जुन द्वारा सुभद्रा के हरण की कथा पांच अंकों में प्रस्तुत की गई है। तपतीसंवरण की तुलना में यह भाषाशैली व भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अधिक प्रौढ कृति है। इसकी कथावस्तु का स्रोत महाभारत है, पर लेखक ने नाटक को रोचक बनाने के लिए कुछ नयी कल्पनाओं का भी समावेश किया है। ये कल्पनाए अधिकतर अतिप्राकृत तत्त्वों पर आधारित है।

---

1. वही, 6 पृ० 182.
2. वही, 6 पृ० 211.

प्रथम अंक में प्रभासतीर्थ में स्थित धनंजय अलम्बुस नामक राक्षस द्वारा अपहृत सुभद्रा की रक्षा करता है। कृष्णवर्ण दैत्याकार अलम्बुस सुभद्रा को अंक में लेकर आकाशमार्ग से जा रहा है।[1] धनंजय ज्योंही उस पर बाण चलाने के लिए उद्यत होता है वह भयभीत होकर सुभद्रा को आकाश मे ही छोड़कर भाग जाता है। धनंजय आकाश से गिरती हुई सुभद्रा को अपने हाथों पर ले लेता है।[2] किन्तु सुभद्रा अकस्मात् अदृश्य हो जाती है। आगे द्वितीय अंक में कांचुकीय के कथन से ज्ञात होता है कि सुभद्रा को वस्तुतः गरुड जी अदृश्य रूप मे उठाकर द्वारका में उसके कन्यापुर मे सुरक्षित पहुंचा गये थे।[3] वहीं यह भी बताया गया है कि अलम्बुस ने दुर्योधन के आदेश मे सुभद्रा का अपहरण किया था। दुर्योधन सुभद्रा से विवाह का इच्छुक था। इस विषय में बलरामजी भी कुछ-कुछ सहमत थे, पर वासुदेव इसके विरुद्ध थे। इसीलिए दुर्योधन ने राक्षस द्वारा सुभद्रा का हरण कराकर अपनी इच्छा-पूर्ति का प्रयत्न किया।

उक्त प्रसंग का संकेत नाटककार को कालिदास के विक्रमोर्वशीय से मिला होगा जिसके प्रथम अंक मे पुरूरवा द्वारा असुर-अपहृत उर्वशी का परित्राण किया गया है। वहां यह घटना पुरूरवा व उर्वशी के प्रणय की पृष्ठभूमि के रूप में अंकित है। किन्तु प्रस्तुत नाटक मे सुभद्रा व धनंजय पहले से ही परस्पर अनुरक्त बताये गये है। इस घटना द्वारा नाटककार ने उनके प्रणय को तीव्र करने के साथ-साथ नाटकीय कथा में जटिलता की भी सृष्टि की है। धनंजय राक्षस-संकट से मुक्त सुन्दरी को सुभद्रा से भिन्न स्त्री समझता है। इसी प्रकार सुभद्रा भी धनंजय को कोई अन्य ही पुरुष समझती है। तथापि दोनों एक-दूसरे के प्रति आकर्षण व अनुराग का अनुभव करते हैं। सुन्दरी की गात्रिका मे अपने नाम को अंकित देखकर धनजंय को विश्वास हो जाता है कि वह मुझ मे अनुरक्त है। वह अनुमान करता है कि वह अदृश्य रूप में द्वारका ले जायी गयी होगी। अतः धनंजय यति के वेष में द्वारका जाकर अपनी दोनों प्रेमिकाओं (वस्तुतः एक सुभद्रा ही) को प्राप्त करने का निश्चय करता है। सुभद्रा धनंजय को यति के रूप में भी नहीं पहचान पाती और उसके प्रति भी प्रगाढ़ अनुराग का अनुभव करती है। अन्ततः उसे अपने बहुपुरुषविषयक अनुराग से हार्दिक अनुताप होता है और वह आत्महत्या का प्रयास करती है, किन्तु धनंजय उसे बचा

---

1 सखे! नायं तडित्वानम्बुधरः। अयं हि धूमप्रकरधूम्रः प्रमथः कामपि कन्यकां प्रसह्याकर्षति।
सुभद्राधनंजय, 1 पृ० 18–19 (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज, सं० 13, त्रिवेन्द्रम, 1912)

2. अहो अत्याहितम्। सैषा प्रमथकरमुक्ता प्रायश्छिन्नपातं पतति। ततवलम्बे तावदेनाम्।
(प्रसारितकरस्तिष्ठति) वही, 1 पृ० 21.

3. वही, 2 पृ० 42-43.

लेता है। वह उसे वास्तविक स्थिति से परिचित कराकर उसका अनुताप दूर करता है।

तृतीय अंक में धनंजय व सुभद्रा के ध्यान करते ही देवराज महेन्द्र अपने परिजनों सहित स्वर्ग से द्वारका आते हैं। पहले एक आलोकमय देवपुरुष आकाश से उतर कर उनके आगमन की सूचना देता है।[1] महेन्द्र अपने पुत्र धनंजय के लिए वासुदेव से सुभद्रा की याचना करते हैं। अनन्तर वासुदेव की सहमति से अन्त पुर मे गुप्त रूप से धनजय व सुभद्रा का विवाह सम्पन्न होता है। इन्द्र के साथ आगत अप्सराओं द्वारा नववधू का शृंगार किया जाता है। इस प्रसंग द्वारा नाटककार ने धनंजय के दिव्य उद्भव व सम्बन्ध की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर उक्त विवाह को दैवी अनुमोदन प्रदान कराया है।

पंचम अंक में दुर्योधन की प्रेरणा से राक्षस अलम्बुस पुन सुभद्रा का हरण कर लेता है। इस वार भगवती कात्यायिनी (दुर्गा) उसकी रक्षा करती है। इस प्रसग में नाटककार ने रूप-परिवर्तन की पारम्परिक कथानक रूढ़ि का भी उपयोग किया है। कात्यायिनी सुभद्रा को अर्जुन को सौपने के लिए द्रौपदी के रूप में उसके पास आती है।[2] कुछ देर बाद वास्तविक द्रौपदी भी वहां आ जाती है। तब कात्यायिनी को अपना वास्तविक दैवी रूप प्रकट करना पड़ता है।[3] वह धनंजय को सुभद्रा के हरण का रहस्य बता कर आशीर्वाद देती हुई चली जाती है। यहा नाटककार ने नाटक के अंतिम भाग निर्वहण सधि) को चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए कात्यायिनी को नाटक के दिव्य सहाय के रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु वह इस कल्पना को उचित संगति प्रदान नही कर सका है। साथ ही अपहरण के अभिप्राय की आवृत्ति नाटककार के कल्पना-दारिद्रय को ही प्रकट करती है।

उक्त विवरण व विवेचन से स्पष्ट है कि कुलशेखर अपने नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्वों का नूतन व मौलिक विनियोग करने में असफल रहे हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त इन तत्त्वो में अधिकतर परम्परा की ही प्रतिध्वनियां सुनाई देती हैं।

---

1. वही, 3.10
2 कात्यायिनी—अहो नु खल्वचिन्तनीयोऽयमर्जुनस्य प्रभाव, यदमुष्य संरम्भो ममापि प्रक्षोभयति हृदय, यद्भयादह गृहीतयाज्ञसेनीरूपा प्राप्तवती। वही, 5 पृ० 78
3 कात्यायिनी—(द्रौपदीवेषमपनयन्ती) वत्स।
किरीटिन्। मा स्म कुप्यस्त्व सहजा मे कनीयसीम्।
आर्यामहमागता दातुमेना ते सहचारिणीम्॥
वही, 5 9

प्रबोधचन्द्रोदय :

कृष्ण मिश्र का यह नाटक संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ प्रतीकात्मक नाटक है। इसका रचनाकाल ११वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना गया है। यह एक दार्शनिक रूपक है जिसमें प्रतीकात्मक पात्रों के द्वारा मानव के आध्यात्मिक संघर्ष का अतीव रोचक व सजीव चित्र अंकित किया गया है। इसमें दार्शनिक-धरातल पर अद्वैत वेदान्त व वैष्णव भक्ति का समन्वय करते हुए मानव के आध्यात्मिक श्रेय का मार्ग निरूपित किया गया है। इस नाटक मे अतिप्राकृत तत्त्वों का दार्शनिक पक्ष उद्‌घाटित हुआ है। नाटक के अन्त में जीव को प्रबोध की प्राप्ति होती है[1] जिसके आधार पर इस नाटक को प्रबोधचन्द्रोदय कहा गया है। वैसे इस नाटक के पात्र मानव-मन की विभिन्न सद्-असद् वृत्तियों के प्रतीक है तथा उन्हें नाटककार ने मानव चरित्र में ढालने का प्रयास किया है। प्रबोधचन्द्रोदय के पश्चात् इसी के अनुकरण पर वेंकटनाथ ने 'संकल्पसूर्योदय', कर्णपूर ने 'चैतन्यचन्द्रोदय', आनन्दरायमखी ने 'जीवानन्दन' व 'विद्यापरिणयन' तथा गोकुलनाथ ने 'अमृतोदय' आदि नाटक लिखे, किन्तु ये दार्शनिक सिद्धान्तो के संवादमात्र बन सके हैं, नाटक नहीं।

प्रसन्नराघव :

जयदेव (लगभग १२०० ई०) का प्रसन्नराघव कथा व नाट्यपद्धति की दृष्टि से अनर्घराघव व बालरामायण की परम्परा का नाटक है।[2] इसमें सीता-स्वयंवर से लेकर रावणवध तथा राम के राज्याभिषेक तक की रामायण की कथा सात अकों मे प्रस्तुत की गयी है। वस्तुविधान में नाटककार ने कुछ नवीन उद्‌भावनाओं का भी समावेश किया है, जैसे प्रथम अक मे सीता-स्वयवर के अवसर पर रावण व बाणासुर की परस्पर प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे उपस्थिति द्वितीय अक मे चडिका मदिर के उद्यान में राम व सीता के प्रथम मिलन व पूर्वराग का वर्णन, पचम अंक मे यमुना, गगा, सरयू आदि नदियों तथा सागर का मानवीकरण तथा षष्ठ अंक मे विद्याधर द्वारा प्रयुक्त इन्द्रजाल से राम को लंका में स्थित सीता के वृत्तान्त का ज्ञान आदि। लेकिन इन उद्‌भावनाओ के कारण मूल रामकथा में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नही होता।

अनर्घराघव व बालरामायण के समान इसमे भी वस्तुयोजना रूढ़िग्रस्त व शिथिल है। कथा-फलक इतना विस्तृत है कि अधिकतर घटनाओं व प्रसंगों को सूच्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। पंचम व षष्ठ अंक की पूर्वोक्त उद्‌भावनाएं

---

1. प्रबोधचन्द्रोदय, 6.29,30,31.
2. जयदेव के स्थितिकाल के लिए देखिए—कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ0 244; कोनो : दि इंडियन ड्रामा, पृ0 140–141; दे व दासगुप्तः हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 462.

इसी उद्देश्य से प्रेरित हैं। नाटक में क्रियाशीलता की कमी है; वर्णनात्मक व सूचनात्मक स्थलों के आधिक्य के कारण नाटक का अधिकांश भाग श्रव्य काव्य में परिणत हो गया है। चरित्र-चित्रण में मौलिक दृष्टि का अभाव है; राम, रावण, सीता, परशुराम, विश्वामित्र आदि पात्र पारम्परिक सांचों में ढले हुए हैं। यह बात जरूर है कि जयदेव अनुप्रासात्मक, ललित व नादसौन्दर्यपूर्ण श्लोकों की रचना में सिद्धहस्त हैं; इस दृष्टि से वे मुरारि के समकक्ष नहीं तो उनसे कुछ ही घट कर हैं। किन्तु सुन्दर व प्रौढ़ श्लोकों की रचना-चातुरी ही नाटक नहीं है।

अतिप्राकृतिक तत्त्वों की दृष्टि से प्रसन्नराघव के एक-दो स्थल ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अन्य स्थलों में मिलने वाले अतिप्राकृतिक तत्त्वों में कोई नवीनता नहीं है; रामकथा के पारम्परिक अंग के रूप में ही उनका विन्यास हुआ है।

प्रथम अंक के विष्कंभक में याज्ञवल्क्य का शिष्य दाल्भ्यायन अपने योगीश्वर गुरु की प्रसादमहिमा से दो भ्रमरों—कलालाप व मधुरप्रिय—का वार्तालाप समझ लेता है।[1] इस वार्तालाप से सूचना मिलती है कि असुरराज बाण और राक्षसराज रावण दोनों ही सीता को प्राप्त करने के लिए उसके स्वयंवर में मिथिला आ रहे हैं।[2]

उक्त प्रसंग में भ्रमरों का मनुष्यों के समान वार्तालाप तथा योग-शक्ति से उसका अवगमन ये दोनों ही अतिप्राकृतिक तत्त्व हैं। भारतीय विचारधारा सभी जीवों में एक ही आत्मा की सत्ता स्वीकार करती है, इसलिए पारमार्थिक दृष्टि से मनुष्य व अन्यान्य जीवों में कोई अन्तर नहीं है। विशेष शरीर और रूप तो पूर्वजन्म के कर्मों के परिणाम है। हमारे महाकाव्यों, पुराणों व लोककथा साहित्य में ऐसी अनेक कथाएं आई है जिनमे मनुष्य व अन्य जीव बुद्धि व चेतना के एक ही धरातल पर परस्पर व्यवहार करते दिखाए गए हैं। इसी प्रकार यौगिक सिद्धियों में भी भारतीयों की चिरकाल से आस्था रही है। अतः परम्परागत भारतीय विश्वास की दृष्टि से दाल्भ्यायन द्वारा भ्रमरों की बातचीत का आशय समझना कोई असंगत बात नहीं है।

सम्बद्ध प्रसंग में नाटककार का उद्देश्य आगामी दृश्य मे दो असाधारण व्यक्तियों—बाण व रावण की उपस्थिति की पूर्व सूचना देना है। भ्रमरों की बातचीत व योगशक्ति से उसका ज्ञान इसी उद्देश्य के लिए नाटककार द्वारा प्रयुक्त एक

---

1. नन्वयं गगनतलावलम्बिनो मधुकरयोरेव ध्वनिराकर्ण्यते।
(पुनः कर्णं दत्त्वा, सहर्षविस्मयम्) अहो। भगवतो योगीश्वरस्य प्रसादमहिमा, येनाहमेवंविधानामपि वचनावबोधमधुरा सिद्धिमासादितवानस्मि। तदाकर्णयामिकिमेतावालपतः? ....
प्रसन्नराघव, 1 पृ० 35 (चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1963).
2. वही, पृ० 35-37.

चामत्कारिक युक्ति मात्र है। तथापि नाटकीय दृष्टि से इस विशिष्ट कल्पना की कोई संगति या सार्थकता सिद्ध नहीं होती।

पंचम अंक में यमुना, गंगा, सरयू, गोदावरी, तुंगभद्रा व सागर का मानवीकरण नाटककार की एक रमणीय कल्पना है जिसके लिए वह भवभूति का ऋणी प्रतीत होता है। भवभूति ने उत्तररामचरित में भागीरथी, तमसा, मुरला आदि नदी-देवताओं को पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया है। भारतीय अध्यात्म-भावना प्रकृति को भी मनुष्य के समान चेतन और सवेदनशील मानती है। उसकी दृष्टि में प्रकृति की सत्ता जीव-सृष्टि से पृथक् व तटस्थ नहीं, अपितु विराट् विश्वजीवन का ही एक अविभाज्य अंग है। इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण भारतीय कवि सदा से प्रकृति मे मानव भावों का ही नही, देवत्व व ईश्वरत्व तक का आरोपण करता आया है। प्रसन्नराघव का यह दृश्य भारतीय संस्कृति की इसी विशिष्ट विचारधारा पर आधारित है। किन्तु नाटकीय दृष्टि से इस दृश्य का भी विशेष महत्त्व नही है। नाटककार का एकमात्र उद्देश्य कतिपय घटनाओ की, जिन्हें वह दृश्य रूप में प्रस्तुत करना नही चाहता, सूचना देकर कथावस्तु को आगे बढ़ाना है। इस एक ही अंक में नदियो व सागर के वार्तालाप के माध्यम से रामवनगमन से लेकर हनूमान् के समुद्र-लंघन तक का विस्तृत वृत्तान्त सक्षेप में सूचित कर दिया गया है। इस प्रकार यह समग्र अंक सूचनात्मक है तथा कार्य की दृष्टि से विष्कभक-सा प्रतीत होता है। यह अवश्य है कि नाटककार की रमणीय कल्पना ने इस सूचनापरक अक को भी विशेप आकर्षक बना दिया है। पर इसकी सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि नाटकीय कथा के साथ इसका कोई स्पष्ट संबंध नही है। नाटक के बीच यह समग्र अंक मुख्य कथा से असम्बद्ध व अप्रासंगिक-सा लगता है। नाटक की अन्तश्चेतना व वातावरण के साथ भी इस अंक की संगति नही बैठती। नाटककार ने मात्र वस्तुयोजना की एक युक्ति के रूप में इसका सन्निवेश किया है। यह भी उल्लेखनीय है कि यह प्रसंग मुख्यतः प्राकृतिक पदार्थों के मानवीकरण का उदाहरण है, अतिप्राकृतिक तत्त्वों के प्रयोग का नही।

षष्ठ अंक में एक महत्त्वपूर्ण अतिप्राकृतिक तत्त्व की योजना मिलती है। राम किष्किंधा पर्वत पर प्रकृति के सान्निध्य में सीता के वियोग से अतीव व्यथित है। तभी उन्हें व लक्ष्मण को दो विद्याधरों—रत्नशेखर व चम्पकापीड—का वार्तालाप सुनाई देता है। रत्नशेखर ने मन्दोदरी के भाई चित्ररूप नामक दानव से इन्द्रजाल विद्या की नियमित शिक्षा प्राप्त की है।[1] चम्पकापीड के आग्रह पर वह उसे अपनी विद्या का

1. (पुनर्नेपथ्ये) वयस्य चन्द्रापीड! एवमेतत्। मया हीयन्तं कालमखिलमायानिधेर्मयनाम्नो दानवस्य पुत्री निजसहोदरी मन्दोदरीमनुवर्तितुं लंकायां कृतालयाच्चित्ररूपनाम्नो दानवात्सकलामिन्द्रजालकलामाददानेन स्थितम्। वही, 6 पृ0 312.

चमत्कार दिखाता है। वह उसके समक्ष लंका में स्थित वियोगिनी सीता का दृश्य साक्षात् उपस्थित कर देता है। चंपकापीड के साथ-साथ राम व लक्ष्मण भी इस सारे दृश्य को देखते हैं और अनुभव करते है कि घटनाएं जैसे उनके सामने ही हो रही हैं। रावण की प्रणय-याचना और धमकियों के सामने सीता के अविचल प्रेम और पातिव्रत की दृढ़ निष्ठा का साक्षात् दर्शन कर राम भावविह्वल हो जाते हैं। उन्हें बार-बार यह याद दिलाना आवश्यक हो जाता है कि वे जो कुछ देख रहे हैं वह ऐन्द्रजालिक दृश्य है; वास्तविकता नहीं।[1]

उक्त प्रसंग वस्तुयोजना व भाव-चित्रण दोनों दृष्टियों से सार्थक है। इसके द्वारा एक ओर लंका में सीता के वृत्तान्त की प्रत्यक्षवत् सूचना दी गई है और दूसरी ओर सीता व राम के पारस्परिक भावबन्ध का प्रभावशाली चित्र अंकित किया गया है। किन्तु इन्द्रजाल का अभिप्राय नाटक की कथा में जिस प्रकार निविष्ट किया गया है वह नाटककार की अकुशलता का ही सूचक है। वह नाटक की कथा से उद्भूत नहीं होता, उस पर बाहर से आरोपित किया गया है। नाटकीय दृष्टि से साभिप्राय होते हुए भी वह कथावस्तु के साथ अनुस्यूत नहीं हो सका है।

यहां रत्नावली में वर्णित इन्द्रजाल के दृश्य की प्रस्तुत दृश्य के साथ तुलना करना लाभप्रद होगा। रत्नावली में इन्द्रजाल दिखाने वाला व्यक्ति एक मानव पात्र है, जबकि इस नाटक में वह एक विद्याधर है जिसने किसी दानव से यह विद्या सीखी है। दूसरे, रत्नावली में इन्द्रजाल का दृश्य वास्तविक प्रतीत होते हुए भी मिथ्या है। राजप्रासाद में आग लगने से किसी भी व्यक्ति या वस्तु को हानि नहीं पहुंचती। आग कुछ देर में अपने आप शांत हो जाती है। दूसरी ओर प्रसन्नराघव में सीता-सम्बन्धी दृश्य सर्वथा मिथ्या नहीं है; वह लंका में घटित वास्तविक वृत्तान्त का विद्या द्वारा कराया गया सुदूर-दर्शन है जिसकी तुलना आधुनिक दूरदर्शन (Television) से की जा सकती है। यह दृश्य मिथ्या है तो इसी दृष्टि से कि वह राम के समक्ष किष्किंधा में घटित वृत्तान्त नहीं है, अपितु वहां से बहुत दूर लंका में सम्पन्न हो रही घटना है। विद्याधर की विद्या इसी मे है कि वह लंका में हो रहे कार्यकलाप का दर्शन सुदूर किष्किंधा पर्वत पर स्थित व्यक्तियों के लिए सुलभ बना देता है।

षष्ठ अंक के उक्त ऐन्द्रजालिक दृश्य में ही त्रिजटा सीता की आज्ञा से खेचरी[2] (आकाशचारिणी) बनकर हनूमान् द्वारा किये गये लंकादहन व समुद्रलंघन की सूचना

1. अलमिह संभ्रमेण, विद्याधरोपनीतमिन्द्रजालकं खल्वेतत्। (6, पृ० 317); आर्य! किमिदमैन्द्र-जालिकविलोकनादलीकमेव संभ्रम्यते (6; पृ० 334); आर्य! किमिदं लंकावृत्तान्तानुसारिणि विद्याधरप्रणीते महेन्द्रजाले पुनः संभ्रम्यते। (6, पृ० 355).

2. सीता–हला त्रिजटे! खेचरी भूत्वा प्रेक्षस्व तावदस्य वृत्तान्तम्।
त्रिजटा-तथा (इति निष्क्रान्ता) वही, 6 पृ० 352.

देती है ।[1] इस अतिप्राकृतिक तत्त्व द्वारा नाटकीय कथा को अनावश्यक विस्तार से बचाने का प्रयत्न किया गया है जो सराहनीय है ।

सप्तम अंक मे नाटककार ने राम-रावण युद्ध का वर्णन एक विद्याधर-युगल द्वारा कराया है ।[2] भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार युद्ध-दृश्य का मंचीय प्रदर्शन वर्जित है, अतः नाटककार को उसे वर्णनात्मक रूप में उपस्थित करना पड़ा है । युद्ध-वर्णन के लिए दिव्य पात्रों–विशेषकर विद्याधर पात्रों की योजना की परम्परा भास के समय से चली आ रही थी, यह हम पहले बता चुके हैं । प्रसन्नराघवकार ने सप्तम अंक में राम-रावण युद्ध के प्रसंग मे इसी प्राचीन व मान्य परम्परा का अनुसरण किया है । युद्ध समाप्त होने तथा अग्नि परीक्षा में सीता के सफल होने पर विद्याधर-युगल पुलोमजा को उसकी सूचना देने के लिए स्वर्ग चला जाता है ।[3]

यह उल्लेखनीय है कि अनेक पूर्ववर्ती राम नाटकों के सामन जयदेव ने यहां अग्निदेवता के आविर्भाव का वर्णन नहीं किया । इसका कारण सभवतः नाटक को अनावश्यक विस्तार से बचाने की नाटककार की तीव्र इच्छा है । विस्तार-परिहार की यह प्रवृत्ति नाटक में अनेक स्थलों पर प्रकट हुई है । रामनाटकों की अनेक असंगत कल्पनाओं से भी नाटककार ने अपनी कृति को बचाने का पूरा प्रयास किया है । उदाहरणार्थ, महावीरचरित, अनर्घराघव व बालरामायण मे राम के वनगमन की पृष्ठभूमि के रूप में भवभूति, मुरारि व राजशेखर ने परकाय-प्रवेश व रूपपरिवर्तन की जो भौडी कल्पनाएं की है उन्हें जयदेव ने नहीं दोहराया है ।

अन्त में निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि जयदेव अतिप्राकृतिक तत्त्वों के विनियोग में किसी मौलिक दृष्टि का परिचय नही दे सके हैं । उनका प्रयोग अधिकतर उन घटनाओं की सूचना देने के लिए किया गया है जिन्हे रंगमंच पर दृश्य रूप मे उपस्थित करना नाटककार को इष्ट नही हैं । षष्ठ अंक में इंद्रजाल की कल्पना नाटकीय दृष्टि से सार्थक होते हुए भी कथावस्तु में बाहर से ठूंसी हुई-सी लगती है । इससे स्पष्ट है कि जयदेव ने रामकथा में एक नये अतिप्राकृतिक तत्त्व की कल्पना की, पर वस्तुयोजना के पर्याप्त कौशल के अभाव में वे उसे नाटकीय कथा का सहज व स्वाभाविक अंग नहीं बना सके ।

कतिपय प्राचीन लुप्त राम-नाटक :

राम कथा पर आधारित कतिपय प्राचीन नाटक दुर्भाग्य से अब प्राप्त नही

---

1. वही, 6.49–50.
2. वही, 7 पृ० 384–410
3. विद्याधर—तदेहि । कर्णामृतं पुलोमजायै निवेदयावः । वही; 7 पृ० 410.

होते । किन्तु नाट्यशास्त्र व अलंकारशास्त्र के ग्रंथों में उनके जो उद्धरण या सन्दर्भ दिये गये हैं उनसे उनकी विषयवस्तु तथा अन्य विशेषताओं का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है । डा० वी० राघवन ने अपनी पुस्तक 'सम् लॉस्ट राम प्लेज़'[1] में ऐसे कुछ नाटकों का विवरण प्रस्तुत किया है । इन नाटकों में नाटककार की मौलिकता मुख्यतः दो दिशाओं में व्यक्त हुई है । एक तो कुछ ऐसे पात्रों के चरित्र का परिष्कार करने का प्रयत्न किया गया है जिनका आचरण मूल कथा में विवाद या आलोचना का विषय था । दूसरे, इनमें रूपपरिवर्तन, जादू, वंचना, छल आदि राक्षसी माया के विभिन्न रूपों का प्रयोग किया गया है ।[2] यद्यपि राक्षसी माया के ऐसे कुछ प्रसंग रामायण में भी आये हैं पर नाटककार ने उन्हें अपनी सर्जनात्मक कल्पना द्वारा और भी विकसित कर लिया है । डा० राघवन द्वारा वर्णित ऐसे कुछ नाटकों में अति-प्राकृतिक तत्त्वों का भी प्रयोग हुआ था । विभिन्न स्रोतों से ज्ञात इन्हीं तत्त्वों का यहाँ संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है ।

रामाभ्युदय : भवभूति और वाक्पतिराज के आश्रयदाता राजा यशोवर्मा (८वीं शती ई० का प्रारम्भिक भाग) द्वारा रचित इस नाटक में शूर्पणखा के विरूपीकरण से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की रामायण की कथा छह अंकों में अंकित थी । यशोवर्मा मूल रामकथा में मनमाने परिवर्तन किये जाने के विरुद्ध थे । 'कथामार्गे न चातिक्रमः' उनका आदर्श था, जैसा कि इस नाटक की प्रस्तावना से उद्धृत एक श्लोक से विदित होता है ।[3] यही कारण है कि इसमें रामायण के विरुद्ध किसी नये अति-प्राकृतिक तत्त्व का प्रयोग नहीं किया गया । पंचम अंक मे रावण द्वारा माया सीता का निर्माण व शिरश्छेद[4] तथा षष्ठ अंक में अग्नि मे प्रविष्ट सीता को लेकर अग्नि-देवता का प्रादुर्भाव[5]—ये दोनों ही अतिप्राकृतिक तत्त्व रामायण पर आधारित हैं । डा० राघवन का अनुमान है कि इस नाटक में राम-रावण युद्ध का वर्णन विद्याधर पात्रों द्वारा कराया गया था ।

---

1. अन्नमलाई यूनिवर्सिटी, अन्नमलाई नगर, 1961.
2. द्र. सम् लॉस्ट राम प्लेज़, पृ0 10–11.
3. शृंगारप्रकाश, भाग 2, पृ0 411 पर उद्धृत ।
4. नाट्यदर्पणकारो ने इस स्थल मे सीता के वधरूप विघ्न से उत्पन्न विमर्शसंधि मानी है । "अत्र रावणेन यन्मायारूपसीताव्यापादनं तद्रूपेण व्यसनेन सीताप्राप्तिविघ्नजो विमर्शः." ।
   1.39.47 को विवृति
5. यहा नाट्यदर्पणकारो ने निर्वहण सधि का उपगूहन नामक अंग माना है—
   "ततः प्रविशति पटाक्षेपेण सीतामादाय वह्निः । सर्वे दृष्ट्वा ससंभ्रममुत्थाय आश्चर्यम् ! नमो भगवते हुताशनाय इति प्रणमन्ति ।" अत्राग्निप्रविष्टसीताप्रत्युज्जीवनाद् अद्भुतप्राप्तिः ।
   वही, 1.64.113 कीविवृति ।

कृत्यारावण : इसका लेखक कौन था यह विदित नहीं है ।[1] 'रामाभ्युदय' के विरुद्ध इसमें रामकथा में इच्छानुसार परिवर्तन किये गये थे । इसमें सीतापहरण से लेकर रावणवध तक की कथा ७ अंकों में निबद्ध थी । इसके प्रथम अंक में शूर्पणखा पहले गौतमी का और फिर सीता का रूप धारण करती है तथा षष्ठ अंक में रावण की साधना से 'कृत्या' नामक एक सर्वनाशिनी अशुभ शक्ति का जन्म होता है । ये दोनों तत्त्व नाटककार की मौलिक उद्भावना कहे जा सकते हैं । तृतीय अंक में रावण सीता के हरण के लिए राम के आश्रम में विमान में बैठकर आता है । षष्ठ अंक में दारुणिका नामक राक्षसी के सुझाव पर मायाराम का मस्तक सीता के समक्ष काटा जाता है । इसके बाद सीता अपने जीवन को निरर्थक समझकर अग्नि में प्रविष्ट हो जाती है, किन्तु अग्निदेवता प्रकट होकर उसकी सच्चरित्रता प्रमाणित करता है ।

छलितराम : यह छह अंकों का नाटक था । धनिक ने अवलोक में इसका उल्लेख किया है जिससे इसका दशम शती ई० से पूर्व की रचना होना सिद्ध है । 'छलितराम' रामायण के उत्तरकांड की कथा पर आवृत एक महत्त्वपूर्ण नाटक था । इसमें सीता-निर्वासन की पृष्ठभूमि में राक्षसी माया के अभिप्राय का प्रयोग किया गया था । लवणासुर द्वारा नियुक्त दो राक्षस—सुमाय और चितामुख—क्रमशः कैकेयी और मन्थरा का रूप धारण कर सीता के चरित्र के विषय में राम के मन में संशय उत्पन्न कर देते हैं । राम उनके बहकावे में आकर सीता को निर्वासित कर देते हैं । पर बाद में उन्हें विदित होता है कि राक्षसों ने उनके साथ छल किया । इसी घटना के आधार पर इस नाटक का 'छलितराम' नामकरण हुआ है ।

जानकीराघव : सीता-स्वयंवर से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की कथा पर आधारित इस नाटक में ७ अंक थे । सागरनंदी ने नाटकलक्षणरत्नकोश में इसे २२ बार उद्धृत किया है । 'मायालक्ष्मण' की कल्पना इस नाटक की एक विशेषता थी, पर इसका विनियोग किस सन्दर्भ में और किस पद्धति से किया गया था, यह स्पष्ट नहीं है ।[2]

राघवाभ्युदय : इसका साहित्यदर्पण में एक बार तथा 'नाट्यलक्षणरत्नकोश' में १४ बार उल्लेख हुआ है । इसमें अरण्यकांड से लेकर युद्धकांड तक की रामकथा को नाटक का रूप दिया गया था । इसके वस्तु-विधान में लेखक ने अनेक नई कल्पनाओं का समावेश किया था । मारुत (वायु) देवता के एक आकाशभाषित में रावण

---

1. इसके उद्धरण या उदाहरण अभिनवभारती, शृंगारप्रकाश, नाट्यदर्पण आदि में प्राप्त हुए हैं जिससे इसकी प्राचीनता सिद्ध है ।
2. दे0 सम् लॉस्ट राम प्लेज्., 68–69.

को दिये गये शाप का उल्लेख मिलता है ।[1] सभवतः इसी शाप-अभिप्राय के सहारे इस नाटक की कथा विकसित की गई थी ।[2] किन्तु इस शाप का विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं होता ।

राघवाभ्युदय में एक और महत्त्वपूर्ण अतिप्राकृतिक तत्त्व के प्रयोग का संकेत मिलता है । रावण राम के साथ कपटसंधि करने के विचार से जालिनी नाम की राक्षसी को सीता के रूप में उन्हें सौपने की योजना बनाता है ।[3] वह इन्द्र का रूप धारण कर राम को उक्त संधि स्वीकार करने के लिए समझाता है, किन्तु लक्ष्मण की सावधानी से रावण की योजना का बीच में ही भण्डाफोड़ हो जाता है । इस पर वह अपने वास्तविक रूप में प्रकट होकर लक्ष्मण पर क्रोध प्रकट करता है ।[4]

मायापुष्पक : अभिनव ने अभि० भा० में इसे तीन बार उद्धृत किया है । नाट्यधर्मी के एक तत्त्व–अमूर्त भावों की साकार उपस्थिति, पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने 'मायापुष्पक' मे 'ब्रह्मशाप' की एक पात्र के रूप में सदेह उपस्थिति का उल्लेख किया है ।[5] नाट्यदर्पण से विदित होता है कि ब्रह्मशाप वाला यह दृश्य नाटक का पहला ही दृश्य था तथा उसमे बीज नामक अर्थ-प्रकृति का विधान था ।[6] यह ब्रह्म-शाप सम्भवतः श्रवणकुमार के वृद्ध माता-पिता द्वारा दिया गया शाप था । शाप का यह प्रसंग रामायण में भी आया है पर इसे मूर्त रूप में प्रत्यक्ष उपस्थित करने का श्रेय इस नाटक के प्रणेता को है जिसका नाम हमें अविदित है । यह स्मरणीय है कि भास ने बालचरित मे मवूक ऋषि के शाप को इसी प्रकार सशरीर उपस्थित किया है ।[7]

इस नाटक के विशिष्ट नाम से विदित होता है कि इसमें माया द्वारा चालित पुष्पक विमान के अभिप्राय का भी उपयोग किया गया होगा, किन्तु उपलब्ध उदाहरणों से यह पता नही चलता कि इस अभिप्राय का प्रयोग किस पद्धति से तथा किन उद्देश्यों के लिए किया गया था ।

---

1. द्र० ना० ल० र० को०, पृ० 104.
2. द्र० वी० राघवन : पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० 76.
3. राघवाभ्युदये रामं वचयितुं रावणेन कूटसन्धौ जालिनी नाम राक्षसी कृतेति ।
   ना० ल० र० को०, पृ० 130.
4. यथा राघवाभ्युदये कूटसन्धिना सामदाने निष्फलीभूते रावण. स्वरूपमास्थाय-दुरात्मंल्लक्ष्मण, तिष्ठ तिष्ठेति व्याहृतवान् । वही, पृ० 129
5. यथा मायापुष्पके "ततः प्रविशति ब्रह्मशाप" इति । ना० शा० 13.75 पर अ० भा०
6. क्वचित् व्यसननिवृत्तिफले रूपके व्यसनोपक्षेपरूपम् । यथा 'मायापुष्पके' शापः प्रविश्य वचन-क्रमेणाह-कैकेयी क्व . .. कुलस्य क्षय. ॥ ना० द० 1.29.26 की वृत्ति ।
7. दे० प्रस्तुत प्रबंध, पृ० 126.

सत्यहरिश्चन्द्र नाटक :

रामचन्द्र (१२वीं शती ई० उत्तरार्द्ध) द्वारा प्रणीत इस नाटक में सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की कथा कुछ सामान्य परिवर्तनों के साथ प्रस्तुत की गई है। एक दैवी योजना के अनुसार हरिश्चन्द्र को अपना राज्य खोकर दण्ड का द्रव्य चुकाने के लिए पुत्र व पत्नी सहित स्वयं को बेचना पड़ता है। अपने महान् त्याग और सत्व के कारण वह सत्य की परीक्षा में पूर्ण सफल होता है तथा दैवी शक्तियों—चन्द्रचूड़ व कुमुदप्रभ द्वारा अन्त में उसका अभिनंदन किया जाता है। इसके वस्तु-विन्यास में नाटककार ने शाप द्वारा रूपपरिवर्तन,[1] मंत्र-शक्ति द्वारा दूरस्थ व्यक्ति का आकर्षण,[2] औषधि द्वारा व्रणों का तात्कालिक उपचार[3] आदि अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग किया है।

वीणावासवदत्त :

भास-नाटकों की अनेक विशेषताओं से युक्त इस नाटक के अभी तक आठ ही अंक प्राप्त हुए हैं। श्री के० वी० शर्मा के मतानुसार इसमें कम से कम दो अंक और रहे होंगे।[4] उनके अनुसार इसकी रचना भामह (६०० ई०) व वल्लभदेव (१५वीं शती) के बीच के काल में कभी हुई।[5]

नाटक की प्रस्तावना मे सूत्रधार के एक कथन से विदित होता है कि उज्जयिनी के राजा प्रद्योत ने शिवजी के अभिप्रेत व्यक्ति के साथ अपनी पुत्री वासवदत्ता के विवाह का निश्चय किया है।[6] प्रथम अक के अनुसार एक दिन भगवान् शंकर राजा प्रद्योत को स्वप्न में दिखाई दिये तथा वासवदत्ता के भावी पति के गुणो का वर्णन कर अन्तर्हित हो गये।[7] ये गुण एक मात्र उदयन में ही विद्यमान थे अतएव उसे वश में करने की योजना बनाई गई। उक्त प्रसंग में स्वप्न को एक दैवी निर्देश के रूप में ग्रहण किया गया है।

---

1. हरिश्चन्द्र का परिचारक कुंतल अंगारमुख के शाप से शृगाल बन जाता है। दे0 सत्यहरिश्चन्द्र नाटक, 2 पृ0 19 (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1923)
2. दे0 वही, 4 पृ0 38.
3. दे0 वही, 5 पृ0 53.
4. दे0 श्री के0 वी0 द्वारा संपादित 'वीणावासवदत्त' की भूमिका (श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मद्रास, 1962).
5. वही, भूमिका, पृ0 16.
6. वही, 1.3.
7. राजा—ततः स भगवान् सजलजलदमन्द्रस्तनितगंभीरेण मनःश्रुतिप्रह्लादिना स्वरेणैकं श्लोकं मुक्त्वा अन्तर्हितः। अहमपि तेनध्वनिना प्रबुद्धः। वही, 1 पृ0 6.

तृतीय अंक के अनुसार यौगंधरायण विद्या द्वारा लोगों की दृष्टि बांधकर प्रज्वलित चिता मे प्रविष्ट हो जाता है।[1] लोग समझते हैं कि वह चिता में जलकर भस्म हो गया, पर वास्तव में वह एक भ्रमात्मक दृश्य था। वस्तुत: यौगन्धरायण चिता को लांघकर तथा अंधकार में विलीन होकर एक पागल के रूप में उज्जयिनी पहुंच जाता है।

कुवलयावली या रत्नपांचालिका :

यह रसार्णवसुधाकर के लेखक शिंग भूपाल (१४वीं शती ई०) द्वारा रचित चार अंकों की नाटिका है। नाट्यशास्त्र के एक प्रतिष्ठित आचार्य की कृति होने के कारण यह नाटिका विशेष महत्त्व रखती है। इसके कुछ पात्र जैसे-कृष्ण, नारद, रुक्मिणी, सत्यभामा आदि पौराणिक हैं, लेकिन कहानी पौराणिक लगते हुए भी पूरी तरह काल्पनिक है।

कथा में कुछ अतिप्राकृतिक तत्त्वों का प्रयोग हुआ है। ब्रह्मा की प्रेरणा से भूमि एक सुन्दरी कन्या कुवलयावली का रूप धारण कर लेती है[2] जिसे नारद धर्म-पिता के रूप में रुक्मिणी के पास न्यास के रूप में छोड़कर उसका वर ढूंढने के बहाने चले जाते है। वे जाते समय पुत्री को एक अद्भुत अंगूठी देते हैं जिसके पहिनने से वह पुरुषों की दृष्टि में रत्नों से निर्मित पुतली दिखाई देने लगती है, किन्तु स्त्रियों की दृष्टि में स्त्री ही रहती है।[3] इस नाटिका का वैकल्पिक नाम 'रत्नपांचालिका' (रत्नों की पुतली) इसी अद्भुत घटना पर आधारित है। एक बार वह अपनी सखी चन्द्र-लेखा के साथ राजोद्यान में घूमने जाती है। वहां कृष्ण होते हैं जो इस बात मे आश्चर्य में पड़ जाते हैं कि चन्द्रलेखा एक पुतली से कैसे बात कर रही है? उन्हें सन्देह होता है।[4] इसी बीच वह चामत्कारिक अंगूठी कुवलयावली के हाथ से गिर जाती है तब वह कृष्ण को एक सुन्दरी कन्या के रूप मे दिखाई देती है। वह अपना भेद

1. यौगन्धरायण. (आत्मगतम्) बद्धमिदानी विद्यया जनाना चक्षु.। वही, 3 पृ० 53.
2. नारद:—जनान्तिकम्।

   जानासि लक्ष्मि! भगवच्चरणारविन्द–
   सेवासखी वसुमती भगिनी पुरा ते।
   सैवाधुना त्वमिव देवहिताय धात्रा
   सम्प्रार्थितकुवलयावलिराविरासीत् ॥
   कुवलयावली, 4.10 (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज, त्रावनकोर, 1941).
3. कालिन्दी–देवि! किं सैषा दारिका या स्त्रीदृष्ट्या स्त्री प्रतिभाति पुरुषदृष्ट्यापि रत्नपांचालिकेति श्रूयते। वही, 1 पृ० 5.
4. रत्नपांचालिकैवेयमिति गृह्णामि चक्षुषा।
   लीलयाप्यनुमानेन नेति प्रत्येमि किन्विदम् ॥ वही, 1.9,10.

खुल जाने के कारण चन्द्रलेखा को लेकर राजप्रासाद में चली जाती है। कृष्ण को भूमि पर पड़ी वह अद्भुत अगूठी मिल जाती है तथा वे उसके रहस्य को समझ जाते हैं। कुवलयावली को अंगूठी का ध्यान आता है तो वह पुनः उद्यान में लौटती है जहां कृष्ण से उसकी भेंट होती है। इस भेंट से दोनों के हृदय में परस्पर अनुराग जाग्रत होता है। बाद मे प्रासाद मे अनेक बार उनका गुप्त मिलन होता है। एक बार सत्यभामा उसे कृष्ण के साथ देखकर सशंक हो जाती है और रुक्मिणी को इसकी सूचना दे देती है। क्रुद्ध रुक्मिणी कुवलयावली को अपने महल में बन्द करा देती है, परन्तु एक राक्षस उसे वहां से उड़ा ले जाता है।[1] तब रुक्मिणी की प्रार्थना पर कृष्ण उसे छुड़ाने जाते हैं। इसी बीच नारद रुक्मिणी के पास आकर कुवलयावली की वास्तविक कथा बताते हैं। रुक्मिणी नारद के परामर्श से कुवलयावली का कृष्ण से विवाह करा देती है।

नाटिका की उक्त कथावस्तु में भूमि द्वारा सुन्दरी कन्या का रूप धारण करना तथा अद्भुत अंगूठी के प्रभाव से कुवलयावली का पुरुष मात्र की दृष्टि में रत्नपांचालिका दिखाई देना अतिप्राकृतिक तत्त्व हैं। इसकी नायिका कुवलयावली एक अर्धदिव्य पात्र है तथा नारद व दानव को भी हम अतिप्राकृतिक पात्रों की श्रेणी में गिन सकते हैं। नाटक का मुख्य रस शृंगार है जिसका विप्रलंभ पक्ष अधिक उभरा है तथा अद्भुत रस का उसके अंग के रूप में विधान किया गया है।

जानकीपरिणय :

१७वीं सदी ई० के मध्यभाग में रामभद्र दीक्षित[2] द्वारा रचित इस नाटक को कोनो ने राम सम्बन्धी सर्वाधिक लोकप्रिय नाटकों में से एक माना है।[3] इसमें सीता के परिणय से लेकर रावण-वध व अयोध्या में राम के राज्याभिषेक तक की कथा सात अंकों में निबद्ध है। मोटे रूप में रामायण की कथा का अनुगमन करते हुए भी नाटककार ने इसके वस्तु-विधान में अनेक नूतन व चामत्कारिक कल्पनाओं का समावेश किया है। इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अनेक राक्षस पात्रों द्वारा मायामय रूप ग्रहण किया गया है। रूपपरिवर्तन के इस

---

1. सुगन्धिका–भट्टारक ! सप्तच्छदप्रासादालिन्दे कुवलयावली
   केनाप्यनालक्षितेन गृहीतेति व्याकुला देवी। वही, 4.60.
2. नाटक की प्रस्तावना के अनुसार ये यज्ञराम दीक्षित के पुत्र तथा बह्वृच् नल्लदीक्षित के पौत्र थे। इन्होंने स्वयं को कौण्डिन्य गोत्र का बताया है। ये नीलकण्ठ मखी, चोक्कनाथ तथा बाल कृष्ण के शिष्य थे तथा अद्भुतदर्पण के रचयिता महादेव के समकालीन माने गये हैं।
3. सं० इण्डियन ड्रामा, पृ० 157.

अभिप्राय (Motif) का लेखक ने इस सीमा तक प्रयोग किया है कि रूप बदलने वाले राक्षस लोग स्वयं ही उसके कारण उद्भ्रांत (Confused) हो जाते हैं।

प्रथम अंक में रावण के मंत्री सारण के परामर्श से यह तय किया जाता है कि सीता की प्राप्ति के लिए रावण राम का, सारण लक्ष्मण का व विद्युज्जिह्व कौशिक का रूप धारण कर विश्वामित्र के आश्रम में जायेंगे जहां जनक राम के साथ सीता का विवाह करने के लिए आये हुए है। स्वयं विश्वामित्र उस समय राम को लाने के लिए अयोध्या गये हुए हैं। रावण, सारण व विद्युज्जिह्व तिरस्करिणी विद्या से अदृश्य होकर विश्वामित्र के आश्रम में जाते हैं।[1] दूसरे अंक में बताया गया है कि विश्वामित्र ने अयोध्या जाने से पूर्व सीता के हाथों में 'राक्षसान्धकरण' नामक मणि से जड़े दो कटक (कंगन) पहनाये थे, जिनके कारण वह राक्षसों की दृष्टि में अदृश्य रहती है।[2] राक्षस लोग इन कटकों को छल से प्राप्त कर लेते हैं जिससे सीता अदृश्य से दृश्य हो जाती है। तृतीय अंक में राक्षस मारीच अपनी मां ताडका व भाई सुबाहु के वध का बदला लेने के लिए राम को जीवित ही चिता में प्रविष्ट कराने की योजना[3] को व्यावहारिक रूप देता है। इस योजना के अनुसार वह स्वय विश्वामित्र के शिष्य काश्यप का तथा कराल नामक राक्षस राम के सखा पिंगल का रूप धारण कर लेते है। इसी बीच वास्तविक पिंगल व काश्यप भी घटनास्थल पर आ जाते हैं, किन्तु राम उन्हें राक्षस और मायारूपधारी राक्षसों को पिंगल व काश्यप समझते है। तभी नेपथ्य मे मायामय सीता का आर्तनाद सुनाई देता है; वह अपने पिता की मृत्यु के शोक में अग्नि-चिता में प्रवेश कर जाती है। राम भी उसका अनुगमन करना चाहते हैं, पर मारीच की मूर्खता से सारा रहस्य खुल जाता है। तभी राम के पाद-स्पर्श से एक शिला अहल्या बन जाती है; वह राक्षसों की माया का भेद खोल देती है। भयभीत राक्षस मृग का रूप धारण कर भाग निकलते हैं। चतुर्थ अंक में पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार रावण राम का, सारण लक्ष्मण का तथा विद्युज्जिह्व विश्वामित्र का रूप धारण कर आश्रम मे स्थित जनक से भेंट करते हैं। तभी इन्द्र

---

1. दशानन—अहा विद्याप्रभावः। न केवलमस्मान् न जनो न पश्यतीति, न शृणोति वचनानि च। जानकी परिणय, 1 पृ० 32 (श्री गणेशशास्त्री लेले द्वारा सपादित, बम्बई, 1866).
2. शीलवती—सुचरिते, त्वा भणामि, प्रियसख्या . करकौशलमुत्प्रेक्ष्य तत्प्रथममेवास्या हस्ते कटक-युगलमामोचितम्। यत् तातकौशिकेन राक्षसान्धकरमणिघटित जानकीहस्ते आमुञ्चेति तव हस्ते समर्पितमासीत्। यस्मिन् राक्षसान्धकरणो मणि.।

   वही, 2 पृ० 62 (?)
3. कराल—ईषत्करमेवैतदिदानीमार्यस्य—

   विप्रियश्रवणात्सद्यः पतन्तीं हव्यवाहने।
   मायासीतामनुपतेद् रामस्तत्प्रेमगौरवात्॥ वही, 3.13.

का गुप्तचर एक गन्धर्व नेपथ्य से सूचना देता है कि राक्षस लोग राम, लक्ष्मण व विश्वामित्र का रूप धारण कर आश्रम की ओर आ रहे हैं। अनन्तर वास्तविक राम, लक्ष्मण व विश्वामित्र आश्रम में आते है पर जनक उन्ही को मायारूपधारी राक्षस मानते हैं। अपने सन्देह के निवारण के लिए जनक प्रतिज्ञा करते है कि शिव का धनुष चढ़ा देने वाले व्यक्ति के साथ ही जानकी का परिणय होगा। इस बीच माया राम, लक्ष्मण व कौशिक दृश्य रूप में वहां से खिसक जाते है, किन्तु तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्य होकर निकट ही उपस्थित रहते है। उधर वास्तविक राम शिव-धनुष को चढ़ाकर सीता के साथ विवाह करते हैं।

पंचम अक मे राम पर आसक्त शूर्पणखा सीता का[1] और सीता पर आसक्त विराध राम का[2] माया रूप धारण करते है, पर एक दूसरे को ही वास्तविक राम व सीता समझने की भूल कर बैठते है।[3] विराध सीतारूपधारिणी शूर्पणखा को लेकर आकाश में उड़ जाता है पर जटायु उनके मार्ग को रोक लेता है। तब वे भूमि पर उतर आते है तथा एक-दूसरे का वास्तविक रूप पहचान कर बड़े लज्जित होते है।

षष्ठ अंक में उपनस्-प्रणीत एक प्रेक्षणक अप्सराओं द्वारा रावण के समक्ष अभिनीत किया जाता है। लका मे वन्दिनी सीता भी विभीषण की पुत्री अनला से प्राप्त राक्षसान्धकरमणि से जड़े कटक को पहन कर अदृश्य रूप में उस प्रेक्षणक को देखती है। सप्तम अंक मे शूर्पणखा 'पर्णादिनी' नामक एक तापसी का माया-रूप ग्रहण कर अयोध्या पहुच जाती है और भरत व शत्रुघ्न को राम, सीता, सुग्रीव, हनूमान् आदि की मृत्यु की झूठी खबर देकर भ्रांत कर देती है। वे शोकविह्वल होकर चिता मे प्रवेश करने ही वाले है कि हनूमान् यथासमय वहां पहुंच कर उन्हें राम आदि के आगमन की सूचना देते हैं जिससे उक्त दु.खद स्थिति टल जाती है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि रामभद्र दीक्षित ने प्रस्तुत नाटक में माया द्वारा रूप परिवर्तन तथा तिरस्करिणी विद्या व अद्भुत मणि के प्रभाव से अदृश्यता—इन दो अतिप्राकृतिक तत्त्वों का विशेष रूप से प्रयोग किया है।

---

1. शूर्पणखा— . इदानी जानकीरूपमवलम्ब्य दूरतो राममेकाकिनं निर्गतं गृहीत्वा हेमकूटशैलप्रदेश एतेन यथामनोरथ विहरिष्ये। — वही, 5 पृ० 266.
2. विराध—जेतुं क्षय: किमयमद्भुतबाहुसत्त्व:
   सौमित्रिरेव मम दाशरथौ कथा का।
   तज्जानकी रघुशिशोरवलम्ब्य रूप
   देशे दवीयसि हरन्विहरे यथेष्टम्॥ — वही, 5.4.
3. लक्ष्मण—आर्यो सीतां विदन्नेव राक्षसो वक्ति राक्षसीम्।
   आर्यबुद्ध्यातमप्येषा प्रतिवक्ति यथोचितम्॥ — वही, 5.35.

अद्भुतदर्पण :

जानकी परिणय के समान यह नाटक भी अनेक प्रकार के अद्भुत तत्त्वों से युक्त है। इसके रचयिता महादेव रामभद्र दीक्षित के समकालीन थे। दस अंकों के इस नाटक में अंगद-दौत्य से लेकर रावण-वध तथा राम के राज्याभिषेक तक की कथा अंकित है। इसमें अद्भुत दर्पण नामक एक मणि के अभिप्राय का प्रयोग किया गया है जो इसके नामकरण का आधार है। यह मणि मय दानव द्वारा अपने जामाता रावण को भेंट में दी गयी थी। इसकी यह विशेषता है कि तीन योजन दूर तक की समस्त वस्तुएं तथा क्रियाए इसमें प्रतिबिम्बित होती है।[1] यह मणि संयोग से राम के हाथों मे पड़ जाती है। इसके द्वारा राम व लक्ष्मण लंका में स्थित रावण के कार्य-कलाप तथा सीता के वृत्तान्त को प्रत्यक्षवत् देखते हैं।

डा० एस० के० दे० के विचार में महादेव ने अद्भुत दर्पण की कल्पना प्रसन्नराघव के छठे अंक के अनुकरण पर की है।[2] जैसाकि पहले कहा जा चुका है[3] प्रसन्नराघव के इस अंक मे विद्याधर रत्नशेखर द्वारा अपने मित्र चम्पकापीड को एक ऐन्द्रजालिक दृश्य दिखाया गया है। रत्नशेखर ने मय दानव के पुत्र चित्ररूप से यह विद्या सीखी है। इसके द्वारा वह किष्किधा पर्वत पर बैठे-बैठे ही लंका में स्थित सीता का वृत्तान्त अपने मित्र को दिखा देता है। समीप में स्थित राम व लक्ष्मण भी संयोगवश इस दृश्य को देख लेते है। अद्भुतदर्पण में 'इन्द्रजाल' का स्थान मणि ने ले लिया है, किन्तु दोनों का कार्य—सुदूर वस्तुओं व व्यापारों का दर्शन समान है।

अद्भुत प्रभाव से सम्पन्न अंगूठी, मणि आदि वस्तुओं का प्रत्यभिज्ञान, अदर्शन, मूल रूप की प्राप्ति आदि के साधन के रूप मे सस्कृत नाटक मे बहुत पहले से ही प्रयोग होता रहा है। शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, अविमारक, आश्चर्यचूडामणि आदि में हम विभिन्न उद्देश्यों के लिए इनका उपयोग देख चुके है। अद्भुत दर्पण में नाटककार ने 'मणि' के परम्परागत अभिप्राय का एक नये रूप मे प्रयोग किया है।

प्रस्तुत नाटक में राक्षसों के रूप-परिवर्तन तथा अन्य मायामय व्यापारों का भी समावेश मिलता है। प्रथम अंक में राम को विभीषण का यह सन्देश मिलता है

---

1. शम्बर— . अथवा अस्ति महाराजलंकेश्वरस्य श्वशुरेण दानवेन्द्रेण
   दर्शनोपदीकृतो महामणिरद्भुतदर्पणो नाम।
   प्रतिफलति यत्र सर्वं वस्तु यदा योजनत्रितयात्।
   तत्तत्क्रियाश्च सर्वा विना पुनर्मानसीं वृत्तिम्॥
   (अद्भुतदर्पण, 1.23 (निर्णयसागर प्रेस, बंबई, द्वितीय संस्करण, 1938).
2. दे0 हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 461.
3. दे0 प्रस्तुत प्रबन्ध, पृ0 386–387.

कि राक्षस लोग मायाप्रधान युद्ध की तैयारी कर रहे हैं तथा इस कार्य के लिए शम्बर, मय, विद्युज्जिह्व आदि को नियुक्त किया गया है, अत. हमारे पक्ष के लोगों को सावधान रहना चाहिए ।[1] इसी अंक में शम्बर नामक असुर दधिमुख वानर का रूप धारण कर राम व लक्ष्मण को अंगद के राक्षस-पक्ष मे सम्मिलित हो जाने की मिथ्या सूचना देता है । उसके व्यवहार से जाम्बवान् को सन्देह होता है और वह पकड़ लिया जाता है । किन्तु मार्ग में ही वास्तविक दधिमुख को आता देख कर वह तिरोहित हो जाता है ।[2] द्वितीय अंक में शम्बर पुनः दधिमुख के रूप में और तृतीय मे तारकेय (अंगद) के रूप में राम व लक्ष्मण के पास आता है किन्तु जाम्बवान् द्वारा पुनः पकड़ लिया जाता है एवं बन्दी बनाकर किष्किधा की गुहा में भेज दिया जाता है । नाटक में विभिन्न अवसरों पर राक्षस लोग सुग्रीव, राम व सीता के मायामय कटे मस्तकों को दिखाकर अपने प्रतिपक्षियों को भ्रान्त करने का प्रयत्न करते हैं । पचम अंक के एक ऐसे ही प्रसंग मे विद्युज्जिह्व की योजनानुसार शूर्पणखा सीता को माया राम का कटा हुआ सिर दिखाती है[3] जिससे वह (सीता) मूर्च्छित हो जाती हैं । तब त्रिजटा, सरमा आदि सीता की परिचारिका राक्षसियाँ उसे आश्वस्त करने के लिए अपनी माया द्वारा एक नाटिका प्रस्तुत करती हैं । इस माया नाटिका में पहले राम व लक्ष्मण क्रमशः कुम्भकर्ण और मेघनाद से युद्ध करते हैं और फिर रावण के साथ ।[4] नाटककार ने विकृत (माया) राम, विकृतलक्ष्मण व विकृतरावण को इसके पात्रों के रूप मे उपस्थित किया है । इस नाटिका को अशोकवन में स्थित सीता व रावण तो देखते ही हैं, राम और लक्ष्मण भी अद्भुत दर्पण के द्वारा लंका के बाहर से ही उसे देख लेते हैं ।

युद्ध-वर्णन में अनेक प्रकार के अलौकिक तत्वों का उल्लेख मिलता है । मेघनाद माया द्वारा आकाश में अदृश्य होकर युद्ध करता है ।[5] उसके द्वारा प्रयुक्त मंत्रात्मक नागास्त्र से सर्वत्र अन्धकार छा जाता है ।[6] राम के साथ युद्ध में रावण असख्य रूप धारण कर लेता है और उसका प्रतीकार करने के लिए राम भी ऐसा

---

1. अनल : मायाप्राय योद्धव्यमिति तदर्थं च मयशम्बरविद्युज्जिह्वप्रमुखमानीयते परैरादिमायाविकुलम् । वही, पृ0 12.
2. शम्बर : (सहर्षोद्रेकम्) दिष्ट्या खलु दाशरथिप्रहितं कार्यलेखमवमुक्तमत्पाणिरादाय हस्ताभ्यामवहितेन चेतसा यावदनुवाचयति तावद्यदृच्छासंनिपतितं सुग्रीवपरिचारकं दधिमुखमेव झटिति गोचरीकृत्य मया वञ्चितोऽयं जरद्भल्लूकः । वही, 2 पृ0 17-18.
3. वही, 5 पृ0 58.
4. दे0 सप्तम व अष्टम अंक ।
5. वही, 4.9,10,12,15.
6. वही, 4.10,16.

ही करते हैं।[1] रावण के कटे हुए मस्तकों के स्थान पर नये मस्तकों का आविर्भाव[2], सीता का अग्नि-प्रवेश तथा अग्निदेवता का प्रादुर्भाव[3], पुष्पक विमान द्वारा राम, सीता आदि का अयोध्या मे आगमन[4] आदि बातें रामायण के अनुसार ही है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि यह सारा ही नाटक अनेक प्रकार के अतिप्राकृतिक तत्त्वो से परिपूर्ण है। नाटककार का उद्देश्य इन तत्त्वों के प्रयोग द्वारा अद्भुत रस की निष्पत्ति कराना है जो इस नाटक का प्रधान रस है। प्राय: सभी अद्भुत तत्त्व राक्षसी माया के विभिन्न रूप है। रामायण, महाभारत व पौराणिक कथाओं मे वर्णित राक्षसों की मायाविनी प्रकृति के आधार पर नाटककार ने इन तत्त्वों की योजना की है। भवभूति, मुरारि, शक्तिभद्र, राजशेखर आदि नाटककार अपनी कृतियों मे परकाय-प्रवेश, रूप-परिवर्तन आदि राक्षसी माया का पहले ही चित्रण कर चुके थे, जिनसे प्रस्तुत नाटककार को भी प्रेरणा मिली होगी। सच तो यह है कि उसने अपना सारा ध्यान अद्भुत तत्त्वों की योजना में ही लगा दिया है जिससे नाटक के अन्य पक्षों के साथ अन्याय हुआ है। यही बात जानकी-परिणय के विषय मे भी कही जा सकती है। वस्तुत: अद्भुत तत्त्वो की अभिनव योजना ही इन नाटकों की एकमात्र विशेषता है। यही कारण है कि ये केवल कौतूहल और आश्चर्य की सृष्टि करते है, हमारे हृदय को नहीं छूते। अद्भुत तत्त्वों की योजना की प्रक्रिया में मूलकथा और पात्र दोनों को इनमें इतना विकृत कर दिया गया है कि उससे अस्वारस्य ही पैदा होता है। अत. नाटकत्व की कसौटी पर इनका कोई बहुत ऊंचा मूल्य नही आंका जा सकता।

अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग की परवर्ती परम्परा : कुछ सन्दर्भ

प्रस्तुत अध्याय मे यहा तक हमने कुछ ऐसे नाटको का अतिप्राकृतिक तत्त्वो की दृष्टि से परिचय दिया जो सस्कृत नाटक की परवर्ती परम्परा मे अधिक चर्चित रहे है या जिनका अतिप्राकृत तत्त्वो की दृष्टि से हमे अधिक महत्त्व प्रतीत हुआ।

अतिप्राकृत तत्त्वों का न्यूनाधिक प्रयोग परवर्ती काल के अन्यान्य कितने ही नाटको मे होता रहा है और यह परम्परा आधुनिक युग तक चली आयी है। हमारा उद्देश्य संस्कृत के केवल प्रमुख नाटकों मे प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों का विवेचन करना रहा है, अत: अपेक्षाकृत अल्पप्रमुख या अप्रमुख नाटकों का अध्ययन हमारे विषय

1. वही, 9.3.4.
2. वही, 9 पृ० 130.
3. वही, 10. 10-11
4. वही, 10 पृ० 142-143.

क्षेत्र में नहीं आता तथापि अतिप्राकृत तत्त्वों के स्वरूप व प्रयोग की परवर्ती परम्परा के स्पष्टीकरण के लिए हम उनमें से कुछ का संक्षिप्त विवरण देंगे ।

रामकथा पर आधारित सुभट (१३वी सदी का पूर्वार्ध) के 'दूतांगद' में राम के दूत अंगद की उपस्थिति में राक्षसी माया की सृष्टि मायामैथिली रावण की गोद में आकर बैठ जाती है[1] किन्तु शीघ्र ही उसका रहस्य खुल जाता है । इस नाटक मे चित्रागंद व हेमांगद नामक गन्धर्वो द्वारा रावण-वध व पुष्पक विमान द्वारा राम के अयोध्या-गमन की सूचना दी गयी है ।

सोमेश्वर (१३वीं सदी का पूर्वार्ध) के 'उल्लाघराघव'[2] मे सीता विवाह से लेकर राम के अयोध्या लौटने तक की राम-कथा आठ अंकों में वर्णित है । इसके अन्तिम अंक में लवणासुर का प्रणिधि कार्पटिक मुनि के वेष (रूप) में अयोध्या जाकर रावण के हाथों राम, सीता व लक्ष्मण की मृत्यु का मिथ्या समाचार देता है। इससे कौशल्या, सुमित्रा आदि अग्नि में प्रवेश के लिए तत्पर हो जाती है, किन्तु तभी राम का विमान अयोध्या पहुंच जाता है और कार्पटिक का भेद खुल जाता है । रूप-परिवर्तन व प्रवचना के इस प्रसंग पर 'वेणीसंहार' के अन्तिम अंक का प्रभाव नितांत स्पष्ट है । यहां भी नाटककार का लक्ष्य एक कृत्रिम परिस्थिति उत्पन्न कर करुण रस के चित्रण में अपना नैपुण्य प्रदर्शित करना है किन्तु आरोपित व अनुकरणमूलक होने से यह प्रसंग अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न नही कर पाता ।

चतुर्थ अंक में कुमुदांगद व कनकचूड नामक दो गन्धर्व आकाश में उड़ते हुए अपने वार्तालाप में दशरथ की मृत्यु से लेकर विराध के वध तक अनेक घटनाओं की सूचना देते हैं ।

'महानाटक' व 'हनुमन्नाटक' अनियमित नाटको की श्रेणी में गिने गये हैं ।[3] इनकी मौलिकता, प्राचीनता व प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों को संदेह है । ये दोनों एक ही नाटक के दो पृथक् किन्तु अनेक अंशों मे परस्पर समान संस्करण माने जाते हैं, जिनके वर्तमान रूप का संपादन संभवत: १३वीं शताब्दी मे हुआ ।[4] इनमे अधिकतर श्लोकों में रामकथा का परम्परागत रूप प्रस्तुत किया गया है । अतिप्राकृत

---

1. दे० दूतांगद, पृ० 35 (चौखंबा संस्कृत सिरीज, बनारस, 1950).
2. सम्पा०—मुनि पुण्यराज तथा भोगीलाल जयचन्द भाई सांडेसरा, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1961.
3. दे० कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ० 270.
4. इनमें से महानाटक में दस और हनुमन्नाटक में चौदह अंक हैं । प्रथम के संकलनकर्ता मधुसूदन मिश्र तथा द्वितीय के दामोदर मिश्र माने जाते हैं । एक किंवदन्ती के अनुसार हनुमन्नाटक मूलतः हनुमान् की कृति है ।

तत्त्वों की दृष्टि से इसमें कोई नई विशेषता नहीं है तथा नाटकीय दृष्टि से भी उनका मूल्य नगण्य है।

भास्कराचार्य (१४वीं शती ई०) के 'उन्मत्तराघव' नामक प्रेक्षणक में सीता दुर्वासा के तपोवन में पुष्प-चयन के लिए प्रविष्ट होने पर ऋषि के शाप के अनुसार हरिणी में परिवर्तित हो जाती है। राम उसके विरह में उन्मत्त होकर प्रलाप करते हैं। अन्त में अगस्त्य ऋषि के अनुग्रह से उसे अपने वास्तविक रूप की प्राप्ति होती है।[1] एक अंक का यह नाटक कालिदास के विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक से अतीव प्रभावित है।

रामपाणिवाद (१८वीं सदी का पूर्वार्ध) के 'सीताराघव'[2] में रामायण में प्राप्त अनिप्राकृतिक तत्त्वों के अतिरिक्त मुख्य रूप से रूप-परिवर्तन की दो घटनाएं आई हैं जिन पर पूर्ववर्ती राम नाटकों का स्पष्ट प्रभाव है। रूप-परिवर्तन की पहली घटना दूसरे अंक में आई है जहां ताडका और सुबाहु के वध का राम से बदला लेने के लिए मायावसु व करम्भक नामक दो असुर क्रमशः दशरथ व सुमंत्र का रूप धारण कर जनक की राजसभा में उपस्थित होते हैं। उनका लक्ष्य राम को शिवधनुष चढ़ाने और सीता के साथ विवाह करने से रोकना है। लेकिन उनकी योजना सफल नहीं होती। वास्तविक दशरथ व उनके दल के जनकपुरी में आने की बात सुनकर वे वहां से चुपचाप खिसक जाते हैं। राक्षसी माया की दूसरी घटना चतुर्थ अंक में आयी है जहां शूर्पणखा की सखी अयोमुखी मन्थरा का रूप धारण कर कैकेयी को दशरथ से दो वर मांगने के लिए प्रेरित करती है। नाटक के अनुसार शूर्पणखा राम पर आसक्त थी, इसलिये वह चाहती थी कि राम वन में आ जायें और उसे उनका सान्निध्य प्राप्त हो।

राम-कथा के समान कृष्ण-कथा भी परवर्ती संस्कृत नाटककारों का प्रिय विषय रही है। रविवर्मभूप (१३वीं शती उत्तरार्ध) का 'प्रद्युम्नाभ्युदय' नाटक[3] हरिवंश पुराण में वर्णित[4] प्रद्युम्न व प्रभावती के प्रणयाख्यान पर आधारित है। इसके तृतीय अंक में नायक प्रद्युम्न तिरस्करिणी विद्या से प्रच्छन्न रहकर नायिका प्रभावती से मिलने के लिए बाह्योद्यान में जाता है। चतुर्थ अंक में नारद व कृष्ण

---

1. अगस्त्य—अहमेकाकिनीमस्मदाश्रमे तिष्ठन्तीमितस्ततः प्लवमानामदृष्टपूर्वां हरिणीं समाधिना जानकीं निश्चित्य तत्क्षणमेव शापान्मोचित्वा भवदन्तिकमनैषम्। उ० रा०, पृ० 16.
2. सम्पा० शूरनाद् कुञ्जन् पिल्ल, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज सं० 192, त्रिवेन्द्रम 1958.
3. सम्पा० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम सिरीज सं० 8, त्रिवेन्द्रम, 1910.
4. विष्णुपर्व, 91–97.

आकाश में उड़ते हुए प्रद्युम्न व वज्रनाभ के युद्ध का वर्णन करते हैं जिसमें दोनों पक्षों की ओर से अलौकिक प्रभाव वाले अस्त्रों का प्रयोग किया जाता है। इस नाटक में कृष्ण ईश्वर के अवतार के रूप में वर्णित है। भद्रनट के विषय मे कहा गया है कि मुनियों द्वारा दिये गए वरदान के प्रभाव से वह सर्वत्र अप्रतिहत रूप से आ जा सकता है तथा उसमें आकाशगमन की भी शक्ति है।[1]

उक्त कथावस्तु पर आधारित हरिहर के (१६वीं–१७वीं शताब्दी ई०) 'प्रभावतीपरिणय' में प्रद्युम्न मायामधुकर का रूप धारण कर पुष्पों के साथ प्रभावती के अन्तःपुर में पहुंच जाता है।[2] इसी अंक मे वह तिरस्करिणी से प्रच्छन्न होकर पुनः वही कार्य करता है।[3] गद व साम्ब भी प्रद्युम्न से तिरस्करिणी विद्या सीखकर[4] सुनाभ की पुत्रियों के अन्तःपुर में प्रविष्ट हो जाते हैं।

रूप गोस्वामी (१६वीं शती) के 'विदग्ध-माधव'[5] (७ अंक), व ललित-माधव'[6] (१० अंक) नाटकों में कृष्ण, राधा व गोपियों की प्रेम कथा को चैतन्य संप्रदाय के भक्ति सिद्धान्त के आलोक में नया रूप दिया गया है। ये नाटक वैष्णव रस-शास्त्र की मान्यताओं को मूर्त रूप देने के लिए रचे गये लगते हैं। इन दोनों की विषय-वस्तु लगभग एक ही है, केवल 'ललितमाधव' में उसे अधिक विस्तार दिया गया है। इनमें चन्द्रावली व राधिका विन्ध्यगिरि की पुत्रियाँ कही गई हैं। इसके द्वितीय अंक में श्रीकृष्ण द्वारा शंखचूड़ नामक असुर का वध वर्णित है। तृतीय अंक में बताया गया है कि विरहोन्मत्त राधिका यमुना में कूद पड़ती है और विलीन हो जाती है किन्तु एक आकाशवाणी द्वारा सूचना दी जाती है कि वह सूर्यमंडल को पार कर अपर लोक मे पहुंच गई है। षष्ठ अंक मे सत्यभामा व श्रीकृष्ण के विवाह की भागवत में वर्णित कथा को नया रूप देने का प्रयास किया गया है। इसके अनुसार सत्यभामा राधिका का ही अन्य रूप थी; उसे सूर्यदेवता ने स्यमन्तक मणि सहित राजा सत्राजित् को दिया था।

---

1. कृष्ण :—विद्यते किल तातस्यास्मिन्नश्वमेधे नाट्यप्रयोगनैपुणपरितोषितमहर्षिसंघदत्तविविधवर-लब्धवैभवो भद्रनामा नटः। स खलु प्रसिद्धाकाशगमनः सर्वत्राप्रतिहतप्रवेशश्च। तन्मुखेनैव सर्वं साधनीयम्। प्रद्युम्नाभ्युदय, 1 पृ० 7.
2. मायामाधुकरी तनुं कृतवता किन्नाम यन्नार्जितम् ॥
   प्रभावतीपरिणय, 4 18 (चौखम्बा संस्कृत सिरीज, बनारस, 1959).
3. वही, 5 पृ० 127.
4. वही, 5 पृ० 128.
5. सम्पा० पं० रमाकान्त झा, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1970.
6. संपा० प्रो० बाबूलाल शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1969.

रूपगोस्वामी के नाटक कवित्व की दृष्टि से उत्कृष्ट होने पर भी नाटकत्व की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। उनमे क्रिया-तत्त्व बहुत कम है। कृष्ण, राधा व गोपियों का प्रेम रहस्यवादी-भावना से ओतप्रोत है।

शेषकृष्ण (१७वीं शती का प्रारम्भिक भाग) के 'कंसवध'[1] में भागवत के आधार पर कृष्ण-जन्म से लेकर कंसवध तक की कथा सात अकों मे वर्णित है। इसमे कोई नये अतिप्राकृत तत्त्व नही मिलते। कृष्ण का व्यक्तित्व लोकोत्तर गुणों से युक्त बताया गया है। पहले वे गोकुल में अनेक असुरों का सहार करते है और आगे चलकर मथुरा मे कंस का।

वामन भट्ट बाण (लगभग १४०० ई०) के 'पार्वती परिणय'[2] में कुमार-सम्भव के आधार पर पार्वती की तपस्या व शिव के साथ उसके परिणय की कथा निबद्ध की गई है। इसके सभी पात्र दिव्य हैं अतः इसमे प्राकृत व अतिप्राकृत का विभाजन सम्भव नहीं है। प्रथम अंक में आकाशमार्ग से नारद का पृथ्वी पर अवतरण व प्रणिधान द्वारा भविष्य का ज्ञान, द्वितीय में वनदेवता वासन्तिका का आकाश मार्ग से नन्दन-वन में गमन, तृतीय अंक मे नारद का तिरस्करिणी विद्या से अदृश्य होकर कामदेव का अनुगमन तथा शिव द्वारा कामदेव का दहन व रति को आश्वासन देने हेतु आकाशवाणी इत्यादि रूढ़िगत अतिप्राकृत तत्त्व इसमें भी आये हैं पर वे नाटक के सर्वांगीण दिव्य परिवेश के ही अंग हैं।

हरिहर के 'भर्तृहरिनिर्वेद'[3] नामक पांच अंकों के नाटक में योगी गोरक्षनाथ भर्तृहरि की मृत पत्नी भानुमती को पुनर्जीवित कर देता है[4] किन्तु भर्तृहरि संसार से विरक्त होकर उसे त्याग देता है।

रामचन्द्र (१२वी शती का अन्तिम भाग) के 'कौमुदीमित्राणंद' नामक प्रकरण में लोक कथाओं से गृहीत अनेक अतिप्राकृत तत्त्व आये है, जैसे—देवता से मंत्र की प्राप्ति, शव मे प्राण सचार, अदृश्यता आदि। इन तत्त्वों द्वारा नाटककार ने कथा को रोचक व विस्मयकारी बनाने का यत्न किया है।[5] उद्दंडी (१७वी शताब्दी) का 'मल्लिकामारुत' प्रकरण विषयवस्तु व पात्रों की दृष्टि से भवभूति के मालतीमाधव की छाया प्रतीत होता है। जहां मालतीमाधव में नायिका का हरण कापालिका द्वारा

---

1. निर्णयसागर प्रेस, बंबई, 1894.
2. वही, चतुर्थ संस्करण, 1923.
3. संपा0 दुर्गाप्रसाद, नि0 सा0 प्रे0 बंबई, 1892.
4. गोरक्ष :—राजन्, एहि वैराग्यबीजभूतां ते प्रेयसीं योगबलेन जीवयित्वा रहसि तया त्वां संगमय्य तवापनयामि निर्वेदम्। भर्तृहरिनिर्वेद, 4 पृ0 21.
5. दे0 कीथ: संस्कृत ड्रामा, पृ0 258–59.

किया गया है वहां इसमे राक्षस द्वारा । मालतीमाधव के समान इसके पांचवें अंक में नायक मारुत श्मशान में प्रेतसिद्धि का प्रयत्न करता है ।[1]

रुद्रदेव या प्रतापरुद्रदेव (१४वी शती का प्रारम्भिक भाग) द्वारा रचित 'ययातिचरित' में महाभारत के आधार पर राजा ययाति व शर्मिष्ठा की प्रणयकथा सात अंको में निबद्ध है । इसमें केवल एक ही अतिप्राकृत तत्त्व–शुक्राचार्य के शाप से ययाति का वृद्धावस्था की प्राप्ति का उल्लेख मिलता है जो मूल कथा से गृहीत है । नाटक के अनुसार स्वय शुक्राचार्य ही ययाति को शाप से मुक्त करते हैं ।[2]

कांचनाचार्य (१२वी शताब्दी) के 'धनंजयविजय'[3] नामक व्यायोग में विराट् की गायों का कौरवों द्वारा हरण करने पर उनका धनंजय (अर्जुन) के साथ युद्ध होता है जिसका वर्णन इन्द्र व विद्याधर के वार्तालाप द्वारा किया गया है । नाट्यशास्त्र के अनुसार रंगमंच पर युद्ध का प्रदर्शन वर्जित है, इसीलिए संस्कृत नाटककारों ने प्रायः आकाशचारी दिव्य पात्रों द्वारा युद्ध-वर्णन कराया है ।

प्रह्लादनदेव (१२वी शती उत्तरार्ध) के 'पार्थपराक्रम'[4] नामक व्यायोग में भी पूर्वोक्त कथा वर्णित है । इसके अंत मे वासव अप्सराओं सहित विमान से आकर अर्जुन को उसकी विजय पर बधाई व आशीर्वाद देता है ।

हरिहर (१३वी सदी पूर्वार्ध) का 'शंखपराभवव्यायोग'[5] एक ऐतिहासिक नाटक है जिसमे लाट देश के राजा सिंधुराज के पुत्र शंख व गुजरात के राजा वीरधवल के मंत्री वस्तुपाल का युद्ध वर्णित है । इस युद्ध मे वस्तुपाल विजयी होता है । विजय के पश्चात् देवी की स्तुति की जाती है । तब आकाश से देवी के शब्द सुनाई देते हैं कि मैं प्रसन्न हूं व आपकी कोई अन्य अभिलाषा हो तो उसे भी पूर्ण कर दूं ।[6] इस पर देवी से पुनः प्रार्थना की जाती है और आकाश से उसके 'एवमस्तु' शब्द सुनाई देते हैं ।[7]

विश्वनाथ (१४वीं सदी ई०) द्वारा रचित 'सौगन्धिकाहरण'[8] नामक

---

1. वही, पृ0 258.
2. ययातिचरित, 7 पृ0 74 (श्री सी0 आर0 देवधर द्वारा संपादित, भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1965).
3. सपा0 शिवदत्त, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1911.
4. गायकवाड़ ओरिण्टल सिरीज सं0 4 बड़ौदा, 1917.
5. सपा0 भोगीलाल जयचन्द भाई साडेसरा, गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज सं0 148 बड़ौदा, 1965.
6. शंखपराभव-व्यायोग, पृ0 80.
7. वही, पृ0 23.
8. संपा0 व व्याख्याकार पं0 कपिलगिरि, चौखंबा संस्कृत सीरीज, 1963.

व्यायोग का कथानक महाभारत वनपर्व के एक आख्यान पर आधारित है। द्रौपदी के आग्रह पर कुबेर के सरोवर से दिव्य पुष्प लाने के लिए जाते समय भीमसेन की गन्धमादन पर्वत पर अपने ज्येष्ठ भाई हनूमान् से भेंट होती है, पर वे एक-दूसरे को पहचान नही पाते। दोनों के बीच द्वन्द्व-युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर हनूमान् भीम को पहचान लेते हैं तथा उसे दिव्य विद्या का उपदेश देते है। तत्पश्चात् भीमसेन कुवेर के दिव्य सरोवर में जाता है जहां उसका यक्षों से युद्ध होता है। इस बीच कुवेर स्वयं आकर मध्यस्थता करता है व भीमसेन को दिव्य पुष्प प्रदान करता है। इस प्रकार नाटकीय कथा के पात्र व वातावरण दोनों अलौकिकता लिये हुए हैं।

विल्हण (१०८०–९० ई०) की 'कर्णसुन्दरी'[1] नाटिका की नायिका कर्णसुन्दरी विद्याधरराज की पुत्री है, अतः वह दिव्य स्त्री है। प्रस्तुत नाटिका में चालुक्यराज के साथ उसके प्रेम व परिणय का वृत्त परम्परागत संविधानक में वर्णित है। मदन (१३वीं शती) की 'विजयश्री' या 'पारिजातमंजरी'[2] नामक नाटिका मे जिसके दो ही अंक मिले है नायक अर्जुनवर्मा के वक्षस्थल पर गिरी हुई एक माला सुन्दरी युवती मे परिवर्तित हो जाती है। इस युवती के साथ राजा का प्रेम ही नाटिका की विषय-वस्तु है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ (१४वीं शती का उत्तरार्द्ध) की 'चन्द्रकला' नाटिका में राजा चित्ररथदेव के मंत्री सुबुद्धि को एक दिव्यवाणी सुनायी देती है जिसमे कहा गया है कि नायिका चन्द्रकला का जिसके साथ विवाह होगा उसे स्वयं महालक्ष्मी प्रकट होकर अभीष्ट वर देगी।[3] अन्ततोगत्वा ऐसा ही होता है। चित्ररथदेव व चन्द्रकला का विवाह होने पर महालक्ष्मी साक्षात् प्रकट होकर नायक को वर देती है।[4] त्रिमलदेव के पुत्र विश्वनाथ (१८वी शताब्दी) की 'मृगांकलेखा' नाटिका में कलिंग के राजा कर्पूरतिलक व मृगांकलेखा का प्रणय वर्णित है। इसमें शंखपाल नामक एक राक्षस नायिका का हरण कर उसे काली के मंदिर में ले जाता है। नायक उस राक्षस का वध कर नायिका की रक्षा करता है। बाद मे शंखपाल का भाई एक मत्त हाथी के रूप मे प्रतिशोध लेने आता है किन्तु राजा उसका भी वध कर देता है।[5]

---

1. निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1888
2. दे0 कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ0 256.
3. यस्तु भूमिपतिर्भूमौ पाणिमस्या ग्रहीष्यति।
   लक्ष्मीः स्वयमुपागत्य वरमस्मै प्रदास्यति॥
   चन्द्रकला, 1.6 (सम्पा0 बाबूलाल शुक्ल, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1967)
4. लक्ष्मी :—उत्तिष्ठ वत्स, चन्द्रकलापरिग्रहेण प्रसन्नाहमिह ते साक्षात्कारं ददामि। तदभिमतमात्मनो वरं वृणीष्व। वही, 4 पृ0 80.
5. दे0 एच0 एच0 विल्सन : थियेटर ऑव् दी हिन्दूज.

अम्बिकादत्त व्यास ने बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से कुछ पूर्व (सन् १८८०ई.) 'सामवत' नाम का नाटक लिखा जो स्कन्दपुराण के ब्रह्मोत्तर खण्ड के अन्तर्गत 'सामवतप्रकरण' पर आधारित है।[1] इसमे दुर्वासा ऋषि के शाप से सामवान् पुरुष से स्त्री हो जाता है। इस नाटक में योग-शक्ति से तृष्णा की निवृत्ति, योगी द्वारा प्रदत्त अद्भुत प्रभाव से युक्त पुष्प, आकाशगमन व अदृश्यता की शक्ति, देवी का साक्षात् आविर्भाव एवं हस्तक्षेप आदि अतिप्राकृत तत्त्व प्रयुक्त हुए हैं।[2]

हरिदास सिद्धान्तवागीश के 'विराजसरोजिनी' में मालवा के राजा हरिदश्व व गन्धर्वराजकुमारी सरोजिनी की प्रेमकथा प्रस्तुत की गई है। नायिका सरोजिनी दिव्य स्त्री होने के कारण अतिप्राकृत शक्तियो से युक्त है। द्वितीय अक मे वह अपने प्रभाव से राजा को सुला देती है तथा जागने पर उसे तो दिखायी देती है, पर रानी को नहीं। सुबाहु नामक राक्षस द्वारा हरण किये जाने पर हरिदश्व का सेनापति उसकी रक्षा करता है।[3]

मथुराप्रसाद दीक्षित (२०वीं शती के 'भक्तसुदर्शन' नाटक[4] में देवीभागवत पुराण के तृतीय स्कध (अध्याय १४–२५) के आधार पर भगवती दुर्गा की भक्ति का महात्म्य बताया गया है। पौराणिक कथा होने के कारण इसमें नाटककार ने अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रचुर प्रयोग किया है। इन तत्त्वों में से कुछ ये है–ऋषि द्वारा भविष्यवाणी (प्रथम अंक), देवी द्वारा मंत्र का उपदेश व दिव्य अस्त्रों का प्रदान (द्वितीय अंक), स्वप्न में दैवी निर्देश (तृतीय अंक), दिव्य रथ व दैवी हस्तक्षेप (पंचम अक)। श्री दीक्षित के ही 'भूभारोद्धरण' नाटक[5] में शाप, ऋषि द्वारा भविष्यवाणी (प्रथम अंक) आदि अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग मिलता है।

सन् १९५७ में प्रकाशित 'छायाशाकुन्तल' नाटक एकांकी नाटक में श्री जे० टी० पारिख ने भवभूति के उत्तररामचरित की 'छाया सीता' के अनुकरण पर 'छाया शकुन्तला' की कल्पना प्रस्तुत की है। सानुमती मारीच की अनुमति से शकुन्तला को महर्षि कण्व के आश्रम मे ले जाती है। मारीच ने शकुन्तला को अदृश्यता का वरदान दिया है। शकुन्तला सब को देख सकती है पर उसे कोई नही। कण्वाश्रम के देवता उसका स्वागत करते है। उधर दुष्यन्त स्वर्ग में असुरों को पराजित कर लौटते हुए

---

1. प्रकाशक—श्री कृष्णकुमार व्यास, द्वितीय संस्करण, काशी, 1947.
2. दे0 सामवत पृ0 47, 97, 129, 132-134, 176-7, 192.
3. दे0 उषा सत्यव्रत : सस्कृत ड्रामाज् ऑव् ट्वेन्टिएथ सेंचरी, पृ0 203-205.
4. प्रकाशक - स्वय लेखक, झासी 1954.
5. प्रकाशक—लेखक स्वय, वाराणसी, सं0 2016.

कण्वाश्रम में आता है। वहां पूर्वानुभूत दृश्यों को देखकर भावातिरेक से मूर्च्छित हो जाता है। अदृश्य शकुन्तला उसे अपने स्पर्श से संज्ञा प्रदान करती है। प्रियंवदा दुष्यंत को दुर्वासा के शाप के बारे में बताती है जिसे शकुन्तला भी सुनती है। दुष्यंत गहन परिताप का अनुभव करता है तथा पुन: मूर्च्छित हो जाता है। शकुन्तला पुन: अपना स्पर्श देकर उसे ससंज्ञ करती है। एक ओर उसे दुष्यन्त को देखने की प्रसन्नता है तो दूसरी ओर यह जानकर दु:ख कि उसके कष्ट-क्लेशों का कारण दुर्वासा का शाप है। कुछ समय बाद दुष्यन्त प्रियवंदा व अनसूया से विदा लेकर अपनी राजधानी लौट जाता है और शकुन्तला भी सानुमती के साथ मारीच आश्रम के लिए प्रस्थान करती है।[1]

श्री वोम्मकान्ति के 'देवयानी' नामक नाटक में भास के बालचरित के आधार पर शाप-पुरुष के अभिप्राय का प्रयोग किया गया है। इसके पंचम दृश्य में देवयानी के आदेश से शाप-पुरुष ययाति के शरीर मे प्रविष्ट होकर उसे वृद्ध बना देता है। ययाति जब सोकर उठता है तो स्वयं को वृद्ध पाता है।[2] यहां नाटककार ने महाभारत के शाप-प्रसंग को नया रूप देने के लिए भास से प्रेरणा ली है। इसी लेखक की एक अन्य कृति 'यामिनी' में नायक बिल्हण को मारने के लिए नियुक्त वधपुरुष की खड्ग पुष्पमाला में बदल जाती है।[3] इस घटना से प्रभावित होकर राजा बिल्हण के पास जाकर उससे क्षमा मांगता है।

संस्कृत के आधुनिक नाटककारों मे अग्रणी श्री वाई० महालिंगशास्त्री के 'प्रतिराजसूय' एवं 'उद्गातृदशानन' नामक नाटको में अनेक अतिप्राकृत तत्त्व आये हैं। ये दोनों पौराणिक कथाओं पर आधारित नाटक हैं अत: इनके अधिकाश पात्र व परिवेश स्वभावत अतिमानवीय तत्त्वों से युक्त है। प्रतिराजसूय मे सूर्य देवता युधिष्ठिर को एक अक्षयपात्र देते हैं जो प्रार्थना करने पर यथेप्सित भोजन देता है। द्रौपदी इसी पात्र की सहायता से दुर्वासा ऋषि का उचित आतिथ्य करती है। इसके अतिरिक्त असुरो से युद्ध के लिए अर्जुन का स्वर्ग-गमन, इन्द्र के रथ मे बैठकर उसका पृथ्वी की ओर आगमन, कौरवों को दुर्वासा का शाप, दुर्योधन की आकस्मिक अदृश्यता आदि अतिप्राकृत तत्त्व भी इसमें आये हैं।[4] इन तत्त्वों में से अनेक पर कालिदास आदि का प्रभाव नितान्त स्पष्ट है। 'उद्गातृदशानन' में शिवजी के शाप से पार्वती की सखी विजया पिशाचिनी बन जाती है। नारद जी मेघों पर आरूढ़ होकर

---

1. दे0 उषा सत्यव्रत : सस्कृत ड्रामाज् ऑव् ट्वेन्टिएथ सेंचरी, पृ 231-232.
2. वही, पृ0 242.
3. वही, पृ0 244.
4. दे0 प्रतिराजसूयम्, पृ0 14, 98, 140, 160-161, 180-181 (वाणीविलास प्रेस, श्रीरगम्, 1957)

कैलास पर्वत पर उतरते हैं। किसी अज्ञात शाप के कारण रावण का पुष्पक विमान अचल हो जाता है। रावण अपने हाथों पर कैलास को उठा लेता है, पर शिव अपने पदतल से कैलास को इतना दबाते हैं कि रावण की भुजा पर्वत के भार से कुचल-सी जाती है। तब एक आकाशवाणी रावण को शिव की स्तुति करने के लिए प्रेरित करती है। अनन्तर रावण के प्रार्थना करने पर प्रसन्न शिव उसके समक्ष प्रकट होकर उसे आशीष व वरदान देते हैं। तब एक आकाशवाणी होती है कि रावण का पुष्पक विमान तभी हिलेगा जब शिवजी विजया को शाप-मुक्त करेंगे। इस पर शिव विजया का शाप समाप्त कर देते हैं।[1]

कालिपद तर्काचार्य के 'नलदमयन्तीय' में नायक नल में अदृश्यता की शक्ति बताई गई है जो मूलकथा के अनुसार है। इसमें कलि के द्वारा दमयन्ती को यह शाप दिया गया है कि वह अपने पति के साहचर्य-सुख से वंचित होगी। इस शाप के प्रभाव से ही नल दमयन्ती को पूरी तरह भूल जाता है।[2] नाटककार की इस कल्पना पर शाकुन्तल का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है।

पं० छज्जूराम शास्त्री के 'दुर्गाभ्युदय' नाटक में भगवती दुर्गा द्वारा विभिन्न असुरों के वध की पौराणिक कथा सात अंकों में निबद्ध है। इसका समग्र कथाजगत् अतिप्राकृतिक है जिसमें भगवती दुर्गा, ब्रह्मा, विष्णु, नारद, इन्द्र आदि विभिन्न दैवी पात्रों के अतिमानवीय कार्य वर्णित है।[3] काव्यशैली के स्तर पर यह नाटक एक उत्कृष्ट कृति माना गया है, किन्तु नाटकीय गुणों की दृष्टि से उतना सराहनीय नहीं है।

डॉ० वी० राघवन के 'लक्ष्मीस्वयंवर' 'रासलीला' तथा 'कामशुद्धि' नामक एकांकी नाटकों की कथाएं पौराणिक हैं, अतः उनका वातावरण, घटनाएं व पात्र अनेक अतिप्राकृत तत्त्वों से युक्त है जो प्राय: मूल स्रोतों पर आधारित है।[4]

प्रस्तुत अध्याय में हमने संस्कृत नाटक के ह्रासयुग के कतिपय प्रसिद्ध, बहु-चर्चित अथवा प्रकाशन के कारण सुलभ नाटकों का अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से कहीं विस्तारपूर्वक और कहीं सक्षेप में परिचय दिया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हमने ह्रासकाल के जितने नाटकों को लिया है उनसे कितने ही गुना अधिक नाटक इस सर्वेक्षण में अनुल्लिखित रह गए है। किन्तु हमारा उद्देश्य संस्कृत के प्रमुख

---

1. दे0 उद्गातृदशाननम् पृ0 5, 10, 43, 47–50, 59, 64–65 (साहित्यचन्द्रशाला, तिरुवालङ्गाडु, 1958)
2. संस्कृत ड्रामाज् ऑव् ट्वन्टिएथ सेंचरी, पृ0 234.
3. वही, पृ0 273–276.
4. दे0 डा0 वीरबाला शर्मा : संस्कृत में एकांकी रूपक, पृ0 350–353.

नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों के परिशिष्ट के रूप मे ही उनके प्रयोग की परवर्ती परम्परा का दिङ्निर्देश मात्र करना था, उनका सर्वांगीण अध्ययन व विवेचन नहीं।

पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि संस्कृत नाटक में अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग उसकी समग्र परम्परा में अविच्छिन्न रूप से होता रहा है, यहां तक कि आधुनिक काल में भी पौराणिक कथाओ व रामायण, महाभारत के आख्यानों को लेकर जो नाट्य-कृतियां प्रस्तुत की गई है, उनमें ये तत्त्व प्राचीन नाटकों के समान ही प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि मध्यकालीन व आधुनिक नाटकों मे प्रयुक्त अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व प्रायः वही है जिनका पुरातन नाटककारों ने अपनी कृतियों मे प्रयोग किया था। इससे प्रतीत होता है कि संस्कृत नाटक के क्षेत्र में अन्य नाटकीय तत्त्वों के समान अतिप्राकृत तत्त्व भी बहुत कुछ रूढ़िबद्ध हो गए थे। अधिकतर नाटककारों ने नये विषयों व पात्रों को ग्रहण करने की अपेक्षा रामायण, महाभारत व पुराण ग्रंथों मे प्रसिद्ध व पूर्वनाटककारों द्वारा बहुशः प्रयुक्त कथाओं को ही लेकर नाटकों की रचना की। बहुत कम नाटककारों ने आधुनिक काल से पूर्व अपनी समसामयिक विषयवस्तु पर लेखनी चलाई। संस्कृत नाटक के क्षेत्र में दिखाई देने वाली व्यापक रूढ़िवादिता इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। परवर्ती नाटककारों की उक्त रूढ़िवादी प्रवृत्ति ही यह सूचित करती है कि उनमे मौलिकता की कमी है। यही कारण है कि अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग मे ये नाटककार किसी प्रकार की अभिनवता या वैशिष्ट्य प्रदर्शित नही कर सके। कुछ नाटककारों ने तो जानबूझ कर कालिदास, भवभूति जैसे विश्रुत नाटककारों का अनुकरण किया जिसका उल्लेख हम पूर्व पृष्ठों मे यथा स्थान कर चुके है।

जैसा कि हम पहले बता चुके है कि अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग-मात्र किसी नाट्यकृति को सौन्दर्य प्रदान नही करता जब तक कि वे उसकी वस्तु-संरचना, चरित्र-संरचना, चरित्र-सृष्टि एवं रस-निष्पत्ति के आन्तरिक व अविभाज्य तत्त्व नहीं बनाये जाते। इस कार्य में कवि-प्रतिभा की आवश्यकता होती है जो विरले ही लोगों में पाई जाती है। भास, कालिदास, भवभूति आदि ऐसे ही नाटककार थे। परवर्ती काल में अनेक कारणों से संस्कृत नाटक की मौलिक व महान् परम्परा रूढ़िबद्ध व जड़ हो गई और बाद के नाटककारों ने अपने लब्धप्रतिष्ठ पूर्ववर्तियों के अनुकरण या पिष्टपेषण में ही अपने कर्तृत्व की सफलता मानी। यही कारण है कि भवभूति के बाद की सुदीर्घ नाट्य-परम्परा में जो आज तक अबाधित रूप से चली आ रही है बहुत कम ऐसी कृतियां हैं जो प्रथम कोटि में रखी जा सकें।

उपसंहार

विगत अध्यायों में हमने अतिप्राकृत तत्त्वों के सामान्य स्वरूप, सैद्धांतिक आधार तथा नाट्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए संस्कृत के प्रमुख नाटकों में उनके प्रयोग के वैशिष्ट्य का अध्ययन व आकलन किया। अब यहां हम अपने अध्ययन के सार व निष्कर्षों को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

मानव चिन्तन के इतिहास पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि सृष्टि व उसकी शक्तियों तथा उनके साथ अपने सम्बन्ध के विषय में मनुष्य के प्रारम्भ से ही मुख्यतः दो प्रकार के दृष्टिकोण रहे हैं। एक दृष्टिकोण ने सृष्टि की अवगति व व्याख्या अतिप्राकृत तत्त्वों के सन्दर्भ में की तथा दूसरे ने प्राकृतिक शक्तियों के माध्यम से। प्रथम दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति धर्म, दर्शन, पुराकथा व लोककथा आदि के माध्यम से हुई और दूसरे की वस्तुवादी चिन्तन, वैज्ञानिकविकास एवं तर्क-प्रधान बुद्धिवाद के रूप में। प्राच्य व पाश्चात्य उभय परम्पराओं के ऐतिहासिक अनुशीलन से विदित होता है कि आधुनिक युग में वैज्ञानिक चिन्तन के आविर्भाव से पहले तक मनुष्य की विचारधारा में अतिप्राकृतवादी धारणाओं का ही प्राधान्य था। अतः उसने सृष्टि को समझने व उसकी शक्तियों के साथ अपने सम्बन्ध की अवधारणा में प्रायः अतिप्राकृत कल्पनाओं का ही आश्रय लिया। भारतीय धर्म, दर्शन, पौराणिक कथाएं एवं जन-सामान्य में प्रचलित लोककथाएं इस कथन के साक्षी हैं। हमारा प्राचीन साहित्य इन सभी स्रोतों से गृहीत अतिप्राकृत तत्त्वों से ओतप्रोत है। उसमें प्राकृत व अतिप्राकृत दोनों एक ही विश्व के परस्पर सहयोगी व पूरक अंगों के रूप में अन्तर्भूत हैं। संस्कृत नाटक में भी प्राकृत व अतिप्राकृत तत्त्वों के सम्बन्ध के विषय में प्राय यही धारणा व्यक्त हुई है। उसमे ये तत्त्व इस प्रकार एक-दूसरे में ओतप्रोत हैं कि उनमें विभाजक रेखा खींचना अतीव कठिन है।

संस्कृत नाटक की उपलब्ध परम्परा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसमें आरम्भ से ही अतिप्राकृत तत्त्वों का सन्निवेश रहा है। नाट्यशास्त्र में वर्णित नाट्यो-

त्पत्ति की कथा तथा स्वर्ग में अभिनीत प्रारम्भिक नाटकों के विवरण धर्म व पौराणिक कथाओं के साथ संस्कृत नाटक के चिरंतन संबंध के साक्षी हैं। अश्वघोष, भास, कालिदास व भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन व प्रधान नाटककारों की कृतियां भी धार्मिक व पौराणिक आस्थाओं व कल्पनाओं के साथ नाटक के निकट संबंध की परिचायक है। आधुनिक विद्वानों ने भी संस्कृत नाटक के उद्भव में विविध धार्मिक उपासनाओं, इतिहास व पुराणों की कथाओं तथा उनकी धार्मिक व नैतिक चेतना के प्रभाव को स्वीकार किया है। इससे सिद्ध है कि संस्कृत मे साहित्यिक नाटकों के उद्भव व विकास मे धार्मिक-पौराणिक पृष्ठभूमि का अत्यधिक योगदान रहा। संस्कृत के अधिकांश नाटकों की विषयवस्तु रामायण, महाभारत व पुराणों की कथाओं से ली गई है जिससे पूर्वोक्त कथन का समर्थन होता है। अतः हमारे विचार में संस्कृत नाटकों मे अतिप्राकृत तत्वों का प्रयोग उसकी धार्मिक, दार्शनिक व पौराणिक पृष्ठभूमि का सीधा परिणाम है। कुछ ऐसे भी नाटक हैं जिनमें लोक-कथाओं की परम्परा से ये तत्त्व आये हैं। धार्मिक व पौराणिक कथाओं के समान लोक कथाओं में भी अतिप्राकृत तत्त्वों का सदा से ही समावेश रहा है। अतः इस दिशा से प्रभावित संस्कृत नाटकों में भी अतिप्राकृत तत्त्वों का सहज रूप से प्रयोग मिलता है। कुछ अतिप्राकृत तत्त्व जन-सामान्य मे प्रचलित ऐसे विश्वास हैं जो अति-प्राकृत शक्तियों या तत्त्वों के स्पष्ट या अस्पष्ट संकेत माने जा सकते हैं, जैसे—शकुन, दैव, कर्म आदि। संस्कृत नाटको में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व सामान्यतः उक्त सभी प्रभावों व योगदानों के सामूहिक फल हैं।

संस्कृत का समग्र उपलब्ध नाटक-साहित्य नाट्यशास्त्र के वर्तमान रूप या उसके किसी प्राचीनतर रूप का परवर्ती कहा जा सकता है। अश्वघोष के नाटक जिनका रूप-शिल्प नाट्यशास्त्र की मर्यादाओं में ढल चुका है, इस शास्त्र के पूर्व अस्तित्व की ओर इंगित करते हैं। भास के नाटक कुछ अंशों में नाट्यशास्त्र के प्रतीपगामी होते हुए भी अधिकांश में उनके अनुवर्ती ही हैं। कालिदास व अन्य नाटककार नाट्यशास्त्र के परवर्ती हैं, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि संस्कृत नाटक अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग के विषय में कतिपय नाट्यशास्त्रीय निर्देशों का अनुगमन करें। यह अनुगमन अनेक क्षेत्रों में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए रूपक के भेदों मे निर्दिष्ट अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग में तथा नाटक मे नायक के दिव्य साहाय्य व निर्वहण संधि में अद्भुत रस की योजना में, विमर्शसंधि में शाप जैसी दैवी-विपत्तियों के चित्रण में तथा अनेक प्रकार के अतिमानवीय पात्रों व विभिन्न रसो की योजना में नाटककारों ने नाट्यशास्त्रीय निर्देशों का अनुगमन किया है।

संस्कृत के सबसे पुराने नाटककार अश्वघोष की कृतियां इतने खंडित रूप में मिली हैं कि उनमें प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी उनके एकाध स्थलों से यह सिद्ध है कि उनमें बुद्ध के व्यक्तित्व को अलौकिक स्तर पर चित्रित किया गया है जिस पर महायान बौद्ध धर्म की मान्यताओं का प्रभाव प्रतीत होता है।

संस्कृत नाटककारों में भास ही वे प्रथम नाटककार हैं जिनकी कृतियों में अतिप्राकृत तत्त्वों का व्यापक प्रयोग हुआ है। इस क्षेत्र में प्रथम होते हुए भी उनकी निपुणता सराहनीय है। 'अभिषेक' 'बालचरित' व 'दूतवाक्य' में उन्होंने राम व कृष्ण के ईश्वरत्व के प्रतिपादन के लिए अनेकविध अतिप्राकृत तत्त्वों की योजना की है। इनमें से कुछ तत्त्व रामायण व पौराणिक कथाओं से गृहीत हैं और कुछ नाटककार की मौलिक उद्भावनाएं। ये सभी तत्त्व उनकी उत्कट धार्मिक भावना की अभिव्यक्तियां मानी जा सकती हैं। 'प्रतिमा' में चरित्रों को परिष्कृत करने के लिए तथा 'मध्यमव्यायोग' में कथावस्तु को रोचक बनाने के लिए इन तत्त्वों का प्रयोग किया गया है। भास के लोक कथामूलक नाटकों में सबसे अधिक अतिप्राकृत तत्त्व 'अविमारक' में आए हैं जिनका मूल स्रोत लोककथाएं ही प्रतीत होती हैं।

अतिप्राकृत तत्त्वों का सबसे सार्थक व कलात्मक प्रयोग कालिदास के नाटकों में उपलब्ध होता है—विशेष रूप से 'विक्रमोर्वशीय' व 'शाकुन्तल' में। इनमें से प्रथम में नाटककार ने एक ऐसी पौराणिक कथा प्रस्तुत की है जिसमें प्राकृत व अतिप्राकृत तत्त्व एक दूसरे में घुल-मिल गए हैं। इसकी नायिका उर्वशी तो दिव्य स्त्री है ही, नायक पुरूरवा का व्यक्तित्व भी अलौकिकता से मंडित है। इसमें प्रयुक्त अनेक अतिप्राकृत तत्त्व इन पात्रों के अतिमानवीय व्यक्तित्व के अंग हैं या उनका सम्बन्ध किन्हीं ज्ञात-अज्ञात दैवी शक्तियों से है जो मानव-कार्यकलापों में रुचि ही नहीं लेती, उचित अवसर पर उनमें हस्तक्षेप भी करती है या अपने दैवी अनुग्रह व साहाय्य से उन्हें उपकृत करती हैं। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में नाटकीय कथा पूर्वोक्त नाटक की अपेक्षा अधिक लौकिक व मानवीय है, किन्तु इस मानवीय कथा के बीच-बीच में अलौकिक व अतिमानवीय तत्त्वों का भी निवेश किया गया है। इसमें आए अतिप्राकृत तत्त्वों में से अनेक कालिदास के युग में प्रचलित पौराणिक कल्पनाओं पर आधारित हैं तथा कुछ पात्रों के अतिमानवीय उद्भव व अलौकिक व्यक्तित्व से सम्बन्धित हैं। कुछ में कालिदास ने प्रकृति व मानव के आन्तरिक भावैक्य का दर्शन कराया है। कुछ का प्रयोग प्रणयकथा को अभीष्ट दिशा में परिवर्तित या विकसित करने के लिए किया गया है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व दुर्वासा का शाप है जिस पर समस्त नाटकीय घटनाचक्र केन्द्रित है। इसके द्वारा कालिदास ने अपने प्रेम-

दर्शन की भी गम्भीर मीमांसा की है। इस प्रकार कालिदास के नाटकों में अति-प्राकृतिक तत्त्वों का प्रयोग चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया है। वस्तु नेता और रस नाटक के तीनों ही तत्त्वों को इनसे सौन्दर्य प्राप्त हुआ है।

कालिदास के अनन्तर सामाजिक रूपकों की परम्परा में मूर्धन्य माने जाने वाले मृच्छकटिक व मुद्राराक्षस में अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रायः अभाव है; केवल कुछ सामान्य लोकविश्वासों के रूप में इनका विनियोग हुआ है।

हर्ष के नाटकों में मुख्यतः निर्वहण संधि में अद्भुत रस की सृष्टि करने एवं उन्हें सुखान्त बनाने के लिए इन तत्त्वों का विशिष्ट प्रयोग किया गया है। इस दृष्टि से नागानन्द विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' में संस्कृत नाटक के ह्रासयुग की प्रवृत्तियों का सूत्रपात देखा जा सकता है। उनके एकमात्र उपलब्ध नाटक मे अतिप्राकृत तत्त्व एकाध अपवादों को छोड़कर नाटक की संरचना के सार्थक अंग नही बन सके है।

भवभूति के महावीरचरित में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व अधिकतर मूलकथा से गृहीत हैं, केवल उनकी नाटकीय योजना में कुछ परिष्कार किया गया है। मालती-माधव मे इन तत्त्वों के प्रयोग से प्रकरण के सामाजिक वातावरण में अवास्तविकता का समावेश हुआ है एवं वस्तुविकास निरर्थक जटिलताओं में फसकर आकस्मिक दैव-योग पर निर्भर हो गया है। उत्तररामचरित मे कुछ अतिप्राकृत कल्पनाएं भवभूति की उत्कृष्ट नाट्य-निपुणता व भाव-गम्भीर कवित्व की परिचायक है। इनमें अदृश्य सीता की कल्पना एक अप्रतिम उद्भावना है। इस नाटक मे कवि हमे वास्तविक जगत् से हटाकर पौराणिकता के अतिमानवीय लोक मे पहुंचा देता है जहा कालिदास के नाटकों क समान ही प्राकृत व अतिप्राकृत की सीमाएं एक दूसरे मे विलीन हो जाती है।

भवभूति के साथ संस्कृत नाटक की मौलिक व प्रातिभ परम्परा पूर्ण परिपाक पर पहुंच कर ह्रास की दिशा में उन्मुख हो जाती है। मुरारि व राजशेखर के नाटक संस्कृत नाटक के पूर्ण ह्रास का प्रतिनिधित्व करते है। इन नाटकों मे अन्य तत्त्वों के समान ही अतिप्राकृत तत्त्वों का विनियोग भी कलात्मकता से सर्वथा शून्य है। इनमें अतिप्राकृत तत्त्व वस्तु-विकास या चरित्र-चित्रण में कोई सार्थक भूमिका नही निभाते; वे केवल कौतूहल या कौतुक की सृष्टि करते हैं। साथ ही इन नाटक-कारों मे अनुकरण की प्रवृत्ति भी देखी जा सकती है। कुछ अतिप्राकृत तत्त्व जिनकी रूढिबद्धता भवभूति के नाटकों में ही स्पष्ट होने लगी थी इन नाटककारों की कृतियों में लगभग पूर्णतया गतानुगतिकता में बदल गई है। परवर्ती संस्कृत नाटकों में,

कुछेक अपवादों को छोड़कर, यही प्रवृत्ति क्रमशः तीव्र होती हुई एक स्थायी वृत्ति बन गई है। यही कारण है कि बाद के नाटकों में पूर्ववर्ती नाटकों के अतिप्राकृत तत्त्वों की कहीं स्पष्ट और कहीं अस्फुट प्रतिध्वनियां सुनाई देती हैं। ये परवर्ती नाटक जिस तरह अन्य तत्त्वों की दृष्टि से रूढिग्रस्त व गतानुगतिक हो गये उसी प्रकार अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग मे भी। उन्होंने अधिकतर इन तत्त्वों के परम्परागत रूप को ही अपनाया तथा कुछ स्थितियों में उन्हें हास्यास्पद अतिरेक पर पहुंचा दिया। इस विषय में राक्षसी माया या रूप-परिवर्तन के अतिप्राकृत अभिप्राय का उल्लेख किया जा सकता है। रामकथा पर आधारित परवर्ती नाटकों में इस अभिप्राय को अतीव अस्वाभाविक परिणति पर पहुंचा दिया गया है। यों तो अतिप्राकृत पौराणिक कथाओं को लेकर बाद मे भी नाटक लिखे जाते रहे, पर भास, कालिदास व भवभूति की कृतियों मे पौराणिक कल्पनाएं जिस प्रकार जीवित धर्म व लोक-विश्वासों की अंग रही हैं वैसी परवर्ती नाटकों में नहीं। उनमे ये कल्पनाएं भी प्रायः रूढ़िग्रस्त हो गई हैं।

संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों में निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय है—शाप और वरदान, रूपपरिवर्तन या माया, परकायप्रवेश, अशरीरिणी या दिव्य वाणी; देवता का नियम; पुनरुज्जीवन; तिरस्करिणी, शिखाबन्धिनी, जलस्तंभिनी, दिव्यास्त्र व तन्त्र-मंत्र आदि विद्याओं के अलौकिक चमत्कार; अदृश्यता, आकाशगमन व लोक-लोकान्तरों की यात्रा; ईश्वरत्व को सिद्ध करने वाली चामत्कारिक घटनाएं; मानव कार्यों में दैवी शक्तियों का हस्तक्षेप, अनुग्रह या साहाय्य; स्वप्न में दैवी निर्देश; योग-साधना, तपस्या आदि से उपलब्ध अलौकिक शक्तियां, जैसे भूत-भविष्य का ज्ञान, दूरस्थ विषयों व घटनाओं का ज्ञान व सिद्धियां आदि; अलौकिक सत्यक्रिया या सत्यापन; दैवी अनुमोदन व प्रसन्नता की सूचक घटनाएं (पुष्पवृष्टि, दुन्दुभिवादन आदि); लोकोत्तर प्रभाव से संपन्न अस्त्र; अद्भुत वस्तुएं जैसे अंगुलीयक, मणि, दर्पण आदि; दिव्य लोक व आश्रम आदि। इनके अतिरिक्त संस्कृत नाटकों मे अनेक प्रकार के अतिप्राकृत पात्रों की भी विस्तृत योजना मिलती है। इन पात्रों मे अवतारी पुरुष, देवता, देवदूत, अवरदेवता—गन्धर्व, अप्सरा, विद्याधर आदि, अशुभ शक्तियां—असुर, राक्षस, भूत-प्रेत पिशाच आदि, दिव्य ऋषि, लोकोत्तर शक्ति से संपन्न मानव पात्र, आध्यात्मिक सिद्धियों से युक्त मानव महर्षि, प्राकृतिक देवता (नदी-देवता, वन देवता आदि) व प्रतीकात्मक अलौकिक पात्र आदि प्रमुख हैं। कुछ अतिप्राकृत तत्त्वों का लोकविश्वासों के द्वारा भी संकेत दिया गया है। इनमे शकुन, भाग्य या दैव, कर्मविपाक, सिद्धादेश, दोहद आदि से संबंधित विश्वास उल्लेख्य है। संस्कृत नाटकों मे इन विभिन्न तत्त्वों का विविध उद्देश्यों के लिए तथा विविध पद्ध-

तियों से प्रयोग किया गया है। ये तत्त्व प्रायः नाटक में गृहीत पारम्परिक व प्रख्यात कथा के रूढ अंगों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इनके प्रयोग द्वारा नाटककार ने कथा के परंपरागत रूप को अविकल रखने का यत्न किया है। कालिदास व भवभूति जैसे प्रतिभाशाली नाटककारों ने कथा के पारम्परिक रूप को ग्रहण करते हुए भी उन्हें अपने विशिष्ट नाटकीय प्रयोजनों के अनुसार नूतन रूप में ढालने का सराहनीय प्रयत्न किया है। इस उद्देश्य के लिए उन्होंने या तो मूलकथा के अतिप्राकृत तत्त्वों का ही नूतन रूप में संयोजन किया है या सर्वथा नये तत्त्वों की योजना की है। उनकी प्रतिभा के स्पर्श से परंपरागत अतिप्राकृत तत्त्व भी अभिनव अर्थ से युक्त होकर मौलिक उद्भावनाओं में बदल गये हैं किंतु मुरारि, राजशेखर आदि अनेक परवर्ती नाटककारों ने केवल कथा के रूढ़ अंग के रूप में ही उनका विन्यास किया है। इन नाटककारों ने जहां अतिप्राकृत तत्त्वों की नूतन कल्पना की है, वहां वे उसे नाटकीय संरचना का अभिन्न अंग नहीं बना सके हैं। उनका उद्देश्य केवल कथा-प्रवाह को कौतूहलपूर्ण व विस्मयजनक बनाना है।

संस्कृत नाटककारों ने परंपरागत कथाओं को अपने नाटकीय ध्येयों के अनुरूप परिवर्तित करने, उनके नाटकीय विनियोग की विभिन्न अवस्थाओं को सोद्देश्य बनाने एवं विशेष रूप से उसके अंतिम भाग (निर्वहण संधि) को अद्भुत रस की सृष्टि द्वारा चमत्कारपूर्ण रूप देने के लिए इन तत्त्वों का प्रयोग किया है। अनेक नाटकों में ये तत्त्व कथा में जटिलताओं की सृष्टि करके मानव के आकस्मिक भाग्य-विपर्यय व जीवन के कष्टक्लेश व संघर्षमय पक्षों के चित्रण में सहायक होते हैं और साथ ही उन जटिलताओं को सुलझाने, कष्ट-क्लेशों का निवारण करने व नाटकीय कथा के दुःखोन्मुख घटनाचक्र को सुखान्त परिणति पर पहुंचाने में भी इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। संस्कृत नाटकों में प्रारंभ से ही सुखान्तता की सर्वमान्य परंपरा रही है जिसके मूल में एक आदर्शवादी नैतिक आग्रह के साथ-साथ मानवीय शुभ संकल्पों व सत्प्रयासों की अंतिम सफलता, दैवी व्यवस्था की न्यायशीलता, कर्म-सिद्धान्त में दृढ़ आस्था तथा काव्य के उद्देश्य के विषय में आनन्दवादी दृष्टिकोण निहित है। इस सुखान्तता को व्यावहारिक रूप देने के लिए संस्कृत नाटककारों ने प्रायः अतिप्राकृत तत्त्वों का आश्रय लिया है। ये तत्त्व कभी तो नाटकीय घटनाचक्र से स्वभावतः निःसृत होते हैं और कभी उनका बाहर से आरोपण किया जाता है, जो कुछ स्थितियों में नाटक की कथा से बहिर्भूत या दूरतः सम्बद्ध दैवी शक्तियों के आकस्मिक व अकल्पित हस्तक्षेप व अनुग्रह आदि के रूप में होता है। इस दूसरी स्थिति में प्रायः नाटक का अंत कृत्रिम व आरोपित हो जाता है तथा वह अभीष्ट नाटकीय प्रभाव की सृष्टि नहीं करता। भास के अविमारक, हर्ष के नागानन्द व

क्षेमीश्वर के चंडकौशिक को इसके उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। कुछ अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग मात्र सूचना देने के लिए किया जाता है। रंगमंच पर जिन घटनाओं को साक्षात् प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, फिर भी नाट्यवस्तु के विभिन्न भागों को शृंखलित करने के लिए जिनका ज्ञान आवश्यक है उनकी सूचना के लिए नाटककारों ने या तो विद्याधर, गन्धर्व आदि दिव्य पात्रों के वार्तालाप की योजना की है या इन्द्रजाल, दर्पण, आदि अद्भुत उपायों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार पात्रों के प्रत्यभिज्ञान, विस्मृत घटनाओं की पुनः स्मृति, मूलरूप की प्राप्ति, नाटकीय कथा के गतिरोध की समाप्ति, दूरवर्ती घटनाओं व विषयो का साक्षात् ज्ञान आदि उद्देश्यों के लिए अद्भुत प्रभाव से युक्त अंगूठी, मणि, दर्पण आदि का नाटककारों ने आश्रय लिया है जिनका विवरण हम विभिन्न नाटकों के प्रसंग में हम दे चुके हैं।

अतिप्राकृत तत्त्वो की योजना का एक उद्देश्य नाटक के दिव्य या अतिमानवीय पात्रों को पौराणिक विश्वासों के अनुरूप ढालने के लिए उसमें लोकोत्तर विशेषताओं का आधान करना है। दिव्य पात्रों के संदर्भ मे प्राय: उनकी अदृश्यता, विद्याओं के ज्ञान, प्रणिधान-शक्ति, आकाश-गमन, विमानों द्वारा लोकलोकान्तरों की यात्रा, आलोकमय व्यक्तित्व, भूत-भविष्य का ज्ञान, शाप, वरदान व अनुग्रह की शक्ति आदि का निर्देश किया गया है। कालिदास व भवभूति जैसे प्रवीण नाटककारों ने दिव्य पात्रों की इन विशेषताओं व शक्तियों का नाटक में कलात्मक प्रभावों की सृष्टि के लिए बडी सफलता के साथ विनियोग किया है।

पात्रों के चारित्रिक परिष्कार या अनुचित आचरण के समाधान के लिए भी इन अलौकिक तत्त्वों का सहारा लिया गया है। भास के 'अविमारक', कालिदास के 'शाकुन्तल', भट्ट नारायण के 'वेणीसंहार', भवभूति के 'महावीरचरित' एवं मुरारि व राजशेखर के नाटकों में प्रयुक्त शाप, परकाय-प्रवेश आदि तत्त्वों में यह उद्देश्य देखा जा सकता है। पात्रों के विशिष्ट मनोभावों को पृष्ठभूमि देने, उनके खंडित भावात्मक ऐक्य को पुनः स्थापित करने एव प्रणय की पवित्र व आदर्शात्मक स्थिति का दर्शन कराने के लिए भी अतिप्राकृत तत्त्वों का अनेक रूपों मे प्रयोग किया गया है। 'विक्रमोर्वशीय' मे उर्वशी का कार्तिकेय के नियम से लतारूप मे परिवर्तन, 'शाकुन्तल' में दुर्वासा का शाप तथा 'उत्तररामचरित' में सीता की अदृश्यता आदि तत्वों को इस कोटि मे गिना जा सकता है। अनेक नाटकों मे रस-वैविध्य की निष्पत्ति के लिए या चरम स्थिति पर पहुंचे हुए भावविशेप को विश्रान्ति देने के लिए व पात्रों की विशेप मन:स्थिति को दिशान्तर देने के लिए भी अतिप्राकृत तत्वों की योजना की गई है। इसके उदाहरण के रूप में शाकुन्तल में 'स्त्री-संस्थान ज्योति' द्वारा शकुन्तला के अपनयन तथा उसी के षष्ठ अंक में मातलि द्वारा किया गया कौतुककर्म उक्त उद्देश्यों से प्रेरित कहे जा सकते हैं।

शकुन आदि लोक-विश्वास भावी शुभ या अशुभ की सूचना देकर पात्रों व प्रेक्षकों के मन में उनके लिए पूर्व प्रत्याशा जागृत करते हैं जिससे शुभ या अशुभ घटना सर्वथा आकस्मिक व अप्रत्याशित नही रहती । जो शारीरिक विकार या प्राकृतिक परिवर्तन शकुन माने गए है वे स्वयं तो प्राकृतिक ही हैं पर उनमें भावी शुभ या अशुभ का संकेत देने की जो योग्यता मानी गई है वह अतिप्राकृत कल्पना है। मानव जीवन में आने वाली विपत्तियों, दु खद स्थितियों व अप्रत्याशित घटनाओं की व्याख्या या समाधान के लिए दैव, कर्म नियति, भवितव्यता आदि से सम्बन्धित लोक-विश्वासों का नाटको में स्थान-स्थान पर उल्लेख किया गया है। कालिदास व भवभूति ने प्रकृति व मनुष्य के स्नेहपूर्ण आत्मीय सम्बन्ध या उनके अन्तर्निहित भाव-संवाद का दर्शन कराने के लिए भी कतिपय अतिप्राकृत तत्त्वों का चित्रण किया है। इनमें उर्वशी का लतारूप में परिवर्तन, कण्वाश्रम के वनदेवताओं द्वारा शकुन्तला को वस्त्र व आभूषणों का उपहार, आकाश में गुंजित उनके आशीर्वचन, तथा उत्तररामचरित में वनदेवियों व नदीदेवताओं की मानव-व्यापारों मे स्नेह व अनुग्रह से पूर्ण भूमिका आदि इसी प्रकार के तत्व हैं।

संस्कृत नाटककारो ने अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग के लिए अनेक प्रकार की पद्धतियां अपनाई है। कभी ये तत्त्व स्थूल व प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं और कभी उनकी सूचना मात्र दी जाती है। पौराणिक कथाओं पर आधारित नाटकों में इन तत्त्वों का प्राय. स्थूल रूप में विनियोग हुआ है, जैसे कालिदास के नाटकों मे दिव्य पात्रों के संदर्भ में आकाशगमन, अदृश्यता, लोकलोकान्तरों की यात्रा आदि तत्त्वो को स्थूल रूप मे उपस्थित किया गया है। दिव्य पात्र साक्षात् रूप में मानव-जगत् में अवतीर्ण होकर उनके कार्यों में सम्मिलित होते है या कठिनाई के समय प्रत्यक्ष सहायता देकर उन पर अनुग्रह दिखाते है। कुछ नाटकों में दिव्य पात्र स्वयं प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित नही होते; वे अपने दूत या संदेश-वाहक के द्वारा नाटकीय घटना-चक्र को प्रभावित करते हैं। विक्रमोर्वशीय व शाकुन्तल में देवराज महेन्द्र की भूमिका इसी प्रकार की है। कुछ अतिप्राकृत तत्त्व अलक्ष्य व रहस्यमय रूप में नाटकीय व्यापार को निर्देशित करते हैं, जैसे—कालिदास के नाटकों में भरत व दुर्वासा के शाप व कार्तिकेय का नियम । कुछ अद्भुत वस्तुएं जैसे—अंगूठी, मणि, रक्षासूत्र, आदि इसी श्रेणी में आते हैं। उनकी अलौकिक प्रभावशीलता मे ऋषि-मुनियों की आध्यात्मिक सिद्धियों की अदृश्य भूमिका का संकेत दिया गया है।

नाटकीय कथा में अतिप्राकृत तत्त्वों का विनिवेश दो रूपों में प्राप्त होता है। कभी ये नाटकीय संरचना के अविभाज्य अंग होते हैं तथा उनके प्रकटीकरण मे आकस्मिकता का तत्त्व होने पर भी उनकी उचित पृष्ठभूमि का पूर्व निर्देश किया

जाता है। किन्तु कभी ये तत्त्व नाट्यवस्तु से सर्वथा असम्बद्ध होते है एवं बाहर से आरोपित किये जाकर नाटकीय घटनाचक्र को अकस्मात् व अप्रत्याशित दिशा मे परिवर्तित कर देते है। अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग की यह पद्धति नाटककार के अकौशल को ही सूचित करती है।

हम इंगित कर चुके है कि सस्कृत नाटकों में बहुत-सी अतिप्राकृत घटनाओ की सूचनामात्र दी जाती है, उन्हे मंच पर प्रत्यक्ष उपस्थित नही किया जाता। मालविकाग्निमित्र में अशोक वृक्ष मे दोहद द्वारा पुष्पोद्गम, विक्रमोर्वशीय में भरत का शाप, उर्वशी का रूप-परिवर्तन तथा शाकुन्तल में राक्षस-विघ्न, अशरीरिणी वाणी, वनदेवताओं का उपहार तथा स्त्रीसंस्थानज्योति आदि तत्त्व कथा-विकास में महत्त्वपूर्ण होते हुए भी केवल सूच्य रूप मे निबद्ध है। इस पद्धति के प्रयोग के कई कारण संभव हैं। इनमे से प्रमुख कारण यह है कि नाटकीय कथा में इन तत्त्वों की सहायक व गौण भूमिका है। ये तत्त्व या तो कथावस्तु की पृष्ठभूमि निर्मित करते हैं या उसके महत्त्वपूर्ण अंशों को एकसूत्रता प्रदान करते है अथवा उसके गतिक्रम की विशिष्ट दिशा निर्देशित करते है। अतः यह उचित ही हैं कि नाटककार उन्हें पृष्ठभूमि मे रखते हुए उनकी केवल सूचना देता है। दूसरा कारण नाट्यशास्त्रीय विधानों तथा रंगमंच की सीमाओं से सम्बन्धित है। नाट्यशास्त्र मे युद्ध आदि कतिपय घटनाओं को रंगमंच पर प्रस्तुत करने का निषेध किया गया है। कुछ अतिप्राकृत तत्त्व स्वभावतः ऐसे हैं जिनका मचीय प्रदर्शन सभव प्रतीत नहीं होता। तीसरा कारण यह हो सकता है कि नाट्यकार इन तत्त्वों को अप्रत्यक्ष रखते हुए सामाजिको में कौतूहल व रहस्य की भावना को तीव्रता देना चाहता है। ऐसे तत्त्वों क मचीय प्रदर्शन मे कभी-कभी यह खतरा रहता है कि उनकी प्रत्यक्ष-गोचरता कही सामाजिकों के अविश्वास का कारण न बन जाए। कुछ अतिप्राकृत तत्त्व जैसे शाप, कर्मविपाक, भाग्य या दैव आदि स्वरूपतः अमूर्त शक्तियां हैं जो मानव-कार्यकलापों को प्रभावित व निर्देशित करते हुए भी स्वय अगोचर रहती है। यह स्पष्ट है कि इन शक्तियों की अप्रत्यक्षता के कारण कुछ संस्कृत नाटको मे संघर्ष का तत्त्व पूरी तरह नही उभर पाता। पर यह स्मरणीय है कि सघर्ष का चित्रण सस्कृत नाटक का अन्तिम ध्येय नहीं है, अपितु जीवन के द्वन्द्व, दु ख व दुर्भाग्य को मंगलमय, आनन्दप्रद व प्रशान्तिपूर्ण परिणति पर पहुंचना है।

संस्कृत नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्वों के चित्रण की प्रतीकात्मक पद्धति भी यदा-कदा अपनायी गई है। भास ने शाप व उसकी भयावह मंडली को कंस के आसन्न विनाश के प्रतीक के रूप में अंकित किया है। शाकुन्तल में दुर्वासा का शाप शकुन्तला के प्रतिकूल दैव या कर्मविपाक का प्रतीक कहा जा सकता है। वनदेवता,

नदीदेवता आदि पात्र सम्बन्धित प्राकृतिक तत्त्वों व उनके साथ मानवीय सौहार्द के प्रतीक हैं। इसी प्रकार विभिन्न अवसरों पर आकाश से पुष्प-वृष्टि व दुन्दुभिवादन आदि व्यापार दैवी प्रसन्नता व अभिनन्दन के प्रतीक है। इससे सिद्ध है कि संस्कृत नाटककारों ने अतिप्राकृत तत्त्वों का किसी सीमा तक प्रतीकात्मक प्रयोग भी किया है। प्रबोधचन्द्रोदय आदि प्रतीकात्मक नाटकों में मानव मन की निम्न व उदात्त वृत्तियों का संघर्ष चित्रित करते हुए भौतिकता पर आध्यात्मिकता की विजय दिखायी गई है। इन नाटकों के पात्र मानव की विभिन्न सद् व असद् वृत्तियों के प्रतीक हैं।

संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व अद्भुत, करुण, बीभत्स, भयानक आदि विभिन्न रसो व तत्सम्बन्धी भावों के अभिव्यंजक है तथा नाटक की आन्तरिक भावधारा के महत्त्वपूर्ण अंग है। इस दृष्टि से उनके विनियोग का एक मनोवैज्ञानिक पक्ष भी है। भारतीय परम्परा में रस काव्य का चरम साध्य माना गया है, अतः अतिप्राकृत तत्त्वों के मनोवैज्ञानिक पक्ष का संस्कृत नाटक में विशिष्ट महत्त्व है।

संस्कृत नाटकों मे कुछ अतिप्राकृत तत्त्व रूढिबद्ध हो गये हैं। कुछ विशेष कथाओं व प्रसंगो में तथा विशिष्ट प्रयोजनों से ये तत्त्व प्रायः दोहराये जाते है। इनमे निम्नलिखित तत्त्व विशेषतः उल्लेखनीय है, जैसे—शाप, वरदान, रूपपरिवर्तन, राक्षसी-माया, परकाय-प्रवेश, दिव्य प्राणियों का मर्त्यलोक मे आगमन, असुरों से युद्ध के लिए मानव राजा की स्वर्ग यात्रा, दिव्य पात्रो का ज्योतिर्मय व्यक्तित्व, आकाश-गमन, अदृश्यता, दिव्यास्त्रों का अलौकिक प्रभाव, आकाशवाणी या दिव्यावाणी, मानव-कार्यो मे दैवी हस्तक्षेप या अनुग्रह, दिव्य पात्रों की विमान-यात्रा, विशेष अवसरों पर देवताओ द्वारा पुष्पवृष्टि व दुन्दुभिवादन, अद्भुत वस्तुओं–जैसे अंगूठी, मणि आदि द्वारा प्रत्यभिज्ञान, सुदूर वस्तुओं का ज्ञान या मूल रूप की प्राप्ति, नाटक के अन्तिम भाग (निर्वहण सधि) में अतिप्राकृत तत्त्वों पर आधारित अद्भुत रस की योजना, दिव्य पात्रो के वार्तालाप द्वारा युद्ध का वर्णन, पात्रविशेष के चरित्र के परिमार्जन के लिए अतिप्राकृत तत्त्वो की कल्पना, सिद्धादेश, नेत्र-स्फुरण, वाहु-स्फुरण आदि की शुभाशुभ-सूचकता, श्मशान-वर्णन के प्रसग मे भूत-प्रेत, पिशाच आदि अतिप्राकृत तत्त्वो का वीभत्स व रौद्र चित्रण, दोहद द्वारा पुष्पोद्गम आदि।

उक्त तत्त्वों के रूढ़िबद्ध होने के कई कारण प्रतीत होते है। प्रथम कारण यह है कि अधिकाश संस्कृत नाटक महाकाव्यो, पुराणो व लोककथाओ के प्रख्यात इति-वृत्तो पर आधारित हैं। अतिप्राकृत तत्त्व किसी न किसी रूप में इन मूल इतिवृत्तों के अंग रहे है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उन पर आधारित नाटकों में भी ये ग्रहण किये जाएं। उदाहरण के लिए रामायण पर आधारित नाटकों मे अहल्योद्धार, ताडका-वध, शिव धनुष-भंग, सेतुबंधन आदि कितने ही अतिप्राकृत प्रसग

मूलकथा से लिये गए हैं। यदि इन तत्त्वों को ग्रहण न किया जाता तो मूलकथा के परपरागत स्वरूप की क्षति होती. इसलिए नाटककारों ने जहां तक संभव हुआ है, मूल कथाओं के प्रमुख प्रसंगों में बहुत कम परिवर्तन किये हैं।

दूसरा कारण संस्कृत नाटक की धार्मिक, दार्शनिक व पौराणिक पृष्ठभूमि है। प्राचीन साहित्य की प्रधान प्रेरणा धार्मिक व दार्शनिक विश्वास तथा पौराणिक कल्पनाएं थीं। संस्कृत के अधिकांश नाटक इन्हीं विश्वासों व कल्पनाओं के प्रभाव में लिखे गए। अतः इनमें भी अपनी वैचारिक पृष्ठभूमि से ये तत्त्व अधिकांश नाटककारों द्वारा ग्रहण किये गए जिसमे इनके प्रयोग में रूढ़िबद्धता आ गई।

तीसरा कारण संस्कृत नाटक की नाट्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि है जिसका विस्तृत विवरण दूसरे अध्याय में दिया जा चुका है। रूपक के कतिपय प्रकारों में दिव्य पात्रों की योजना, निर्वहण सधि में अद्भुत तत्त्वों का समावेश, युद्ध के मंचीय प्रदर्शन का निषेध, नाटक की सुखान्तता आदि से सम्बन्धित नाट्यशास्त्रीय विधानों ने भी संस्कृत नाटकों में कतिपय अतिप्राकृत तत्त्वों के रूढ़िबद्ध होने मे योग दिया है।

चौथा कारण संस्कृत के परवर्ती नाटककारों द्वारा पूर्ववर्ती नाटको के अनुकरण की प्रवृत्ति है। हम बता चुके हैं कि भवभूति के पश्चात् संस्कृत नाटक के सभी क्षेत्रों में ह्रास की प्रवृत्तिया चरम स्थिति पर पहुंच गई थीं और अनुकरण की प्रवृत्ति उसी का एक प्रमुख लक्षण है। जहां पूर्व नाटककारों ने अपनी कृतियों मे अतिप्राकृत तत्त्वों का नाटकीय दृष्टि से सार्थक व कलात्मक प्रयोग किया था वहां परवर्ती नाटककारों ने अधिकतर अनुकरण के रूप मे ही इन तत्त्वों को ग्रहण किया, वे इन्हें वैसी सार्थकता व कलात्मकता प्रदान नहीं कर सके।

पांचवां कारण नाटकों पर संस्कृत काव्य की अन्यान्य विधाओं का प्रभाव माना जा सकता है। अतिप्राकृत तत्त्व सदा से ही भारतीय साहित्य में परंपरया प्रयुक्त होते रहे हैं तथा उनमे से अनेक साहित्य की विभिन्न विधाओं में रूढ़िबद्ध हो चुके थे। अतः नाटकों मे भी उनका यह रूढ़िबद्ध रूप गृहीत हुआ।

आधुनिक विद्वानो द्वारा प्रायः यह यह आरोप लगाया जाता है कि संस्कृत नाटक मे अतिप्राकृत तत्त्वों के बहुल प्रयोग से उसमे एक कल्पित व अवास्तविक वातावरण की सृष्टि हुई है तथा जीवन का यथार्थ चित्रण उपेक्षित रहा है। पहली बात तो यह है कि यह आरोप सभी नाटकों पर लागू नहीं होता। संस्कृत में मृच्छकटिक व मुद्राराक्षस जैसे नाटक भी है जिसमें कथा, पात्र व परिवेश सभी पूर्णतया लौकिक व मानवीय है। उक्त आक्षेप केवल प्रख्यात व पौराणिक कथाओं पर आधारित नाटकों के विषय में किया जा सकता है। आधुनिक दृष्टि से यह आरोप

किसी सीमा तक सत्य प्रतीत होता है, किन्तु यह दृष्टि प्राचीन साहित्य की वास्तविक चेतना को हृदयंगम करने मे हमारी विशेष सहायता नहीं करती। इसके लिए हमे उन धार्मिक, दार्शनिक व पौराणिक विश्वासों को समझना होगा जिनके परिप्रेक्ष्य मे संस्कृत के अधिकाश नाटकों की रचना हुई थी। हम पहले बता चुके हैं कि प्राचीन मनुष्य प्राकृत व अतिप्राकृत को दो पृथक् कोटियां नही मानता था। उसकी दृष्टि में ये दोनों एक ही विश्व में साथ-साथ रहने वाले, परस्पर सौहार्द, सहयोग व आदान-प्रदान के नाना संबंधों में बंधे तथा एक-दूसरे को पद-पद पर प्रभावित करने वाले तत्त्व थे। सृष्टि के प्राकृतिक कार्य-कलापों में भी उसे अतिप्राकृत शक्तियों की अनुभूति होती थी और जिन तत्त्वों को आज हम अतिप्राकृत कहते है उन्हें वह अपने प्राकृत व लौकिक जीवन का ही सहज व स्वाभाविक अंग मानता था। इस जीवन-दृष्टि के आलोक में विचार करने पर आधुनिक विद्वानों का पूर्वोक्त आरोप यदि निराधार नहीं तो एकागी अवश्य कहा जा सकता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संस्कृत नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्वों का बाहुल्य होने पर भी उनका प्रमुख प्रतिपाद्य मानव ही है। नाट्यशास्त्र व स्वयं नाटको का साक्ष्य इस बात की पुष्टि करते है। भरत व अभिनवगुप्त ने रूपक के प्रधान भेद नाटक में दिव्य नायक का निषेध किया है तथा केवल आश्रय के रूप में उसका विधान किया है। इससे स्पष्ट है कि नाटक में दैवी पात्र व तत्संबन्धी अतिप्राकृत तत्त्वों की भूमिका केवल सहायक की होती है। इससे यह सिद्ध है कि उसमे मानव व्यापार व चरित्र ही प्रधान हैं। हम देखते हैं कि दैवी अनुग्रह, हस्तक्षेप आदि अतिप्राकृत व्यापार नायक की लौकिक फल-प्राप्ति में सहायता मात्र देते हैं। जैसा कि हम बता चुके हैं शाप, रूप-परिवर्तन, परकाय-प्रवेश, आदि अति-प्राकृत तत्त्वों का प्रयोग भी प्रायः मानव-चरित्र के सौंदर्योद्घाटन, उन्नयन व परिष्कार के लिए किया गया है।

इसके अतिरिक्त नाटकों में अतिप्राकृत पात्र कतिपय अतिमानवीय विशेषताओं से युक्त होने पर भी स्वभाव व शील की दृष्टि से मानवचरित्र का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। वे केवल बाह्य व्यक्तित्व की दृष्टि से अतिप्राकृत है, यदि उनके इस परिच्छद को हटा दिया जाए तो उनमें व नाटक के मानव पात्रों में कोई अन्तर नही रह जाता। अतः कुछ विद्वानो का यह आक्षेप कि अतिप्राकृत पात्रों व अन्य तत्त्वों के प्राचुर्य के कारण संस्कृत नाटक में मानवीय अभिरुचि की सामग्री का अभाव है तथा उसमें हमें प्रेरणा देने की शक्ति भी नहीं है, ठीक नही कहा जा सकता।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में हमने संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों की वैचारिक व नाट्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि के आलोक में उनके स्वरूप व नाटकीय विनियोग

की विशेषताओं का विस्तृत विवेचन किया। जहां तक संभव हुआ, हमने अपने विषय के सभी संभावित पक्षों को अपने अध्ययन में सम्मिलित किया है। फिर भी अतिप्राकृत तत्त्वों के कुछ ऐसे पक्ष है जिनका हमारे अध्येय विषय से प्रत्यक्ष व घनिष्ठ सम्बन्ध नही है, जैसे—(क) संस्कृत नाटकों में या सामान्यत: संस्कृत साहित्य में आये अति-प्राकृत तत्त्वों का समाजशास्त्रीय, नृतत्त्वशास्त्रीय, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक आदि दृष्टियों से अध्ययन, (ख) पाश्चात्य व संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों के स्वरूप व विनियोग का तुलनात्मक अध्ययन एवं (ग) संस्कृत साहित्य की नाटकेतर विधाओं मे आए अतिप्राकृत तत्त्वो का अनुसंधान व अनुशीलन। इन पक्षों का जहां तक हमारे अध्येय विषय से सम्बन्ध था हमने यथास्थान उनकी न्यूनाधिक चर्चा की है पर अपने विषय की सीमाओ को देखते हुए इनके विस्तार मे जाना हमे अपेक्षित नही रहा है। अतः अतिप्राकृत तत्त्वों के उक्त पक्ष भावी शोधकर्ताओ के लिए अनुसंधान व अध्ययन का क्षेत्र प्रस्तुत करते है।

प्रमुख सहायक ग्रन्थ

(क) संस्कृत ग्रन्थ

अथर्ववेद :

अद्भुतदर्पण : महादेव, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९३८

अनर्घराघव : मुरारि, निर्णयसागर प्रेस, पंचम संस्करण, १९३७

" : संपा० व व्याख्या० रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा, वाराणसी, १९६०

अभिज्ञानशाकुन्तल : कालिदास, संपा० एम० आर० काले मोतीलाल बनारसीदास, दशम संस्करण, दिल्ली, १९६९

" : संपा० नारायण राम आचार्य, निर्णयसागर प्रेस, एकादश संस्करण, बम्बई, १९४७

" : संपा० एस० के० बेल्वलकर, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, १९६५

" : संपा० सी० आर० देवधर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६६

अलंकारसर्वस्व : रुय्यक, संपा० गिरिजाप्रसाद द्विवेदी निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९३९

" : संजीवनी सहित, संपा० व अनु० डा० रामचन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, १९६५

अष्टाध्यायी : पाणिनि, वेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई, सं० १९५४

आश्चर्यचूडामणि : शक्तिभद्र, एस० कुप्पुस्वामिशास्त्री की भूमिका सहित, मद्रास, १९२६

उत्तररामचरित : भवभूति, (संपा० वी० वी० काणे) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६२

" : भवभूति, (संपा० टी० आर० रत्नम् ऐयर एवं वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर) पचम संस्करण निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९१५

उन्मत्तराघव : भास्कर कवि, तृतीय संस्करण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२५

उपनिषद्-भाष्य : शंकराचार्य, भाग १–४, गीताप्रेस, गोरखपुर

उल्लाघराघव नाटक : सोमेश्वर देव, (संपा० मुनिपुण्यराज व भोगीलाल जयचन्द भाई) ओरियंटल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९६१

ऋग्वेद :

कथासरितसागर : सोमदेव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७०

" : १–२ खंड, संपा० व अनु० पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९६०, १९६१

कर्णसुन्दरी . बिल्हण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८८८

कर्पूरमंजरी व बालभारत : राजशेखर, (संपा० दुर्गाप्रसाद व काशीनाथ पांडुरंग परब) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ,१९००

कर्पूरमंजरी : राजशेखर, (सपा० एस० कोनो० व सी० आर० लानमैन) हार्वर्ड ओरियंटल सीरीज, स० ४ मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३

" सपा ०रामकुमार आचार्य, चौखम्बा, वाराणसी, १९७०

कालिदास–साहित्य : डा० आद्याप्रसाद मिश्र, कामेश्वर सिंह सस्कृत पुस्तकालय, दरभंगा, १९६२ ई०

काव्यपकाश : मम्मट, बालबोधिनी सहित (संपा० रघुनाथ दामोदर कर्मारकर), भंडारकर ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, सप्तम संस्करण, १९६५

काव्यादर्श : दण्डी, (संपा० एस० के० बेलवरकर) दि ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९२४

काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, (संपा० रसिकलालपारिख), श्री महावीर जन विद्यालय, बम्बई, १९३८

काव्यालंकार : भामह, (संपा० व अनु० देवेन्द्र नाथ शर्मा), बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६२

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति : वामन, (संपा० आशुबोध विद्या भूषण व नित्यबोध विद्यारत्न) कलकत्ता, १९२२

कुन्दमाला : दिङ्नाग, (संपा० डा० कालीकुमार दत्त) संस्कृत कालेज, कलकत्ता, १९६४

कुमारसंभव : कालिदास, संजीवनी टीका सहित

कुवलयावली अथवा रत्न-पांचालिका : शिंग भूपाल, (संपा० एल० ए० रविवर्मा), त्रिवेन्द्रम, संस्कृत सिरीज सं० १४५, त्रिवेन्द्रम, १९४१

कंसवध : शेष कृष्ण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९४

चण्डकौशिक : क्षेमीश्वर, (व्याख्या० जगदीश मिश्र) चौखम्बा, वाराणसी, १९६५

चन्द्रकला : विश्वनाथ कविराज,(सं० प्रो० बाबूलाल शुक्ल) चौखंबा, वाराणसी, १९६७

चन्द्रलेखा (सट्टक) : रुद्रदास, (संपा० डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये) भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९६७

जानकीपरिणय : रामभद्र दीक्षित, (संपा० गणेशशास्त्री लेले) दक्षिण प्रेस कमेटी, बम्बई, द्वितीय संस्करण, १८९६

दशरूपक (सावलोक) : धनंजय, (व्याख्या० डा० भोलाशंकर व्यास) चौखम्बा वाराणसी, १९५५

दूतांगद : सुभट, (संपा० व व्याख्या० अनन्तराम शास्त्री) चौखम्बा बनारस, १९५०

धनजयविजय : कांचानचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९११

ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, लोचन व बालप्रिया सहित, चौखम्बा, वाराणसी, १९४०

नागानन्दनाटक : हर्ष, (व्याख्या० बलदेव उपाध्याय) चौखम्बा वाराणसी, १९५६

नाटकचन्द्रिका : रूप गोस्वामी, (व्याख्या० प्रो० बाबूलाल शुक्ल शास्त्री) चौखम्बा, वाराणसी, १९६४

नाटकलक्षणरत्नकोश : सागर नदी, (व्याख्या० पो० बाबूलाल शुक्ल) चौखम्बा, वाराणसी, १९७२

नाट्यदर्पण (प्रथम भाग) : रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र, संपा० गजानन कुशव श्रीगोंडेकर एवं लालचन्द्र भगवान् गांधी, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १६२६

नाट्यशास्त्र : भरतमुनि, अभिनवभारती-सहित, भाग १–४ सपा० एम० रामकृष्ण कवि, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज सं० ३६, ६८, १२४ व १४५; ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा क्रमशः १६२६, १६३४, १६५४, व १६६४

निघंटु व निरुक्त : लक्ष्मण स्वरूप, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६६७

नैषधीयचरित : श्री हर्ष, नारायण-कृत टीका सहित, संपा० शिवदत्त, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६५२

न्यायभाष्य (न्यायसूत्र-सहित) : वात्स्यायन, गुजराती मुद्रणयंत्रालय, बम्बई, १६२२

पद्मपुराण : आनन्दाश्रम ग्रंथमाला, पूना

पांतजलयोगदर्शन : पंतजलि, गीता प्रेस, गोरखपुर सं० २०२८

पार्थपराक्रम : पह्लादनदेव, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज सं० ४, बड़ौदा, १६१७

पार्वतीपरिणय : (वामन) भट्ट बाण, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १६२३

प्रद्युम्नाभ्युदय : रविवर्मभूप, संपा० टी० गणपतिशास्त्री, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज, नं० ८, त्रिवेन्द्रम, १६१०

प्रबोधचन्द्रोदय : कृष्णमिश्र, व्याख्या० रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा, वाराणसी, १६५५

प्रभावतीपरिणय : हरिहर, संपा० आचार्यरामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा, वाराणसी, १६६६

प्रसन्नराघव : जयदेव, व्याख्या० शेषराज शर्मा रेग्मी, चौखम्बा, वाराणसी, १६६३

प्रियदर्शिका : हर्ष, चौखम्बा, वाराणसी, १६५५

बृहत्कथामंजरी : क्षेमेन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६०१

बृहद्देवता : शौनक, भाग १–२, संपा० ए० ए० मेक्डानल, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६६५

भक्तसुदर्शननाटक : मथुराप्रसाद दीक्षित, झांसी, १६५४

भगवद्गीता : शांकर भाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर, सं० २०२४

भर्तृहरिनिर्वेद : हरिहरोपाध्याय निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८६२

भागवतपुराण : १–२ खण्ड, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२१

भावप्रकाशन : शारदातनय, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, सं० ४५, बड़ौदा, १६३०

भासनाटकचक्र : भाग १–२, संपा० बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा वाराणसी

" : संपा० सी० आर० देवधर, ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १६६२

भुभारोद्धरण : मथुराप्रसाद दीक्षित, वाराणसेय संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी, सं० २०१६

मत्स्यपुराण : *आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला, पूना*

मन्दारमरन्द चम्पू : कृष्ण कवि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६२४

महानाटक : मधुसूदन मिश्र, व्याख्या० जीवानन्द विद्यासागर, तृतीय संस्करण, कलकत्ता, १६३६

महाभारत : १ से ४ भाग. (मूल मात्र) गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २०१५

महावीरचरित : भवभूति, संपा० व व्याख्या० श्री रामचन्द्र मिश्र चौखम्बा, वाराणसी, १६६८

" : वीरराघव की टीका सहित, संपा० टी० आर० रत्नम् ऐयर, चतुर्थ संस्करण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६२६

" : संपा० जीवानन्द विद्यासागर गोवर्धन प्रेस, तृतीय संस्करण, कलकत्ता, १६०६

मार्कण्डेयपुराण : आनन्दाश्रम ग्रंथमाला, पूना

मालतीमाधव : भवभूति, संपा० मंगेश रामकृष्ण तेलंग, निर्णयसागर प्रेस, १६३६

मालविकाग्निमित्र : कालिदास, संपा० सी० आर० देवधर, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १६६६

" : संपा० एम० आर० काले, पंचम संस्करण, ए० आर० शेठ एंड कम्पनी, बम्बई, १६६४

मुद्राराक्षस : विशाखादत्त, संपा० देवधर व वेडेकर केशक भीकाजी धावले, बम्बई, १९४८

,, : संपा० व व्याख्या० डा० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा, वाराणी, १९६१

मृच्छकटिक : शूद्रक, निर्णयसागर प्रेस, अष्ठम संस्करण, बम्बई, १९५०

मेघदूत : कालिदास, संजीवनी सहित, संपा० एम० आर० काले०, गोपाल नारायण एवं कम्पनी, बम्बई, १९४७

ययातिचरित : रुद्रदेव, संपा० सी० आर० देवधर भण्डाकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९६५

रघुवंश : कालिदास, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९५६

रत्नावली : हर्ष, संपा० रामचन्द्र मिश्र चौखम्बा, वाराणसी, सं० २०१०

रसगंगाधर : पंडितराज जगन्नाथ, निर्णयसागर प्रेस, षष्ठ संस्करण, बम्बई, १९४७

रसार्णवसुधाकर : शिगभूपाल, सागरिका, वर्ष ८, अंक १–२ में प्रकाशित, सागरिका समिति, सागर विश्वविद्यालय, सागर

रामायण : वाल्मीकि, गीता प्रेस गोरखपुर, स० २०२०

रुक्मिणी परिणय : श्रीराम वर्मा, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२७

ललितमाधव : रूप गोस्वामी, संपा० प्रो० बाबूलाल शुक्ल, चौखम्बा वाराणसी, १९६९

वक्रोक्तिजीवित : कुन्तक, संपा० सुशील कुमार दे, कलकत्ता ओरियण्टल सिरीज सं० ८, कलकत्ता, १९२३

वायुपुराण : आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला, पूना

विक्रमोर्वशीय : कालिदास, संपा० प्रो० एच० डी० वेलंकर साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, १९६१

,, संपा० व व्याख्या० रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा, वाराणसी, १९६३

विदग्धमाधव : रूप गोस्वामी, संपा० पं० रमाकान्त झा, चौखम्बा, वाराणसी, १९७०

विद्धशालभंजिका : राजशेखर, व्याख्या पं० रमाकान्त शास्त्री, चौखम्बा, वाराणसी, १९६५

,, : सपा० भास्कर रामचन्द्र आर्ते, 'आर्यभूपण' प्रेस, पूना, १८८६

विष्णुपुराण : गीता प्रेस गोरखपुर, पंचम संस्करण सं० १९१८

वीणावासवदत्त : संपा० के वी० शर्मा, कुप्पुस्वामी शास्त्री रिसर्च इन्स-टीट्यूट, मद्रास, १९६२

वेणीसंहार : भट्ट नारायण, निर्णयसागर प्रेस, नवम सस्करण, वम्वई, १९४०

व्यक्तिविवेक : महिमभट्ट, मधुसूदन विवृति सहित, चौखम्वा, वाराणसी, १९३६

व्याकरणमहाभाष्य : पंतजलि, प्रदीपोद्योत सहित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७

सत्यहरिश्चन्द्रनाटक : रामचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२३

सामवत : अंविकादत्त व्यास, प्रकाशक–श्री कृष्ण कुमार व्यास, द्वितीय संस्करण, काशी, १९४७

साहित्यदर्पण : विश्वनाथ कविराज, षष्ठ संस्करण, निर्णयसागर प्रेस, वम्बई, १९३६

सिद्धान्तकौमुदी (तत्त्व-वोधिनी सहित) भट्टोजिदीक्षित, वेंकटेश्वर प्रेस, वम्वई, सं० १९३६

सीताराघव : राम पाणिवाद, संपा० शूरनाट्कुञ्जन, पिल्ल त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज, त्रिवेन्द्रम, १९५८

सौगन्धिकाहरण : विश्वनाथ, व्याख्या० कपिलदेव गिरि चौखम्वा, वाराणसी, १९६३

सांख्यकारिका (तत्त्व-कौमुदी सहित) : ईश्वर कृष्ण, काशी संस्कृत सिरीज, सं० १२३ चौखम्वा, वाराणसी, १९३७

स्वप्नवासवदत्त : भास, संपा० टी० गणपति शास्त्री श्रीधर पावर प्रेस, त्रिवेन्द्रम, १९२४

,, निर्णयसागर मुद्रणालय, द्वितीय संस्करण, वम्बई, १९४८

शतपथ ब्राह्मण : संपा० डा० अल्वेर्त वेवर, चौखम्वा, वाराणसी, १९६४

शंखपराभवव्यायोग : हरिहर, संपा० भोगीलाल जयचन्द भाई सांडेसरा गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज सं० १४८, वड़ौदा, १९६५

हनुमन्नाटक : दामोदर मिश्र, चौखम्वा, वाराणसी, १९६७

हरिवंश पुराण : चित्रशाला प्रेस, पूना, १९३६

(ख) हिन्दी ग्रन्थ

अग्रवाल वासुदेवशरण : प्राचीन भारतीय लोकधर्म, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदावाद, १९६४

" ; हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५३

उपाध्याय वलदेव : धर्म और दर्शन, शारदा मन्दिर, काशी, १९६१

" संस्कृत सुकवि समीक्षा, चौखम्वा, वाराणसी, १९६३

उपाध्याय, रामजी : मध्यकालीन संस्कृत नाटक, संस्कृत परिषद् सागर विश्व-विद्यालय, सागर, १९७४

कविराज, गोपीनाथ : भारतीय संस्कृति और साधना, १–२ खण्ड, विहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना, १९६३

कीथ: ए० वी० : सस्कृत नाटक, अनु० डा० उदयभानु सिंह, मोतीलाल वनारसीदास, दिल्ली

" : संस्कृत साहित्य का इतिहास, अनु० डा० मंगलदेवशास्त्री, मोतीलाल वनारसीदास वाराणसी, १९६७

कौसल्यायम भदन्तआनन्द . जातक,१–६, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००८

गुप्त, शशिभूषणदास : उपमा कालिदासस्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

चट्टोपाध्याय, सतीशचन्द्र एवं दत्त धीरेन्द्रमोहन : भारतीय दर्शन, अनु० श्री हरिमोहन झा व श्रीनित्यानन्द मिश्र, पुस्तक भंडार, पटना, १९६०

जोशी, उमाशंकर : श्री और सौरभ, अनु० सोमेश्वर पुरोहित, भारतीय ज्ञान-पीठ, वाराणसी, १९६८

जोशी, लक्ष्मणशास्त्री : हिन्दू धर्म की समीक्षा, अनु० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय, वम्वई १९४८

तिवारी, रमाशंकर : महाकवि कालिदास, चौखम्वा, वाराणपी, १९६१

तिवारी, रामानन्द : सत्यं शिव सुन्दरम्, प्रथम भाग, भारती मन्दिर, भरतपुर, १९६३

दीक्षित, सुरेन्द्रनाथ : भरत और भारतीय नाट्यकला, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९७०

द्विवेदी, रामचन्द्र : अलंकार-मीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६५

द्विवेदी, हजारीप्रसाद : हिन्दी साहित्य की भूमिका, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकार कार्यालय, बम्बई, १९५४

नगेन्द्र : अरस्तू का काव्यशास्त्र, हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली सं० २०२३

,, : सपा० हिन्दी नाट्यदर्पण, व्याख्या० आचार्य विश्वेश्वर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९६१

पाठक, रंगनाथ : षड्दर्शनरहस्य, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५८

पाठक, सर्वानन्द : चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, चौखम्बा, १९६५

बुल्के, फादर कामिल : रामकथा, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९६२

मिश्र, उमेश : भारतीय दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, १९६४

मुखर्जी, राधाकमल : भारत की संस्कृति और कला, अनु० रमेश वर्मा, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली

मैक्समूलर, एफ० : धर्म की उत्पत्ति और विकास, अनु० ब्रह्मदत्तदीक्षित, आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, इलाहाबाद, १९६८

राय, द्विजेन्द्रलाल : कालिदास और भवभूति, अनु० पं० रूपनारायण पांडेय, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, १९५६

व्यास, भोलाशंकर : संस्कृत कवि दर्शन, चौखम्बा, वाराणसी, १९६१

,, : हिन्दी दशरूपक, चौखम्बा, वाराणसी, १९५५

शर्मा, वीरबाला : संस्कृत में एकांकी रूपक मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, १९७२

शास्त्री, नेमिचन्द्र : महाकवि भास, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७२

शुक्ल, हीरालाल : आधुनिक संस्कृत साहित्य, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७१

सत्येन्द्र : लोकसाहित्यविज्ञान, शिवलाल अग्रवाल एन्ड कम्पनी, आगरा, १९६२

सिन्हा, यदुनाथ : भारतीय दर्शन, अनु० डा० गोवर्धन प्रसाद भट्ट, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १९६०

सम्पूर्णानन्द : योगदर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, १९६५

सांकृत्यायन, राहुल : दर्शन दिग्दर्शन, किताब महल, इलाहाबाद, १९४७

सिंह अयोध्याप्रसाद : भवभूति और उनकी नाट्य-कला, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६९

हिरियन्ना, एम० : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, अनु० डा० गोवर्धन भट्ट आदि, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६९

(ग) अंग्रेजी ग्रन्थ

Adwal, Niti. **The Story of King Udayana.** Varanasi : Chowkhamba Publications, 1971.

Aurobindo, Shri. **The Life Divine.** New York : The Sri Aurobindo Library, 1949.

Kalidasa (Second Series). Pondicherry : Sri Aurobindo Ashram, 1954.

Ayyar, A. S. P. **Bhasa**, Indian Men of Letters Series 2nd. ed. revised. Madras-1 : V. Ramaswamy Sastrulu & Sons, 1957.

Belvalkar, S. K. (ed.) **Rama's Later History or Uttararamacharita.** Pt. I. Introduction and Translation. Harvard Oriental Series No. 21 Harvard : Harvard University Press, 1915.

Benson, Purnell Handy. **Religion in Contemporary Culture.** New York : Harper Brothers, 1960.

Bhat, V. M. **Yogic Powers and God Realisation.** 2nd ed. revised. Bombay : Bharatiya Vidya Bhawan, 1964.

Bose, Bela. **The Dramas of Shri Harsha** Translated into English. Allahabad : Ketabistan, 1948.

Brill, A. A. **Basic Writings of Sigmund Freud**, Random House Inc, 1938.

Butcher, S. H. **Aristotle's Theory of Poetry and Fine-Art.** 2nd ed. Translation with Criticalnotes, Ludhiana : Lyall Book Depot, 1968.

Chaitanya, Krishna. **A New History of Sanskrit Literature** Bombay : Asia Publishing House, 1962.

Sanskrit Poetics. A Critical and Comparative Study. Bombay : Asia Publishing House, 1965.

Chatterjee, Asoke. **Padma-Purana. A Study.** Calcutta Sanskrit College Research Series No. LVIII. Calcutta : Sanskrit College 1967.

Dalal, Minakshi, **Conflict in Sanskrit Drama.** Bombay : Somaiya Publications. Pvt. Ltd. 1973.

Dandekar, R. N. **Some Aspects of the History of Hinduism,** Poona : University of Poona, 1967.

Dange, S. A. **Legends in the Mahabharata.** Delhi : Motilal Banarsidass, 1969.

Dasgupta, S. N., and De, S. K. **A History of Sanskrit Literature : Classical Period.** Vol, I. 2nd ed. Calcutta Uni., 1962.

Devadhar, C. R. **Works of Kalidasa : Dramas.** Vol. I. Delhi : Motilal Banarsidass, 1966.

Dikshit, Ratnamayidevi. **Women in Sanskrit Dramas.** Delhi : Meharchand Lachhamanadas, 1964,

Durkheim, Emile. **The Elementary Forms of the Religious Life.** Translated by Joseph Ward Swei, 5th ed. New York : The French Press, 1968.

Dwivedi, R.C. (ed.) **Principles of Literary Criticism in Sanskrit.** Delhi : Motilal Banarsidass, 1969.

Eddington, Asthur. **The Nature of Physical World.** London : J. M. Dent & Sons Ltd , 1955.

Frazer, James George. **The Golden Bough.** New York : The Macmillan Co., 1960.

Galloway, George. **The Philosophy of Religion.** Reprinted. Edinburgh : T & T Clerk, 1951.

Ghosh, Juthika. **Epic Sources of Sanskrit Literature.** Calcutta: Calcutta Sanskrit College Series No. 22, 1963.

Ghosh, Manmohan. **Contribution to the History of The Hindu Drama.** Calcutta : Firma K. L. Mukhopadhyaya, 1958.

Haas, George C. O. **The Das arupa.** Columbia University Indo-Iranian Series Vol. VII. Delhi : Motilal Banarsidass, 1962.

Hackel, Ernest. **The Riddle of the Universe.** 5th ed. London : The Thinkers' Library No. 3, 1946.

Hiriyana, M. **Indian Philosophical Studies.** Mysore : Kavyalaya Publishers, 1957.

Sanskrit Studies. 1st ed. Mysore : Kavyalaya Publishers, 1954.

Hocking, William, Ernest. **Types of Philosophy.** revised. New York : Charles Scribner's Sons, 1939.

Hoebel, E. Adamson. **Man in the Primitive World.** 2nd ed. International Student Edition. Tokyo.

Hopkins, E. Washburn. **Epic Mythology.** Delhi : Indological Book House, 1968.

The Religions of India, 2nd ed. New Delhi : Munshiram Manoharlal, 1970.

Ions, Veronica. **Indian Mythology.** 2nd ed. London and New York : Paul Hamlyn, 1968.

Jevons, H. B. **Introduction to the History of Religions.** London : H. B. Jevons, 1896.

Jhala, T. C. **Kalidasa.** Bombay : Popular Book Depot, 1949.

Joad, C. E M. **Guide to Modern Thought,** London : Faber & Faber Ltd. 1948.

Jung, C. G. **Psychology and Religion.** New Haven : Yale University Press, 1938.

Kane, P. V. ***History of Dharma sastra.*** *Vol. V. Pt. II Govt.* Oriental Series, Class B, No.-6, Poona : Bhandarkar Oriental Research Institute, 1962.

History of Sanskrit Poetics, 3rd ed. revised. Delhi: Motilal Banarsidass, 1961.

Karmarkar, R. D. **Bhavabhuti.** Dharwar : Karnatak University, 1963.

Keith, A. B. **The Sanskrit Drama: In its Origin, Development, Theory and Practice,** revised ed. London : Oxford University Press, 1970.

Konow, Sten. **The Indian Drama.** 1st. ed. Translated by S. N. Ghosal, Calcutta : General Printers and Publishers, 1969.

Krappe, Alexander. H. **The Science of Folklore.** Reprinted. London : Methuen & Co. Ltd., 1965.

Krishnamachariar, M. **History of Classical Sanskrit Literature.** 1st reprint Delhi : Motilal Banarsidass, 1970.

Krishnamoorthy, K. **Essays in Sanskrit Criticism.** Dharwar : Karnatak University Dharwar, 1964.

Kunbae, Bak. **Bhasa's Two Plays : Avimaraka and Balcharita.** Delhi-6 : Meharchand Lachhmandass, 1968.

Law, Bimala Churn. **Asvaghosa.** Calcutta : The Royal Asiatic Society of Bengal, 1946.

Macdonell, Arthur A. **A History of Sanskrit Literature** New Delhi : Motilal Banarsidass, 1962.

Vedic Mythology. Varanasi : Indological Book House, 1963.

Mainkar, T. G. **Studies in Sanskrit Dramatic Criticism.** 1st ed. New Delhi : Motilal Banarasidass, 1971.

The Theory of the Samdhis and the Samdhyangas. Poona : Joshi and Lokhande Publication, 1960.

Majumdar, R. C. (ed.) **The Age of Imperial Unity.** 2nd ed. Bombay : Bhartiya Vidya Bhawan, 1953.

The Classical Age. 3rd ed. Bombay : Bhaitiya Vidya Bhawan, 1970,

Malefijt, Annemarie de Waal. **Religion and Culture.** New York: The Macmillan Company, 1968.

Malinowski, Bronislaw, **Freedom and Civilization.** London : George Allen & Unwin Ltd., 1947.

Mankad, D. R. **The Types of Sanskrit Drama.** Karanchi : Urmi Prakashan Mandir, 1936.

Mansingh, Mayadhar **Kalidasa and Shakespeare.** Delhi : Motilal Banarsidass. 1969.

Masson, J.L. and Kosambi, D.D. **Avimaraka. Love's Enchanted World,** 1st ed. Delhi : Motilal Banarsidass, 1970.

MaxMuller. F. **Lectures on the Origin and Development of Religion.** Varanasi : Indological Book House, 1964.

Natural Religion, The Gifford Lectures Delivered *Before The University of Glassgow in 1888. London:* 1889.

Physical Religion. New York, 1891.

Mirashi, Vasudeva Vishnu and Navlekar, Narayan Reghunath **Kalidasa.** 1st ed. Bombay : Popular Prakashan, 1969.

Mishra, H. R. **The Theory of Rasa in Sanskrit Drama with a Comparative Study of General Dramatic Literature.** Chhatarpur (M.P.) : Vindhyachal Prakhashan, 1964.

Mookerjee, Syama Prasad. **Obscure Religious Cults.** Calcutta-12 : Firma K. L. Mukhopadhyaya, 1962.

Nicoll, Allardyce. **The Theory of Drama.** Indian Reprint, Delhi : Doaba House, 1969.

Parab, B. A. **The Miraculous and Mysterious in Vedic Literature.** Bombay-7. : The Popular Book Depot, 1952.

Penzer, N. M. (ed.) **The Ocean of Stories.** Being C. M. Tawney's Translation of Somadevas Katha-Sarit-Sagara in 10 Volumes. Vol. I Indian Reprint. Delhi : Motilal Banarasidass, 1968.

Pusalkar, A. D. **Bhasa : A Study.** 2nd revised ed. Nai Sarak Delhi-6 : Munshiram Manoharlal, 1968.

Studies in the Epics and Puranas. Bombay : Bhartiya Vidya Bhawan, 1955.

Radhakrishnan, S. **An Idealist View of Life.** The Hibbert Lectures for 1929. 4th ed. London : George Allen & Unwin Ltd., 1951.

The Hindu view of Life. London : Unwin Books, 1960.

Raghavan, V. **Bhoja's Srngara Prakasa** Madras-14, The Author (Punarvasu, 7 Sri Krishanapuram Street,) 1963.

Some Old Lost Plays. Annamalainagar : Annamalai University, 1961,

The Social Play in Sanskrit. Banglore : The Indian Institute of Culture, 1952.

The Number of Rasas. Adyar : The Adyar Library, 1940.

The Ram Krishna Mission Institute of Culture. **The Cultural Heritage of India.** Vol. I 2nd ed. of Calcutta : The Ram-Krishan Mission Institute of Culture, 1962.

The Cultural Heritage of India. Vol. IV. 2nd ed. Calcutta : The Mission, 1956.

Rangacharya, Adya (Formerly Jagirdar, R.V.) **Drama in Sanskrit Literature.** 2nd ed. Bombay : Popular Prakashan, 1967

Introduction to Bharata's Natya Sastra. 1st ed. Bombay : Popular Prakashan, 1966.

Rhine, J. B. **A Brief Introduction to Parapsychology.** Duke University : Parapsychology Laboratory.

Riepe, Dale. **The Naturalistic Tradition in Indian Thought.** 2nd ed. Delhi : Motilal Banarsidass, 1964.

Rose, H. J. **A Hand Book of Greek Mythology.** University Paperback. London : Methuen, 1965.

Ruben, Walter. **Kalidasa : The Human Meaning of his works,** Berlin : Academic verlag, 1957.

Oldenberg, H. **Ancient India : Its Language and Religions.** 2nd ed. Calcutta-4 : Punthi Pustak, 1962.

Sabnis, S. A. **Kalidasa : His Style and Times.** Bombay : N. M. Tripathi Private Ltd., 1966.

Sastri, K. S. Ramaswami, **Kalidasa : His Period Personality and Poetry.** Shrirangam : Shri Vani Vilas Press, 1933.

Sharma, Dimbeswar. **An Interpretative Study of Kalidasa.** Calcutta : The Author, 1968.

Shastri, Surendra Nath. **The Laws and Practice of Sanskrit Drama.** Vol. I, 1st ed. Varanasi-1 : The Chowkhamba Sanskrit Series Office, 1961.

Satyavart, Usha. **Sanskrit Dramas of Twentieth Century** Delhi : The Author (Sole Distributors : Meharchand Lachhmandas Delhi), 1971.

Shekhar, I. **Sanskrit Drama: Its Origin and Decline.** Leiden : E. J. Brill, 1960.
Shrikrisna, E. R. (ed.). **Rupaka Samiksa.** Venkateshwara University, 1964.
Spence, Lewis. **The Outlines of Mythology,** London : Watts & Co. 1944.
Stace, W. T, **A Critical History of Greek Philosophy.** London, St. Martins Street : Macmillan & Co. Ltd., 1950.
Sukhthankar, V. S. **Analecta.** Poona-4, V. S. Sukthankar Memorial Edition Committee, 1945.
Thomas, P. **Epics, Myths and Legends of India.** Bombay : D. B. Taraporevala Sons & Co. Pvt. Ltd., 1961.
Taylor, E. B. **Primitive Culture.** 2 Volumes. 2nd ed. London : John Murray, 1873.
Upadhyaya, B. S. **India in Kalidasa.** 2nd ed. Delhi : S. Chand & Co, 1968.
Van Buitenan, J. A. B. **Two Plays of Ancient India.** 1st ed. Delhi : Motilal Banarasidass, 1971.
Wells, Henry. W. **Sansrkit Plays From Epic Sources.** Baroda : M. S. University of Baroda. 1968.
Six Sanskrit Plays. Bombay : Asia Publishing House, 1964.
The Classical Drama of India. Bombay : Asia Publishing House, 1963.
Wilson, H. H. **Dramas.** 2nd ed. Varanasi : Choukhamba Sanskrit Series Office, 1962.
Wilson, H. H. & Others. **The Theatre of the Hindus.** Calcutta-12 Susil Gupta (India) Limited, 1955.
Winternitz. M. **History of Indian Literature.** Vol. I. Pt. II. Translated by S. Ketkar, Calcutta : University of Calcutta. 1963.
History of Indian Literature. Vol III Pt. I. Translated by Subhadra Jha, Delhi : Motilal Banarasidass, 1963.
Woolner, A. C. and Sarup, Lakshman. **Trivandrum Plays** : Thirteen Trivandrum Plays Attributed to Bhasa. Vols 1–2 Translated into English. London : Oxford University Press, 1931.
Yinger, J. Milton. **Religion, Society and Individual.** New York: The Macmillan Campany, 1960.

(घ) कोश एवं पत्र–पत्रिकाएं

नामलिंगानुशासन (अमरकोश), व्याख्यासुधा व रामाश्रमी सहित, निर्णयसागर प्रेस, १६१५
महाभारत की नामानुक्रमणिका, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१६
वाचस्पत्य, १–६ भाग, संपा० तारानाथ तर्कवाचस्पति, चौखम्बा, वाराणसी, १६६२
विश्वभारती पत्रिका, खंड ८, अंक २
शब्दकल्पद्रुम, १–५ भाग, संपा० राधाकान्तदेव, चौखम्बा, १६६१

संस्कृत–हिन्दी कोश, संपा० वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, १९६६
हिन्दी साहित्यकोश, संपा० धीरेन्द्रवर्मा ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी सं० २०१५,

Benedict, Ruth. "Folklore" **Encyclopaedia of Social Sciences.** 1948 ed. reprinted.

"Myth." **Encyclopaedia of Social Sciences.** 1948. ed: Reprinted. Vol. XI–XII.

Gardner, E. A. "Mythology" **Encyclopaedia of Religion and Ethics.** 1959 ed. 4th impression, Vol. IX.

"Folklore." **Encyclopaedia Britanica.** 1947 ed. Reprint. Vol. IX.

"Forklore." **Chambers Encyclopaedia.** 1959 ed. Vol. V.

Iyer, K. A. Subramania. "Kundamala and the Uttararamacharita" Proceedings of the Seventh Oriental Conference (Sanskrit Section). Baroda, 1933.

Malinowski, B. "Culture" **Encyclopaedia of Social Sciences.** 1948 ed. Reprinted. Vol IV.

Messon, J. "A Note on the Sources of Avimaraka" M. S. University of Baroda. **Journal of Oriental Institute.** Vol. XIX No. 1–2, 1969.

"Myth and Ritual." Encyclopaedia Britanica " Vol. XVI.

"Mythology." The Encyclopaedia Americana. 1961 ed. Vol. XIX.

Niven, D "Naturalism" **Encyclopaedia of Religion and Ethics.** 1959 ed 4th Impression. Vol. IX.

"Supernatural Story" **Cassell's Encyclopaedia of Literature** 1953. Vol. II.

Tucker, Pat. "Parapsychology : Ancient Mystery, New Science." **Span.** Vol. XIII No. 11 (November 1972).

Woolner, A.C. "The Date of Kundmala," **Annals of Bhandarkara Oriental Institute.** Vol. XV (1933-34).

Dowson. **Hindu Classical Dictionary.** Trubner's Oriental Series. Kegan Pual Trenchit Trubner & Co. Ltd.

Schuyler Jr. Montgomery. **Bibliography of the Sanskrit Drama.** Indo-Iranian Series Vol. III. New York : The Columbia University Press, 1906.

Shipley, Joseph T. (ed.), **Dictionary of World Literary Terms.** London : George Allen & Unwin Ltd. 1955.

Gand c. Merriam Co. **Websters New International Dictionary of the English Language.** Spring Field, Mass : G & C Merriam Company Publishers, 1961.

Williams, M. Monier. **Sanskrit English Dictionary.** Delhi : Motilal Banarsidass, 1963.

अनुक्रमणिका

(क) नाटक एव नाटककार

(ख) अतिप्राकृत तत्त्व

———